ॐ

श्री वीतरागाय नमः

छहढाला प्रवचन

(भाग-२)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
'छहढाला' ग्रन्थ पर के प्रवचन
(ढाल ४, ५ और ६)

प्रकाशक
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख
प्रभावक ट्रस्ट ५८०, जूनी माणेकवाडी,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

गुरु गौरव
श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन साहित्य केन्द्र,
पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ.

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट
विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ.
फौन : (०५७१) २४१००१०/११/१२

श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१
श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

प्रथमावृत्ति : प्रत : १०००
द्वितीय आवृत्ति : प्रत : ५००, असाढ़ वद १, (महावीर भगवानकी दिव्यध्वनि छूटनेका दिन।)
दि. १३-७-२०१४
पृष्ठ : ८ + ५७२ = ५८०
लागत मूल्य : २३५/-
विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेशन्स
प्लोट नं.१९२४-बी,
६, शान्तिनाथ बंगलोझ,
शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास
भावनगर-३६४००१
फोन : ९७२५२५११३१

मुद्रक :
भगवती ओफसेट
१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड,
बारडोलपुरा
अहमदाबाद
फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकिय

संसार परिभ्रमण में जन्म-मरण कर रहे ऐसे जीव निरंतर मानसिक एवं शारीरिक ताप से तप्तायमान हो रहे हैं। अनंतकाल बीता फिर भी जीव को इस दुःख से मुक्त होने का उपाय प्राप्त नहीं हुआ, अतएव अनिच्छासे भी दुःखी हो रहा है। सुख की वांछा में भटक रहे जीव निरंतर दुःख प्राप्ति के उपाय का ही सेवन कर रहा है। यह एक वास्तविकता है। जीव को दुःख उत्पन्न होने का कारण क्या है इसकी भी खबर नहीं है तो उसे मुक्त कैसे होना उसके उपाय की तो सूझ कहाँ से होगी ? ऐसी एक विकट परिस्थिति में जगत के सर्व जीव काल व्यतीत कर रहे हैं।

दुःख को ही सुख मानकर सेवन करता ऐसा यह जीव दुःख के उपाय को ही साधता है। सुख का वास्तविक स्वरूप क्या ? दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या ? सुख कैसे प्रगट हो ? इत्यादि विषय से अनभिज्ञ, इस विषय की अंधकारमय परिस्थिति में कोई महाभाग्य से, महापुण्योदय से, किसी मंगल घडी में, दुःख से मुक्त कैसे होना और शाश्वत सुख कैसे प्राप्त करना उस पर प्रकाश डालने, उस उपाय को जगत समक्ष दर्शाने एक दिव्य आत्मा का आगमन इस भरतक्षेत्र में हुआ। जैसे सूर्यप्रकाश होने पर अंधकार रहता नहीं, वैसे वह दिव्य दैदीप्यमान, जाज्वल्यमान, अंतर-बाह्य पवित्रता के पूंज स्वरूप, अनेकानेक दिव्यगुणों से विभूषित आत्मा के आगमन से सुख कैसे प्रगट हो उसका उपाय दर्शाकर दुःखी जीवों की दरिद्रता को मिटाकर, शाश्वत सुख संपत्ति प्रदान की। ऐसे हम सबके तारणहार, जगत उद्धारक, मोक्षमार्ग शिरोमणी, पुरुषार्थ के धनी, सुख-संपत्ति दातार, इस काल का अचम्भा ऐसे पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में अत्यंत विनम्रभाव से वंदन हो।

पूज्य गुरुदेवश्री के ज्ञान-ध्यानमय जीवन का एक मुख्यभाग है - प्रवचन। पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तुस्वरूप स्पष्ट करके तत्संबंधित सुख-दुःख की विकट समस्या का उपाय दर्शाया। आपश्री के प्रवचनों का श्रवण करना, वांचन करना यह जीवन की अचिंत्य और सुमंगल घडी है। इन प्रवचनों का प्रकाशन होना, घर-घर में जीनवाणी का स्वाध्याय हो, मूल मोक्षमार्ग शाश्वत अखण्डरूप से विद्यमान रहे इस हेतु से पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन शब्दशः प्रकाशित हो, ऐसी प्रत्यक्ष बोधस्वरूप, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनमर्म प्रकाशक, करुणासागर पूज्य भाईश्री शशीभाई की मंगल, पवित्र, लोकोत्तर

भावना के फल स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'छहढाला प्रवचन' (भाग-१ और २) प्रकाशित करते हुए वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर गौरवान्वित हो रहा है।

'छहढाला प्रवचन' (भाग - १ और २में) प्रत्येक भाग में तीन ढाल पर के प्रवचनों का समावेश किया गया है। साथ ही ग्रन्थकर्ता श्री दौलतरामजी द्वारा रचित गाथाओं एवं उसकी हिन्दी टीका भी दी गई है। कविवर श्री दौलतरामजी का संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, जिसे वहाँ से पढ़ने की पाठकवर्ग को विनंती है। प्रथम ढाल में ग्रन्थकर्ता कविवर श्री दौलतरामजी ने संसार परिभ्रमण का स्वरुप, चार गति में जीव ने कैसे-कैसे दुःख सहन किये उसका वर्णन किया है। तत्पश्चात दूसरी ढाल में संसार परिभ्रमण का कारण, सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा, उसके नाश का उपाय इत्यादि विषय का सरल एवं स्पष्ट भाषा में वर्णन किया है। पूज्य गुरुदेश्री प्रवचनों में अनेकबार फरमाते थे कि, यह तो गागर में सागर भर दिया है।

जैन सम्प्रदाय में छहढाला की कृति लोकप्रिय है। बहुत से जैनी इस कृति को मुखपाठ करते हैं, परन्तु परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि, 'शास्त्र में मार्ग कहा है परन्तु मर्म तो ज्ञानी के हृदय में रहा है।' तद्नुसार पूज्य गुरुदेवश्री ने कविवर के हृदय में रहे भावों को स्पष्ट कर मोक्षमार्ग का उद्योत करके महान अविस्मरणिय उपकार किया है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन यह मात्र कोई वचनश्रृंखला नहीं है अपितु उसमें निहित मोक्षमार्ग को यदि जीव हृदयगत करे तो आत्मकल्याण हो जाये ऐसा प्रबल निमितत्त्व इसमें रहा है। इसलिए प्रस्तुत प्रवचन जीव के कल्याणार्थ हैं, इस उद्देश्य से उसका वांचन, स्वाध्याय अवधारण आदि किया जाये ऐसी भावना है।

मूल कृति छहढाला सचित्र होने से प्रस्तुत प्रवचनों में जहाँ - जहाँ पूज्य गुरुदेवश्रीने चित्रों को देखकर उसका उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ उस चित्र को दिया गया है। तदुपरांत पूज्य गुरुदेवश्री ने जहाँ जिस प्रकार के दृष्टान्त दिये हैं उसके भी कुछएक चित्र दिये गये हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का भाव एवं भाषाप्रवाह यथावत् बना रहे उसका यत्किंचित प्रयत्न किया गया है। कोई-कोई जगह में श्रोतागणमें से कोई बात की गई हो या पूछने में आयी हो वह स्पष्ट सुनने में नहीं आयी है वहाँ डोट-डोट करके जगह छोड़ दी गई है। जहाँ जरूरत लगी वहाँ वाक्यरचना पूर्ण करने हेतु कोष्टक भरे गये हैं। व्यक्तिगत नाम का सम्बोधन कहीं भी लिया नहीं गया है। प्रत्येक भाग में दो ढाल के प्रवचन लिये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों को फिर से एकबार सुनकर जाँच लिये गये हैं, ताकि कोई क्षति रह न जाये।

जीनवाणी प्रकाशन का कार्य अति गम्भीर कार्य है ऐसी जागृतिपूर्वक बारीकी से जाँच कर प्रकाशन करने का प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं अजागृतिवश या अगम्भीरतावश कोई क्षति या भूल रह गई हो तो जीनवाणी माता की हृदयपूर्वक क्षमायाचना करते हैं। तथा पाठकवर्ग से भी विनंती है की यदि कोई क्षति ध्यान पर आये तो उसे अवश्य बताए।

प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशन के प्रसंग पर कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी, प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहन, पुरुषार्थ मूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी को स्मरण में लेकर उनके चरणों में वंदन करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के अपूर्व प्रवचन प्रकाशित हो ऐसी जिनकी मंगलभावना है, ऐसे सौम्यमूर्ति, निष्कारण करुणाशील, ज्ञानीपुरुषों के हृदय प्रकाशक पूज्य भाईश्री शशीभाई के उपकार को हृदयगत कर उनके चरणों में वंदन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रवचन गंगा में स्नानकर मिथ्यात्वरूपी मलिनता को धोकर, निर्मल पवित्र परिणति अंगीकार करें, एसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

पण्डित दौलतराम - संक्षिप्त जीवनवृत्त

प्रस्तुत कृति 'छहढाला' के रचनाकार पण्डित दौलतराम का जन्म विक्रम संवत् १८५५ (सन् १७९८ ईसवी) में, अलीगढ़-हाथरस के मध्य स्थित 'सासनी' ग्राम में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'टोडरमल' था। आप पल्लीवाल जाति के नररत्न थे एवं आपका गोत्र 'गंगोरीवाल' अथवा 'गंगटीवाल' था। कविवर के पिता, अपने छोटे भाईश्री चुन्नीलाल के साथ हाथरस में कपड़े का व्यापार करते थे।

कविवर दौलतराम की शिक्षा एवं शिक्षा गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, पर इतना निश्चित है कि ये संस्कृत / प्राकृत भाषाओं के मर्मज्ञ मनीषी थे। आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में उपलब्ध जिन-सिद्धान्तों की गम्भीरता, इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है।

आपका विवाह सेठ चिन्तामणि जैन, छिपैटी, अलीगढ़ की सुपुत्री से हुआ था। आपके बड़े पुत्र टीका राम का जन्म विक्रम सम्वत् १८८३ और छोटे पुत्र का जन्म विक्रम सम्वत् १८८६ में हुआ था। आपके बड़े पुत्र लश्कर में रहते थे। आपके छोटे पुत्र के सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

कविवर दौलतराम, हाथरस में अपने पिता और चाचा के साथ कपड़े के व्यापार में सहयोग करते थे परन्तु स्वाध्यायप्रेमी होने के कारण यदा-कदा समय निकालकर शास्त्रों के अध्ययन-मनन में लीन हो जाया करते थे। एक बार की बात है कि वे हाथरस के जिनमन्दिर में गोम्मटसार का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मणिरामजी जिनदर्शन हेतु वहाँ पधारे। वे उनके स्वाध्याय से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे हाथरस छोड़कर मथुरा चलने का आग्रह करने लगे। पण्डित दौलतराम उनके साथ मथुरा चले गये और कुछ समय वहाँ बड़े आनन्द से रहे भी, परन्तु सम्भवतया सेठजी के वैभव की चकाचौंध में उनका मन नहीं लगा; अतः वे वहाँ से वापस अपने घर आ गये।

घर आने के बाद उन्होंने पुनः आजीविका के सम्बन्ध में सोचा और अलीगढ़ जाकर छींट छापनें का कार्य करने लगे। प्रतीत होता है कि वे आजीविका की ओर से निश्चिन्त नहीं थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी, अतएव उन्हें अपने जीवन में बार-बार इधर से उधर होना पड़ रहा था, किन्तु साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उनकी अध्यात्मरुचि अत्यन्त प्रबल थी; अतः वे इन उदयाधीन परिस्थितियों से विशेष आकुलित भी नहीं होते थे। कहा जाता है कि जिस समय वे छींट छापने का कार्य

करते थे, उस समय अपने समीप एक चौकी पर कोई प्राकृत या संस्कृत भाषा का शास्त्र विराजमान कर लेते थे और छींट छापते हुए उसकी गाथाएँ या श्लोक भी याद करते जाते थे। उनकी स्मरणशक्ति एवं रुचि इतनी प्रबल थी कि वे एक दिन में साठ-सत्तर गाथाएँ या श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे।

कविवर दौलतराम के जीवन का यह प्रसंग आत्महित के अभिलाषियों द्वारा बारम्बार विचार करने योग्य है क्योंकि इससे व्यर्थ के आर्तध्यान आदि विकारों से बचकर अधिक से अधिक समय तत्त्वाभ्यास करने की मंगल प्रेरणा प्राप्त होती है।

अलीगढ़ के बाद कविवर दौलतराम, दिल्ली आकर रहने लगे। दिल्ली में उन्हें विशिष्ट स्वाध्यायी एवं अद्यात्मरुचिसम्पन्न साधर्मियों का ऐसा सुन्दर समागम मिला कि वे सभी चिन्ताएँ भूल गये और फिर वहाँ से अन्यत्र कहीं नहीं गये; जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे। आपने विक्रम सम्वत् १९०१ में माघ कृष्णा चतुर्दशी को दिल्ली के अनेक साधर्मी बन्धुओं के साथ तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा भी की थी।

कविवर पण्डित दौलतराम ने लगभग ६८ वर्ष की उम्र में, मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, विक्रम सम्वत् १९२३ को (०७ दिसम्बर १८६६, शुक्रवार) मध्याह्न में समाधिपूर्वक शरीर त्याग दिया। यह भी कहा जाता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का छह दिन पूर्व ही आभास हो गया था और उन्होंने सबसे क्षमायाचना करके समाधिभाव धारण कर लिया था।

(मंगलायतन द्वारा प्रकाशित 'छहढाला', पुस्तकमें से साभार उद्धृत)

विषयानुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	गाथा	पृष्ठ नंबर
चौथी ढाल			
२३	११-०२-१९६६	१, २	००१
२४	१२-०२-१९६६	३, ४	०२१
२५	१३-०२-१९६६	४, ५	०४१
२६	१५-०२-१९६६	५, ६	०६०
२७	१६-०२-१९६६	७, ८	०८०

२८	१७-०२-१९६६	८	१०१
२९	१८-०२-१९६६	९	११९
३०	१९-०२-१९६६	९	१३९
३१	२०-०२-१९६६	९	१५८
३६	२५-०२-१९६६	९ से ११	१७५
३७	२६-०२-१९६६	११ से १४	१९७
३८	२७-०२-१९६६	१५	२२१
पाँचवीं ढाल			
३९	०१-०३-१९६६	१, २, ३	२४५
४०	०२-०३-१९६६	३, ४, ५	२६४
४१	०३-०३-१९६६	५, ६, ७	२८५
४२	०४-०३-१९६६	८, ९, १०	३०४
४३	०५-०३-१९६६	१०, ११	३२५
४४	०६-०३-१९६६	११, १२, १३	३४५
४५	०७-०३-१९६६	१३	३६५
४६	०९-०२-१९६६	१४, १५	३८३
छठवीं ढाल			
४७	१०-०३-१९६६	१ से ४	४०५
४८	११-०३-१९६६	५, ६, ७	४३०
४९	२१-०३-१९६६	८	४५६
५०	२२-०३-१९६६	८, ९	४७२
५१	२३-०३-१९६६	९	४८९
५२	२४-०३-१९६६	१०	५०५
५३	१२-०३-१९६६	११, १२, १३	५२२
५४	१३-०३-१९६६	१३, १४	५४३

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ६, शुक्रवार

दि.११-२-१९६६, गाथा १, २, प्रवचन नं.-२३

चौथी ढाल

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। चौथी ढाल चलती है। '**सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अंतर।**' पहले क्या कहा ? प्रथम में प्रथम तो सम्यग्दर्शन प्रकट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं और सम्यग्ज्ञान बिना व्रत, तप, चारित्रि सच्चा होता ही नहीं, झूठा होता है।

मुमुक्षु :- झूठा तो झूठा है तो सही न ?

उत्तर :- झूठा है। झूठे में आत्मा को क्या लाभ है ? वह तो कहा सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान, चारित्र मिथ्या है, वह तो पहले कहा। वह श्लोक आ गया न ? कहाँ आया था ? अंतिम आया न ?

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।

यह सादी हिन्दी भाषा में है। 'दौलतरामजी' बडे पंडित हो गये हैं। कहते हैं कि, जिसे मोक्ष चाहिए, उसकी बात है। जिसे संसार चाहिए, पुण्य-पाप का बंध और पुण्य-पाप का फल (चाहिए तो) वह बात तो हमारे पास नहीं है। वह बात तो अनादि काल से करते आये हैं। पुण्य-पाप करते हैं और पुण्य-पाप का फल चार गति में भोगते हैं। वह तो अनादि काल की बात है। वह कोई नवीन, अपूर्व बात नहीं। जिसे आत्मा की परमानंद अवस्था ऐसे मोक्ष की अभिलाषा है, ऐसे मोक्षमहल की प्रथम सीढी सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना सब ज्ञान, व्रत, तप, चारित्र आदि करे, वह सब मिथ्या हैं, सच्चा हीं है, उससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं है।

कहा कि, '**या बिन ज्ञान चरित्रा; सम्यक्ता न लहैं।**' है न ? सम्यक् आत्मा का भान एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में आत्मा निर्विकल्प आनंदकंद शुद्ध है। वह अपने से, कोई दूसरे से प्राप्ति होती नहीं। शास्त्र से प्राप्ति नहीं होती, गुरु से प्राप्ति नहीं होती, तीर्थंकर से प्राप्ति नहीं होती, ऐसी चीज़ है। अपना निज स्वरूप... वह तो पहले तीसरी ढाल में कहा न ? आत्मा पर का तो लक्ष्य छोड दे लेकिन अपने में जो पुण्य-पाप का भाव होता है, शुभ-अशुभ, दया, दान, काम, क्रोध (के) शुभाशुभभाव की भी रुचि, लक्ष्य छोड दे और अपना आत्मा अनंत गुणस्वरूप और मैं गुणी और अनंतगुण मेरे में हैं - ऐसा भेद का विकल्प भी छोड दे। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ! भाई ! यह अपूर्व बात है। अनंत काल में उसने किया नहीं। कभी सुनी नहीं और कभी किया नहीं, परिचय किया नहीं, आदर किया नहीं, अभ्यास किया नहीं, अनुभव तो किया (है ही) नहीं। ऐसा भगवान आत्मा अपना निज आत्मा। पहले कहा था न ? समझे ? दोपहर में 'परमात्मप्रकाश' में भी आया था। निज शुद्धात्मा। अनंत अनंत शांतरस से भरा आत्मा, उसको गुण और गुणी (अर्थात्) मैं आत्मा गुणी हूँ-गुण का धरनेवाला (हूँ) और ज्ञान, दर्शन, आनंद मेरे में गुण हैं - ऐसा भेद का विकल्प भी जहाँ काम नहीं करता। ऐसा भेद का विकल्प है, वह भी राग है तो दूसरे तो उसमें कहाँ काम आते हैं ? समझ में आया ?

कहते हैं कि, ऐसे आत्मा में प्रथम में प्रथम मोक्ष की पहली सीढी, अंतर्मुख आत्मा में सम्यग्रद्शन प्रकट करके बाद में सम्यग्ज्ञान का आराधन करना। ऐसा यहाँ 'दौलतरामजी' 'छहढाला' में प्रथम सम्यग्दर्शन की बात, करके सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं। यह तो सादी भाषा है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- आये न आये, उसका कुछ नहीं। २२ दिन (गुजराती में) चला अब थोडा यह भी चले न ? उन्होंने हिन्दी में कहा था, भाई ने तो पूरा हिन्दी में (लेने का) कहा था। अब थोडा चलने दो, कैसा चलता है, देखो तो सही। समझ में आता है ?

मुमुक्षु :– जब सूक्ष्म बात आयेगी तो बदलेंगे।

उत्तर :– वह कैसे मालूम पडे कैसा होगा ?

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ,
लक्षण श्रद्धा जान, दुहूमें भेद अबाधौ।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई;
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई।।२।।

अन्वयार्थ :- (सम्यक् साथै) सम्यग्दर्शन के साथ (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (होय) होता है (पै) तथापि (उन दोनोंको) (भिन्न भिन्न) (अराधौ) समझना चाहिए; क्योंकि (लक्षण) उन दोनों केलक्षण (क्रमश:) (श्रद्धा) श्रद्धा करना और (जान) जानना है तथा (सम्यक्) सम्यग्दर्शन (कारण) कारण है और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (कारज) कार्य है। (सोई) यह भी (दुहूमें) दोनों में (भेद) अन्तर (अबाधौ) निर्बाध है। (जिस प्रकार) (युगपत्) एकसाथ (होते हू) होने पर भी (प्रकाश) उजाला (दीपकतैं) दीपक की ज्योति से (होई) होता है उसी प्रकार।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एकसाथ प्रकट होते हैं तथापि वे दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है। पुनश्चय, सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण संशय* आदि दोष रहित स्व-पर का यथार्थतया निर्णय है - इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

तथा सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है - इस प्रकार उन

---

* संशय, विमोह, (विभ्रम-विपर्यय) अनिर्धार।

दोनों में कारण-कार्यभाव से भी अन्तर है।

प्रश्न :- ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् (एकसाथ) होते हैं, तो उनमें कारणकार्यपना क्यों कहते हो ?

उत्तर :- 'वह हो तो वह होता है' - इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना कहा है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिये दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान भी हैं। (मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ १२६)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता - ऐसा होने से सम्यग्दर्शन वह सम्यग्ज्ञान का कारण है।X

यहाँ तो कहते हैं कि, '**सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अंतर।**' पहले में पहले सम्यग्दर्शन। अपने स्वभाव में अनुभव में प्रतीत करनी वह पहली सीढ़ी, धर्मकी पहली रुचि, वह पहली शुरुआत होती है, वहाँ से धर्म की शुरूआत होती है। बाद में सम्यग्ज्ञान का अंतर आराधन करना, ऐसा 'अमृतचंद्राचार्य' भी 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में कहते हैं। नीचे श्लोक दिया है।

X पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बौधस्य।

लक्षणभेदेन यतो, नानात्वं संभवत्यनयो:।।३२।।

सम्यग्ज्ञानं कार्य समकितं कारण वदन्ति जिना:।

ज्ञानाराधनमिष्टं समर्वकितानन्तरं तस्मात्।।३३।।

कारणकार्यवविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोररिव, समर्वकितज्ञानयो: सुघटम्।।३४।।

(श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव रचित पुरुषार्थसिद्धि उपाय)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ,
लक्षण श्रद्धा जान, दुहूमें भेद अबाधौ।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई;
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई।।२।।

'**सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ;...**' है ? दूसरा श्लोक है। किसी में पहला लिखा है, किसी में दूसरा है। क्या कहते हैं ? देखो ! शब्दार्थ। '**सम्यग्दर्शन केसाथ सम्यग्ज्ञान होता है।**' ज्ञान आगे-पीछे होता नहीं। आत्मा, अपना शुद्ध परमानंदमूर्ति आत्मा, उसका अंतर भान, पहले सम्यक् हुआ उसके साथ ही उसकी सम्यग्ज्ञान की किरण साथ ही होती है, प्रकट होती है। समझ में आया ? उसके साथ चारित्र नहीं होता। स्वरूपाचरण होता है, लेकिन चारित्र जो संयम आदि है, वह आगे बढकर बहुत पुरुषार्थ करते है, बाद में बढ़ते हैं। पहले सम्यग्दर्शन के साथ तो सम्यग्ज्ञान तो होता ही है।

'**तथापि (उन दोनों को) भिन्न भिन्न समजना चाहिए;...**' देखो ! भगवान आत्मा, उसका ज्ञान करके प्रतीत (करनी), जहाँ सामान्य ज्ञान की बात चलती हो तो पहले ज्ञान आता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान की बात चलती है तो पहले सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? अपने में सम्यग्दर्शन हुआ तो बाद में ज्ञान का आराधन करो क्योंकि '**उन दोनों के लक्षण...**' श्रद्धा करना और जानना-ये दो लक्षण भिन्न हैं। अपना निज स्वरूप (उसकी) शुद्ध श्रद्धा-प्रतीत करनी, वह श्रद्धा लक्षणवाला सम्यग्दर्शन है। ज्ञान करना वह जानपना लक्षणवाला है। दोनों के लक्षण भिन्न हैं। समझ में आया ? क्योंकि दो गुण की दो पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की निर्मल पर्याय हैं, दो पर्याय भिन्न हैं। दो गुण भिन्न हैं तो दो पर्याय भिन्न हैं। '**उन दोनों का लक्षण श्रद्धा करना और जानना है...**' जानना किसका ? निज स्वरूप का। उसमें विशेष ज्ञान का अभ्यास चलेगा।

'**तथा सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।**' जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो तो सम्यग्दर्शन कारण है और अपना सम्यग्ज्ञान कार्य है। एक समय में साथ में उत्पन्न होता है,

फिर भी उनमें कारण-कार्य का एक समय में भी भेद कहने में आता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! '**सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।**' उसका अर्थ - अपना निजानंद प्रभु, उसकी अंतर में अनुभव में प्रतीत नहीं हुई तो उसे ज्ञान होता नहीं। प्रतीत आयी तो बाद में साथ में ज्ञान उत्पन्न हुआ उसे कार्य कहने में आता है। किसका कार्य ? सम्यग्दर्शन का कार्य। आत्मा का कार्य नहीं ? ऐ..ई.. ! क्या कहते हैं समझ में आया ?

आत्मा... है तो सम्यग्दर्शन एक कार्य और सम्यग्ज्ञान भी कार्य है। किसका (कार्य है) ? आत्मा का। आत्मा से देह, वाणी, मन, जड़ भिन्न, कर्म भिन्न, जुदा, पुण्य-पाप का भाव होता है, वह भी विकार भिन्न है। भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानानंद की प्रतीत (हुई), वह है तो आत्मा का कार्य, पर्याय है इसलिए। और साथ में सम्यग्ज्ञान हुआ निज का बोध हुआ कि, आत्मा अनंत गुणमय है, शुद्ध है, निर्मल है... समझ में आया ? यह ज्ञान, है तो आत्मा का वर्तमान कार्य लेकिन दो पर्याय के बीच में सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्दर्शन पर्याय है। समझ में आया ? यह सूक्ष्म नहीं आया ?

आत्मा... अरे.. ! आत्मा क्या चीज़ है ? उसकी खबर नहीं। अनंत काल में उसने उसको जाने बिना सब किया। कोटि जन्म तप किया, भक्ति की, पूजा की, दान-दया अनंत बार किये, उसमें कुछ आत्मा का लाभ हुआ नहीं। पुण्यबंध हो जाये, स्वर्गादि मिल जाये (और) चार गति में भटके।

मुमुक्षु :- पूजा करे और चार गति में भटके ?

उत्तर :- शुभभाव है न ? पुण्यबंध होता है। आत्मदर्शन, आत्मज्ञान बिना उसे मात्र पुण्यबंध होता है। मिथ्यादृष्टि तो साथ में है, सम्यग्दर्शन तो है ही नहीं। समझ में आया ? बात तो ऐसी है, भैया ! सूक्ष्म है। पहले आ गया न ? आगे थोडा आयेगा। कोटि जन्म तप तपे तो भी आत्म ाका लाभ होता नहीं सम्यग्दर्शन बिना आत्मा क्या चीज़ है, उसके अनुभव बिना, किसमें स्थिर होना ? उस चीज़ का पता लगे बिना चारत्रि आया कहाँ से ? समझ में आया ? बाहर की क्रिया तो शुभविकल्प है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव तो शुभराग है, पुण्य है, लेकिन आत्मदर्शन नहीं हैं तो पुण्य का फल क्या ? मिथ्यात्वसहित पुण्य का फल स्वर्ग आदि

मिलेंगे। जन्म-मरण का नाश तीनकाल तीनलोक में नहीं होगा - ऐसा कहते हैं। ये क्या कहते हैं ?'दौलतरामजी' कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मंद मिथ्यात्व होता है न ?

उत्तर :- मंद मिथ्यात्व होता है, उसका अर्थ क्या ? अभाव नहीं होता। मंद-तीव्र तो कर्म है, अनादि की चीज़ है, अनादि की चाल है। दिगम्बर जैन साधु होकर नौंवे ग्रैवेयक अनंत बार गया, मिथ्यादृष्टि, हाँ ! मंद मिथ्यात्व था, अनंतानुबंधी कषाय भी मंद थी, नहीं तो उपर (के स्वर्ग में) जाये नहीं। (अनंतानुबंधी का) अभाव नहीं (हुआ था)। आत्मा के दर्शन बिना मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का अभाव नहीं होता। बहुत (सूक्ष्म) बात (है)। समझ में आया ?

वह कहते हैं, ज्ञान, अपने शुद्धस्वरूप की प्रतीत, भान, दर्शन हुआ तो वह आत्मा का ही कार्य है, लेकिन सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान होता है, उन दोनों के बीच सम्यग्दर्शन कारण (है) और सम्यग्ज्ञान कार्य (है)। समझ में आया ? अंतर की चीज बिना बाह्य से आत्मा में कुछ लाभ होता नहीं। यह कहते हैं - '**सम्यग्ज्ञान कार्य है। यह भी दोनों में अन्तर निर्बाध है।**' अंतर दो प्रकार का कहा। कौन-से दो प्रकार ? एक तो सम्यग्दर्शन लक्षण श्रद्धा है, सम्यग्ज्ञान का लक्षण जानना है - ये दो भेद हुए। और दूसरा सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है - ये दूसरा भेद हुआ। समझ में आया ? आहा..! '**अन्तर निर्बाध है।**' दोनों में अंतर निर्बाध है, दोनों में निश्चित ही अंतर है। समझ में आया ? निर्बाध है या नहीं ?

'**(जिसप्रकार) (युगपत्) एकसाथ होने पर भी,..**' दृष्टान्त देते हैं। वह 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का दृष्टान्त है। ९०० वर्ष पहले दिगम्बर संत 'अमृतचंद्राचार्यदेव' हुए। इस और टीका है। उसमें है, श्लोक है, ३२-३३-३४ श्लोक है। नीचे संस्कृत है, वह 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का है, 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय'। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के शास्त्र की जो टीका बनाई है (वे) 'अमृतचंद्राचार्यदेव' दिगम्बर संत वनवासी जंगलवासी थे, उनके 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में वह श्लोक है। पहले (सम्यक्) दर्शन का आराधन होने के बाद सम्यग्ज्ञान का आराधन करना। समझ में आया ? उसमें कारण-कार्य का दृष्टान्त है। देखो !

३४ (गाथा में) है।

कारणकार्यविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरवि, सम्यक्तिज्ञानयोः सुघटम्।।३४।।

३४ (गाथा में) है। '**प्रकाश दीपक की ज्योति से होता है उसी प्रकार...**' देखो ! दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। है साथ में। दीपक और प्रकाश है साथ में लेकिन दीपक कारण है, उजाला-प्रकाश कार्य है। एकसाथ में दोनों कारण-कार्य रहते हैं। समझ में आया ? पूर्व की पर्याय को कारण कहते हैं, पीछे की पर्याय को कार्य कहते हैं। ऐसा भी है और वर्तमान भी दर्शन कारण, सम्यग्ज्ञान कार्य - ऐसा युगपद् कारण-कार्य भी है। वीतराग की शैली समझनी चाहिए। समझ में आया ?

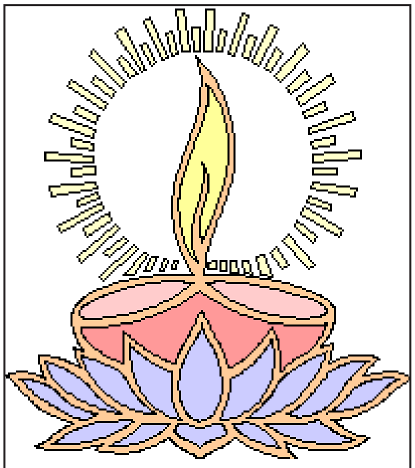

दर्शनज्ञान में अंतर

मुमुक्षु :- ... प्रकाश को कारण और दीपक को कार्य कहाँ...

उत्तर :- नहीं, नहीं, नहीं। प्रकाश कारण और दीपक कार्य, ऐसा नहीं। साथ में है फिर भी दीपक मुख्य वस्तु है। (दीपक) हो तो (प्रकाश) होता है। दीपक हो तो प्रकाश होता है। प्रकाश हो तो दीपक है, ऐसा नहीं। दीपक है तो प्रकाश है। आगे लेंगे। समझ में आया ? दीपक बिना प्रकाश कैसा ? प्रकाश है, दीपक नहीं ! साथ में है फिर भी दीपक है तो प्रकाश है, ऐसा है। कारणपना दीपक में है। समझ में आया ?

ऐसे विशिष्ट कारणपना सम्यग्दर्शन में है। विशिष्ट कारण-सम्यग्दर्शन अखंड पूर्णानंद प्रभु की अंतर में विकल्प रहित श्रद्धा होना वह दर्शन है तो ज्ञान कार्य कहने में आता है। आहा..हा... ! युगपद् साथ में होने परभी, कारण-कार्य साथ में भी होता है। समझ में आया ? एकान्ती अज्ञानी तो कारण-कार्य साथ में मानता नहीं, एकान्त मानता है (कि), साथ में नहीं, आगे-पीछे होता है। आगे-पीछे एकान्त मानना और साथ में नहीं मानना, एकान्त साथ में

मानना और आगे-पीछे नहीं मानना। पूर्व की पर्याय कारण और उत्तर पर्याय कार्य - ऐसा भी शास्त्र में (आता) है। समझ में आया ?

ज्ञान के तीन भेद-दोष है न ? कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास, स्वरूपविपर्यास। ये तीन दोष अज्ञान में है। अज्ञानी जानता तो है कि, आत्मा है, लेकिन उसके कारण में विपर्यास होता है कि, आत्मा का कर्ता कोई ईश्वर है या सर्वव्यापक कोई ब्रह्म है। समझ में आया ? ऐसा माननेवाला कारणविपर्यास में मिथ्यादृष्टि है, वह आत्मा को मानता नहीं। समझ में आया ? आत्मा को माने लेकिन आत्मा का कारण ऐसा माने कि, कोई ईश्वर (कारण है) या सर्वव्यापक ब्रह्म है - ऐसा माननेवाला कारणविपर्यास मिथ्यादृष्टि है। उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ?

भेदाभेद विपर्यास आता है। जगत में कोई ब्रह्म है, उसके साथ आत्मा अभेद है- ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। समझ में आया ? आत्मा में सर्वथा गुण-गुणी भेद है - सर्वथा भेद है - ऐसा मानना भी मिथ्याज्ञान है। ज्ञान के बहुत भेद है, लेकिन जिसे समझने की जरूरत लगी हो, उसकी बात है कि नहीं ? समझ में आया ? अनादिकाल से मिथ्याज्ञान में भी भूल है। समझ में आया ?

'टोडरमलजी' ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहा है कि, मिथ्यादर्शन है तो मिथ्याज्ञान है। दर्शन के कारण ही मिथ्याज्ञान हुआ, उसमें ज्ञान में क्या दोष आया ? समझ में आया ? तो कहा कि, ज्ञान, अपना प्रयोजन सिद्ध करना है उसका तो ज्ञान करता नहीं और वह ज्ञान अप्रयोजनभूत बात का ज्ञान करता है। अपना प्रयोजन सिद्ध होता है ऐसा ज्ञान, आत्मा का (और) जड़ का भेदज्ञान तो करता नहीं और वह ज्ञान अप्रयोजनभूत सब बात (जानता है)। कथा-वार्ता, शास्त्र की बात का ज्ञान कर ले, अप्रयोजन को जाने और प्रयोजन को नहीं जाने, वही ज्ञान का दोष है। समझ में आया ? वास्तविक आत्मा और जड़ से भिन्न क्या चीज़ है ? उसको तो ज्ञान जाने नहीं और ज्ञान दूसरी बात बहुत जाने। वार्ता, कथा, शास्त्र, जगत के अनेक प्रकार (जाने)। वह तो अप्रयोजनभूत है, उसमें कोई आत्मा की सिद्धि है नहीं। समझ में आया ? वह कहते हैं, देखो ! सम्यग्ज्ञान भिन्न है। उसका विपर्यास-विपरीत कारण रहित,

भेदाभेद रहित, स्वरूप विपर्यास रहित जो ज्ञान होता है, उसे सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान कहने में आता है।

'भावार्थ :- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि...' यद्यपि अर्थात् जो कि। **'एकसाथ प्रकट होते हैं...'** प्रकट तो एकसाथ होते हैं। भावार्थ है न ? भावार्थ। इस और है, ९४ पन्ना है। **'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एकसाथ ही प्रकट होते हैं...'** अंतर आत्मभान होने के समय दर्शन-ज्ञान एकसाथ (प्रकट होते हैं) **'तथापि वे दोनों भिन्न भिन्न गुणों की पर्यायें हैं।'** गुण की पर्याय, ये सब कहाँ सीखना ?

आत्मा में दर्शनगुण-श्रद्धागुण त्रिकाल है और ज्ञानगुण त्रिकाल है। दो गुण हैं, ऐसे अनंत गुण हैं। अकेला आत्मा आत्मा करे, ऐसे नहीं चलता। अनंत गुण है, उसमें एक श्रद्धागुण है, एक ज्ञानगुण है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की सच्ची पर्याय है और ज्ञानगुण की सम्यग्ज्ञान सत्य पर्याय है। दो गुण की दो पर्याय हैं, दोनों भिन्न हैं। पर्याय जाननी नहीं, गुण जानना नहीं और आत्मा का ज्ञान हो जाये, ऐसे नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है। समझ में आया ? आत्मा है, उसमें श्रद्धागुण त्रिकाल है, श्रद्धागुण त्रिकाल है। उसमें पुण्य से धर्म होता है, पाप में मजा आता है, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, सुख आत्मा में नहीं, पर में है - ऐसी विपरीत मान्यता है, वह त्रिकाल श्रद्धागुण की विपरीतपर्याय है, अशुद्धपर्याय है। कहो, समझ में आया ? और सम्यग्दर्शन की पर्याय जो सच्चीपर्याय है वह श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है। समझ में आया ? वह पर्याय है, गुण नहीं, गुण तो त्रिकाल है।

मुमुक्षु :- अशुद्ध सम्यग्दर्शन...

उत्तर :- अशुद्ध सम्यग्दर्शन का किसने कहा ?

श्रद्धागुण आत्मा में त्रिकाल है। आत्मा त्रिकाल है ऐसे गुण भी त्रिकाल है। उसकी मिथ्यापर्याय जो श्रद्धा होती है (अर्थात्) राग से मुझे धर्म होगा, परमार्थ धर्म-निश्चय आत्मा का धर्म (होगा); पर से मेरा कल्याण होगा, मेरे से पर का कल्याण होगा। ऐसी मान्यता। आत्मा में सुख नहीं लेकिन पर में सुख है, राग, धूल में - पैसे में सुख है, ऐसी अंतर मान्यता

जो है, यह मान्यता आत्मा के श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय, अशुद्धपर्याय है, मलिनपर्या है, दु:खरूप अवस्था है। अब आगे शुद्धपर्याय कहते हैं।

'सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है...' सम्यग्दर्शन क्या है ? आत्मा त्रिकाल है। श्रद्धागुण भी त्रिकाल है। उसकी वर्तमान क्षणिक एक समय की श्रद्धागुण की सम्यक्-सत्य शुद्धपर्याय है। वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन शुद्ध अवस्था है, शुद्ध अवस्था है, पवित्र अवदशा है, निर्मल अवदशा है, आनंद अवदशा के साथ पर्याय प्रकट होती है। आहा..हा...! कहो, समझ में आया ? क्या कहा ? पहले जैसे नहीं कहा।

मुमुक्षु :- ऐसा करे तो ऐसे के ऐसे करे तो ऐसे उसमें मेल न हुआ।

उत्तर :- इसमें तो अभेद कहना है, इसलिये विस्तार नहीं आया। पहले तो भेद कहना था न ? (इसलिये विस्तार आया था)।

आत्मा वस्तु... वस्तु अनादि अनंत (है) उसमें श्रद्धागुण भी अनादि अनंत है। उसका अंतर में अनुभव करके, रागरहित होकर... राग है सही, संयोग है, कर्म है, निमित्त है, उसकी दृष्टि हटाकर अपने आत्मा में एकरूप अभेद श्रद्धा करना, अभेद आत्मा की अंतर निर्विकल्प श्रद्धा करना। वह श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय, प्रकट पर्याय को शुद्ध कहते हैं, वहाँ से मोक्ष का मार्ग शुरू होता है। कहो, समझ में आया ? श्रद्धा ऐसा मानती है कि, मैं परिपूर्ण हूँ, मेरे में आनंद है। ठीक ! सम्यग्दर्शन की पर्याय ऐसा मानती है। यह तो ज्ञान के साथ की बात है। मैं परिपूर्ण हूँ उसमें तो ज्ञान आ जाता है। मैं परिपूर्ण हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अबेद हूँ, एक हूँ - ऐसी श्रद्धागुण की पर्याय सारे आत्मा को भूतार्थ एक स्वभाव को मानती है। आहा..हा...! कठिन बात है, भाई ! मूल बात ही (रही नहीं), एक अंक के बिना की सभी बातें, एक क्या है उसे भूल गये। जो अनंत काल में प्रकट नहीं किया और जो प्रकट करने से ही जन्म-मरण का नाश होता है, ऐसा सम्यग्दर्शन उसको कहते हैं।

क्या सम्यग्दर्शन की पर्याय परसन्मुख की प्रतीत करने से होती है ? सम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय है। किसकी ? आत्मा की। और श्रद्धागुण किसका है ? आत्मा का। आत्मा का श्रद्धागुण और आत्मा के सन्मुख की पर्याय बिना सम्यग्दर्शन की पर्याय कहाँ से होती है ? समझ में

आया ? क्या कहा ? श्रद्धा और आत्मा। आत्मा वस्तु और श्रद्धागुण। वह तो अपना निज स्वरूप है। अपना निज स्वरूप है, उसके सन्मुख दृष्टि हुए बिना उसकी श्रद्धा और उसके ज्ञान की शुद्धपर्याय कहाँ से होगी ?

जिसमें शुद्ध श्रद्धाशक्ति पडी है और शुद्ध द्रव्य है, उसकी अंतर प्रतीत किये बिना शुद्धपर्याय कहाँ से होगी ? क्या रागमें से आती है ? निमित्तमें से आती है ? परमें से आती है ? पर में श्रद्धागुण है ? आत्मा का श्रद्धागुण राग में है ? आत्मा का श्रद्धागुण निमित्त में है ? आत्म ाका श्रद्धागुण देव-गुरु-शास्त्र में है ? आत्मा का श्रद्धागुण क्या मंदिर में है ? आत्मा का श्रद्धागुण क्या 'सम्मेदशिखर' में है ? कहाँ है ? कहते हैं कि, भगवान आत्मा, जिसमें श्रद्धागुण त्रिकाल ध्रुव पडा है, उसकी और अंतर सन्मुख होकर, है उसमें से पर्याय प्रकट हो, उसका नाम श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय कहने में आती है। आहा..हा... !

अरे.. ! उसके निजघर की बात कभी सुनी नहीं। परघर की बात अनादि काल से (सुनी है।) यहाँ तो परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ वीतराग समवसरण में सो इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान की दिव्यध्वनि आती थी। अरे.. ! आत्मा ! वही यहाँ संत कहते हैं, उसी परम्परा से 'दौलतरामजी'ने ढाल बनाई है। घर की कल्पना से नहीं बनाया। भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर सर्वज्ञदेव, जिनको एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में तीनकाल-तीनलोक जानने में आये, ऐसे परमेश्वर के मुख से दिव्यध्वनि निकली। दिव्यध्वनि। दिव्य अर्थात् प्रधान आवाज। ॐ आवाज निकली।

सो इन्द्रों की उपस्थिति में (निकली)। शक्रेन्द्र, ईशान इन्द्र आदि स्वर्ग के इन्द्र भी उपस्थित थे। गणधर-सन्तों के नायक गणधर की उपस्थिति में भगवान की वाणी में ऐसा आया। समझ में आया ? कि, तेरी सम्यग्दर्शन की पर्याय कहाँ से आती है ? किस खान में पड़ी है ? क्या राग-विकल्प उठते है उसमें गुण है कि उसमें से पर्याय आती है ? शरीर में श्रद्धागुण है कि उसमें से पर्याय आती है ? श्रद्धागुण का सम्यक् परिणमन (होना), उसका नाम शुद्धपर्याय सम्यग्दर्शन है। आहा..हा... ! समझ में आया या नहीं ? आहा..हा... ! बडी सूक्ष्म बात है।

जिसमें पड़ा है, कोठी में अनाज पड़ा हो तो कोठीमें से निकले। खाली हो तो कहाँ से निकले ? कुएँ में... आपके यहाँ कहाँ से पानी आता है ? कुएँ में ? ठीक ! भगवान यहाँ तो कहते हैं, भाई ! जिसमें हो उसमें से निकले। प्राप्त की प्राप्ति है। है उसमें से आता है। कुएँ में पानी हो तो अवेडा। अवेडा क्या कहते हैं ? अवेडा कहते हैं ? बाहर निकलाता है न ? बाहर थोडा होज होता है ना ? और पशु पीते हैं। पशु को पीने को कुएँमें से बाहर निकालते हैं न ? हमारे यहाँ अवेडा कहते हैं। अवेडा। कुएँ मे है उसमें से पानी निकालकर, कूंडु होती है कुंडी में (भरते है)। कुएँ में है वह कुंडी में आता है या कुएँ में नहीं है और कुंडी में आता है ?

वैसे भगवान आत्मा अन्तर अनन्त गुण का बड़ा कुआ है। ऐसी अनंत गुण की थैली आत्मा है। गुण की थैली। आहा..हा...! पैसे की थैली में अज्ञानी को गुदगुदी हो जाती है। हीरा, माणेक भरे हो तो आ..हा..हा...! (हो जाता है)। मूढ है, धूल में क्या है ? ऐ...ई...! धूल में आत्मा कहाँ आया ? उससे आत्मा में क्या लाभ हुआ ? धूल धूल का काम करे, आत्मा भिन्न है।

यहाँ तो यह बताना है कि, आत्मा का सम्यग्दर्शनरूपी कार्य, वह कार्य जिसमें श्रद्धागुण पड़ा है और श्रद्धागुण का धरनेवाला आत्मा है, उससे वह कार्य होता है, दूसरे से होता नहीं। भाई ! क्या सुन रहे हो ? पहले न कहते थे। सुनते हैं और होता है, ऐसा आप कहते थे। (गुरु से होता है), ऐसा कहते थे। (वह) विपरीत था। समझ में आया ? क्या तुम्हारी श्रद्धापर्याय जो अवस्था है, वह गुरु में रहती है ? भगवान में रहती है ? तेरा गुण क्या भगवान में रहता है ? तेरा गुण तो तेरे आत्मा में अंदर है।

मुमुक्षु :- मदद करे... मदद।

उत्तर :- मदद कैसी ?

भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण गुण से भरा, जो शक्ति है उसमें से श्रद्धा आती है। उसका अंतरलक्ष्य करने से पर्या प्रकट होती है। बस ! दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन का कारण ही सारा द्रव्य है। भूतार्थ वस्तु कारण है, दूसरा कोई कारण है नहीं। ऐसी सम्यग्दर्शन की पर्याय है। तब सम्यग्दर्शन को कारण कहने में आता है और बाद में साथ में

सम्यग्ज्ञान हो, उसे कार्य कहने में आता है। है तो एकसाथ-युगपत्। उसमें कारण-कार्य का भाव कहने में आता है। समझ में आया ? देखो !

'सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है, और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है।' देखो ! तीसरी पंक्ति है। पंक्ति कहते हैं न ? लाईन, तीसरी लाईन है, देखो ! ९५ (पन्ना) है न ? ९५ पन्ना है। सम्यग्ज्ञान। आत्मा में ज्ञान, सारे चैतन्य में केवलज्ञान भरा है। केवलज्ञान अर्थात् केवलपर्याय नहीं। केवल-ज्ञान, एक ज्ञान, एक ज्ञान, एक ज्ञान त्रिकाल। द्रव्य त्रिकाल, ज्ञानगुण त्रिकाल। द्रव्य त्रिकाल, ज्ञानगुण त्रिकाल। उसके लक्ष्य से वर्तमान क्षणिक पर्याय उत्पन्न हो उसका नाम सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की पर्याय है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है, एक समय में साथ में उत्पन्न होती हैं फिर भी श्रद्धागुण को कारण और ज्ञान को कार्य कहने में आता है। समझ में आया ? क्यों (भाई) ? वह तो वकील है, वकील। दिमागवाला है न ? एल.एल.बी. पास हुआ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पैसा...

उत्तर :- पैसे का क्या काम है ? उसके पिताजी कहते हैं कि, भाई पैसा नहीं कमाता है। यहाँ आत्मा की पर्याय कमाने दो न, भैया ! बाहर कमा कौन सकते हैं ? पूर्व का पुण्य हो तो आता है, पुण्य नहीं हो तो लाख करोड (कुछ भी करो पैसा मिलता नहीं)। 'हुन्नर करो हजार, भाग्य बिन मेले नहीं कोढ़ी' एस पैसा भी मिले नहीं। समझ में आया ? कहो, बराबर होगा या नहीं ? भाई !

कहते हैं, '**पुनश्च सम्यग्दर्शन का लक्षण...**' देखो ! '**सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धा है...**' देखो ! दोनों के लक्षण भिन्न हैं। भगवान आत्मा की श्रद्धागुण की जो पर्याय सम्यक् पर्याय हुई, जो शांति, आनंद के साथ पर्याय हुई, जो मोक्ष की पहली सीढ़ी है, मोक्ष की पहली सीढ़ी है, उसका लक्षण क्या ? विपरीत अभिनिवेश-विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धान। उसमें सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा किंचित् रहती नहीं। सात तत्त्व, हाँ ! अज्ञानी अकेला आत्मा... आत्मा करे - ऐसा नहीं।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग, जिनके मुख में सात तत्त्व आये, सात में

जीव और अजीव दो द्रव्य हैं। जीव और अजीव दो द्रव्य हैं और पाँच उसकी पर्याय हैं। पर्याय। सामान्य और विशेष। जीव और अजीव सात तत्त्व में दो पदार्थ हैं और पाँच उसकी विशेष... विशेष... दशा-अवस्था-हालत है। ऐसा सामान्य-विशेष मिलकर सात तत्त्व होते हैं। सामान्य-विशेष में विपरीत श्रद्धा बिना जो यथार्थ श्रद्धा है, उसे भगवान तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। समझ में आया ? सामान्य और विशेष दूसरे में कहाँ है ? भाई ! ये सामान्य-सामान्य कहते हैं। सामान्य के साथ विशेष पर्याय है। श्रद्धा करना वह विशेष है, सम्यग्ज्ञान विशेष है; द्रव्य नहीं, गुण नहीं। आहा..हा... !

सात तत्त्व में आस्रव में पुण्य-पाप समा जाते हैं, तो नव कहते हैं। सात में भी जीव और जड़ दो पदार्थ सामान्य वस्तु (हैं) और उसमें उसकी पाँच पर्याय हैं। आस्रव, बंध, आस्रव में पुण्य-पाप आया। वह जीव की विकारी पर्या है। जड़ में जड़ की (पर्याय है)। औरसंवर, निर्जरा, मोक्ष जीव की निर्मल पर्याय विशेष है, निर्मल पर्याय विशेष है। संवर, निर्जरा शुद्धपर्याय अपूर्ण है, मोक्षपर्याय शुद्धपर्याय पूर्ण है। ऐसे सात तत्त्व जैसे हैं, ऐसी विपरीत श्रद्धा रहित, विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धा करनी, उसका नाम तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हैं न ? सम्यग्ज्ञान कालक्षण दूसरा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'**और सम्यग्ज्ञान का लक्षण...**' देखो ! '**संशय आदि दोष रहित...**' यह दूसरा लक्षण (है)। नीचे (फूटनोट में) है। 'संशय, विमोह, अनिर्धार।' है ? नीचे है, पहली पंक्ति है। संशय-सम्यग्ज्ञान में संशय नहीं होता। क्या (कहा) ? यह चांदी होगी या शीप ? शीप है या चांदी है ? मुझे पता नहीं। समझ में आया ? कुछ मालूम नहीं वह अनध्यवसाय है। यह तो चांदी को शीप मानना, शीप को चांदी ही मानना वह विपर्यास है। संशय (अर्थात्) कुछ होगा। होगा, अपने को कुछ मालूम नहीं। वह संशय है। ज्ञान में ऐसा संशय नहीं। विमोह नाम विभ्रम-विपर्यास नहीं और अनिर्धार अनध्यवसाय नहीं। वह तो अर्थ किया है, विमोह की व्याख्या की है। कोष्टक में शब्द हैं न ? विमोह अर्थात विभ्रम और विपर्यय।

देखो ! सम्यग्ज्ञान कैसा होना चाहिए ? जिसमें संशय नहीं (होता)। क्या है ? हमने

आत्मा जाना है या नहीं जाना इसकी हमें खबर नहीं। लो, मूढ है। समझ में आया ? हमारे आत्मा में सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं हमे मालूम नहीं पडता। (ऐसा) ज्ञान में संशय (होना)। यह संशय तो अज्ञान है। अज्ञान में सम्यग्ज्ञान होता नहीं। सम्यग्ज्ञान नहीं है, वहाँ सम्यग्दर्शन है ही नहीं। समझ में आया ? क्या कहा ? संशय... संशय। दो कोटि का ज्ञान। शीप है या सोना ? शीप है या सोना ? शीप है या चांदी ? हमें क्या पता ? हमारे अनंत भव जन्म-मरण भगानने देखे होंगे तो हमे क्या पता ? मूढ है। तेरा ज्ञान ही अज्ञान है। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान में संशय नहीं होता। मेरे अनंत भव होंगे ? समझ में आया ? तो सम्यग्ज्ञान है ही नहीं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के साथ होता है। सम्यग्ज्ञान में संशय होता नहीं। क्या होगा ? भगवान ने हमारे अनंत भव देखे होंगे... समझ में आया ? मूढ है। तेरा ज्ञान ही अज्ञान है, तेरी श्रद्धा ही मिथ्यात्व है। भगवान की श्रद्धा तुने की ही नहीं। ऐ..ई.. !

मुमुक्षु :- द्रव्यलिंगी मुनि..

उत्तर :- द्रव्यलिंगी मुनि को अन्दर तीनों होते हैं। संशय में थोडा स्पष्ट करते हैं न। समझ में आया ? ये ज्ञान के दोष हैं। जहाँ संशय है, वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं तो जहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं है। वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं है। सम्यग्दर्शन है, वहाँ सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान है, वहाँ संशय नहीं होता। समझ में आया ? यह तो समझ में आता है या नहीं ? भाई ! थोडा... थोडा। ठीक है। आज तो बहुत सूक्ष्म बात आयी है। 'कलकत्ता' में व्यापार में सब समझ में आता है, ये तो कभी-कभी सुनने मिलता है। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! तेरे घर की तेरी बात है, यह तो तेरे घर की बात है।

यहाँ तो कहते हैं कि, ज्ञान का दोष भिन्न है। दर्शन का गुण भिन्न है, ज्ञान का गुण भिन्न है। दर्शन (तो) विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान, बस, इतना ! ज्ञान में संशय नहीं। संशय नहीं, संदेह नहीं। संदेह नहीं कि, मैने आत्मा का ज्ञान किया है या मुझे उसका ज्ञान नहीं है ? यह तो संशय है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। ऐसा जहाँ ज्ञान में संशय है, वहाँ सम्यग्दर्शन है ही नहीं। सम्यग्दर्शन का कार्य सम्यग्ज्ञान है, उस सम्यग्ज्ञान में संशय होता ही नहीं। क्या कहा ? भाई ! क्या कहा समझे ?

भगवान आत्मा वस्तु अखंडानंद प्रभु, उसकी प्रतीत-श्रद्धा सम्यक् हुई तो सम्यग्दर्शन में कारण आत्मा हुआ और कारण हुआ तो सम्यगदर्शन की पर्याय उसकी कार्य हुई। सम्यग्‌दर्शन में सारा आत्मा ही प्रतीत में-श्रद्धा में आया। ऐसी श्रद्धा के साथ जो ज्ञान हुआ उसमें संशय नहीं रहता। सारा द्रव्य भवरहित है, स्वभाव भवरहित, रागरहित है। राग और विकल्प से रहित मेरा सारा आत्मा है, ऐसे जब द्रव्य को कारण बनाकर सम्यग्दर्शन हुआ तो सम्यग्ज्ञान मे संशय नहीं। मेरे अनंत भव होंगे या नहीं ? अनंत क्या, भव ही मेरे में नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? भव तो विकार का फल है, भव तो विकार का फल है। विकार मेरे में नहीं - ऐसी दृष्टि होकर तो सम्यग्दर्शन हुआ है। भाई ! आहा..हा... ! ये थोडी सूक्ष्म बात आयी है।

मुमुक्षु :- बहुत अच्छी आई... गुजराती में फिर से सुनाईएगा।

उत्तर :- ना, हिन्दी में ठीक चल रहा है। सेठ आये हैं, सेठ थोडा सुने तो सही। मुश्किल से लाये हैं, (यह मुमुक्षु) लाये हैं। थोडी उदारता रखनी। पूरी जिंदगी में अभी आये हैं। यहाँ (एक मुमुक्षु) रहते हैं तो चलो, चलते हैं। इसलिये थोडा हिन्दी (लिया), गुजराती तो समझे नहीं। समझ में आया ? यह तो गुजराती जैसी ही भाषा है। आप जैसी हिन्दी बोलते हो, वैसी हमारी हिन्दी नहीं है। समझ में आया ? भाई ! ये लोग हिन्दी बोले ऐसी हिन्दी नहीं है। ये लोग जब बोलते हैं, तब लगे कि गडबड जैसी लगती है। यहाँ तो साधारण कामचलाउ हिन्दी होता है। कामचलाउ। समझ में आया ? क्या कहा ?

संशय। सम्यग्ज्ञान में क्या कहा ? देखो ! **'संशय आदि दोष रहित स्व-पर का यथार्थतया निर्णय...'** इसमें से अब निकालना है। क्या ? कि, स्व नाम आत्मा। ज्ञानानंदस्वरूप मैं हूँ - ऐसी प्रतीत हुई, उसके साथ ज्ञान हुआ और पर यहाँ तो स्व-पर है न ? दो है न ? ज्ञान है कि नहीं ? अपना ज्ञान हुआ तो उसके साथ राग, शरीर आदि अल्प है, बस इतना। अनंत भव है - ऐसा राग नहीं। अनंत भव है - ऐसा कर्म नहीं। ज्ञान में ऐसी पर की अस्तित्वता, राग की और कर्म की अस्तित्वता उसमें है, मेरे में नहीं। स्व का और पर का ऐसा नि:संशय ज्ञान (हुआ), उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। क्या आया ? थोड़ी सूक्ष्म (बात) आयी है तो थोडा अधिक (स्पष्टीकरण) करेंगे। क्या कहा ?

आत्मा अपना पूर्ण शुद्धस्वरूप श्रद्धा में सम्यक् में लिया तो उसके सम्यग्ज्ञान हुआ। श्रद्धा में तो अभेद है। अब ज्ञान में स्व-पर (है)। पहले आ गया था। उसमें ऐसा था न ? देखिये ! '**स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत**' दूसरी पंक्ति।

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,

स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान।।१।।

नीचे भी 'प्रमेयरत्नमाला' का दिया है न ? '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं**' भाई ! '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं**' ठीक है ? अब उसमें से निकालना है। क्या निकालना है ? देखो ! स्व और पर। अपना आत्मा अभेद शुद्ध अखंड ज्ञान, दर्शन में प्रतीत हुआ तो उसके साथ ज्ञान (भी हुआ)। उसमें (-श्रद्धा में) तो अभेद की प्रतीत हुई। अब ज्ञान हुआ। सम्यग्दर्शन कारण, ज्ञान कार्य। निश्चय से तो आत्मा कारण है, ज्ञान कार्य है। लेकिन पर्याय में सम्यग्दर्शन कारण और ज्ञान कार्य। ये सम्यग्ज्ञान कैसा है ? संशय बिना का। यह स्व-पर का ज्ञान है। कैसा ? कि, स्व-मैं अखंड शुद्ध हूँ, मेरी इतनी निर्मल पर्याय प्रकट हुई है और मलिन आदि पर्याय अल्प है, कर्म का संबंध भी अल्प रहा। कैसा ? कि, मेरे अनंत भव हैं - ऐसा भाव नहीं। अनंत भव है - ऐसा कर्म का निमित्त नहीं। समझ में आया ?

अनंत भव का अभावस्वभावरूप भगवान आत्मा, यह आत्मा। देखो ! यहाँ सात तत्त्व की श्रद्धा में निकालते हैं। सम्यग्दर्शन में आत्मा की प्रतीति हुई, पर्याय में भान हुआ। साथ में ज्ञान ऐसा होता है - '**स्वापूर्वार्थव्यसायात्मकं।**' स्व-मैं शुद्ध हूँ, मेरी पर्याय भी संवर, निर्जरा आदि शुद्ध हुई है और रागादि थोडे हैं और कर्मादि हैं, उसका ज्ञान है। पर वह ज्ञान कैसा है ? कि, यह ज्ञान ऐसा मानता है कि, मुझे भव ही नहीं। स्वभाव में नहीं है तो मेरे भव नहीं है। अब रागादि अल्प रहे हैं, वह अनंत भव का कारण नहीं है। एकाद भव का कारण (है) लेकिन वह तो ज्ञान में पर का निश्चय आ गया। पर का निश्चय आ गया कि राग है, कर्म है, बस, इतना पर है, इतना। परंतु ये पर मेरे से पृथक् हैं। मुझे भव के अभाव भावरूप स्वभाव की प्रतीति हुई तो ज्ञान भी (ऐसा हुआ कि), मुझे भव है ही नहीं और अल्प रागादि है उसमें - राग में, पच्चीस-पचास भव कर दे, ऐसी राग की ताकत नहीं है। कर्म में निमित्त में भी पचीस-पचास भव कर

दे – ऐसी कर्म में–निमित्त में ताकत नहीं है। समझ में आया ? कठिन बात है, भाई ! ए..ई.. !

'स्वापूर्वार्थ' कहा न ? भाई ! वस्तु के ज्ञान में ऐसा आ गया। राग मेरा नहीं, कर्म मेरा नहीं, और (बाकी) रहा उसमें इतनी ताकत नहीं कि, मेरे में तीव्र विकार हो, उसमें निमित्त में ऐसी ताकात नहीं। समझ में आया ? अनंतानुबंधी का तीव्र राग है, उसमें निमित्त हो – ऐसा कर्म नहीं, यहाँ अनंतानुबंधी का विकार नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! कठिन बात है, भाई ! समझ में आया ? नयी (बात) आयी। भगवान... ! (बात तो) आते–आते आती है।

यहाँ ज्ञान का लक्षण संशयरहित। आत्मा का श्रद्धा का लक्षण विपरीत अभिप्रायरहित। विपरीत अभिप्रायरहित ऐसा भगवान आत्मा (है) – ऐसी श्रद्धा हुआ तो ज्ञान भी ऐसा हुआ। स्व का यथार्थ, पर का यथार्थ। यथार्थ अर्थात् राग है, इतना बंध का कारण है, लेकिन बंध का कारण कितना अल्प रहा है ? कि, अल्प एकाद भव आदि हो इतना बंध का कारण राग रहा है। कर्म भी इतने ही रहे हैं – ऐसी प्रतीत वर्तमान में है। भविष्य में कोई ऐसा आ जायेगा (तो) ? ऐसा है ही नहीं। मेरे इतने जोरदार कर्म आ जाये तो ? (ऐसा संशय होता है तो) मुझे सम्यक् ज्ञान ही नहीं है। ठीक है ? न्याय से है या नहीं ? लोजिक से है या नहीं ? आहा...हा... !

देखो ! क्या कहते हैं ? मात्र लक्षण का फर्क है, लेकिन स्व–पर का ज्ञान है। उसमें स्व की अंतर प्रतीति है। इसमें स्व–पर का ज्ञान (है)। ज्ञान में ऐसा नहीं आता है कि, इतना राग मेरा है कि जिसमें अनंत भव करने की ताकत है। ऐसा राग उसके पास है ही नहीं। और निमित्त में कर्म के – अजीव के संयोग में कर्म की ऐसी ताकात नहीं है – ऐसा मानते हैं कि, मेरे में तो यह है ही नहीं। मेरी चीज़ में तो नहीं है, किन्तु उसमें है – निमित्त होकर यहाँ अशुद्ध उपादान में तीव्र हो, ऐसी बात उसमें है नहीं, मेरे में है नहीं। समझ में आया ? यह बात नई निकली। देखो ! निकल जाये तो हिन्दी में निकल जाये। नहीं निकले तो गुजराती में भी नहीं निकले। कहो !

'सम्यग्ज्ञान का लक्षण संशय...' विमोह–विपरीत नहीं। देखो ! संशय नहीं, विपरीत नहीं। विपरीत–ऊलटा ज्ञान नहीं। जैसा है, वैसा ही उसका ज्ञान है। जैसा है वैसा ही है। विपरीत ज्ञान नहीं। विपरीत का अर्थ किया – विभ्रम और विपर्यय। समझे और तीसरा अनिर्धार है न

अनध्यवसाय। उसका अर्थ अनिर्धार। मुझे मालूम नहीं है, भैया ! मुझे अनंत भव होंगे या नहीं होंगे, मुझे मालूम नहीं पडता। ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञानी का होता नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ज्ञान में इतनी ताकत है। अपना स्वरूप भव-विकाररहित का भान, श्रद्धा हुई, ज्ञान भी ऐसा हुआ कि, स्व तो विकाररहित, भवरहित, भव के भावरहित वस्तु है और थोडा राग रहा वह भी इतना रहा, भव के अभाव का श्रद्धा और ज्ञान हुआ तो राग इतना रह गया है कि, उसमें अनंत भव हो या अनंत जन्म-मरण हो - ऐसा राग या कर्म उसमें है नहीं। ऐसा स्वसहित पर की श्रद्धा, पर का ज्ञान सम्यग्ज्ञानी को संशयरहित, विपर्ययरहित, अनिर्धाररहित (होता है)। अनिर्धार रहित (अर्थात्) निर्धारित होता है। समझ में आया ? अरे.. ! भाई ! आत्मा की श्रद्धा और आत्मा का ज्ञान किसे कहते हैं ? ये लालापेठा है ? लोक में भी जो समझते हैं उसमें उसे संशय होता है ? बराबर है, हमारा ज्ञान बराबर है, हम बराबर जानते हैं (ऐसा कहते हैं)। जिसे व्यापार होता है, जिसकी वकालत हो, डोक्टर हो, बाहर का व्यापार हो, ये मकान का धंधा हो (उसमें) शंका होती है ? २२ मजले का मकान करते थे। (उनकी दुकान में पगला करने गये थे (तब कहते थे), ये हमारा २२ मजले का मकान का धंधा है, उसका नकशा है। नकशा दखिाते हैं, हमारे पास माल नहीं, नकशा बताते हैं। समझ में आता है ? उसे शंका होती है ? हम जो धंधा करते हैं उसमें बराबर फायदा करेंगे। (ऐसा) माने। फिर भी पुण्य हो तो आये, पुण्य नहीं हो तो न आये।

यहाँ तो भगवान आत्मा... देखो ! यहाँ सम्यग्ज्ञान-आत्मा का ज्ञान, उसका नाम ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान में तीन दोष है नहीं। **'स्व-पर का यथार्थतया निर्णय है - इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।'** इसलिए श्रद्धा का आराधन करके, सम्यग्ज्ञान का आराधन करना। यह इसका तात्पर्य है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ७, शनिवार

दि.१२-२-१९६६, गाथा ३, ४, प्रवचन नं.-२४

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। पंडित हुए हैं, दिगम्बर पंडित। करीब २०० वर्ष पहले (हुए हैं)। उन्होंने शास्त्रमें से संक्षिप्त में सार-सार न्याय निकालकर 'छहढाला' बनाई है। चौथी ढाल चलती है, सम्यग्ज्ञान की चलती है। देखो ! उन्होंने शास्त्रमें से निकाला है, अपने घर का कुछ नहीं है। जो संतो ने, मुनियों ने, ज्ञानियों ने जो बात शास्त्र में विस्तार से कही है, उसे संक्षेप में लिखा है। उसे ऐसा कहने में आता है कि गागर में सागर भर दिया। बहुत संक्षेप में बात है, लेकिन उसमें सार है। देखो ! क्या कहते हैं ? अपने यहाँ तक आया है।

सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान होता नहीं और चारित्र होता नहीं, यह बात पहले आ गई है। तीसरी ढाल में आया न ? तीसरी (ढाल)। '**या बिन ज्ञान चरित्रा।**'

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहैं, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।

तीसरी ढाल का १७ वां श्लोक है। समझ में आया ? यह चीज़ क्या है ? अनंतकाल में समझ में आया नहीं। सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान बिना व्रत और तप सच्चा होता नहीं। पुण्य बँध जाये, राग मंद हो (तो) पुण्य बँध जाये, उससे स्वर्गादि (मिले), पैसा मिले (परन्तु) आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आता। वह आगे कहेंगे। समझ में आया ? यह आत्मज्ञान सम्यग्दर्शन बिना होता नहीं। यह बात पहली (है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान और चारित्र को सम्यक्ता लागू होती ही नहीं। यह पहले कह गये हैं। सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, वह बात कह गये हैं।

अपना आत्मा परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि भली है। आया है या नहीं ? थोडी बात कंठस्थ

है, थोडी बात है, पूरी नहीं है। (हमारे इस भाई को) सारा कंठस्थ है। अपने प्रमुख है न ? (उनको) सारा कंठस्थ, सारा कंठस्थ (है)। समझ में आया ? पहले आ गया है। आत्मद्रव्य, परद्रव्य से भिन्न (है) यह पहले आ गया है। भगवान आत्मा..! आत्मा अर्थात् क्या ? उसमें अनंत ज्ञान, अनंत शांति, अनंत आनंद अंतर में पडा है। ऐसे आत्मा की परपदार्थ से भिन्न (रुचि)। शरीर से, कर्म से, पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे विकार, आस्रव हैं उनसे भी भिन्न, अपना शुद्धस्वरूप का अंतर में सम्यग्ज्ञानपूर्वक अंतरदृष्टि होना। ज्ञानपूर्वक का अर्थ क्या ? अनुभवपूर्वक। अन्दर यह आत्मा ऐसा है। शुद्ध चिदानन्द स्वरूप (है), ऐसे भानपूर्वक प्रतीति होनी, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। अनंतकाल में नहीं प्रकट की ऐसी चीज है। समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दर्शन हो तो भी ज्ञान की आराधना भिन्न करनी चाहिए, यह बात चलती है।

सम्यग्दर्शन हो तो भी सम्यग्ज्ञान (की) नर्मलता विशेष करने के लिये शास्त्र का, तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान तो आत्मा का है, लेकिन उस ज्ञान में निर्मलता लाने को सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्र और व्रत लेने से पहले, ऐसे सम्यग्ज्ञान का विशेष आराधन, सेवन पहले करना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान होता नहीं और ज्ञान आया तो ज्ञान की आराधना विशेष करना।

अब, यहाँ कहते हैं, देखो ! सम्यग्दर्शन को कारण कहा है, सम्यग्ज्ञान को कार्य। कहते हैं कि, '**सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...**' दूसरा पेरेग्राफ है। '**तथा सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...**' यह बात थोडी सूक्ष्म है। आत्मा अंतर में पुण्य-पाप के भाव से भिन्न, शरीर से भिन्न, आत्मा आनंदस्वरूप है – ऐसी अंतर में प्रतीति सम्यग्दर्शन का होना, यह कारण है और साथ में सम्यग्ज्ञान होना, यह कार्य है। दोनों है तो पर्याय। आत्मा की सम्यग्दर्शन – धर्म की पहली पर्याय हो यह है तो पर्याय और साथ में ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी है तो पर्याय, लेकिन जैसे दीपक पहले होता है तो दीपक के पीछे प्रकाश-उसका कार्य उत्पन्न (होता है)। वैसे उत्पन्न तो साथ में होता है, परंतु दीपक को कारण कहते हैं और प्रकाश को कार्य कहते हैं। ऐसे भगवान आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव में प्रतीत करने के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है, परंतु उस ज्ञान को कार्य कहते हैं और दर्शन को कारण कहते हैं।

मुमुक्षु :– ज्ञान साध्य...

उत्तर :– साध्य–साधन का यहाँ काम नहीं है। यहाँ तो कारण की बात है।

'सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...' इस पर वजन है। सुनो ! आत्मा में... पर्याय तो आत्मा की दोनों हैं, एक पर्याय को कारण कहा और दूसरी पर्याय को कार्य कहा। क्यों कहा ? उसका स्पष्टीकरण चलता है। बहुत सूक्ष्म (है)। अनंत काल में अनंत भव हुए, नरक के अनंत, पशु के अनंत, मनुष्य में भी अरबोंपति अनंतबार हुआ और भिखारी भी अनंत बार हुआ, वह कोई नयी चीज़ नहीं है और स्वर्ग में भी अनंतबार उत्पन्न हुआ, नौंवी ग्रैवेयक भी अनंतबार सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना (गया)। यह बाद में आयेगा। 'कोटी जन्म तप तपै' परंतु आत्मज्ञान बिना जन्म–मरण का नाश होता नहीं।

कहते हैं कि, पहले सम्यग्दर्शन को निमित्तकारण कहा। क्यों ? कि, वह है तो अपनी पर्याय और ज्ञान भी अपनी पर्याय है, तो पर्याय–पर्याय में कारण कार्य कहना, सम्यग्दर्शन की पर्याय निमित्तकारण है, ज्ञान की पर्याय नैमित्तिक कार्य है। क्या कहा,समझ में आया ? भगवान आत्मा शुद्ध चिदानंद का सम्यग्दर्शन गृहस्थाश्रम में भी होता है। राजपाट हो, 'भरत' चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्री और ९६ करोड़ सैनिक। वह हमारी चीज़ नहीं, हमारी चीज़ तो अन्तरमें है। उसमें अनंत आनंद और अनन्त ज्ञान भरा है। ऐसा अंतर में अनुभव में प्रतीत हुई, तो कहते हैं कि, वह प्रतीति है तो आत्मा की पर्याय। पर्याय समझते हो ? पर्याय सुनी न हो। अवस्था। आत्मा त्रिकाली वस्तु है। ज्ञान, आनंद आदि त्रिकाली गुण हैं और यह सम्यग्दर्शन उसकी वर्तमान हालत–पर्याय है। क्यों, बराबर है ? युवान के पास तो हाँ कहलावे और क्या करे ? कैसे है ?

भगवान आत्मा... ! यह (शरीर) तो रजकण जड़ मिट्टी है। अंदर शुभ–अशुभभाव होता है वह तो विकार, बंध कारण है। उससे भिन्न भगवान आत्मा का अन्तर में अनुभव करके सम्यग्दर्शन करना। वह सम्यग्दर्शन है तो आत्मा की अवस्था। अवस्था (अर्थात्) पर्याय, कार्य, अवस्था। परंतु सम्यग्दर्शन की पर्याय को कारण कहा। तो क्या कारण ? उपादान कारण है ? उपादानकारण क्या ? उपादानकारण तो आत्मद्रव्य है, उसमें से सम्यग्दर्शन

पर्याय उत्पन्न होती है और सम्यग्ज्ञान की पर्याय भी आत्मद्रव्य की उपादान-मूल कारण से पर्याय उत्पन्न (होती है)। आत्मद्रव्यमें से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान (की) पर्याय होती हैं। समझ में आया ?

ये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान धर्म की अवस्था रागमें से, कर्ममें से, शरीरमें से, परमें से नहीं आती है। सम्यग्दर्शन पर्याय और सम्यग्ज्ञान अवस्था आत्मा वस्तु है, उसमें से आती है। जिसमें पानी भरा है। उसमें से प्रवाह आता है। प्रवाह। भगवान आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत श्रद्धा की शक्ति आदि अन्दर में पडी है। समझ में आया ? उसमें से सम्यग्दर्शन की (पर्याय उत्पन्न होती है)। सम्यग्दर्शन का उपादानकारण द्रव्य है। उपादान समझे ? मूल कारण। और सम्यग्ज्ञान जो उत्पन्न हुआ, आत्मा क्या ? आत्मा ज्ञानमय, अनंत आनंदमय शुद्ध (है), ऐसा भान (हुआ वह) सम्यग्ज्ञान, इस सम्यग्ज्ञान का उपादानकारण तो आत्मा का ज्ञानगुण है, आत्मा है। दोनों एक ही बात है। उसमें से सम्यग्ज्ञान की पर्याय आती है। सम्यग्ज्ञान की पर्याय राग में से नहीं आती, पूर्व की पर्यायमें से नहीं आती। क्या पूर्व पर्याय... इसमें कितना समझना ? समझ में आया ? संसार में पाप के लिये कितना समझता है ? पाप के लिये पाप है ? क्या है उसमें ? पाप है ? ये सब मकान बनाना, दो-पाँच करोड कमाना अकेला पाप है।

मुमुक्षु :- सुख है।

उत्तर :- दु:ख है, धूल में सुख है ? उसे पैसेवाले को सुखी मानना है। समझ में आया ? दु:ख है, बिलकुल दु:ख है। परपदार्थ की ममता-यह मेरा, मैं उसका यह मिथ्यात्वभाव है; साथ में राग और आकुलता होती है। वह दु:ख है। क्या करे ? अनंतकाल में अपनी चीज़ में आनंद है (उसे जाना नहीं)। आगे कहेंगे। '**ज्ञान समान न आन जगत में**' यह आथा है। दूसरे में सुख नहीं है। समझ में आया ? चौथी गाथा में आयेगा। '**ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन,...**' चौथी गाथा है न ? भाई ! चौथी (गाथा है)। इसमें ९८ (पन्ना) है। अपने दूसरी (गाथा) चलती है। समझ में आता है ? चौथी में है।

ज्ञान समान व आन जगत में सुखको कारन,

इहि परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन।

समझ में आया ? दुनिया में, पैसे में, धूल में कोई सुख नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :– कब ?

उत्तर :– अभी। कब क्या ?

'ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन,...' यह ज्ञान कौन ? आत्मा का ज्ञान। आत्मा शुद्ध आननंदस्वरूप है, उसका ज्ञान, इसके समान जगत में सुख का कारण और कोई नहीं। क्या आया ? पुण्यभाव उत्पन्न होता है, वह भी सुख का कारण नहीं – ऐसा बताते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...! यह तो सादी भाषा में हिन्दी में 'दौलतरामजी' ने 'छहढाला' बनाई। उसका भी अभ्यास नहीं, विचार नहीं, मनन नहीं और आत्मा को कल्याण हो जाये, कहाँ से कल्याण होगा ? सत्य के भान बिना और सत्य की पहिचान बिना कभी कल्याण होता नहीं।

कहते हैं कि, आत्मा में जो शुद्धस्वभाव की श्रद्धा हुई, वह सम्यग्दर्शन (है)। उसे निमित्तकारण कहा, क्योंकि पर्याय है। और ज्ञान जो प्रकट हुआ वह भी है तो आत्मा की अवस्था, परंतु (श्रद्धा की पर्याय को) निमित्त (कहा) तो (ज्ञान की पर्याय को) नैमित्तिक (कहा)। समझ में आया ? कार्य को नैमित्तिक (कहा), कारण को निमित्त (कहा)। क्योंकि उपादान कारण तो है नहीं। दर्शनपर्याय में से ज्ञानपर्याय आती है – ऐसा है नहीं। भगवान आत्मा में अंदर श्रद्धागुण त्रिकाल पडा है उसमें से श्रद्धापर्याय अंतरदृष्टि करने से आती है और ज्ञानपर्याय अंदर ज्ञानगुणमें से सम्यग्ज्ञान पर्याय आती है। यहाँ ज्ञान का मूल कारण सम्यग्दर्शन नहीं है। ज्ञान का मूल कारण तो आत्मद्रव्य है, परंतु सम्यग्दर्शन को कारण कहा वह निमित्तकारण है। निमित्तकारण (अर्थात्) सहचर–साथ में है। निमित्तकारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उसका नैमित्तिक कार्य। है तो दोनों पर्याय, दो हालत, दो दशा। भाई ! क्या करना ? भाषा कोई भी हो लेकिन भाव तो जो है, वही आये न। भाव क्या उसमें दूसरा आता है ?

मुमुक्षु :– ... जो पर्याय में हुआ वह उपादान है न ?

उत्तर :– उपादान की अनंती पर्याय (है), उसमें से एक पर्याय को निमित्त और दूसरे को

नैमित्तिक – ऐसा कहने में आता है। आहा..हा...!

मुमुक्षु :– मात्र कहने के लिए है ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा है। मात्र कहने के लिये नहीं है। कोई गुण की पर्याय अन्य कोई गुण का उपादान नहीं है, वह बात बतानी है। क्या (कहा) ? आत्मा वस्तु है, उसमें अनंत गुण पडे हैं। उसका भान होकर दर्शन–ज्ञान हुआ तो एक पर्याय का दूसरी पर्याय मूल कारण नहीं। ऐसे एक गुण का दूसरा गुण मूल कारण नहीं। मूल कारण नहीं है और उसे कारण कहना, वह तो निमित्तकारण (हो गया)। जिसे आत्मा का सुख चाहिए उसे समझना पडेगा। चार गति में भटकना हो (तो) भटकते तो हैं, उसमें नयी क्या चीज़ है ? चौरासी के अवतार में अनादि से भटकता है। नरक, निगोद, स्वर्ग, सेठाई सब भटकने का पंथ, परिभ्रमण का (कारण) है। उसमें कोई आत्मा धर्म नहीं है। आहा..हा...!

कहते हैं, '**सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...**' क्यों ? कि, आत्मा की सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दो अवस्था हैं। दो अवस्था का मूल कारण तो आत्मा है। एक पर्याय को कारण कहा और दूसरी पर्याय को कार्य कहा, वह निमित्तकारण और निमित्त कार्य की अपेक्षा से कहा है। '**इस प्रकार इन दोनों में कारण-कार्यभाव से भी अन्तर है।**' दर्शन है वह श्रद्धा से ही प्राप्त होता है और ज्ञानगुण से प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान दर्शनपर्याय से उत्पन्न होता है – ऐसा नहीं। आहा..हा...!

वैसे ही सम्यक्‌चारित्र भी दर्शन है, ज्ञान है उसमें से उत्पन्न नहीं होता। सम्यक्‌चारित्र वीतराग अवस्था, आत्मा अंतर में एकाग्र होकर अंतर आत्मा में वीतरागता नाम का चारित्रगुण पडा है, उसमें एकाग्र होकर वीतराग पर्याय का उपादानकारण आत्मा है, परन्तु चारित्र को कार्य कहते हैं और सम्यग्दर्शन–ज्ञान को कारण कहते हैं। यह आता है, आया है कहीं पर ? कहाँ ? नहीं, पता नहीं है। 'समयसार' में बंधकारण, 'बंध अधिकार' में आया है। 'समयसार' में 'बंध अधिकार'। सम्यग्दर्शन–ज्ञान कारण और सम्यक्‌चारित्र कार्य। समझ में आया ? यहाँ तो अपने दर्शन और ज्ञान केसाथ बात लेनी है। समझ में आया ? बंध... बंध (अधिकार) न ?'**अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप**

ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।' २७३ गाथा है। 'समयसार' 'बंध अधिकार' की २७३ (गाथा है)। क्या कहते हैं उसमें ?

शील पालता है, तप करता है, गुप्ति पालता है, समिति पालता है और महाव्रत पालता है, फिर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान के कारण बिना चारित्रपना उसे होता नहीं। २७३ गाथा है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी। दृष्टि में मिथ्यात्व है, आत्मा की श्रद्धा नहीं, और अज्ञान है-आत्मा का ज्ञान नहीं है तो उसके जो पंच महाव्रतादि परिणाम हैं, वे ज्ञान-श्रद्धा से शून्य हैं। निश्चयचारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान। निश्चय स्वरूप की रमणता, आनंद की रमणता-चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान (है)। यह कारण नहीं है तो सब शून्य है। वहाँ सम्यक्‌चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान को कहा। यहाँ सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन कहा। आहा..हा... ! समझ में आता है ? यहाँ तो बहुतबार आ गया है, चौदह बार प्रवचन हो चुके हैं। यह 'समयसार' तो सभा में (चौदह बार) पढा है। यहाँ बहुत बार पढा है। इसलिए बहुत लोगों को याद है - ऐसा कहने का आशय है। समझ में आया ? चौदहवीं बार पढते हैं। यहाँ (एक मुमुक्षु) थे न ? 'जयपुर'वाले हैं न ? आसो कृष्णपक्ष १०, (संवत) २०१८ की साल। आखिर में चौदहवी बार शुरू किया था। यहाँ मकान का वास्तु था न ? २०१८ की साल, आसो कृष्णपक्ष। हमारी, आप की कार्तिक वदी कहते हैं। दसमी के दिन चौदहवीं बार शुरू किया था। (एक मुमुक्षु ने) उसमें चौदह हजार दिये थे न ? चौदहवीं बार 'समयसार' चलता है तो चौदह हजार देते हैं। यहाँ थे न ? 'जयपुर'वाले हैं। जोहरी। चौदह बार तो सभा में पूरे शास्त्र कास्पष्टीकरण चला है।

वहाँ ऐसा कहा कि, आत्मा में जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होता, तब तक व्रतादि की क्रिया चारित्र को प्राप्त होती नहीं, क्योंकि चारित्र का मूल कारण सम्यक् शांति का (कारण), चारित्र अर्थात् वीतराग आनंद, वीतराग आनंद का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है तो चारित्र होता नहीं। वहाँ चारित्र में सम्यग्दर्शन ज्ञान को कारण कहा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान निमित्तकारण है और चारित्र नैमित्तिक कार्य है। कठिन बात है, भाई ! तत्त्व का अभ्यास (कठिन बहुत है)। अनंत काल में मेरी चीज़ को लाभ कैसे हो - ऐसी दरकार से कभी किया ही नहीं। अंधश्रद्धा, अज्ञानपने अनंतकाल गँवाया। समझ में आया ? 'छहढाला' में इसी में पहले कहा था न ? पहली ढाल में ही नरक के दु:ख का वर्णन किया है। बहुत नरक का दु:ख है। ओ..ह..हो... !

भगवान ! तेरे आत्मा की अंतरदृष्टि के भान बिना तूने अनन्तबार नरक में इतना दुःख सहन किया। पहली ढाल में आया है। नरकयोनि नीचे है। सात नरक है, नीचे सात पाताल हैं। समझ में आया ? हंबग नहीं है। प्रत्येक नरक में आत्मदर्शन बिना, सम्यग्दर्शन बिना अनंतबार उत्पन्न हुआ। आहा..हा...! पहले आया या नहीं ? उसमें नारकी के बहुत दृष्टान्त दिये हैं। देखो ! वहाँ भी कहा था। (दूसरी गाथा में लिखा है)।

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःखतैं भयवन्त;

तातैं दुःखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार।।२।।

देखो ! अन्दर नरक में बहुत दृष्टान्त दिये हैं। नरक का दृष्टान्त (है), देखो ! नारकी को मारते हैं। उसे शिक्षा देते हैं। समझ में आया ? पहली ढाल में है। इसमें है। नारकी है न नारकी ? मारता है। तीसरा पन्ना, हिन्दी में तीसरा पन्ना है। देखो ! चार गति के चित्र दिये हैं। समझ में आया ? देखो ! चार गति दी हैं। इस ओर लकडीवाला (है वह) मनुष्य है। इस ओर देव है, इस ओर पशु है, इस ओर नारकी है। चारों दिये हैं। चार गति में सम्यग्दर्शन बिना अनंतबार चक्कर खाया। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना चारों गति में (गया)। स्वर्ग भी अनंत बार मिला। पहली बार नहीं है। देखो ! स्वर्ग में देव लिया है। वहाँ देव में भी अनन्त बार गया। पुण्य किया, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा शुभभाव है, पुण्य होता है, पुण्य होता है, उससे स्वर्ग मिलता है; जन्म-मरण नहीं मिटते। पापमें से निकलकर स्वर्ग में आया इतना हुआ। फिर वहाँ से निकलकर चार गति में भटकेगा। समझ में आया ?

आत्म सम्यग्दर्शन के बिना, अंक बिना शून्य, शून्य की कीमत है नहीं। इसलिए यहाँ पहली नरक के दुःख का बहुत वर्णन किया है। खाता है, मारता है, देखो ! बहुत दुःख बताये हैं। पराधीन। सिंह मृग को खाता है, देखो ! बैल को काटते हैं। बहुत दृष्टान्त दिये हैं। समझ में आया ? नरक में आत्मा के भान बिना अनन्त बार ऐसा दुःख पाया।

कहते हैं, '**प्रश्न :- ज्ञान-श्रद्धान तो (युगपत्) एकसाथ होते हैं, तो उनमें कारण-कार्यपना क्यों कहते हो ?**' यह बात अपने कल आ गई है।

'**उत्तर :- वह हो तो वह होता है।**' दीपक हो तो प्रकाश होता है, सम्यग्दर्शन हो तो ज्ञान

होता है। **'इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना कहा है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं, तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान भी हैं।'** ''मोक्षमार्गप्रकाशक'' 'दिल्ली' से छपा है ना ?

'जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।' चाहे सो शास्त्र पढ ले, सीखे परन्तु अन्तर अनुभव दृष्टि करके आत्मा आनन्दमय है – ऐसा अनुभव, प्रतीत न हो। तब तक सब ज्ञान मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ? अब ज्ञान की बात करते हैं। देखो, तीसरा श्लोक। ९६ पन्ना।

सम्यग्ज्ञान के भेद, परोक्ष और देशप्रत्यक्ष के लक्षण

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन मांही;
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा;
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा।।३।।

अन्वयार्थ :- (तास) उस सम्यग्ज्ञान के (परोक्ष) परोक्ष और (परतछि) प्रत्यक्ष (दो) दो (भेद हैं) भेद हैं; (तिन मांही) उनमें मति श्रुत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (दोय) यह दोनों (परोक्ष) परोक्ष ज्ञान हैं। (क्योंकि वे) (अक्ष मनतैं) इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से (उपजाहीं) उत्पन्न होते हैं। (अवधिज्ञान) अवधिज्ञान और (मनपर्जय) मन:पर्यय ज्ञान (दो) यह दोनों ज्ञान (देश-प्रतच्छा) देशप्रत्यक्ष। (हैं) हैं; (क्योंकि उन ज्ञानों से) (जिय) जीव (द्रव्य क्षेत्र परिमाण) द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा (लिये) लेकर (स्वच्छा) स्पष्ट (जानै) जानता है।

भावार्थ :- इस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं - (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष; उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [१]परोक्ष ज्ञान हैं, क्योंकि वे दोनों ज्ञान इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को

---

१. जो ज्ञान, इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानता है, उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अस्पष्ट जानते हैं। सम्यक्मतिश्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष होते हैं, उनमें इन्द्रिय और मन निमित्त नहीं हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान [२]देशप्रत्यक्ष हैं, क्योंकि जीव इन दो ज्ञानों से रूपी द्रव्य की द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है।

'सम्यग्ज्ञान के भेद, परोक्ष और...' प्रत्यक्ष। आत्मा का सम्यग्दर्शन जो हुआ उसके साथ सम्यग्ज्ञान, ज्ञान के भेद (बताते हैं)।

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन मांही;
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा;
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा।।३।।

क्या कहते हैं ? आत्मा में आत्मा की सम्यक्दृष्टि का भान होने पर जो सम्यग्ज्ञान होता है, धर्मी को-अंतरदृष्टिवंत को-आत्मा के दर्शनवंत को। गृहस्थाश्रम में हो या त्यागी हो, आत्मदर्शन हो (तब) साथ में ज्ञान होता है उस ज्ञान के भेद की बात भगवान, आचार्य ने जो कहे हैं, वह 'दौलतरामजी' कहते हैं। अपने घर की बात नहीं कहते।

'उस सम्यग्ज्ञान के परोक्ष और प्रत्यक्ष दो भेद हैं;...' सम्यग्ज्ञान के दो भेद। एक प्रत्यक्ष, एक परोक्ष। **'(तिन मांही) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान यह दोनों परोक्षज्ञान हैं।'** यहाँ पहली बात व्यवहार से कही है। आत्मा में मति और श्रुत (ज्ञान) होता है, उसमें इन्द्रिय और मन का निमित्त है। आत्मा का अन्दर अनुभव होता है। उसमें निमित्त नहीं है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में और व्यवहार शास्त्र में वेदन की बात नहीं की है। समझ में आया ?

---

२. जो ज्ञान, रूपी वस्तु को द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है उसे, देशप्रत्यक्ष कहते हैं।

आत्मा गृहस्थाश्रम में भी हो, अन्तर में आत्मज्ञान हुआ है, आत्मदर्शन हुआ है तो जब आत्मा अपने स्वरूप में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान के भेद को दूरकर, अंतर अनुभव में होता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के काल में यह मति-श्रुत (ज्ञान) प्रत्यक्ष हो जाता है। समझ में आया ? बाकी के काल में मति-श्रुत पर का ज्ञान करता है। वह परोक्ष है। आहा..हा... !

वस्तु चैतन्यसूर्य... इन्द्रिय, मन से प्रत्यक्ष धूल लगता है। यह तो बाहर की वस्तु है। यह जानने में आता है। इन्द्रिय और मन के निमित्त से (पर जानने में आता है)। इससे तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जानने में आता है, उससे आत्मा जानने में आता है ? इन्द्रिय और मन के निमित्त से क्या आत्मा जानने में आता है ? इस आँख के द्वारा रूप को देखे। क्या आँख के द्वारा आत्मा को देखता है ? समझ में आया कि नहीं ?

अन्तर में आत्मा का दर्शन हुआ तो अंतरज्ञान में स्व को पकडकर, शांति के वेदन के काल में सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान, पाँचवे गुणस्थान में भी मति-श्रुत का ज्ञान, स्व के अनुभवकाल में स्व की अपेक्षा प्रत्यक्ष हो जाता है। समझ में आया ? आँख बन्द करे तो अंधेरा दिखे। वस्तु के भान बिना कैसे दिखाई दे ? कहा था न ? एक बच्चे की बात कही थी न ? अब दस साल का हुआ है, पहले सात साल का था। 'जामनगर'। महाराज ! आप कहते हो कि, आत्मा देखो। तो हम आँख बन्द करते हैं तो अंधेरा दिखता है। समझे ? वह लडका अब दस साल का हो गया। बहुत प्रश्न करता था, 'आत्मसिद्धि' का प्रश्न किया था। महाराज ! 'आत्मसिद्धि' में १९वीं गाथा में ऐसा आता है कि, केवलज्ञानी छद्मस्थ का विनय करे। केवली विनय क्यों करे ? ऐसा प्रश्न किया था। अभी दस वर्ष हुए है, पहले सात साल का लडका था, तब ऐसा प्रश्न किया था।

महाराज ! आप कहते हो कि, अन्दर आत्मा को देखो। आत्मा है। (मैं) आँख बन्द करता हूँ तो अंधेरा दिखता है और बाहर देखते हैं तो यह धूल दिखती है। भाई ! सात साल का लडका पूछता था।

मुमुक्षु :- मा-बाप होशियार है।

उत्तर :- माँ-बाप नहीं, उसका चाचा होशियार है। माँ-बाप साधारण हैं। अब की बार

प्रेम हुआ। अबकी बार चार दिन 'जामनगर' रहे न ? तो सुना। ओ..हो... ! बात कुछ अलग है। उसका दादा वकील है, वह नहीं मानता था। पहली बार व्याख्यान में आया था, तब कहता था, आत्मा (है नहीं)। फिर (सुना तो कहा), बात कोई और है। लडका उसके चाचे के साथ पढ़ता था। पढते-पढते उसे यह विचार आये। ओ..हो... ! आत्मा-आत्मा कहते हो कि, आत्मा को देखो। क्या देखे ? आँख बंद करते हैं तो अंधेरा दिखता है, बाहर देखते हैं तो यह दिखता है। हमे क्या देखना ? मैंने कहा, भैया ! सुन ! सुन ! अंधेरा दिखता है, किसमें दिखता है ? क्या अंधेरे में अंधेरा दिखता है ? तूने कभी विचार किया है ? अंधेरा अंधेरे में दिखता है ? या अंधेरा चैतन्यप्रकाश में दिखता है ? चैतन्यप्रकाशमय है उसमें, यह अंधेरा है, मैं अंधेरा नहीं। समझ में आया ? लडका बहुत चालाक है। अबकीबार बहुत प्रश्न करता था, बहुत प्रश्न करता था। समकित कैसे प्राप्त हो - उसकी बात तो करते नहीं - ऐसा पूछा था। मैंने कहा, भाई ! वह बात तो बहुत बार आती है, तुझे याद नहीं रहती।

आत्मा वस्तु है, भाई ! अंधेरा दिखता है, वह अंधेरा कौन देखता है ? अंधेरा कौन देखता है ? अंधेरे को अंधेरा देखता है ? ज्ञान। अंदर ज्ञान है, उस ज्ञान की सत्ता की मौजूदगी में अंधेरा दिखता है। अंधेरे की मौजूदगी में अंधेरा नहीं दिखता। ज्ञान की मौजूदगी में अंधेरा दिखता है। ज्ञान की मौजूदगी आत्मा है, अंधेरा पर है। समझ में आया ? लेकिन कभी विचार करने का अवसर लिया ही नहीं। अनादि काल से ऐसा अंधेरा ही अंधेरा चला है। केवली कैसे विनय करे ? तेरी बात सच है। 'आत्मसिद्धि' की १९वीं गाथा में लिखा है - ऐसा कहकर पूछता था। चालाक लडका है। समझ में आया ? क्या कहते हैं ?

मति-श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष है, यहाँ लिखा है। भावार्थ में लिखेंगे। लेकिन आत्मज्ञान के समय, अनुभव के समय वह ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। क्यों ? कि, स्वआश्रयमें वेदन है, तब प्रत्यक्ष है। पराश्रय में ख्याल है तो परोक्ष हो गया। प्रत्यक्ष और परोक्ष, कहाँ माथापच्ची करनी ? संसार की माथापच्ची हो तो सब करे। पाँच-पचास हजार प्राप्त करने को कितनी महेनत करता है ? देश (छोडकर) परदेश जाये, महेनत करे, मजदूरी करे।

मुमुक्षु :- इन्द्रिय का ज्ञान प्रत्यक्ष होगा।

उत्तर :– धूल में भी होता नहीं। आत्मा का ज्ञान अपने से होता है, उसका नाम प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन से पर का ज्ञान करे, वह तो परोक्ष है। इस आँख से रूप देखा तो रूप प्रत्यक्ष है ? वह तो परवस्तु है। यह शब्द परवस्तु है। देखो ! आत्मा का अंदर ज्ञान करके...

मुमुक्षु :– रूपये बैंक में रखे हो उसमें गलती होवे ?

उत्तर :– ज्ञान में ख्याल है कि, पाँच हजार रखे हैं। बस ! इतना ख्याल (है)। इस ख्याल में भूल नहीं। चीज रहे या नहीं, उसके अधिकार की बात है ? वे ऐसा कहना चाहते हैं कि, (पैसे) प्रत्यक्ष है न ? प्रत्यक्ष कहाँ है ? प्रत्यक्ष तो उस ज्ञान को कहते हैं, जिसमें पर का आश्रय नहीं हो। प्रत्यक्ष ज्ञान इसे कहते हैं कि, जिसमें पर का आश्रय हो नहीं। पर का ज्ञान करता है, उसमें तो इन्द्रिय का आश्रय है। प्रत्यक्ष कहाँ से आया ? वह कहते हैं, देखो ! नीचे स्पष्टीकरण आयेगा।

'अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान यह दोनों देशप्रत्यक्ष हैं; (क्योंकि उन ज्ञानों से) जीव, द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा लेकर स्पष्ट जानता है।'

'भावार्थ :- इस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं - (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं।' नीचे स्पष्टीकरण है। **'जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानता है...'** अस्पष्ट जानता है, इसलिये परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

'सम्यक्‌मतिश्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष होते हैं, उसमें इन्द्रिय और मन निमित्त नहीं हैं।' देखो ! इसमें से लिखा है। कोई कहते हैं, उसमें नहीं था। लेकिन उसमें है। निश्चय भाव उसमें है। यह व्यवहार से बात कही है। निश्चय से तो आठ वर्ष की बालिका हो, आठ वर्ष की लडकी, उसे सम्यग्दर्शन और धर्म की पली अवस्था प्रकट हो तो उसे भी अंतर में ध्यानकाल में अपने आत्मा का ज्ञान, आनंद का वेदन, राग और निमित्त की अपेक्षा बिना होता है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान स्व की अपेक्षा से कहने में आता है। कठिन बात (है)। समझ में आया ?

'सम्यक्‌मतिश्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में...' स्वानुभव अर्थात् आत्मा के आनंद के अनुभव के काल में। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में हो, राजपाट आदि हो लेकिन अंतर

सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान हुआ है। जब ध्यान में बैठते हैं तो अंतर के अनुभव में सब भूल जाते हैं, रागादि भूल जाते हैं, शरीरादि सब भूल जाते हैं। अंतर आत्मा में ज्ञान एकाग्र हो जाता है। उसमें आत्मा के अनुभव में अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का वेदन आना, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। सम्यग्दृष्टि पशु को भी इतना ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। भगवान के समय में समवसरण में पशु भी आते थे कि नहीं ? समवसरण में है या नहीं ? देखो न ! हाथी, वाघ, नाग, सब भगवान के समवसरण में आते थे। सुना है या नहीं ? असंख्य पशु अभी सम्यग्ज्ञानी हैं। अढाई द्वीप बहार स्वयंभूरमण समुद्र है न ? स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य पशु श्रावक हैं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहा है। असंख्य पशु हैं। यहाँ तो मनुष्य को भान नहीं होता है, वह तो पशु है। वह पूर्व का भान करके अंदर आ जाता है। सम्यग्ज्ञानी है। समझ में आया ? हजार-हजार योजन का मच्छ। चार हजार हाथ का लंबा शरीर। स्वयंभूरमण समुद्र अन्तिम है न ? असंख्य द्वीप-समुद्र हैं उसमें अन्तिम समुद्र है। उसमें असंख्य पशु, मगरमच्छ, मच्छी सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है। वह भी अंतर में ध्यान करके आत्मा का ज्ञान अनुभव में प्रत्यक्ष कर लेते हैं। समझ में आया ?

ज्ञान की अपनी पर्याय की ताकत कितनी है ? उसकी उसे खबर नहीं। समझ में आया ? दूसरा ज्ञान उसे कहाँ है ? मछली को व्यापार-धंधे का ज्ञान होता है ? मेंढक को सम्यग्ज्ञान होता है। कौए को, बंदर को, हाथी को (होता है)। असंख्य हैं, असंख्य समुद्र हैं। भगवान ने ज्ञान में - केवलज्ञान में सब देखा है। समझ में आया ? आत्मा दे देते हैं, ऐसा नहीं। हम तो अन्तर में आनंदमूर्ति आत्मा है, वहीं मैं आत्मा हूँ। रागादि, विकल्प उठते हैं, वह मैं नहीं। ऐसा भान पशु में भी है। हाथी है ना ? त्रिलोकमंडन हाथी। 'रावण' का हाथी था न ? चौरासी लाख हाथी थे, उसका अग्र था। त्रिलोकमंडन हाथी। जब 'रामचंद्रजी', 'लक्ष्मणजी' ने लंका पर विजय प्राप्त की तो हाथी को 'अयोध्या' घर ले आये। हाथी को 'अयोध्या' लाये हैं। देखो हाथी !

यहाँ 'राम', 'लक्ष्मण', 'शत्रुघ्न' और 'भरत' चारों दर्शन के लिये जाते हैं। देखो चार। आभूषण पहने हैं। 'भरत' को वैराग्य हुआ। 'रामचंद्रजी' का भाई। अंदर शांति वीतरागता हुई।

हाथी को भान हुआ। अरे... ! मैं तो उसका मित्र था। 'भरत' और मैं दोनों मित्र थे। ये 'भरत' राजकुमार हुआ, मैंने माया की तो हाथी हुआ। हाथी को जातिस्मरण हुआ। आहा..हा... ! है ? देखो ! आभूषण निकाल दिये। सब निकालकर अकेले (खडे हैं)। हमारा आत्मा पूर्व में 'भरत' के साथ मित्र था। अरे... ! आत्मा क्या किया ? मैं पशु हो गया। ऐसा आत्मज्ञान हुआ, जिसमें जातिस्मरण (हुआ)। वैराग्य... वैराग्य। अन्तिम में समाधिमरण करके स्वर्ग में गया।

'त्रिलोकमंडन' हाथी पहले 'रावण' का (था), वह मधुवनमें से मिला था। मधुवन है न ? उसमें से शोध करके हाथी मिला था। बडा जंगली हाथी। वह भी वैराग्य पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। पन्द्रह-पन्द्रह दिन के बाद भोजन लेता है। किसी की दरकार नहीं। समझ में आया ? पशु भी आत्मज्ञान और आत्मदर्शन करते हैं। आत्मा है या नहीं ? पशु का शरीर तो भिन्न है, शरीर से क्या है ? यह तो मिट्टी है। ऐसा अनुभव मति-श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में भी प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव करते हैं। उस समय मति-श्रुत को प्रत्यक्ष कहने में आता है।

'**अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान यह दोनों देशप्रत्यक्ष हैं;...**' थोडा जानता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जाने, मर्यादापूर्वक जानता है। अब चौथी गाथा देखो। अपने चौथी गाथा आयी।

सकल-प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण और ज्ञान की महिमा

सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।
ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन;
इह परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन।।४।।

अन्वयार्थ :- (जिस ज्ञानसे) (केवलि भगवन्ता) केवलज्ञानी भगवान (सकल द्रव्यके)

छहों द्रव्यों के (अनन्त) अपरिमित (गुन) गुणों को और (अनन्ता) अनन्त (परजाय) पर्यायों को (एकै काल) एक साथ (प्रगट) स्पष्ट (जानै) जानते हैं (उस ज्ञानको) (सकल) सकलप्रत्यक्ष अथवा केवलज्ञान कहते हैं। (जगत में) इस जगतमें (ज्ञान समान) सम्यग्ज्ञान जैसा (आन) दूसरा कोई पदार्थ (सुख कौ) सुख का (न कारन) कारण नहीं है। (इहि) यह सम्यग्ज्ञान ही (जन्मजरामृति-रोग-निवारन) जन्म, जरा (वृद्धावस्था) और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिये (परमामृत) उत्कृष्ट अमृत समान है।

भावार्थ - (१) जो ज्ञान तीनकाल और तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थो (अनन्तधर्मात्मक सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को) प्रत्येक समय में यथास्थित, परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एकसाथ जानता है उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो सकलप्रत्यक्ष है।

(२) द्रव्य, गुण और पर्यायों को केवली भगवान जानते हैं, किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते-ऐसा मानना असत्य हैं। तथा वे अनन्त को अथवा मात्र अपने आत्मा को ही जानते हैं, किन्तु सर्व को नहीं जानते - ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है। केवली भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्त स्वरूप प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं।

(-लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न-८७)

(३) इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्युरूपी तीन रोगों का नाश करने के लिये उत्तम अमृत समान है।

'सकल प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण और ज्ञान की महिमा' देखो !

सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।
ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन;
इह परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन।।४।।

देखो ! जन्म-मरण, रोग के निवारण में आत्मज्ञान, ज्ञानस्वरूप एक कारण है। देखो !

इतना वजन दिया है। वजन देते हैं, क्या कहते हैं ? वजन कहते हैं ? जोर देते हैं। समझ में आया ? देखो, नीचे।

अन्वयार्थ :- '(जिस ज्ञान से) केवलज्ञानी भगवान...' केवली परमात्मा को केवलज्ञान होता है। पहले सम्यग्दर्शन हुआ था, बाद में सम्यग्ज्ञान हुआ, और सम्यग्ज्ञान में आगे बढकर केवलज्ञान हुआ। यह केवलज्ञान, ज्ञान की पाँचवीं सम्यक् पर्याय है। यह पर्याय सम्यक्ज्ञान है। मति-श्रुत भी सम्यग्ज्ञान है, अवधि, मन:पर्यय भी सम्यग्ज्ञान है। अवधि से रूपी देखते हैं, मन:पर्यय से दूसरे के मन के भाव को देखते हैं। केवली तो तीन काल को देखते हैं। णमो अरिहंताणं। ये अरिहंत भगवान केवलज्ञानी हैं और सिद्ध भगवान केवलज्ञानी हैं।

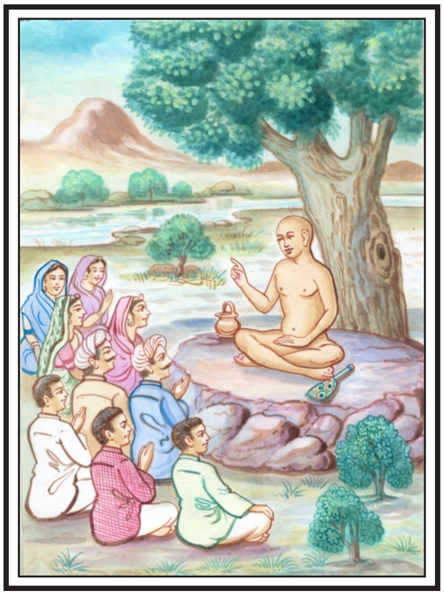

अरिहंत भगवान महाविदेहक्षेत्र में बिराजते हैं। 'सीमंधर' परमात्मा जो यहाँ भगवान को स्थापित किये हैं, वे परमात्मा बिराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में अभी अरिहंत हैं। वे भी केवलज्ञानी हैं। तीन काल, तीन लोक को जानते हैं। सिद्ध भगवान हुए। चौबीस तीर्थंकर हैं, वे सिद्ध हो गये। उनको अभी शरीर नहीं है, अशरीरी हो गये। उपर लोकाग्र में बिराजते हैं। दोनों को केवलज्ञान है। कैसा केवलज्ञान है ?

'(सकल द्रव्य के) छहों द्रव्यों के...' देखो ! केवलज्ञानी भगवान ने सब द्रव्य अर्थात् भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। उनके अपरिमित गुण देखे हैं। अनंतगुण ! और अनंती पर्याय। भगवान के ज्ञान में तीन काल तीन लोक सब प्रत्यक्ष दिखने में आया। यह केवलज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? आत्मा का सम्यग्दर्शन और ज्ञान का अनुभव करते-करते उत्पन्न होता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? देखो है न ?

'एक साथ (प्रकट) स्पष्ट जानते हैं...' 'प्रकट' शब्द पडा है न ? आत्मा में ज्ञान की इतनी ताकत है कि, इस ज्ञान का अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान (हुआ), बाद में स्वरूप में स्थिरता-चारित्र अंदर में एकाग्रता (करते हैं तो) केवलज्ञान हो गया। एक सैकेण्ड के असंख्यवें भाग में भगवान तीन काल तीन लोक देखते हैं। समझ में आया ? सकलप्रत्यक्ष प्रकट केवलज्ञान है।

'इस जगत में सम्यग्ज्ञान जैसा दूसरा कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है।' देखो ! समझ में आया ? पुण्य-पाप का भाव है, वह सुख का कारण नहीं है - ऐसा उसमें आया। आहा..हा... ! क्या कहते हैं ? देखो ! ये तो 'दौलतरामजी' गृहस्थाश्रम में रहे, भगवान के ज्ञान का जो बोध हुआ उसे कहते हैं। **'इस जगत में सम्यग्ज्ञान जैसा...'** अपने शुद्ध स्वरूप का - आत्मा का ज्ञान, दूसरा (ज्ञान) नहीं, शास्त्रज्ञान हो, ना हो, पर के ज्ञान के साथ संबंध नहीं। अपने आत्मा का अंतरज्ञान हुआ उसके समान, - **'सम्यग्ज्ञान जैसा दूसरा कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है।'** आत्मा में सम्यग्ज्ञान ही समाधान और सुख का कारण है - ऐसा कहते हैं। स्त्री, कुटुंब, पैसा सुख का कारण नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में भी सुख नहीं है।

आत्मा का ज्ञान अन्तर में सम्यक् हुआ, उसके अलावा कोई सुख का कारण जगत में है नहीं - ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर परमात्मा कहते हैं। कहो, भाई ! अच्छे पुत्र हो तो सुख का कारण है या नहीं ? नहीं ? आत्मा को पुत्र ही नहीं है। आत्मा का पुत्र क्या है ? उसने जन्म दिया है ? उसका आत्मा भिन्न है, उसका शरीर का रजकण भिन्न है, शरीर जड़ है। क्या आत्मा ने उसे उत्पन्न किया है ? आत्मा उत्पन्न करे-अज्ञान और राग-द्वेष। अथवा उत्पन्न करे-ज्ञान और आनन्द। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं... आहा..हा... ! एक आत्मा पर से निराला (है) - ऐसा ज्ञान हुआ तो इस ज्ञान के समान जगत में सुख का कारण कोई है नहीं। आनन्द की उत्पत्ति का कारण यह ज्ञान है।

दुनिया में भी जितनी समझ है, उतना उसे समाधान रहता है या नहीं ? वह तो संसार है, यह तो आत्मा की बात है। ओ..हो...! (इनका) शरीर भी मोटा है, पैसा भी बहुत है, भले ही लडके के पास है, लेकिन संतोष तो होता है न ? किसका लडका ? (इनका)। सूझन है, सूझन। शरीर में सूझन नहीं आती है ? सूझन आती है तो दुःख होता है और सूझन अन्दर में जाये तो... शरीर में सूझन होती है ना ?

आत्मा में शांति है। धूल में-पैसे में (नहीं है)। पुण्य-पाप का नया भाव करता है न ? वह भी विकार है, उसमें शांति-सुख नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! पूर्व के पुण्य के फल में तो सुख नहीं है, लेकिन वर्तमान नया पुण्य उत्पन्न करे, कषाय मंद (करे), दया, दान, भक्ति शुभराग है, उसमें भी सुख नहीं - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा..हा...! कैसे होगा ? भाई ! शरीर में रोग आता है उसके लिये नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि, भगवान आत्मा में अन्दर दल चैतन्यशांति पडी है, उसका जो ज्ञान है, उसके समान कोई सुख का कारण नहीं। तीन काल में कोई सुख का कारण नहीं। इन्द्र का अवतार या चक्रवर्ती का भव, सुख का कारण नहीं है। समझ में आया ? आ..हा...! क्या कहते हैं ? देखो ना ! '**दूसरा (कोई पदार्थ) सुख का कारण नहीं है।**'

'**यह सम्यग्ज्ञान ही (जन्म-जरा-मृति रोग...)**' देखो ! '**जन्म, जरा...**' अर्थात् '**(वृद्धावस्था) और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिये...**' ऐसा कहा। मृत्युरोग ऐसा कहा। '**दूर करने के लिये (परमामृत)...**' **परमामृत** '**उत्कृष्ट अमृत समान है।**' आत्मा अंतर में ज्ञान होना यह जन्म-जरा-मरण का नाश होने के महान उपाय है। आहा..हा...! शास्त्र की पढाई भी नहीं, दुनिया का ज्ञान भी नहीं। सब दुःख का कारण है। कहो, बराबर होगा यह ?

कहते हैं... आ..हा...! '**(परमामृत)...**' ऐसा शब्द पाठ में लिया है। 'दौलतरामजी' पंडित। परमामृत। भगवान आत्मा अन्तर अनाकुल आनन्दस्वरूप (है), उसका ज्ञान परम अमृत है कि, जिस ज्ञान से जन्म, जरा मृत्यु का रोग नाश का यह ज्ञान उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं। समझ में आया ? आत्मज्ञान-आत्मा का ज्ञान जन्म, जरा, मरण का नाश करनेवाला है - ऐसा कहते हैं। जिसने अन्तर आत्मा की कीमत की, ओ..हो...! मैं तो

परमस्वरूप परमात्मा हूँ। जैसे सिद्ध भगवान (है), 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आता है न ? 'बनारसीदास' में आता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो, चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो, मोह महातम आत्म अंग, कियो परसंग महातम घेरो' अरे...! मैं सिद्ध समान आत्मा (हूँ)। मैंने ही राग और विकल्प के साथ एकत्व करके दु:ख को उत्पन्न किया। 'ज्ञानकला अब ऊपजी मोको, ज्ञानकला ऊपजी अब...' देखो ! 'बनारसीदास' गृहस्थाश्रम में रहते थे। पहले श्रृंगारी थे, महाभोगी, व्यभिचारी (थे)। बाद में आत्मधर्म पाया, सब पलट गया। समझ में आया ? 'ज्ञानकला ऊपजी अब मोकू' कहूँ गुँ नाटक आगम केरो, याही परसाद सधै शिवमारग, वेगे मिटे घटवास वसेरो – इस घट में–मट्टी में बसना, वह सम्यग्ज्ञान द्वारा बसना छूट जायेगा। अब इसमें रहेंगे नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ?

'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो...' मैं तो सिद्ध समान आत्मा हूँ – ऐसा सम्यग्दृष्टि पहले से ही मानते हैं। 'ज्ञानकला ऊपजी अब मोकू' – मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं राग नहीं, पुण्य नहीं, शरीर नहीं। 'कहूँ गुण नाटक आतम केरो' मैं समयसार नाटक का वर्णन करूँगा। 'तास प्रसाद' सम्यग्ज्ञान का प्रसाद से। 'सधे शिवमारग' मोक्ष का मार्ग। 'वेगे मिटे घटवास वसेरो' – इस माँस में रहना, हड्डी में रहना, हमारे सम्यग्ज्ञान द्वारा इस घट में बसना बंद हो जायेगा। समझ में आया ? आहा..हा...! समझे ?

मृति उसमें मृत्यु कहा है न ? जन्म, जरा, मृति शब्द इसमें लिखा है। दूसरे में मृत्यु शब्द है। ऐसा क्यो किया ? भाषा तो हिन्दी है न ? हिन्दी में क्यो (किया) ? मृति होना चाहिए न ? यह भाषा तो हिन्दी है न ? जन्म, जरा और मृत्यु – ऐसा जो रोग, वह आत्मज्ञान के द्वारा (मिटता है)। क्योंकि आत्मज्ञान परम अमृत है। अंतर स्वरूप का भान अमृत है, उससे सब जन्म, जरा, मरण का रोग नाश होता है। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय है नहीं। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✽

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ८, रविवार

दि.१३-२-१९६६, गाथा ४, ५, प्रवचन नं.-२५

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। पहले के पुराने पंडित हैं। उन्होंने शास्त्र के अनुसार बनाया है। उसकी चौथी ढाल का चौथा श्लोक चलता है। हिन्दी में ९९ पन्ना है। ९९ को क्या कहते हैं ? ९९। देखो ! क्या कहा ? पहले दर्शन की व्याख्या कही। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान सच्चा होता नहीं और सम्यग्ज्ञान के बिना व्रत, तप चारित्र कभी कुछ सच्चा होता नहीं, झूठा है। पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या की। पहले आत्मा की प्रतीत अंतर में ऐसी लेनी चाहिए कि यह आत्मा, परद्रव्य से बिलकुल भिन्न-जुदा है। पर और आत्मा एक है ऐसी श्रद्धा करना। वह तो मिथ्यात्व है। समझ में आया ? शरीर, वाणी, यह जड़ मन, कर्म और आत्मा सब एक है ऐसी मान्यता तो अभेददृष्टि जड़ के साथ एक बुद्धि है। उसका नाम मिथ्यादृष्टि है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, आत्मा माने कि अपने से होती है तो जड़ और आत्मा दोनों को एक माना। आत्मा पर से भिन्न है - ऐसी दृष्टि हुई नहि। वह तो शरीर मे रूक गई। शरीर की क्रिया ऐसी हो, ऐसी हो, ऐसी हो। ये हमारे से होती है और उसमें हम हैं। शरीर की जड़ क्रिया में हम हैं, ऐसा माननेवाला शरीर से आत्मा भिन्न मानता नहीं। भिन्न माने बिना उसका सम्यग्दर्शन सम्यक्-सत्य नहीं होता। वह तो असत्यदृष्टि है।

मुमुक्षु :- जीव प्रेरणा तो करता है।

उत्तर :- कौन प्रेरणा करता है ? धूल में भी नहीं कर सकता। ये पक्षघात होता है। पक्षघात होता है, तब शरीर में आत्मा तो है। आत्मा देह का क्या कर सकता है ? मिट्टी है, यह तो जड़ अजीवतत्त्व है। भगवान ने तो कहा है कि, अजीवतत्त्व का द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में है। अजीवतत्त्व का द्रव्य-गुण-पर्याय... द्रव्य नाम वस्तु, गुण नाम शक्ति, पर्याय नाम अवस्था-हालत। जड़ का द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ में है। वह अपने से है ऐसा मानना वह तो

जड़ को अपना आत्मा माना। वह दृष्टि तो मिथ्यात्व अज्ञान है; और पुण्य-पाप का विकल्प जो शुभ-अशुभभाव होता है, वह भी आस्रव है, वह भी आत्मा के स्वभाव से पर है। उसको भी अपना मानना वह मिथ्यादृष्टि है। उसे सम्यग्दर्शन है नहीं। सम्यग्दर्शन बिना उसे सत्यता प्रतीत होती नहीं।

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि भला है, पहले आ गया न ? भगवान आत्मा परद्रव्य-शरीर, वाणी, कर्म और पुण्य-पाप का भाव, उससे भिन्न अपना अंतर में निर्विकल्प - राग के अवलंबन बिना पूर्ण स्वरूप की अंतर में प्रतीत-श्रद्धा, विश्वास, भान करके होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान सच्चा होता नहीं, उसका वर्तन भी सच्चा होता नहीं। आचरण-वर्तन, अनुष्ठान उसका सच्चा नहीं होता। सब झूठा वर्तन है।

कहते हैं कि, पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या कह गये है। अब उसके साथ सम्यग्ज्ञान (होता है), उसकी बात चौथी ढाल में चलती है। ज्ञान के पाँच भेद हैं। ज्ञान आत्मा का गुण है। उसकी पाँच भेद-पर्याय, पर्याय-अवस्था है। आत्मा त्रिकाल है, उसमें ज्ञानशक्ति-गुण त्रिकाल है। उसकी पाँच पर्याय-अवस्था है। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल - ये पाँच आ गया। ये पाँच ज्ञान हैं ये ज्ञान ही आत्मा को सुख का कारण है - ऐसा चौथी (गाथा में) कहा, देखो !

सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।
ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन;
इह परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन।।४।।

कितनी सादी हिन्दी भाषा ! परन्तु समझने की दरकार नहीं। सादी कहते हैं ? सादी... सादी सरल। हिन्दी में शंका हो जाती है कि, क्या हिन्दी है ? बहुत सरल भाषा है। सादी। क्या कहा ? देखो ! '**ज्ञान समान न आन, जगतमें सुखको कारन;...**' ये पाँच ज्ञान कहे। इन पाँच ज्ञान में वास्तव में तो मति, श्रुत और केवल। तीन कारण हैं, भाई ! अवधि, मन:पर्यय तो एक

ऋद्धि है।

वास्तव में तो अन्तर में मति-श्रुतज्ञान आत्मा में पर का लक्ष्य छोडकर, शास्त्रज्ञान का भी लक्ष्य छोडकर, पुण्य-पाप के विकल्प का राग का भी लक्ष्य छोडकर ज्ञान का ज्ञान करना, अपने ज्ञानस्वरूप को स्वज्ञेय बनाकर अन्तरज्ञान करना वह पहले मतिज्ञान है। समझ में आया ? वह श्रुतज्ञान (है)। शास्त्र की भाषा है वह ज्ञान नहीं है, वह परवस्तु है। अपना आत्मा... उतना कहा न ? और पीछे भी आयेगा। समझ में आया ? पीछे आयेगा। **'आपो लख लीजे'** छट्ठी में आयेगा, छट्ठी गाथा में आयेगा। **'संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लघ लिजे।'** छट्ठी में ऐसा आयेगा। आपो अर्थात् आत्मा।

भगवान आत्मा ज्ञान का समुद्र है। आहा..हा... ! इस ज्ञान का ज्ञान करना, ज्ञान का ज्ञान करना, उसका स्वसंवेदन में अपना ज्ञान का जानना, वेदन आना, उसका नाम मति और श्रुतज्ञान पहला कहते हैं। इस मति-श्रुतज्ञान के समान जगत में सुख का कोई कारण है नहीं। समझ में आया ? शरीर, वाणी, मन नहीं; पुण्य-पाप का शुभभाव - दया, दान, व्रत भाव हो, वह भी सुख कारण नहीं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में सुख का फल है। क्या है ? पुण्य बँधे तो उससे पैसा मिले, धूल में सुख है ? ए..ई... ! पैसा मिले, दस-दस लाख का बडा मकान ! उसमें पंखे, धूल में भी सुख नहीं; अज्ञान है, दु:ख है। पर मेरा है, यह मेरा है (मानता है वह) मूढ है। क्या वह चीज़ तेरी है ? तेरी हो तो दूर क्यों रहे ? तेरी हो तो तेरे आत्मा के साथ अन्दर घूस जाये।

मुमुक्षु :- मेरापना तो अन्दर में घूस गया है।

उत्तर :- घूस नहीं गया है, उसकी ममता रही है, अन्तर में नहीं घूस गई है। पर्याय में ममता रही है। वस्तु चिदानन्द भगवान आत्मा में तो ममता के परिणाम भी अन्दर नहीं घूस गये हैं। पर्याय में-अवस्था में विकार है। वह विकार भी आत्मा में नहीं है, यहाँ तो यह बताते है। परवस्तु तो नहीं, परन्तु विकल्प जो ममता है, वह भी चैतन्य में नहीं। ऐसी अन्दर में श्रद्धा करके आत्मा का ज्ञान करना। ममता का नहीं, पर का नहीं - ऐसा कहते हैं। देखो न ! उसने

कभी स्वयं की सम्हाल की नहीं। मूढ होकर अनंतर बार (भटका है)। पागल कहेंगे, अभी कहेंगे। करोडो भव में तप किया, व्रत लिया, शास्त्र पढ लिया लेकिन अपना आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूपी चैतन्य बिराजमान है उस ज्ञान का ज्ञान होने के अलावा कोई सुख का कारण है नहीं, लेकिन उसका ज्ञान कभी किया नहीं। समझ में आया ?

'इहि परमामृत...' इहि परमामृत। देखो ! यह तो परम अमृत है। आ..हा..हा...! क्या ? आत्मा चैतन्यसूर्य भगवान है, उसका अन्दर में ज्ञान (होना अर्थात्) यह आत्मा ज्ञान(स्वरूप) है – ऐसा अन्तर में भान करना, यह परम अमृत है, परम अमृत है। इसके अलावा जगत में कोई अमृत है नहीं। आहा..हा...! **'जन्मजरामृति रोग निवारन।'** सम्यक् चैतन्य का अंतरज्ञान, आत्मा में अंतरज्ञान करना वह जन्म–जरा–मरण रोग का निवारण कारण है। समझ में आया ?

केवलज्ञान की बात की, उसकी भी श्रद्धा करनी चाहिए। केवलज्ञान एक समय में तीनकाल तीनलोक को देखता है। देखो ! भावार्थ है न ? भावार्थ। ९८ (पन्ना)। **'(१) जो ज्ञान तीनकाल और तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थो (अनंतधर्मात्मक...)'** धर्म अर्थात् स्वभाव। अनंत स्वभाव स्वरूप **'(सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को) प्रत्येक समय में...'** प्रत्येक समय में केवलज्ञान तीनकाल तीनलोक को देखते हैं। एक समय में ! **'यथास्थित,..'** जैसा स्व और पर पदार्थ है ऐसा भगवान ज्ञान–केवलज्ञान एक समय में यथास्थित, यथास्थित (अर्थात्) जैसा है, जैसा है (वैसा जानते है)। तीनकाल तीनलोक के पदार्थ, द्रव्य–गुण–पर्याय, स्व–पर यथास्थित जैसे है (वैसे)। **'परिपूर्णरूप से...'** ओ..हो...! केवलज्ञान की अवस्था परिपूर्ण स्पष्ट (जानती है)। अन्दर में 'प्रकट' शब्द पडा है न ? **'स्पष्ट और एकसाथ जानता है...'** आ..हा...! अभी तो इसी में तकरार है न ? कि, केवलज्ञान जैसा निमित्त मिले वैसी पर्याय होती है, तब जाने।

मुमुक्षु :– ... निश्चित (पक्का) नहीं है।

उत्तर :– निश्चित नहीं हो तो केवलज्ञान कैसा ? केवलज्ञान में तो एक समय में तीनकाल तीनलोक में जहाँ–जहाँ जो अवस्था, ऊलटी अवस्था में निमित्त क्या है, क्षेत्र में क्या है, सब

भगवान पहले समय में तीनकाल देखते हैं। क्यों सेठ, बराबर है ? एकसाथ देखते-जानते हैं। अरिहंत का ज्ञान सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीनकाल तीनलोक (जानता है)। ओ..हो...! ऐसे ज्ञान का जिसे निश्चय हो, ऐसे केवलज्ञान का जिसे निश्चय हो, उसे परपदार्थ की अवस्था की कर्ताबुद्धि रहती नहीं। समझ में आया ? मैं पर का कर दूँ, भला कर दूँ, बिगाड दूँ, पर से मेरा सुधार हो जाये - ऐसी बद्धि (रहती नहीं)। सर्वज्ञ पर्याय ने जैसा देखा है, ऐसा होता है - ऐसा माननेवाले को, सम्यग्ज्ञानी को मैं पर का कर दूँ और पर से मेरे में (कुछ) हो - ऐसी बुद्धि नष्ट हो जाती है। कहो, समझ में आया ?

वह आता है न ? 'भैया भगवतीदास' में। भैया ! 'जो जो देखी...' उसे बहुत याद रहता है, बहुत कंठस्थ है। बुद्धि बहुत है, हाँ ! बहुत कंठस्थ करता है। **'जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होंसी वीरा रे, अनहोनी कबहूँ न होसे, काहे होत अधीरा'** 'भैया भगवतीदास', २५० वर्ष पहले हुए हैं। एक 'ब्रह्मविलास' पुस्तक है, उसमें लिखा है। उन्होंने 'ब्रह्मविलास' नाम का पुस्तक बनाया है, उसमें लिखा है। **'जो जो देखी वीतराग ने,...'** वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनको एक समय में, एक सैकण्ड का असंख्य भाग, हाँ ! एक समय, उसमें तीनकाल तीनलोक जाना। **'जो जो देखी वीतराग ने, ते ते होंसी वीरा'** हे वीर ! भगवान ने देखा है, वैसी पर्याय जगत में होगी। 'अनहोनी कबहू न होसी, काहे होत अधीरा' अरे..! मैंने ऐसा नहीं किया तो ऐसा हुआ। अरे..! क्या है ? जहाँ-जहाँ जड़ और चैतन्य की जिस समय जो अवस्था होनेवाली है व होगी - ऐसा में जाननेवाला हूँ, ऐसा निर्णय किये बिना सम्यक् केवलज्ञान का निर्णय उसे है नहीं। समझ में आया ? आहा..!

धर्मी... धर्मी कहते हैं, लेकिन धर्म (क्या) ? आत्मा का धर्म ज्ञान और इस ज्ञान धर्म की पर्याय केवलज्ञान। केवलज्ञान पर्याय, और एक समय की पर्याय में भगवान तीनकाल तीनलोक देखते हैं। भगवान के ज्ञान में आगे-पीछे है नहीं। कहो, बराबर है ? भाई ! कठिन बात है। अरिहंत, अभी तो णमो अरिहंताणं पद की खबर नहीं है कि, अरिहंत का केवलज्ञान एक समय में तीनकाल तीनलोक देखते हैं। उसमें कोई परिवर्तन नहीं, तीनकाल में होता नहीं। ऐसे केवलज्ञान का अपने मति-श्रुतज्ञान में जो निश्चय करता है, उसे सुख आता है - ऐसा कहते हैं।

केवलज्ञान पूर्ण अवस्था है और उसका अवयव (मति-श्रुत-ज्ञान है)। केवलज्ञान अवयवी है, पूरी पूर्ण चीज है। और मति-श्रुतज्ञान उसका अवयव है। अवयव यानी अंश। जैसे सारा शरीर अवयवी है, हाथ-पैर आदि अवयव हैं। ऐसे केवलज्ञान एक समय की अवस्था तीनकाल तीनलोक देखे, (वह) अवयवी अर्थात् पूरी चीज़ है। मति-श्रुतज्ञान उसका अवयव है. सम्यग्दर्शन को... यहाँ सम्यग्दर्शन के बाद की बात ली है न ? सम्यग्दृष्टि को मति-श्रुतज्ञान, केवलज्ञान का अवयव अन्तर में ज्ञान से ज्ञान का भान होकर (प्रकट) हुआ है तो वह भी ऐसा जानता है कि, जब जैसा होनेवाला है, वैसा होगा; मैं किसी का कर्ता नहीं, मैं किसी के पास से अपनी शांति लेता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! ये व्यापार और धंधा होशियार हो वह कर सकता है कि नहीं ? होंशियार क्या है ?

यहाँ तो कहते हैं, भैया ! जिसे केवलज्ञान का निश्चय हुआ, उसे मति-श्रुतज्ञान अन्तर में, आत्मज्ञान में से प्रकट हुआ। ऐसे ज्ञान में केवलज्ञानी जैसा देखते हैं, वैसा मति-श्रुतज्ञान (स्व) और रागादि पर हैं, ऐसा जानता है, जानता है। ऐसे ज्ञान समान जगत में अन्य कोई सुख का कारण नहीं है। समझ में आया ? देखो ! सुख का कारण केवलज्ञान। केवलज्ञान का अंश मति और श्रुत, ये तीनों सुख के कारण हैं। इसके अलावा कोई सुख का कारण है नहीं।

'(२) द्रव्य, गुण और पर्यायों को केवली भगवान जानते हैं,...' भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त पदार्थ, उसके अनन्त गुण और उसकी अनन्त अवस्था अर्थात् पर्याय (को जानते हैं)। **'किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते...'** वर्तमान में ऐसी कुछ बात चलती है न ? भगवान सबकुछ जाने, सबका जानते हैं। उसका कुछ अपेक्षित नहीं जानते हैं, ऐसा है नहीं। नहीं जाने, ऐसा भगवान में होता ही नहीं। सब सब (जानते हैं)। तीनकाल तीनलोक के अनन्तगुना होता, अनन्तगुना होता तो भी केवलज्ञानी जानते। समझ में आया ? **'उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते-ऐसा मानना असत्य है।'** अपेक्षित अर्थात् ? ये छोटा-बड़ा, ऊंचा-नीचा कितना है, ऐसे धर्म हैं, वे सब अपेक्षित धर्म हैं, ये सब भगवान तो जानते हैं।

'तथा वे अनन्त को अथवा मात्र अपने आत्मा को ही जानता हैं,...' क्या कहते हैं ?

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि, अनन्त को जाने, सर्व को नहीं जाने। भगवान सर्वज्ञ अनन्त को जाने, सर्व को नहीं जाने। सर्व को जाने तो वहाँ अन्त आ जायेगा। आहा..हा...! ऐसा है नहीं। अबी केवलज्ञान का निश्चय नहीं है, मति-श्रुतज्ञान का ठिकाना नहीं उसे दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं तो चारित्र तो होता ही नहीं। '**किन्तु सर्व को नहीं जानते-ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है।**' भगवान तो तीनकाल तीनलोक को जानते हैं। (कोई) कहता है कि, सब को जाने तो ज्ञान में सब अनन्त आ गया, तो अनन्ता का ज्ञान हुआ, तो वहाँ अन्त आ गया या नहीं ? कहाँ से अन्त आया ? अनन्त को अनन्त जानते हैं। ऐसा मति-श्रुतज्ञान में निर्णय होता है। पहले सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में हो तो भी सम्यग्दर्शन में, मति-श्रुतज्ञान में ऐसा निश्चय होता है। इस ज्ञान के समान कोई सुख नहीं। ये ज्ञान, बाकी कोई बातें करने की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया ?

'**केवलि भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्तरूप**...' अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्म है (उन) सबको। '**प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं।**' एक समय में तीनकाल तीनलोक को जानते हैं। केवलज्ञानी का मति-श्रुतज्ञानी पुत्र है। लघुनन्दन कहा या नहीं ? कहाँ कहा है ? भैया ! 'भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट।' 'बनारसीदास' में आता है या नहीं ? समझ में आया ? 'बनारसीदास' में लघुनंदन आता है। 'ते जगमांही जिनेश्वर के लघुनंदन।' 'बनारसीदास' हुए न ? 'समयसार नाटक' (लिखा है)। सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि जिनेश्वर के लघुनंदन हैं, छोटे पुत्र है। बड़े पुत्र संत, गणधर आदि आत्मानन्द में बहुत झूलनेवाला। समकिती भी भगवान के लघुनंदन हैं, छोटे पुत्र हैं। ओ..हो..हो...! समझ में आया ? 'स्वार्थ के साचे' ऐसा आता है न ?

'भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट... भेद विज्ञान जग्यो जिन के घट, शीतल चीत भयो जिम चंदन, केली करे शिवमारग मांही, जिनेश्वर के लघुनंदन... जगमांही जिनेश्वर के लघुनंदन' आ..हा...! देखो ! गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि ऐसे होते हैं। समझ में आया ? भेदविज्ञान-राग पुण्य और पर से भिन्न आत्मा (है ऐसी) ग्रंथिभेद होकर 'भेदज्ञान जग्यो जिनके घट, शितल चित्त भयो जिम चंदन' समझ में आया ? मैं तो ज्ञान हूँ। गृहस्थाश्रम में हो, रागादि हो तो भी मैं जाननेवाला हूँ, मैं तो ज्ञान हूँ। गृहस्थाश्रम में हो, रागादि हो तो भी मैं जाननेवाला हूँ, मैं तो

जानन हूँ वही आत्मा हूँ। रागादि आत्मा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? उनको लघुनंदन कहा।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- बहुत। गणधरो, ंतों हैं न ! कहा न, बीच में आ गया, आपने सुना नहीं। संतो, मुनियों आत्मज्ञान में मस्त। अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त झुलनेवाले छठ्ठे-सातवें गुणस्थान में (झुलनेवाले) भावलिंगी संत बड़े पुत्र हैं, ये लघुपुत्र हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में रहते हो तो भी लघुनंदन हैं। समझ में आया ? 'बनारसीदास' कहते हैं। 'समयसार नाटक' उन्होंने बनाया है। ये 'समयसार नाटक' है न ? देखो ! (मंगलाचरण में) छठ्ठा श्लोक है।

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट,

सीतल चित्त भयो जिम चंदन।

गृहस्थाश्रम में भी देह, वाणी (है, वह) मैं नहीं। दया, दान, व्रत का विकल्प उठता है वह भी राग है, मैं नहीं।

केलि करै सिव मारग में,

जग माहिं जिनेसुरके लघु नंदन।

'बनारसीदास' देखो ! 'समयसार नाटक' (लिखा है)। पहले श्रृंगारी पुरुष थे। श्रृंगारी पुस्तक बहुत बनाये (थे), जब आत्मभान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ तो 'गोमती' नदी में डाल दिया। कल आया है। पुस्तक है या नहीं ? कहाँ है ? यहाँ होवे तो काम आये न। श्रृंगारी पुस्तक बनाये थे न ? पहले श्रृंगारी बहुत थे। बाद में आत्मज्ञान हुआ। संसार में रहने पर भी, स्त्री-पुत्र (होने पर भी) मैं आनन्दस्वरूपी आत्मा हूँ, मैं देह की क्रिया नहीं, जड़ नहीं, राग नहीं। ऐसा भान हुआ तो श्रृंगारी पुस्तक थे न ? (उसे) या... होम (कर दिया)। कल ही आया है, हाँ ! देखो, देखो भैया ! कल ही आया है। देखो, ये 'बनारसीदास' हैं। देखो ! ये पुस्तक समुद्र में डाल दिये। श्रृंगारी पुस्तक बनाये थे (उसे) जाकर (डाल दिया)।

भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने बनाये हुए शास्त्र, सन्तों ने शास्त्र कहे, उसमें आत्मा का

भान हुआ। विरुद्ध शास्त्र जो लिखे थे, (उन्हें) डाल दिया। समझ में आया ? ऐसा कल ही आया है, देखो ! 'दृष्टि बदलते ही महाकवि पंडित बनारसीदासजी ने अपनी विषयवर्धक नवरस रचना गोमती नदी में बहा दी।' ये कल ही आया है। सेठ ! कल आया है, कल। क्या कहते हैं ? 'सन्मति सन्देश' है न ? 'दिल्ही' से निकलता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! गृहस्थाश्रम में हो लेकिन आत्मा की अन्त प्रतीत हुई तो कहते हैं।

सत्यसरूप सदा जिन्हगै,

प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।

'**सत्यसरूप...**' ज्ञानानन्दस्वरूप का भान। आठ वर्ष की लडकी को भी होता है। भान करे तो। भान करे बिना सौ वर्ष की उम्र में मर जाये। समझ में आया ? '**सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात...**' अवदात अर्थात् निर्मल।

सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,

करै कर जोरि बनारसि वंदन।

'बनारसीदास' कहते हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञानी को मैं वंदन करता हूँ। समझ में आया ? भले गृहस्थाश्रम में हो लेकिन सम्यग्दर्शन और ज्ञान (हुआ है)। शांत... शांत... आत्मा में शांति बड़ी है, ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ तो कहते हैं कि, मैं उनको वंदन करता हूँ। बहुत अच्छा श्लोक बनाया है। 'समयसार नाटक' समझ में आया ?

'**(२) इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है।**' ये सम्यक् मति-श्रुतज्ञान, हाँ ! और केवलज्ञान। दोनों लेने, भाई ! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन के बाद जो पाँच ज्ञान की बात कही, (उनमें से) मति-श्रुतज्ञान और केवलज्ञान। केवलज्ञान तो अनन्त आनन्द का कारण है परन्तु मति-श्रुतज्ञान भी सुख का कारण है। क्या हो ? जगत बोलता है तो बोलने दो, होता है तो होने दो, मेरे में क्या है ? मेरा कोई पर के साथ संबंध है नहीं। समझ में आया ? आत्मा ज्ञानस्वरूप का भान करके, अपने ज्ञान में शांति का वेदन करते हैं, उसे जन्म, जरा, मरण का नाश करने का उपाय हाथ लगा है। दूसरे को ज्ञान बिना जन्म-मरण मिटते नहीं। समझ में आया ? अब पाँचवा श्लोक।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।५।।

अन्वयार्थ :- (अज्ञानी जीवको) (ज्ञान विना) सम्यग्ज्ञान के बिना (कोटि जन्म) करोड़ों जन्मों तक (तप तवैं) तप करने से (जे कर्म) जितने कर्म (झर) नाश होते हैं (ते) उतने कर्म (ज्ञानीके) सम्यग्ज्ञानी जीव के (त्रिगुप्ति तैं) मन, वचन और काय की ओर की प्रवृत्ति को रोकने से (निर्विकल्प शुद्ध स्वभाव से) (छिनमें) क्षणमात्रमें (सहज) सरलतासे (टरैं) नष्ट हो जातै हैं। (यह जीव) (मुनिव्रत) मुनियों के महाव्रतों को (धार) धारण करके (अनन्तबार) अनन्तबार (ग्रीवक) नववें ग्रैवेयक तक (उपजायो) उत्पन्न हुआ, (पै) परन्तु (निज आतम) अपने आत्मा के (ज्ञान विना) ज्ञान बिना (लेश) किंचित्मात्र (सुख) सुख (न पायो) प्राप्त न कर सका।

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोडों जन्मो-भवों तक बालतपरूप उद्यम करके जितने कर्मों का नाश करता है उतने कर्मों का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव स्वोन्मुख ज्ञातापने के कारण स्वरूपगुप्ति से-क्षणमात्र में सहज ही कर डालता है। यह जीव, मुनि के (द्रव्यलिंगी मुनि के महाव्रतों को धारण करके उनके प्रभाव से नववें ग्रैवेयक तक के विमानों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मा के भेदविज्ञान (सम्यग्ज्ञान अथवा स्वानुभव) के बिना जीव को वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।

'ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर।' धर्मी–ज्ञान और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर हैं।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;

पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।५।।

'सहज' पर वजन है। देखो ! नीचे लिया है। नीचे हैं न ? देखो ! अज्ञानी मुनि। क्या है वह ? कमण्डल और पींछी हैं। कितने भव धारण किये हैं, ऐसा लिखते हैं। एक, दो, तीन, चार करते-करते अनन्त (भव किये)। नीचे है न ? आत्मा ज्ञान के भान बिना क्रियाकाण्ड इतनी की। 'कोटी जन्म तप,' यहाँ तो करोड़ भव लिखा है, लेकिन अनन्त भव लेना। समझ में आया ? ऐसे अनन्त भव किये, आत्मज्ञान बिना मुनिव्रत ले लिये। शास्त्रज्ञान किया, अठ्ठावीस मूलगुण पाले, पंच महाव्रत पाले। वह सब तो विकल्प, राग है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पंचमकाल में तो...

उत्तर :- पंचमकाल में क्या ? पंचमकाल में क्या कीचड की सुखड़ी होती है ? सुखड़ी नहीं होती ? सुखड़ी। घी, गुड़ और आटा (मिलाकर बनाते हैं)। कोई घी के बदले पानी डालकर सुखड़ी बनाते हैं ? सुखडी.. सुखडी नहीं होती ? आप लोग क्या कहते हैं ? सुखड़ी कहते हैं न ? सुखड़ी में घी, आटा और गुड़ तीन आते हैं, या दूसरी (चीज़) आती है ? ऐसे आत्मा के मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन आते हैं। कोई लाख वर्ष पहले सुखड़ी बनाये तो भी घी, गुड़ और आटा (मिलाकर ही बनती थी और) अभी बनाये तो भी ये तीन (मिलाकर बनाते हैं)। ये तीन की दूसरी चीज हो जाती है ? लाख, करोड वर्ष पहले बनाये तो भी ये है, अभी बनाये तो भी ये है, गरीब बनाये तो भी वही है। भले थोडा घी डाले। लेकिन घी, गुड और आटा की सुखडी बनती है। पंचम काल में दूसरा धर्म और चौथे काल में दूसरा धर्म, ऐसा होता है ? समझ में आया ? सुखडी दूसरी नहीं होती, धर्म दूसरा नहीं होता। समझ में आया ?

कहते हैं, **'कोटि जन्म तप तपैं,...'** देखो ! पहले दृष्टान्त लिया है न ? अनन्तबार मुनपिना लिया और अनन्तबार शास्त्र का पढना भी किया परंतु आत्मज्ञान नहीं किया। आहा..हा...! देखो ! यह क्या कहते हैं ? 'दौलतरामजी' चौथी ढाल में पाँचवी गाथा में कहते हैं। **'(ज्ञान बिना) सम्यग्ज्ञान के बिना करोडो जन्मों तक...'** करोड़ो भव, करोड़ो भव और

एक-एक भव करोड़-करोड़ पूर्व का। क्या कहते हैं ? एक एक भव करोड़ पूर्व का। बडा आयुष्य होता है न ? करोड़ पूर्व का एक (भव)। करोड़ पूर्व किसे कहते हैं ? वीतराग की बड़ी बात है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाये। उसे एक पूर्व कहते हैं। सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व ! ऐसे-ऐसे करोड़ पूर्व का भगवान का आयुष्य है। 'सीमंधर' भगवान महाविदेहक्षेत्र में (बिराजते हैं)। ऐसे करोड़ पूर्व का आयुष्य (लेकर) मनुष्य में अनन्तबार आया। करोड़ पूर्व ऐसे करोडों भव। क्या कहते हैं ?

करोडों भव (किये ऐसा कहा उसमें) उपरा-उपर मनुष्यभव आठ मिलते हैं। समझ में आया ? मनुष्यभव भी उपराउपर मिलता है। उपराउपर समझे ? एक के बाद दूसरा। (ऐसे) आठ भव मिलते हैं। आठ भव एकसरीखे मिले, या जैनकूल में अवतार मिले ऐसा भी नहीं। मनुष्यभव आठ उपराउपर मिले। उसमें कोई बार जब जैनकुल में जन्म लिया हो और करोड़ पूर्व का आयुष्य हो, तब करोड़ पूर्व में मास खमण - महिने-महिने के उपवास करने, पंच महाव्रत का पालना, ऐसा एक भव में करोड पूर्व में सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड वर्ष ऐसा आठ वर्ष से त्याग करके करोड पूर्व तप करे। क्रियाकां, व्रत, नियम, तपस्या करोड भव (करे)। करोड़ भव कब आयेंगे ? उपराउपर मनुष्य तो होता नहीं। एक के बाद एक तो थोडे ही होते हैं। इतने-इतने करोड़ भव... देखो !

'करोडों जन्मों तक तप करने से...' मुनिपना, व्रत लेने से। अकेले पंच महाव्रत। अन्दर आत्मज्ञान, आनन्द का भान नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं। समझ में आया ? **'तप करने से जितने कर्म नाश होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के...'** करोड़ों भव में, एक-एक भव में करोड़ों वर्ष। समझ में आया ? अज्ञानतप है। आत्मा क्या चीज है - (उसका ज्ञान नहीं)। जड़ का कर्ता नहीं, महाव्रत का राग का विकल्प उठता है वह भी पुण्यबन्ध का कारण (है)। उससे रहित आत्मा का अंतरज्ञान नहीं तो वह सब क्रियाकाण्ड, उसमें करोडों भव में और एक-एक भव में करोड़ों वर्षों में तप करते-करते सूख जाये (उसमें) उसके जितने कर्म खिरते हैं उससे अनन्तगुने कर्म सम्यग्ज्ञानी अन्तर में मनमें से विकल्प का लक्ष्य छोड़कर, अपने आत्मा का ज्ञान करके अन्तर में एकाग्र होता है तो उससे अनन्तगुने कर्म खिर जाते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... !

आत्मा वस्तु है स्वभाव के भान बिना अशुद्धता या कर्म टले कैसे ? बारह व्रत है या पंच महाव्रत है या तपस्या है, वह तो शुभराग विकल्प है। शुभराग है (तो) पुण्य बँध जाये, लेकिन निर्जरा हो जाये, धर्म होवे (ऐसा नहीं)। आत्मा अन्दर ज्ञानानन्दस्वरूप एक क्षण भी, एक क्षण मन के विकल्प की रुचि छोडकर अंतरज्ञान में ज्ञान में ज्ञान का एकाग्र होना, ऐसे सम्यग्ज्ञानी एक क्षण में अनन्त कर्म की निर्जरा करते हैं। कहो, समझ में आया ? '**नाश होते हैं।**'

'**उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के मन, वचन और काय की और की प्रवृत्ति को रोकने से...**' अर्थात् सम्यग्ज्ञान में पर की प्रवृत्ति का लक्ष्य छोड़कर, राग का भी लक्ष्य छोड़कर अपने स्वरूप में, ज्ञानानन्द में एकाकार होकर '**निर्विकल्प शुद्ध...**' स्वात्मानुभव (करना)। राग, पुण्य विकल्प से रहित भगवान आत्मा का स्वानुभव '**(छिन में)...**' शुद्ध स्वानुभव। अशुद्ध का अनुभव, पुण्य-पाप का अनुभव तो अनादिकाल का है, वह कोई चीज़ नहीं, कोई धर्म नहीं। पुण्य-पाप का भाव जो शुद्धस्वरूप का अनुभव (होता) है। '**क्षणमात्र में सरलता से...**' इतने शब्द हैं। (अज्ञानी) हठ से इतना करता है, मूल सच्ची निर्जरा होती नहीं। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञानी सरलता से सहजपने हठ बिना, आग्रह बिना, कष्ट बिना स्वभाव में शुद्ध चैतन्य में एकाग्र होकर सरलता से, स्वभावपने दु:ख का अथवा कर्म का नाश करते हैं। समझ में आया ?

'सहज' शब्द है। सहज अर्थात् सरलपने। सरलपने अर्थात् आत्मा के ज्ञान में आनन्द करते कष्ट सहना पडे - ऐसा नहीं। कष्ट सहना पडे, वह तो आर्तध्यान हुआ। अरे...! यह कष्ट आया। वह तो आर्तध्यन है, वह धर्म नहीं; वह तो पापबंध का कारण है। ज्ञानस्वभाव शुद्ध चैतन्य की अंतर में दृष्टि से एकाग्र होकर सहजपने शांति के वेदन द्वारा पूर्व के अनन्त भव के कर्मों को नाश कर देते हैं। समझ में आया ? कहो, समझ में आता है या नहीं ?

मुमुक्षु :- अज्ञानी की आँख खोलते हैं।

उत्तर :- बापू ! आत्मा का ज्ञान कर, इसके बिना तेरे कर्म नहीं खिरेंगे, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! भाई ! भगवान ! तू जाग। तेरी जागृत अवस्था कर, प्रभु ! तेरी अन्तर की जागृत अवस्था बिना क्रियाकांड में तुझे कुछ लाभ नहीं होगा। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**(मुनिव्रत)**...' देखो ! आत्मज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना, आत्मा के निर्विकल्प राग रहित के अनुभव बिना '**मुनियों के महाव्रतों को धारण करके**...' अनन्तबार महाव्रत धारण किये। वह तो पुण्य, राग है, विकल्प है, पुण्यबन्ध भाव है। आहा..! देखो ! ये 'दौलतरामजी' गृहस्थाश्रम में रहने पर भी सत्य वस्तु को प्रसिद्ध करते हैं, जाहिर करते हैं। भाई ! आत्मा अन्दर रागरहित पुण्यरहित (है ऐसा) ज्ञान (किये) बिना महाव्रत अनन्त बार धारण किये। समझ में आया ? एकदम आवेश में आकर मुनिपना ले लिया, पंच महाव्रत लिये और पंच महाव्रत में अट्ठाईस मूलगुण भी निरतिचार पाले, परन्तु वह तो राग है। आत्मा उससे पार है, उसका ज्ञान अन्दर नहीं हुआ। समझ में आया ?

भगवान आत्मा...! विकल्प पुण्य-पाप, व्रतादि का विकल्प तो पुण्य है। हिंसा, जूठ का भाव तो पाप है। दोनों से (भिन्न होकर) आत्मा का अन्तर में ज्ञान का ज्ञान करना, आत्मा का ज्ञान करना, आत्मा के स्वसन्मुख होकर अपनी एकाग्रता करना, ऐसे ज्ञान से अनन्त कर्म झर जाते हैं। ऐसे ज्ञान बिना अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये। नग्नपना मुनिव्रत, हाँ ! अनन्त बार नग्नपना धारण किया, पंच महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण भी अनन्त बार (धारण किये)। उस ओर दृष्टान्त दिया है न ? एक सफेद शरीर किया है बाद में काला-काला करके उसकी परछाई की है। है या नहीं ? कहाँ है ? ये नहीं है मुनि ? देखो ना यह मुनि। यह एक (शरीर) और ऐसे-आसे अनन्त शरीर किये। देखो न, शरीर... शरीर... शरीर... शरीर... है या नहीं ? उसमें है ? एक, दो, तीन, चार इतने तो लिये हैं (ऐसे) अनन्त ले लेना।

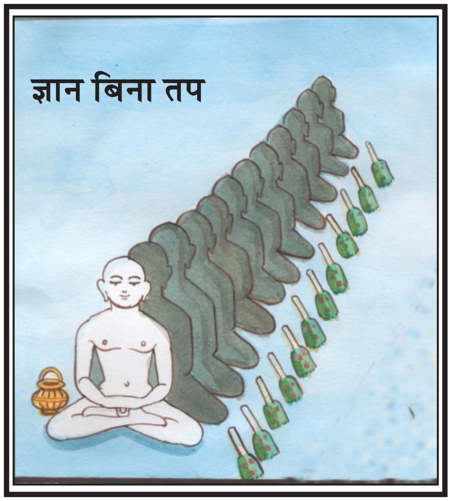

मुमुक्षु :- अंधेरा है।

उत्तर :- वह अंधेरा नहीं है। शरीर, शरीर बनाया है। एक शरीर, दो शरीर, तीन शरीर ऐसे

अनन्त शरीर, मुनिव्रत लेकर अनन्त शरीर धारण किये। अनन्त बार मुनिपना (लिया)। है न ? देखो ! मोरपींछी भी है, यहाँ कमण्डल भी है – ऐसा अनन्त बार हुआ, लेकिन विकल्प का कर्ता मैं नहीं, देह की क्रिया का मैं करनेवाला नहीं। मैं तो चिदानन्द ज्ञानज्योति आनन्द हूँ, ऐसे सम्यक्ज्ञान बिना उसमें कोई लाभ हुआ नहीं। है या नहीं ? पुस्तक तो साथ में है। यहाँ का नहीं बनाया है, चित्र तो पहले से बने हैं। समझ में आया ?

'मुनियों के महाव्रतों को धारण करके अनन्तबार...' देखो ! एक बार नहीं। हजारों रानियों का त्याग कर दिया, अरबों रूपिये छोड़ दिए, बारह-बारह महिने के उपवास अनन्त बार किये परन्तु आत्मज्ञान नहीं किया। आत्मज्ञान बिना वह सब उसका संसार में गया। परिभ्रमण रहा, जन्म-मरण का नाश हुआ नहीं और गृहस्थाश्रम में रहे हो, हजारो रानियों का त्याग न हो, राग हो फिर भी रागरहित आत्मा का ज्ञान करने से अल्पकाल में वह कर्म का नाश करके, चारित्र लेकर मुक्ति को पायेगा। समझ में आया ?

'अनन्तबार नववें ग्रैवेयक...' नव ग्रैवेयक समझते हो ? अन्त में है। ये चौदह ब्रह्मांड-चौदहराजु (लोक) है न ? वह पुरुष के आकार से है। जैसा पुरुष है न ? पुरुष, उसके अनुसार आकार है। खडा पुरुष होता है, उसमें गला है, ग्रीव... ग्रीवा... ग्रीवा के स्थानमें नौ ग्रैवेयक हैं। देव की पृथिवी है। नव ग्रैवेयक यहाँ पर है। वहाँ प्रत्येक जीव अनन्तबार गया है। साधु होकर, दिगम्बर साधु होकर अनन्त बार गया; मिथ्यादृष्टि होकर, आत्मज्ञान पाये बिना (वहाँ गया)। आत्मज्ञान पाकर स्वर्ग में जाये वह तो अल्पकाल में मुक्ति पाये। आत्मज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना ऐसा मुनिव्रत अनन्तबार धारण किया। नौवीं ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ।

'परन्तु (निज आतम) अपनसे आत्मा के ज्ञान बिना...' देखो ! है न ? **'पै निज आतमज्ञान बिना...'** इतना किया लेकिन आत्मा का ज्ञान नहीं किया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में हो ? ज्ञान तो अन्तर में है। बाह्य क्रियाकांड से मिलता है ?

आत्मा, ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञान से ही वेदन में आता है, जानने में आता है। ऐसा ज्ञान, अनन्त बार नौवीं ग्रैवेयक गया लेकिन ऐसा ज्ञान किया नहीं। शास्त्र का ज्ञान किया। नव पूर्व पढ़

लिया, उसमें क्या आया ? समझ में आया ? दो बात कहते हैं। एक तो, अपने ज्ञान बिना। समझे ? शास्त्र का ज्ञान किया, ऐसा कहते हैं; और व्रतादि किये, दोनों बात ली है। भाई ! पंच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण भी लिये और शास्त्र का ज्ञान भी किया, दोनों बात आ गई।

'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजावे' आत्मज्ञान बिन व्रत भी अनन्त बार लिये और निज आत्मज्ञान बिना शास्त्र का ज्ञान भी किया। समझ में आया ? आत्मज्ञान क्या करे ? शास्त्र तो कहते हैं कि, तेरे अन्दर देख। अन्तर में अनुभव कर, तेरा आत्मा अन्दर भगवान परमात्मा बिराजता है। तेरे स्वरूप में नजर डाल, उसमें से शांति मिले, उसका नाम ज्ञान कहते हैं। समझ में आया ?

'(निज आतम) अपने आत्मा के ज्ञान बिना...' दोनों बात कही है। व्रत भी लिये और आत्मा के ज्ञान बिना शास्त्र का ज्ञान भी किया। समझ में आया ? 'श्रीमद्' नहीं कहते ? 'श्रीमद्' कहते हैं कि नहीं ? 'श्रीमद् राजचंद्र,' सुना है न ?

यम नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।
जप भेद जपै तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासी लही सबपें।
सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।

'यम नियम संजम...' यम (अर्थात्) पंच महाव्रत। नियम-अभिग्रह लिया। संयम लिया।

यम नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।

क्या है उसमें ? आत्मा क्या चीज है, ऐसे अंतरबोध बिना... कहते हैं,

वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।

अब क्यों न बिचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसे ?

बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहे ?

समझ में आया ? २४ वर्ष की उम्र। २४ वर्ष की उम्र में भान हुआ (था)। गृहस्थाश्रम में थे।'श्रीमद् राजचंद्र' को 'मुंबई' में लाखो रूपये का मोती का व्यापार था। समझ में आया ? लाखो रुपये का मोती का व्यापार। अन्दर में (भान है कि) मेरी चीज़ नहीं मेरी चीज़ तो मैं आत्मा हूँ, आनन्द हूँ। जैसे नारियेल में गोटा भिन्न रहता है... नारियेल होता है न ? नारियेल में टोपरे का गोटा भिन्न (है)। ऐसे सम्यग्ज्ञानी का आत्मा, राग और शरीरादि की क्रिया से अन्दर में भिन्न रहता है। आहा..हा...! भाई !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- आत्मा बिना ज्ञान नहीं होता। देवानुप्रिया ! ऐसा कहते हैं कि, तूने ये सब तो किया, अनन्तबार साधन किये।'**सब शास्त्रनके नय धारि हिये,...**' शास्त्र पढ़े तो किसके पास पढे ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- बिन सद्गुरु अर्थात् ? उसका अर्थ क्या ? वे कहते हैं कि, विकल्प रहित तेरा आत्मा है ऐसा तूने बोध नहीं किया। समझ में आया ? ठीक पकडा। उसका अर्थ ये है। भगवान ! तेरी चीज़ तो अन्दर में अनाकुल आनंदमय प्रभु है न, भाई ! राग विकल्प दया, दान आदि का, हमें सुनने का विकल्प उठता है, वह विकल्प भी तेरी चीज़ तो अन्दर में अनाकुल आनंदमय प्रभु है न, भाई ! ऐसा उसको सुनाया तो समझे तो गुरुगम से समझा - ऐसा कहने में आता है।'समझे नहीं गुरु बिना, ये ही अनादि स्थित।' ठीक !

'**पावे नहि गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित।**' सत्ज्ञानी बिना सच्चा तत्त्व क्या है वह अन्तर में समझ में आता नहीं। अब ठीक न ? आहा..हा...! अरे..! भगवान ! उसे मिले थे लेकिन उसे भान नहीं था। ग्यारह अंग में क्या नहीं आता ? ग्यारह अंग पढा। ग्यारह (अंग में) कितना है ? एक शास्त्र-एक आचारांग, एक आचारांग सूत्र है, उसमें अठारह हजार पद हैं।

एक पद में इक्यावन करोड श्लोक हैं। ऐसा कंठस्थ किया। ऐसे एक आचारांग से डबल सूयगडांग, उससे डबल ठाणांग (है)। डबल कहते हैं न ? दूना... दूगना। ऐसे ग्यारह अंग पढ़ डाले, पढ़ डाले। पढ़ा लेकिन क्या कहते हैं, अन्तर में आत्मज्ञान का पता लिया नहीं। भाई !

देखो ! भाषा क्या है ? देखो ! निज आत्मज्ञान, ऐसी भाषा है न ? '**पै निज आतमज्ञान**' ऐसा शब्द है। एक-एक शब्द में बहुत मर्म भरा है। निज आत्मज्ञान। भगवान का ज्ञान, ऐसा नहीं। गुरु का ऐसा नहीं, शास्त्र का ऐसा नहीं। समझ में आया ? '**पै...**' परंतु एक '**निज आतमज्ञान बिना...**' भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु, चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा है, ऐसा अन्तर में अंतर्मुख होकर आत्मा का ज्ञान किया नहीं। आहा..हा...! तो '**सुख लेश न पायौ।**' आत्मा का आनन्द, सम्यग्ज्ञान बिना आनन्द जो अतीन्द्रिय आनंद आना चाहिए, वह पाया नहीं। उसका अर्थ क्या किया ? कि, पंच महाव्रतादि अनन्त बार लिया लेकिन दुःख भोगा, ऐसा कहते हैं। भाई ! ओ..हो..हो...! थोड़े में कितना कहते हैं !!

लेश सुख न पाया। पंच महाव्रत पाले, ग्यारह अंग पढ़े तो सुख नहीं ? नहीं। क्योंकि परलक्ष्यी विकल्प है। आत्मा का नहीं (है), दुःख है, ऐसा कहा। ग्यारह अंग, नौ पूर्व का पढ़ना भी दुःख है। आत्मा के अंतरज्ञान बिना वह दुःख है। पंच महाव्रतादि, अठ्ठाईस मूलगुण भी दुःख है। आहा..हा...! समझ में आया ? उसमें है या नहीं ? भैया ! निकालो। '**पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।**' ऐसा है या नहीं ? सुख नहीं पाया तो क्या पाया ? दुःख। आहा..हा...! वहाँ दुःख ही है। पंच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण का विकल्प उठता है वह दुःख है, राग है। ग्यारह अंग की पढाई परलक्ष्यी दुःख है, ऐसा कहते हैं। 'दौलतरामजी' ने श्लोक में ऐसा भर दिया है। समझ में आया ?

'**पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।**' अंश भी सुख नहीं (पाया) उसका अर्थ, मुनिव्रत लिया लेकिन अंश भी सुख नहीं। दुःख लिया, उसे दुःख का अनुभव था। आहा..हा...! क्योंकि वह शुभराग, पुण्य की क्रिया, वह शुभभाव दुःख है, ऐसा कहते हैं। दौलत भरी है न ! यह 'दौलतरामजी' हैं। समझ में आया ? एक श्लोक में बहुत भरा है, हाँ !

ज्ञान बिना लेश, है न ? '**किंचित्‌मात्र सुख प्राप्त न कर सका।**' थोड़ा सुख भी (नहीं), एक अंश भी सुख हो तो खलास हो गया। सम्यग्ज्ञान होकर अंश सुख हो वह पूर्ण सुख की प्राप्ति करेगा ही करेगा। चंद्र की दूज उगती है, वह पूर्णिमा होगी ही होगी। यहाँ तो दुःख लिया, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द के ज्ञान बिना तेरा पंच महाव्रत का मुनिपना भी दुःखरूप है। समझ में आया ? ऐसा अनन्त बार किया लेकिन अंतर में आत्मज्ञान की दृष्टि और अनुभव में सुख है, वह कभी प्रकट किया नहीं, तो उसका परिभ्रमण कभी मिटा नहीं। (विसेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✲

''आत्मा ज्ञानमात्र है'' ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मा शरीररुप नहीं , वाणीरूप नहीं, पुण्यपापरुप नहीं और एक समयकी पर्याय मात्र भी नहीं है । ''आत्मा ज्ञानमात्र है'' यह कहनेका अर्थ है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन, अकार्य-कारण, भावादि अनन्त शक्तिमय है । प्रभु ! तेरे घरकी क्या बात है ! तेरेमें अनन्त शक्तियाँ भरी हुयी हैं और एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थयवान है, प्रत्येक शक्ति अनन्तगुणोंमें व्याप्त है. प्रत्येक शक्तिमें अन्य अनन्त शक्तिका रूप है, प्रत्येक शक्ति अन्य अनन्त शक्तियोमें निमित्त है। ऐसी प्रत्येक शक्तिमें अनन्त पर्यायें हैं , वे पर्यायें क्रमसे परिणमित होनेसे क्रमवर्ती हैं, तथा अनन्त शक्तियाँ एक साथ रहनेके कारण वे अक्रमवर्ती हैं । ऐसे अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायोंका पिण्ड - वह आत्मद्रव्य है । द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है तथा उन पर दृष्टि करनेसे परिणमन भी शुद्ध ही होता है ।

(परमागमसार-१६९)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १०, मंगलवार

दि.१५-२-१९६६, गाथा ५, ६, प्रवचन नं.-२६

'छहढाला' की यह चौथी ढाल है। चौथी ढाल का पाँचवा श्लोक है, श्लोक कहते हैं ? क्या कहते हैं ? पाँचवा श्लोक चलता है। उसका भावार्थ, देखो ! भावार्थ आया न ? श्लोक आ गया। क्या कहा ? देखो !

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।५।।

उसका भावार्थ लेते हैं। **भावार्थ :- 'मिथ्यादृष्टि जीव...'** अर्थात् अज्ञानी जीव **'आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना...'** क्या कहते हैं ? यह आत्मा अन्तर ज्ञानानंद स्वरूप है, शुद्ध आनन्द (स्वरूप है), उसके ज्ञान बिना अज्ञानी... देखो ! पाठ में अर्थ में अज्ञानी लिया है। समझ में आया ? पाठ में तो साधारण शब्द है, 'ज्ञान बिन', लेकिन अर्थ में स्पष्ट लिया है। यह आत्मा ग्यारह अंग अनन्त बार पढा और बालतप भी किया। आत्मा के ज्ञान बिना तप भी किया। दो बात चलती है, देखो !

'आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मो-भवों तक बालतपरूप उद्यम करके...' मास-मासखमण उपवास का पारना किया। दो-दो महिने, बारह-बारह महिने का (किया), लेकिन वह तप करने पर भी... यहाँ तो 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं कि, आत्मा ज्ञानस्वरूप के भान बिना वह करोड़ों भव के तप में भी उसे दु:ख ही था। अनन्त भव में भी करोडों भव की बात करते हैं। अनन्त-अनन्त भव किये उसमें मनुष्यभव में, करोड़ों भव

मनुष्यभव में ऐसा किया कि, जिसमें मुनिव्रत धारण करके मास-मासखमण के उपवास, दो-दो महिने के अपवास (किये), ऐसे करोड़ों भव। आहा..हा... ! समझ में आया ? चार गति में भव तो अनन्त किये, वह भी बात नहीं है। मनुष्य के भव अनन्त किये, वह बात भी नहीं। मनुष्य में भी श्रावक व्यवहारव्रत नाम धारण करके उसके भी अनन्त भव किये, लेकिन नग्न दिगम्बर मुनि होकर अनन्त बार मुनिपना का भव, करोड़ों भव किये, वह बात करते हैं। समझ में आया ?

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य विकल्प से, पुण्य-पाप से रहित अपने शुद्ध आनन्द, ज्ञानस्वरूप (है), उसका अन्तर में ज्ञान-सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना उसने करोड़ों भव में करोड़ों वर्ष बहुत तपस्या की। उस तपस्या में आत्मा का आनन्द नहीं आया, क्योंकि वह तपस्या दुःखरूप है। समझ में आया ? देखो ! 'दौलतरामजी' क्या कहते हैं ? साधु होकर वह बालतप अनन्त बार किया, लेकिन आत्मा अन्दर पुण्य-पाप के राग से, शुभ-अशुभ विकल्प से रहित (है), ऐसे आत्मा का अन्तर ज्ञान बिना, ऐसी सम्यग्दर्शन की अवस्था बिना, ऐसा बालतप करोड़ों भव में, करोड़ों वर्षों तक किया (लेकिन उसमें) दुःख था; लेश सुख नहीं था। अन्तिम का शब्द है, भाई ! उसे जरा-सा भी सुख नहीं था; थोड़ा भी सुख नहीं था। समझ में आया ? एक बात।

कोई कहते हैं कि, आत्मा के भान बिना वह उपवास करे, दो-दो महिने, पाँच-पाँच महिने उपवास करे तो कुछ तो, थोड़ा तो धर्म होगा न ? धर्म हो तो सुख होना चाहिए। आत्मा का सुख होना चाहिए, ऐसा 'दौलतरामजी' कहेत हैं, देखो ! ऐसा करोड़ों भव में करोड़ों वर्षों तपस्या की तो भी '**जितने कर्मो का नाश करता है, उतने कर्मो का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव-**' धर्मी जीव-सम्यग्ज्ञानी '**स्वोन्मुख ज्ञातापना के कारण...**' शुद्धस्वरूप के अन्तर स्वसन्मुख, अपने ज्ञाता-दृष्टापने के कारण।

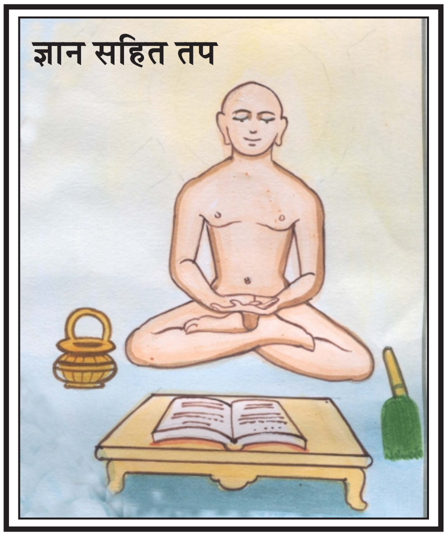

अज्ञानी परसन्मुख था। करोड़ों भव में करोड़ों वर्ष तप किया लेकिन उसका लक्ष्य पर की ओर था। मिथ्यादृष्टि है, स्वसन्मुख नहीं था। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं कि, भगवान आत्मा अपना ज्ञानस्वरूप सरोवर चिदानन्द प्रभु, उसके अन्तर स्वसन्मुख होकर जितने कर्म क्षणमात्र में खिरते हैं, उतने आत्मा के भान बिना अज्ञानी करोड़ों भव में तप करता है तो (भी) उतने कर्म खिरा सकता नहीं। परंतु उसे यहाँ आखिर में कहते हैं... देखो ! '**स्वरूपगुप्ति से - क्षणमात्र में सहज...**' नाश करते हैं। हठ नहीं। वह (अज्ञानी) तो हठ से उपवास करता है। मुझे करना पडे, ऐसे (भाव से करता है)। आत्मज्ञान नहीं, अंतरदृष्टि नहीं, अनुभव नहीं (है)।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप (है), ऐसा अन्तर में आनन्द के बोध बिना, आनन्द के अंश के अनुभव बिना मिथ्याज्ञानी ऐसा सब करे (तो वह) एकान्त दुःखी है। समझ में आया ? दुःख में कर्म क्यों खिरे ? ज्ञानी आत्मा-सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धस्वरूप के अन्तरसन्मुख होकर, अनत्र में ज्ञान में एकाकार होकर एक क्षण में स्वसन्मुख (होकर), परसन्मुखता से (जो) कर्म बंधे थे (उसे) स्वसन्मुख (रोकर) छोड़ देते हैं, छूट जाता है। समझ में आया ? अनन्तकाल में क्या चीज़ है (उसका) ख्याल नहीं (किया)। यह अर्थ 'दौलतरामजी' करते हैं। आहा..हा... ! एक बात (हुई)।

दूसरी (बात)। '**यह जीव, मुनि के (द्रव्यलिंगी मुनि के महाव्रतों को धारण...)**' किये। अनन्तबार पंच महाव्रत (धारण किये)। सुनो ! उसमें है या नहीं ? '**मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ;**' तो क्या कहते हैं ? '**पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।**' उसका क्या अर्थ निकाला ? अन्तर आत्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (किये) बिना करोडों भव में, करोडों वर्ष व्रत लिये। पंच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण (का पालन किया)। वह पंच महाव्रत तो राग है, दुःखरूप है। क्या बराबर है ? वे क्या कहते हैं ? दुःख है ? महाव्रत दुःख है ? सिद्ध कर दो। महाव्रत दुःख है ?

मुमुक्षु :- आत्मज्ञान नहीं है तो दुःख है।

उत्तर :- आत्मज्ञानवाले को महाव्रत हो तो वह सुख है ? यहाँ वह कहते हैं। एक पंक्ति

में तो बहुत समा देते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि, '**कोटि जन्म तप तपैं,**' और करोडों भव में मुनिव्रत अनन्त बार धारण किये, अनन्त बार मुनिव्रत धारण किये, पंच महाव्रत लिये। वह पंच महाव्रत का भाव है, (वह दुःख है)। आत्मज्ञान के बिना सुख न पाया। तुम उसमें से न्याय निकालो। पंच महाव्रत का परिणाम है, वह विकल्प, राग, है, वह दुःख है, ऐसा कहते हैं। अनन्तबार पंच महाव्रत लिये, लेकिन वह पंच महाव्रत शुभराग है, दुःख है। ऐसा मुनिव्रत अनन्तबार धारण करके भी क्या किया ?

'**नववें ग्रैवेयक तक के विमानों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मा के भेदविज्ञान बिना...**' पंच महाव्रत का परिणाम भी विकल्प अर्थात् राग है। सम्यग्दृष्टि मुनि को भी पंच महाव्रत का विकल्प आता है, वह भी राग है, दुःख है – ऐसा सिद्ध करते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? कठिन बात है, भाई ! उसे सादी भाषा में 'छहढाला' में ले लिया है। कोटि जन्म तप तपे और अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये लेकिन लेश सुख न पाया। उसका अर्थ क्या हुआ ? भैया ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्द है, उका अन्तर ज्ञाता दृष्टा का भाव किये बिना, राग का परिणाम–महाव्रत का हो या तप का हो, वह सब राग दुःखरूप ही है। आहा..हा...! समझ में आया ? बाहर की चीज़ तो दूर रह गई। क्या कहते हैं ? देखो ! '**पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।**' अर्थात् अनन्तबार पंच महाव्रत लिया, अट्ठाईस मूलगुण मुनिव्रत का पालन किया तो वह व्रत दुःख है, आस्रव है, राग है। समझ में आया ? लेकिन उस विकल्प से, राग से भिन्न अपना निजानन्द भगवान आत्मा का अन्तर ज्ञान, दर्शन किये बिना, अन्तर में अंश भी आत्मा का सुख प्राप्त हुआ नहीं। ओ..हो..हो...! एक शब्द, तो कितना (भरा है) ! गागर में सागर भर दिया है ! कंठस्थ है या नहीं ? थोडा–थोडा ? थोडा–थोडा। तुम्हारे चिरंजीवी को पूछते हैं कि, पिताजी को कंठस्थ है या नहीं ? थोडा–थोडा। थोडा याद है। समझ में आया ? यह तो हिन्दी भाषा, हिन्दी सादी भाषा है, चलती भाषा है। समझ में आया ? क्या कहा ? देखो !

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना , सुख लेश न पायो।

इसमें तो बहुत भर दिया है। समझ में आया ? क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु आत्मा है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वबोध अन्तर में हुए बिना अंश भी अन्तर में आनन्द आता नहीं। उसके अलावा बाह्य सन्मुख में पंच महाव्रत धारण करो, अठ्ठाईस मूलगुण धारण करो, क्रियाकाण्ड करो, तपस्या करो वह सब रागभाव दुःखरूप है। समझ में आया ? है उसमें से निकलता है या नहीं ? उसमें है या नहीं ? देखो !

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना , सुख लेश न पायो।

एक अंश भी सुख न मिला। उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, आत्मसन्मुख अन्तर सम्यग्ज्ञान, दर्शन बिना इतने महाव्रत धारण किये, तपस्या करे तो भी उसे अंश सुख नहीं है अर्थात् दुःख है।

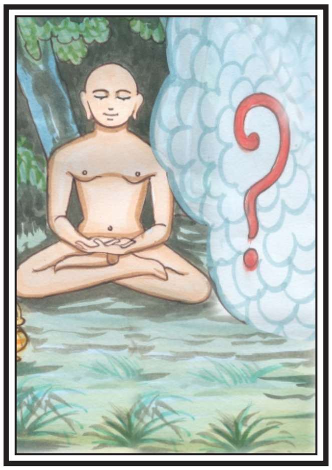

मुमुक्षु :- सुख भी नहीं और दुःख भी नहीं।

उत्तर :- ऐसा होता नहीं, बन सकता नहीं। या सुख, या दुःख। दो में से एक हो सकता है। सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं (ऐसा तो) जड़ में होता है। जड़ को है, जड़ को। सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं। आत्मा में या आनन्द आता है, या दुःख होता है। दो बात है। इस जड़ को दुःख है ? उसमें आनन्दगुण नहीं।

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव पड़ा है, तो अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि छोड़कर जितने क्रियाकाण्ड करने में आते हैं, वे सब दुःखरूप हैं - ऐसा कहते हैं। उसमें है ? भैया ! उसका ऐसा अर्थ होता है ? आपके साथ उनसे हाँ बुलवाते हैं। होशियार आदमी के पास हाँ बुलवाते हैं कि, ऐसा अर्थ निकलता है या नहीं ? देखो ! 'पै निज आतमज्ञान बिना' -

ऐसे महाव्रत में भी, ऐसे व्रत और तप में भी लेश सुख न पाया। लेश–अंश भी नहीं। उसका अर्थ कि, दु:ख पाया। उसमें से निकलता है न ? ये हमारे वकील है। वकील एल.एल.बी. पढ़ा है या नहीं ? लौकिक कानून (पढ़े)। ये भगवान के कानून समझने पडेंगे या नहीं ? आहा..हा...!

'आत्मा के भेदविज्ञान बिना...' अर्थात् चिदानन्द भगवान शुद्ध आनन्द है और विकल्प जो महाव्रत आदि का (है), व्रत या अव्रत दोनों, विकल्प जो उठते हैं वह दु:ख है। इस दु:ख से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान किये बिना इतना–इतना क्रियाकांड करने में आया लेकिन उसे आत्मा का ज्ञान नहीं (हुआ) तो लेश अंश भी आत्मा आनन्द पाया नहीं। आनन्द नहीं पाया, इसका अर्थ हुआ कि, मात्र दु:ख पाया। हुआ या नहीं ? भैया !

अव्रत का परिणाम है, वह तीव्र कषाय है, बहुत दु:ख है। व्रत का परिणाम है वह राग है, मन्द कषाय है परन्तु है दु:ख। आहा..हा...! महाव्रत अर्थात ये अज्ञानी लेते हैं, उसकी बात करते हैं। सच्चे है कहाँ ? वह तो बात करते हैं। अज्ञानी ने आत्मा के भान बिना अनन्तबार व्रत लिये और अनन्तबार लेता है। ले लो, हमें हिंसा नहीं करनी है, लेकिन वह तो विकल्प है। ऐसा लिया उसमें क्या आया ? वह तो राग है। आत्मा राग और विकल्प से रहित (है उसके) बोध बिना, आत्मज्ञान के बिना (सब दु:खरूप हुआ)। क्यों वकील उसमें से निकलता है ? बराबर है ? यह वकील है, वैष्णव वकील है। न्याय से समझना पड़ेगा या नहीं ? वीतराग परमेश्वर का मार्ग है।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर फरमाते हैं कि, एक समय में भगवान आत्मा आनन्द का कन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का रस है। उसका अंतर में स्वसन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान किये बिना आत्मा का आनन्द आता नहीं और आत्मा के स्वसन्मुख हुए बिना परसन्मुख की जितनी क्रियाकांड तपस्या करता है, वह सब दु:ख की अवस्था का अनुभव करता है। समझ में आया ? उस **'जीव को वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।'** ओहो..हो...! आज मंगल दिन है। आज मंगलवार है या नहीं ? मंगल दिन, है देखो ! भगवान के २५०० वर्ष में आठ दिन है न ? और यह बात आई। भाई ! कितनी बात करते हैं !

आत्मा महावस्तु राग के एक विकल्प से पार है। शरीर, वाणी से तो पार, भिन्न है ही, परन्तु व्रत और तप का विकल्प उठता है कि, मैं ऐसा करुँ, तप करुँ वह भी राग है, उससे रहित भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा सच्चिदानन्द सिद्ध समान स्वरूप अन्तर में अन्तर स्वसन्मुख की दृष्टि-ज्ञान किये बिना परसन्मुख की क्रियाकाण्ड लाख, करोड भव (करे) तो यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, थोडा भी आत्मा के सुख का अंश उसे नहीं है। है तो उसे संसारी सुख तो दु:ख ही है। भाई ! उसमें ऐसा क्या कि नहीं ? आहा..हा... !

इतना कहकर अब अभ्यास करने की थोड़ी प्रेरणा करते हैं। इतना ज्ञान-आत्मज्ञान और पर के ज्ञान दो में भेद है। आत्मदृष्टि और पर की दृष्टि में भेद है। आत्मचारित्र और पर का आचरण व्यवहार का भेद है, इतना बताया। आत्मज्ञान बिना शास्त्रज्ञान दु:खरूप है। आत्मदृष्टि बिना देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प दु:खरूप है। आत्मशांति की स्थिरता-चारित्र के बिना पंच महाव्रत का परिणाम भी दु:खरूप है। भैयाजी ! पहले यहाँ कभी आये थे या नहीं ? पहलीबार आये हो ? अच्छा !

'छहढाला'। 'छहढाला' का अर्थ किया है न ? उसमें कहीं किया है। ढाल... ढाल। अपने में बैरी-शत्रु विकार नहीं आये - ऐसी अपनी दृष्टि करना, उसका नाम 'छहढाला' है। ढाला... ढाला। कहीं लिखा है या नहीं ? पीछे है ? कहीं पर लिखा है। ढाल का अर्थ है कहीं पर, ये रहा देखो ! १८० पन्ना है। नीचे (फूटनोट में) है। '**इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकार के प्रकरण हैं, इसलिये तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती है, उसीप्रकार जीव के अहितकारी शत्रु-मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों का तथा अज्ञानांधकार को रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण है;...**' ढाल... ढाल। है ? १८० पन्ने पर है, नीचे है, नीचे। समझ में आया ? ढाल नहीं रखते ? लड़ाई करते समय हाथ में ढाल रखते हैं। (शत्रु का) शस्त्र नहीं आ जाये इसलिये (रखते हैं)। वैसे यह 'छहढाला' है। समझ में आया ? और आत्मा का दर्शन, आत्मा का ज्ञान और चारित्र हो, इसलिये यह 'छहढाला' है। पुस्तक रखा है या नहीं ? बहुत कठिन बात, भाई ! कभी अर्थ सुना नहीं हो। क्या सत्य है ? (मालूम नहीं)। ये पाँचवा श्लोक (समाप्त) हुआ।

ज्ञान के दोष और मनुष्यपर्याय आदि की दुर्लभता

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले सुमणि ज्यौं उदधि समानी।।६।।

अन्वयार्थ :- (तातै) इसलिये (जिनवर-कथित) जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए (तत्त्व) परमार्थ तत्त्व का (अभ्यास) अभ्यास (करीजे) करना चाहिए और (संशय) संशय (विभ्रम) विपर्यय तथा (मोह) अनध्यवसाय (अनिश्चितता) को (त्याग) छोड़कर (आपो) अपने आत्मा को (लख लीजे) लक्ष्य में लेना चाहिए अर्थात् जानना चाहिए। (यदि ऐसा नहीं किया तो) (यह) यह (मानुष पर्याय) मनुष्य भव (सुकुल) उत्तम कुल और (जिनवानी) जिनवाणी का (सुनिवौ) सुनना (इह विष) ऐसा सुयोग (गये) बीत जाने पर, (उदधि) सच्चे रत्न की भाँति (पुन:) (न मिले) मिलना कठिन है।

भावार्थ :- आत्मा और परवस्तुओं के भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन (मन) करना चाहिए; और संशय[१] विपर्यय[२] तथा अनध्यवसाय[३] इन सम्यग्ज्ञान के तीन दोषों को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि जिसप्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुन: हाथ नहीं आता उसीप्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग भी बीत जाने के बाद पुन: पुन: प्राप्त नहीं होते। इसलिये यह अपूर्व अवसर न गँवाकर आत्मस्वरूप की पहिचान (सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति) करके यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।

---

१. संशय :- विरुद्धानेककटिस्पर्शिज्ञान सशय: = 'इस प्रकार है अथवा इसप्रकार ?' – ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं।

२. विपर्यय :- विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्यय: = वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'यह ऐसा ही है' – इसप्रकार एकरूप ज्ञान का नाम विपर्यय हैं। उसके तीन भेद हैं – कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेद विपर्यय। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ.१२३)

३. अनध्यवसाय : किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय: = 'कुछ है' – ऐसा निर्णयरहित विचार अनध्यवसाय है।

'ज्ञान के दोष और मनुष्यपर्याय आदि की दुर्लभता।'

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी।।६।।

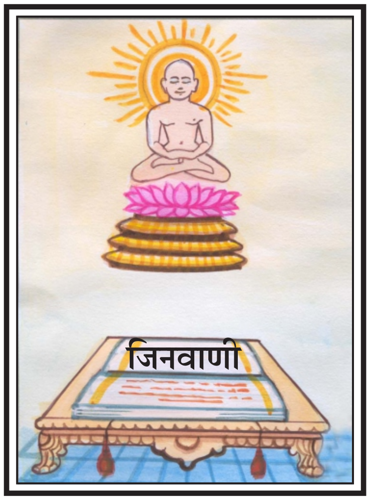

बहुत मीठी भाषा है। मीठी और सरल है। हिन्दी भाषा तो (सरल है)। क्या कहते हैं ? देखो ! उसका शब्दार्थ–अन्वयार्थ है न ? (चित्र में) उपर 'जिनवाणी' लिखा है न ? एक अरिहंत भगवान बनाये हैं। भगवान के मुख से वाणी निकली, जिनवाणी। एक ओर ध्यान करते हैं। देखो ! संशय, विमोह का त्याग करके (आत्मध्यान करता है)। कुर्ता उतारकर ध्यान करता है। है न उसमें ? और नीचे उदधि में मणि गिरता है, बड़े समुद्र में मणि (गिरता है)। ऐसे तीन (चित्र लिये हैं)।

कहते हैं,

'**इसलिये...**' इसलिये क्या ? इसलिये माने क्या ? कि, अनंतबार आत्मा का ज्ञान और आत्मदर्शन–निर्विकल्पदृष्टि बिना, अनुभव बिना तुने पंच महाव्रत तप भी किये, (लेकिन) उसमें कुछ आत्मा का लाभ हुआ नहीं। उसमें कोई आत्मशांति मिली नहीं, आत्मा के कल्याण का रास्ता उसमें से निकला नहीं। वे सब तो दु:खमय भाव हैं। इसलिये – ऐसा (कहते हैं)। '**तातैं**' शब्द है न ? '**इसलिये**' इसलिये '**(जिनवर-कथित)**

जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए...' भाषा देखो ! भगवान जिनेन्द्र परमेश्वर त्रिलोकनाथ सो इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान की वाणी निकली। अनन्त तीर्थंकर हुए, वर्तमान में महाविदेह में बिराजमान हैं, भविष्य में अनन्त होंगे। भरतक्षेत्र में, महाविदेहक्षेत्र में अनन्त तीर्थंकर हुए, अनन्त होंगे। वर्तमान में २० बिराजते हैं। लाखो केवली बिराजते हैं। महाविदेह में लाखों केवली बिराजते हैं और तीर्थंकर २० बिराजते हैं। क्योंकि वे पुण्यप्रकृतिवाले हैं न ?

ऐसे '**जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए...**' ऐसा कहकर क्या कहते हैं ? वीतराग के अलावा जिसका कहनेवाला अज्ञानी है, जिसे सर्वज्ञपद नहीं है, तीनकाल का ज्ञान नहीं ऐसे अज्ञानी वे जो तत्त्व कहा, उसमें तो अज्ञान ही भरा है, मिथ्यात्व भरा है। उसमें कोई सार है नहीं। समझ में आया ? पहले यह निर्णय करना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान परमेश्वर ने कहा हुआ, सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा। 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिगम्बर महासन्त भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहकर वहाँ से यह लाये। ऐसी सनातन वाणी, सनातन मार्ग 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने दुनिया को फरमाया। वही मार्ग चलता है।

वही कहते हैं, जिनेन्द्र कथित मार्ग। अज्ञानी ने अपनी कल्पना से कहा हो या अज्ञानी माने कि जगत में एक ही तत्त्व है, आत्मा भी एक ही है, दूसरा कोई है नहीं; लगाओ आत्मा का ध्यान। आत्मा का क्या लगा दे ? आत्मा क्या चीज़ है ? उसका द्रव्य अर्थात् वस्तु क्या ? उसका क्षेत्र अर्थात् क्षेत्र को क्या कहते हैं ? चौड़ाई। चौड़ाई क्या ? और उसमें शक्तियाँ-भाव कितने हैं ? और उसकी वर्तमान अवस्था क्या है ? ये चार बोल चाहिए - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। सर्वज्ञ भगवान के अलावा ऐसी चीज़ कहीं हो सकती नहीं। समझ में आया ?

प्रत्येक वस्तु में चार बोल हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। द्रव्य अर्थात् अपना गुण-पर्याय का पिंड, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य माने ये पैसा नहीं, हाँ ! प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्तियाँ हैं और वर्तमान अवस्था है, उसके पिंड को द्रव्य कहते हैं। उसकी चौडाई को क्षेत्र कहते हैं। उसकी त्रिकालशक्ति को गुण-भाव कहते हैं। वर्तमान हालत को, अवस्था को काल कहते हैं। आहा..हा... ! जिनवर भगवान ने ऐसा देखा है। जिनवर सर्वज्ञ के अलावा ऐसा कोई देख सके नहीं। समझ में आया ?

'जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए परमार्थ तत्त्व...' देखो ! तत्त्व है न ? अकेला आत्मा नहीं है, सात तत्त्व कहा है, भाई ! सातों तत्त्व हैं। **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं', 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:।''** 'उमास्वामी' का पहला सूत्र यह है। दूसरा सूत्र है, 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' तत्त्वार्थ-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। सात तत्त्व है। जीव और अजीव दो पदार्थ है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष उसकी पर्याय है। पर्याय अर्थात् अवस्था है, अवस्था अर्थात् हालत है। गुण तो त्रिकाल पडा है। सात तत्त्व में दो तत्त्व द्रव्य हैं, पाँच पर्याय हैं। भगवान के कहे अनुसार उसका निर्णय करना चाहिए। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए परमार्थ तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए...' कहते हैं, भैया ! अभ्यास करो। अनन्तकाल में ऐसा वास्तविक अभ्यास नहीं कयिा। वास्तविक अभ्यास नहीं किया। ऐसे तो ग्यारह अंग पढ लिये, नव पूर्व पढ लिये। पढ डाला। लेकिन उसमें क्या कहना है, ऐसे अपने चैतन्य का पता लिया न हीं। वही कहत े हैं, देखो ! **'परमार्थ तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए...'** कहते हैं, **'संशय विपर्यय तथा अनध्यवसाय को छोड़कर...'** उसकी व्याख्या पीछे है। पीछे है, पिछले पन्ने पर है। **'विरुद्धानेककोटिस्पार्शिज्ञान संशय: इस प्रकार है अथवा इसप्रकार ? ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं।'** क्या होगा ? यह आत्मा एक होगा या अनेक होगा ? आत्मा में अनन्त गुण कहते हैं तो एक गुण होगा या अनन्त होंगे ? ऐसे संशय को अज्ञान कहते हैं।

भगवान इसे आत्मा कहते हैं। आत्मा को एक कहते हैं और गुण को अनन्त कहते हैं और क्षेत्र इतना। शरीर प्रमाण है। शरीर प्रमाण से क्षेत्र, भगवान आत्मा का क्षेत्र, द्रव्य वस्तु। उसमें गुण अनन्त (हैं)। ये क्या है ? अनन्त गुण होंगे या नहीं होंगे ? ऐसा संशय, वह अज्ञान अवस्था है। ऐसा संशय छोड़कर तत्त्व का अभ्यास करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अभ्यास करने से शंका छूटती है या शंका छूटने से...

उत्तर :- संशय-शंका छोड़े तब उसे अभ्यास करने का मन होगा न ? शंका अर्थात् यह तत्त्व सच्चा लगता है। ऐसे। अभ्यास करने में संशय छोड यानी यह सच्चा होगा या ये असत्य

होगा ? ऐसा संशय छोड़कर अभ्यास करना, ऐसा कहते हैं। ये सच्चा होगा ? भगवान कहते हैं, आत्मा एक इतना है और गुण अनंत (हैं)। सर्व क्षेत्र में व्यापक नहीं है, इतने एक क्षेत्र में रहनेवाला (है)। क्षेत्र इतना (और) गुण अनन्त, कैसे रहते होंगे ? समझ में आया ?

भगवान कहते हैं, उसका सम्यक् अन्तर अभ्यास करे। वास्तविक मैं आत्मा हूँ। मैं आत्मा हूँ तो मैं अनन्त पदार्थ के बीच अपना अस्तित्व रखता हूँ। अनन्त पदार्थ से भिन्न अनन्त धर्म मेरे में हैं और इसके अलावा अनन्तगुने सामान्य, विशेष गुण अनन्त हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अनन्त द्रव्य में कोई (अन्य) द्रव्यरूप नहीं हो जाये ?

उत्तर :- किसी रूप नहीं होता। एक रजकणरूप आत्मा नहीं होता, दूसरे आत्मारूप आत्मा नहीं होता। क्या कहा ? एक अपना आत्मा दूसरे शरीर या कर्म या रजकणरूप से नहीं होता और एक आत्मा दूसरे आत्मारूप कभी तीनकाल में नहीं होता। तब आत्मा टिक सकता है, नहीं तो कहाँ से टिक सकता है ?

मुमुक्षु :- सिद्ध हो तब।

उत्तर :- अरे..! अभी। सिद्ध (बने तब) क्या, अनादि अनन्त (टिक रहा है)। समझ में आया ? अभी आत्मा कर्मरूप हुआ नहीं, अभी शरीररूप हुआ नहीं।

मुमुक्षु :- आत्मा को आठ कर्म हैं।

उत्तर :- कहाँ धूल में है ? कर्म कर्म में रहे। समझ में आया ?

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल,भाव में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का तीनों काल अभाव है। स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का अभाव है। ऐसा नि:संशय-संदेहरहित ज्ञान करना। समझ में आया ? ज्ञान की खबर नहीं, अपने करो, कुछ करो। राग मंद हो तो पुण्य बँध जायेगा। साथ में मिथ्यात्व का लकड़ा लगा है।

मुमुक्षु :- क्या होगा ?

उत्तर :- जन्म-मरण होंगे। क्या होगा क्या ? क्या होगा ? जन्म-मरण होंगे। फिल्म

कुछ पूछते हैं न ? ऐसा कोई बोलता था। उसे अब धर्म में लगा दिया। कोई बोलता था। मालूम नहीं कौन बोलता था ? ऐसा ज्ञान करे तो क्या होगा ? होगा या नहीं ? ऐसा कोई कहता था। होगा या नहीं ? होगा या नहीं होगा ? यहाँ कहते हैं कि, संशय होगा तो सम्यग्ज्ञान नहीं होगा। समझ में आया ?

परमार्थ तत्त्व संशय बिना और '**विपर्यय...**' देखो ! दूसरा बोल विपरीत (है)। आत्मा है नहीं,अपने को तो लगता नहीं,भैया ! होगा, कहीं होगा वह अनध्यवसाय में जाता है। विपरीत (अर्थात्) राग है, वही आत्मा लगता है; शरीर है, वह आत्मा लगता है। ऐसी मान्यता विपरीत है। विपरीत में भी तीन बोल हैं। अन्दर में है। कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यास। उसके तीन बोल है। समझ में आया ? एक वस्तु को मानना और उसकेकारण में कोई ईश्वर है या सर्वव्यापक है – ऐसा मानना वह कारणविपर्यास है। स्वरूपविपर्यास-उसमें अनन्त गुण आदि स्वरूप है, उससे विपर्यास मानना। कुछ नहीं, कुछ नहीं, ऐसे भेद क्या करना ? अनन्त गुण हैं तो विकल्प उठतें हैं। अनन्त गुण हैं, अनन्त गुण हैं (तो) विकल्प (उठते हैं)। क्या विकल्प उठे ? अनन्त गुण हैं, वह तो स्वभाविक वस्तु है। उसमें स्वरूपविपर्याय। ऐसा नहीं मानना। एक ही है। अपने तो ध्यान करो। क्या ध्यान ? धूल का (ध्यान) करे ? आत्मा में अनन्तस्वरूप गुण हैं, अनन्त-अनन्त बेहद शक्ति-गुण हैं। ऐसा स्वरूप विपर्यास से रहित यथार्थ स्वरूप की दृष्टि करके अभ्यास करना।

'**तथा अनध्यवसाय...**' कुछ होगा, कुछ होगा, मालूम नहीं पडता। कुछ है, होगा, कुछ होगा। ऐसा नहीं चलता। ऐसा है। भगवान आत्मा देह से रहित है, पुण्य-पाप के राग से रहित है, अनन्त गुण सहित है। ऐसा तत्त्व अभ्यास (करना), वीतराग परमेश्वर ने कहे हुए तत्त्व का अभ्यास करना। समझ में आया ? देखो ! '**(अनिश्चिततता) को छोड़कर...**' अभ्यास करना। '**अपने आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए...**' देखो ! सार लिया। प्रयोजन किया ? '**आपो लख लीजे**'। सात तत्त्व का संशय, विपर्यय और अनिश्चितता छोड़कर अपना भगवान आत्मा आपो, आपो अर्थात् अपना आत्मा 'लख लीजे'। लख अर्थात् अन्तर ज्ञान कर लीजिये। अपने आत्मा का ज्ञान कर लीजिये। आहा..हा...! समझ में आया ? क्या कहते हैं ? देखो ना !

'संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।' आत्मज्ञान बिन सुख न पायो, कहा था न ? यहाँ 'आपो' ले लिया। मैं तो आत्मा (हूँ)। वाणी से तो पर हूँ, देह से तो भिन्न हूँ परन्तु दया,दान, व्रत का विकल्प जो राग उठता है, वह तो आस्रव है, उससे मैं भिन्न हूँ। ऐसे **'आपो लख लीजे'**। ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख होकर ज्ञान कर लीजे। उसका नाम भगवान सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

तत्त्व का अभ्यास किया। भाषा ली–तत्त्व का अभ्यास। बाद में (लिया) **'आपो लख लीजे।'** जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष है – ऐसा सातों तत्त्व का बराबर निर्णय करना। उसमें से **'आपो लख लीजे।'** भगवान आत्मा अकेला शुद्ध आनन्दमूर्ति है – ऐसे अंतर्मुख होकर,बाहर से विमुख होकर, स्वसन्मुख होकर आत्मा को (जाने), यह आत्मा है, ऐसा ज्ञान कर लेना चाहिए। यह ज्ञान अनन्तकाल में कभी एकसैकेन्ड किया नहीं। समझ में आया ? भाई ! **'आपो लख लीजे'** कैसे होगा ? आहा..हा... ! शब्द बहुत अच्छी तरह लिखे हैं, हाँ !

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।

देखो ! दूसरी बात। अभी कुछ लोग कहते हैं न कि, देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन (है)। यहाँ तो कहते हैं कि, **'आपो लख लीजे'** उसका नाम स्यग्दर्शन और ज्ञान है। पहले से लिखते हैं या नहीं ? पहले की बात है। पहले जैनतत्त्व का – वीतराग ने कहे हुए तत्त्व का अभ्यास करके, **'आपो लख लीजे।'** भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप है। पुण्य–पाप की विकार वृत्ति उत्पन्न होती है, उससे भिन्न (है) – ऐसे विकार से स्वभाव का भेद करके **'आपो लख लीजे'** (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान करना। इस ज्ञान में रुचि हुई उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया ?

भगवान ! तेरी महा चीज़ तो अन्दर में पडी है न ! लेकिन तुने कभी नजर नहीं की, कभी अन्तरमुख नजर नहीं की। परसन्मुख रहकर सब किया। दया,दान, व्रत,भक्ति, तप आदि

परसन्मुखलक्ष्य करके (किये), वह तो मिथ्यात्व है। उसमें स्वर्ग-नरक मिले। उसमें कोई आत्मा का लाभ, शांति का (लाभ) मिले या जन्म-मरण का अभाव हो, कल्याण हो - ऐसा परसन्मुख की क्रियाकांड में कुछ (होता नहीं)। आहा..हा...! ऐसा क्यों कहा ?

अभ्यास तो बराबर (करना)। जीव, अजीव, आस्रव, आस्रव में पुण्य-पाप दोनों हैं, शुभभाव पुण्य है, अशुभभाव पाप है, ऐसा अभ्यास बराबर करना और बंधभाव, आत्म स्वभाव से (विपरीत) Appropriate विकार होता है, वह बंधभाव है। जड़ में बंधभाव है, वह कर्म का है, उस कर्म से रहित आत्मा के स्वभाव का भान करके शुद्धता प्रकट करना, वह संवर, निर्जरा है। पूर्ण शुद्धता प्रकट करनी, वह मोक्ष है। इसप्रकार सात तत्त्व का बराबर अभ्यास करके आत्मसन्मुख होकर आत्मा का ज्ञान करना, ऐसा कहते हैं।

देखो ! '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**' वह बात आई। 'उमास्वामी', 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के शिष्य (थे)। 'उमास्वामी'ने 'मोक्षशास्त्र' बनाया न ? तो पहला सूत्र (लिखा) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' तत्त्वार्थश्रद्धान कहो या 'आपो लख लीजे' कहो (दोनों एक ही है)। वह श्रद्धान की बात है, यहाँ ज्ञान की बात है। समझ में आया ? आहा..हा...! ये किसे करना है ? दूसरा कोई कर दे सकता है ? कोई किसी को दे सकता है ? समझना किसे है ? - ऐसा कहते हैं।

'**आपो लख लीजे**' '**आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए अर्थात्...**' 'लख लीजे' अर्थात् '**जानना चाहिए।**' 'लख' का अर्थ जानना है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा जानना। '**(यदि ऐसा नहीं किया तो) यह मनुष्यभव...**' आहा..हा...! तत्त्व का अभ्यास करके अपना स्वरूप शुद्ध आत्मा है, ऐसा अंतरज्ञान करना। यदि ऐसा ज्ञान नहीं किया तो मनुष्यभव '**(सुकुल) उत्तम कुल...**' में अवतार '**और जिनवाणी का सुनना...**' इतने तीन योग मिले हैं, वह व्यर्थ जायेंगे। आहा..हा...! समझ में आया ? यदि - ऐसा आत्मज्ञान नहीं किया, आत्मा की अन्तर श्रद्धापूर्वक अनुभव में ज्ञान आत्मा है ऐसा नहींकिया तो मनुष्यपना मिला क्या करे ? चला जायेगा। उत्तम कुल मिला, तेरा जैन कुल में अवतार हुआ '**और जिनवाणी का सुनना...**' देखो ! जिनवाणी अर्थात् वीतरागी वाणी। जिसमें परमेश्वर वीतरागता बताते हैं ऐसी वाणी

मिली। देखो ! समझ में आया ?

'ऐसा सुयोग बीत जाने पर,...' आहा..हा...! अपने यहाँ मिस्त्री है न ? वैसे तो स्वामीनारायण के मिस्त्री है न ? लेकिन यहाँ थोडा देखा। ... भव तो होते हैं, इस भव में यदि आत्मा का कुछ नहीं करेंगे तो सब व्यर्थ जायेगा। प्रत्यक्ष देखो भैया ! एक भव में से दूसरे में आता है, अपना भाव करके आता है। ईश्वर उसका कौन है करनेवाला ? ईश्वर कोई करनेवाला है नहीं। आत्मा अपना ईश्वर है, वह जैसा भाव करे, वैसा बंध पडे, ऐसा जन्म लेता है। प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता ? भाई ! आहा..हा...!

कहते हैं, भगवान ! यह आत्मा राग से, व्रत-अव्रत का विकल्प राग है, उससे भिन्न है। व्रत-अव्रत का परिणाम, आत्मा के ज्ञान बिना अनन्त बार किये तो चौरासी के अवतार मिले, दु:ख हुआ। उससे रहित अपना आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है, उसकी यदि अन्तरमदृष्टि नहीं की (तो) भगवान ! यह मनुष्यपना मिला, सुकुल मिला (वह सब व्यर्थजायेगा)। सुकुल मिला। सुकुल मिला उसमें क्या कहते हैं ? कि, तुझे इतना तो सुनने में आया है। तेराकुल ऐसा नहीं है कि, जिनवाणी सुनने में नहीं आयी। समझ में आया ? और जिनवाणी मिली है।

'ऐसा सुयोग बीत जाने पर,...' अनन्त काल... अनन्त काल... यहाँ तो यह कहा। ऐसा नहीं कहा, इतने पैसे नहीं मिले। भैया ! पाँच लाख नहीं मिले, दो लाख नहीं मिले - (ऐसा नहीं कहा है)। यहाँ तो (कहते हैं), मनुष्यपना, सुकुल और जिनवाणी ये तीन मिले और उसमें यदि आत्मज्ञान नहीं किया (तो व्यर्थ है)। उसका नाम सुयोग है। समझ में आया ? भाई ! पैसा नहीं मिले, ... नहीं मिला - ऐसा नहीं कहा है।

मुमुक्षु :- आ पैसा.. मर गये।

उत्तर :- मर नहीं गये। भाई ! पैसे पर द्वेष आया। पैसा है, लेकिन शरीर निरोग नहीं रहे तो क्या करें ? क्या करे ? शरीर तो निरोग हो।

यहाँ तो तीन बात ली है, देखो ! मनुष्यपना मिला और तुझे सुकुल (मिला)। जिसमें जिनवाणी मिली ऐसा कुल भी तुझे मिल गया है। समझ में आया ? मनुष्यपना मिला हो और

सुकुल न हो तो ? अनार्य देश में अवतार हुआ हो, लो ! मनुष्यपना मिला लेकिन अनार्यदेश में (रहना पडे)। जहाँ भील रहते हैं, जहाँ माँस खाते हैं, ये सब देखो ना, गोरे... क्या कहतेहैं ? परदेश। उसमें भी तुजे सुकुल मिला। सुकुल में भी जिनवाणी सुनने मिली। सुकुल में जन्म होलेकिन वीतराग की वाणी मिले नहीं। कितनों की जिंदगी ऐसे ही चली जाती है। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी मिली, जो वाणी गणधर सुनते हैं, जो वाणी इन्द्र सुनते हैं। उपर से इन्द्र आकर जो वाणी सुनते हैं, जो वाणी गणधर सुनते हैं, वह वाणी तुझे मिली है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..!

भगवान ! कहते हैं कि भैया ! यदि यह आत्मज्ञान नहीं किया और बाहर के झगड़े में पड़ा और तत्त्व की पहिचान नहीं हुई तो तुझे यह सुयोग मिला है, वह चला जायेगा, प्रभु ! आहा..हा..! समझ में आया ? '**ऐसा सुयोग बीत जाने पर,...**' समुद्र में समाये हुए '**सच्चे रत्न की भाँति...**' 'सुमणि' शब्द है न ? 'दौलतरामजी'ने शब्द भी कैसा लिया है ! सुमणि, ऊंचा मणि, सच्चा, उच्च (मणि)। लाख-लाख, दो-दो लाख के मणि होते हैं न ? रत्न होते हैं। मणिरत्न उच्च ! हाथ में लिया, समुद्र में पास गया हाथ ऐसे ऊपर किया, ऐसा किया तो छूट गया, गया अन्दर ! समुद्र में गिर गया।

मुमुक्षु :- जानबूझकर फैंकता है, ऐसा लगता है।

उत्तर :- वह फैंकता है, उसका अर्थ ही वह है। फैंके क्या ? हाथ ऊपर किया तो गिर गया। 'अनुभवप्रकाश' में दृष्टान्त आया है। समझे ? रत्न से भरा एक बर्तन मिला। बर्तन धोने को समुद्र में गया। वहाँ फिसल गया। बर्तन... बर्तन (साफ करने लगा)। अरे..! बर्तन धोने का

क्या काम है ? रत्न निकाल ले। बर्तन कीचडमें से निकला न ? कीचड़में से। जमीनमें से, कीचड़में से बर्तन नीकला, बर्तन कीचड़वाला था। उसमेंरत्न थे। उठाकर रत्न नहीं लिये, पहले साफ कर लूँ, नदी के किनारे (गया)। बड़ी नदी थी, साफ करने गया (तो गिर गया)। चला गया। आहा..हा...! दृष्टान्त दिया है न ? हाथ उपर किया है न ? नर-सुमणि (लिखा है)। मनुष्यभव का सुमणि। ऐसा मनुष्यभव। देखो ! बड़े पर्वत है। कितना बनाया है ! देखा ?

शास्त्र तो कहते हैं, भगवान ! कि, एक वृक्ष हो, वृक्ष। उसे जलाकर उसकी राख हो गई। एक वृक्ष की राख (हो गई)। फिर राख के सब रजकणों का वह वृक्ष कब होगा ? नदी किनारे एक वृक्ष था, वह जल गया, राख हो गई भस्म (हो गया)। भस्म होकर समुद्र में (चले गये)। वही रजकण यहाँ आकर फिर से वह वृक्ष कब होगा ? समझ में आया ? ऐसे मनुष्यपना मिला, यदि तत्त्वदृष्टि नहीं समझ आयी तो तुझे सुमणि का योग मिला है वह सुमणि समुद्र में गिर जायेगा। आहा..हा...! मनुष्यभव को सुमणि कहा ? पैसे को सुमणि नहीं कहा।

मुमुक्षु :- पैसा सुमणि है...

उत्तर :- धूल में भी सुमणि नहीं है। कौन कहता है पैसा सुमणि है ? यहाँ तो मनुष्यभव को सुमणि कहा। भाई ! आपके पैसे को सुमणि नहीं कहा।

मुमुक्षु :- ये तो मुनि...

उत्तर :- मुनि कहाँ है ? ये तो 'दौलतरामजी' हैं, गृहस्थाश्रमी पंडित हैं वे कहते हैं। गृहस्थ हैं, स्त्री-पुत्र हैं, हो तो हो, हमें क्या है ? हमारी चीज़ में तो है नहीं। समझ में आया ? बाद में कहेंगे, बाद में तुरंतकहेंगे, देखो ना !'**धन समाज गज बाज।**' बहुत सुन्दर, 'छहढाला' ऐसी बनी है, साधारण जनता के लिये (बहुत अच्छी है)। बहुत अभ्यास नहीं करे, उसे अभ्यास करने के लिये बहुत सरल है। अभ्यास करने की निवृत्ति कहाँ है ? समय नहीं है,समय। टाईम नहीं। व्यापार धंधे में डूबा रहे। बाहर के क्रियाकांड में समय निकाले, उसमें आत्मा क्या है - उसे समझने का समय लिया ही नहीं। अनन्तकाल ऐसे ही चला गया। समझ में आया ?

कहते हैं, '**सच्चे रत्न की भाँति मिलना कठिन है।**' प्रभु ! आहा..हा...! इसलिये तत्त्व

का अभ्यास करके... लोग कहते हैं और दूसरे (कहे), दो प्रकार की कथनीचले त उसे तत्त्व का अभ्यास हो तो वह उसका विवेक कर सके। विवेक कहाँ से कर सके ? एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है। कोई कहता है व्रत पालते-पालते धर्म होगा, कोई कहता है सम्यग्दर्शन बिना होगा नहीं। तो क्या है ? भैया ! विचार तो करना पडेगा या नहीं ? करना पडेगा। माल लेने को जाता है तो मिलान करता है या नहीं ? क्या सत्य है ? सर्वज्ञ परमात्मा क्या कहते हैं ? वस्तु कैसे होनी चाहिए ? और अभी तक कैसे प्राप्त नहीं की ? इन सबको उसे समझना चाहिए। उसका निर्णय करना चाहिए। भाई ! ऐसा मनुष्यपना मिला, यह साधन मिला, वाणी मिली, यदि चला जायेगा तो आँख बँधकर फू.. होकर चौरासी के अवतार में चला जायेगा। भाई !

भावार्थ :- '**आत्मा और परवस्तुओं के भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये...**' आत्मा भगवान शुद्धस्वरूप और पर अर्थात् पुण्य-पाप का भाव, शरीर, कर्म ये सब पर हैं। दो के '**भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का...**' सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि में जो तत्त्व आये उन सच्चे तत्त्वों का। देखा ! वही सच्चे तत्त्व हैं। '**पठन-पाठन, (मनन) करना चाहिए,...**' समझ में आया ? अभ्यास करे बिना समझे (तो) ख्याल तो आता नहीं कि क्या चीज़ है ? कोई दूसरा कहे तो ऐसा, तीसरा कहे तो ऐसा। जैसे हवा चले वैसे ध्वजा (फिरे)। ध्वजा होती है ना धजा ? जिस ओर की हवा होती है उस ओर फिरती है। ऐसे आत्मा के यथार्थ तत्त्व का अभ्यास नहीं हो तो दूसरा कहे तो ऐसा, तीसरा कहे तो ऐसा। अपना निर्णय तो नहीं है। ऐसे नहीं चलता, ऐसा कहते हैं। तत्त्व का, चैतन्य का,जड़ का, विकार का, जड़ का वास्तविक अभ्यास हो तो ऐसा अभ्यास करने से (भेदविज्ञान होता है)।

'**जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन...**' बराबर करना। '**(मनन) करना चाहिए; और संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय...**' ये तीन बोल आ गये। संशय - यह है या ऐसा है ? विपरीत अर्थात् ऊलटा है, अनध्यवसाय अर्थात् कुछ होगा। '**इन सम्यग्ज्ञान के तीन दोषों को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए।**' भगवान ज्ञान ज्योति चिदानन्दसूर्य का अन्तरबोध (अंतर्मुख) होकर करना चाहिए। '**क्योंकि जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ**

अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता...' समुद्र में रत्न गिर जाये तो कहाँ से मिले ? अन्दर गिरे ?

'उसीप्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग भी बीत जाने केबाद पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।' पुनः नहीं मिलता। **'इसलिये यह अपूर्व अवसर न गँवाकर आत्मस्वरूप की पहिचान (सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति)...'** अनन्तकाल में नहीं किया ऐसा **'करके यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।'** उससे मनुष्य-जन्म सफल है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन हुआ तो बाद में अनुक्रम से चारित्र होगा और मुक्ति होगी ही होगी। लेकिन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ करे उसमें जन्म-मरण का नाश होता नहीं। (विशष कहेंगे...)

❋

आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है । उसमें अनन्त गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना, उपयोग परमेंमे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता । जो पाप भावोंकी रूचिमें पड़े हैं - उनकी तो बात ही क्या ! पर पुण्यकी रुचि वाले बाह्य त्याग करें - तप करें - द्रव्यलिंग धारण करें तो भी जब तक शुभकी रुचि है, तब-तक उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता । अतः प्रथम परकी रूचि पलटानेसे ही उपयोग पर-औरसे पलटकर स्वमें आ सकता है । मार्गकी यथार्थ विधिका यही क्रम है ।

(परमागमसार-३६४)

❋

जिज्ञासु जीवको भूमिका अनुसार शुभाशुभ-परिणाम तो आयेंगे ही । रागको छोडू...छोडू- ऐसे राग पर दृष्टि रखनेसे राग नहीं छूटेगा । अतः एकदम (व्यर्थकी) उतावली नहीं करना । उतावली करनेसे राग नहीं छूटेगा बल्कि उलझन बढ़ जाएगी । राग छोड़ूँ-छोड़ूँ ऐसे नास्ति पक्षमें खड़े रहनेसे राग नहीं छूटेगा और उलझन होगी। स्वभावके अस्तिपक्षका यथार्थ पुरुषार्थ होने पर राग सहज ही छूट जायेगा ।

(परमागमसार-३६५)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ११, बुधवार

दि.१६-२-१९६६, गाथा ७, ८, प्रवचन नं.-२७

एक पुद्‌गल परावर्तन में तो अनन्त तीर्थंकर अनन्त हो जाये। ऐसे असंख्य पुद्‌गल परावर्तन तो एकेन्द्रिय में जीव रहता है। इससे दो इन्द्रिय,तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय पाना महादुर्लभ है। उसमें भी मनुष्यपना और उसमें भी उत्तम कुल, उसमें भी जिनवाणी का सुनना, वह तो उत्तरोत्तर बहुत दुर्लभ, बहुत दुर्लभ (है)। दृष्टान्त दिया न ? सुमणि हाथ में आया और रत्न समुद्र में डूबा दिया। ऐसे ऐसे साधन मिले, यदि उसमें सम्यग्ज्ञान नहीं किया तो जन्म-मरण के चक्कर ऐसे ही करने पड़ेगे। अनन्त बार किये ऐसे करने पडेंगे। सम्यग्ज्ञान जब तक न किया... वही कहा न ?'**आपो लख लीजे**' ये आया था।

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले सुमणि ज्यौं उदधि समानी।।६।।

भगवान आत्मा...उसका सातवीं गाथा में स्पष्टीकरण करेंगे। ज्ञानस्वरूपआत्मा है, उसमें पुण्य-पाप राग उठता है, वह भी अपने स्वरूप में नहीं। समझ में आया ? शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, पर है और पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव है, वह आस्रवतत्त्व है। उसमें अपना (स्वरूप) भिन्न '**लख लीजै**' ऐसा 'दौलतरामजी' ने कहा। वह तो शास्त्र ऐसा कहते हैं, वैसा हिन्दी भाषा में बनाया है। '**आपो लख लीजे**' यह आत्मा आनन्दकन्द जिनेन्द्रकन्द आत्मा है। समझ में आया ?

आत्मा अर्थात् अतीन्द्रय आनन्द का कन्द है। सूरण की गाँठ होती है न ? सूरण समझते हो ? भैया ! कन्द होता है न कन्द ? सूरळ को क्या कहते हैं ? सूरण कहते हैं न ? ऐसी गाँठ नहीं होती ? कन्दमूल। बड़ी गांठ होती है, कन्दमूल की बडी गाँठ होती है, कन्दमूल होता है। इतनी (बड़ी) गाँठ। जहाँ छूरी मारो वहाँ अकेला रस ही पडा है। ऐसे आत्मा देहदेवल में अकेला आनन्दकन्द का पिंड पडा है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द लबालब भरा है। जैसे मीठा में... मीठा को क्याकहते हैं ऽ लवण... लवण। लवण में खारापन भरा है और जैसे खडी मेंसफेदपना भरा है, कन्दमूल सूरण में अकेला रस भरा है, वैसे भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी आनन्दरस से भरा पडा है, आहा.. ! उसका यदि राग से भिन्न होकर ज्ञान नहीं किया तो जन्म-मरण में चौरासी में फिरना पडेगा। इसलिये कहते हैं कि, ऐसा मिलना महादुष्कर है। इसलिये **'आपो लख लीजे'** ऐसा अनन्त में कहा।

भगवान आत्मा...! पहले समझन करनी चाहिए। सत्समागम से, शास्त्र श्रवण से, विचार, मनन, पठन-पाठन से आत्मा क्या चीज़ है उसे समझ में लेना चाहिए औ̱र लेकर बाद में अन्दर में भेदज्ञान करना, यह बात सातवीं गाथा में कहते हैं। सातवीं गाथा है न ? गुजराती में छठ्ठी होगी। देखो !

सम्यग्ज्ञान की महिमा और कारण

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य,ताको उर आनौ।।७।।

अन्वयार्थ :- (धन) पैसा, (समाज) परिवार, (गज) हाथी, (बाज) घोड़ा, (राज) राज्य (तो) तो (काज) अपने काम में (न आवै) नहीं आते; किन्तु (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान

(आपको रूप) आत्मा का स्वरूप - (जो) (भये) प्राप्त होने के (फिर) पश्चात् (अचल) अचल (रहावै) रहता है। (स्व-पर विवेक) आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान (बखानौ) कहा है, (इसलिये) (भव्य) जीवो ! (कोटि) करोड़ों (उपाय) उपाय (बनाय) करके (ताको) उस भेदविज्ञान को (उर आनौ) हृदय में धारण करो।

भावार्थ :- धन-सम्पत्ति, परिवार नौकर-चाकर, हाथी, घोड़ा तथा राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को सहायक नहीं होते; किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; वह एकबार प्राप्त होने के पश्चात् अक्षय होजाता है- कभी नष्ट नहीं होता, अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञान का कारण हैं; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीवको करोड़ों उपाय करके उस भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए।

'सम्यग्ज्ञान की महिमा और उसका कारण।'

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य,ताको उर आनौ।।७।।

बडी अच्छी, हिन्दी में सार भर दिया है। '**धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे;...**' पैसे कितना काम में आयेगा ? नहीं (आयेगा) ? धुल में भी काम नहीं आता। अनाज तो आनेवाला होगा तो आयेगा। अनाज काम में आता है ? क्या अनाज आत्मा को काम में आता है ? वह तो धूल है, जड़ है। समझ में आया ? दूसरी चीज़ तो आत्मा के हित के लिये काम नहीं आती परन्तु अपने में शुभ-अशुभभाव उत्पन्न होता है, वह भी अपने हित के लिये काम आते नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? भाई ! ये आपके पैसे क्या काम आते हैं ? आप को सब पैसेवाले कहते हैं।पन्द्रह लाख, दस लाख धूल लाख इकट्ठे किये हैं न ? ऐसालोग बोलते हैं। यहाँ तो ना कहते हैं।

पंडित 'दौलतरामजी' गृहस्थाश्रम में है परन्तु शास्त्र में जो यथार्थ कहा है उसकी बात

हिन्दी में रची है।धन अर्थात् पैसा। देखो ! पैसा अपने काम में नहीं आता। है ? उसमें लिखा है ?'धन काज न आवे' ऐसा ले लेना। उसमें है या नहीं ? है न ? धन (के बाद) आखिर का शब्द लेना। 'धन काज न आवे।' लक्ष्मी अपने आत्मा के लिये काम नहीं आती। मेरी लक्ष्मी ऐसी ममता में काम आती है तो ममता तो दुःखरूप है। समझ में आया ? 'धन काज न आवै...' लक्ष्मी अपने काम नहीं आती, वह तो धूल है। मरण के समय आ... (हो जाता है)। मरण के पहले कहाँ काम में आती है ? यह तो दृष्टन्त देते हैं।

अभी कोई कहता था, अरे...! इतनी-इतनी लक्ष्मी, चालीस-पचास लाख रूपये थे, इज्जत बड़ी थी, परन्तु ऐसाप्रसंग बन गया कि, कोई खड़ा नहीं रहा, कोई साथ में न रहा। समझ में आया ? यह व्यक्तिगत बात थी। यहाँ हमारे पास तो बहुत बात आती है न ! पचास-पचास लाख रूपये थे और बडी इज्जत थी लेकिन ऐसा प्रसंग बन गया। बडे-बडे गवर्नर को और बड़े-बड़े (व्यक्ति को) कहा (लेकिन कोई) काम नहीं आया। समझ में आया ? क्या आवे ?

मुमुक्षु :- सर्व गुण काञ्चनमय:

उत्तर :- धूल में भी नहीं है। ए..इ...! 'सर्व गुण काञ्चनमय:' सर्व गुण कांचन में-धूल में-सोना मे है। पैसा बहुत था। पचास लाख रूपये हैं, वे व्यक्तिगत आकर कहते थे, आहा..हा...! आप कहते थे वह बात हमें प्रत्यक्ष नजर में आयी। इतने-इतने पैसे, इतनी इज्जत, इतनी दुकान, इतने नौकर, इतनी सिफारीश। क्या कहते हैं ? इतनी-इतनी सिफारीश बड़े गाँव में, हाँ ! लेकिन ऐसा प्रसंग बन गया... आहा..हा...! जाओ ! जेल में। अरे..रे...! इतने पैसे, इतने मकान कहाँ गया ? सामने कोई देखने आये नहीं। भाई ! अपने काम लगेगा। अधिकारी आये तो दूर हट जाये, हमें काम सोपेंगे। ऐसा सब बनता है, सब सुना है।

कहते हैं, 'धन काज न आवै'। अपने हित के लिये मरण समय जीवन में धन बिलकुल काम नहीं आता। करोड़ रूपये हो, पाँच करोड, धूल करोड़ो हो (काम नहीं आते)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- दान करे तो ... काम लगे न ?

उत्तर :- दान करे तो राग मंद हो, राग मंद हो तो पुण्य होता है।

मुमुक्षु :- दान भी नहीं करना ?

उत्तर :- नहीं करने को किसने कहा ? दान में राग मंद होतो पुण्य होता है। पैसेदिये तो पुण्य होता है, अभिमान में दिया (कि), मैंने दिये, दूसरे से मैं अच्छा हूँ, बड़ा कर्ता हूँ (ऐसे) अभिमान (करता है) तो पुण्य भी नहीं होगा। समझ में आया ? राग मंद हो तो शुभभाव होता है। परन्तु शुभभाव आत्मा को शरण कहाँ है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। पांच-पचास साल बहुत शुभभाव किया। मरण के समय शरण किसका ? वह शुभभाव आया वह तो चला गया, उसका पुण्य बन्ध गया, अब शरण किसका लेना ? आहा..हा...! भगवान का स्मरण करो। भगवान को कहाँ से स्मरण ले ? अन्दर असाध्य (हो गया हो) इतनी वेदना (हो)। आत्मा क्या है (उसकी) कभी पहिचान नहीं की। राग से, विकल्प से आत्मा भिन्न है। चिदानन्द की डली है। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, जिसमें एकाग्र होने से अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है, वह तो कभी किया नहीं। कौनसे समय काम आती है ? लक्ष्मी क्या काम आती है ? डॉक्टर बुलाने में ? डॉक्टर क्या... ?

मुमुक्षु :- खड़ा हो जाये।

उत्तर :- खड़ा हो जाये। ऐसे कहते हैं कि, डॉक्टर आकर खड़ा हो जाये। कुछ करे नहीं। डॉक्टर क्या करे ? यहाँ एक आया था। आफके मकान में यहाँ आया था न ? इनके मकान में। 'महुवा' के थे न ? 'महुवा' के न ? क्या कहते हैं ? 'घोघा' के, 'घोघा' के (थे)। (संवत) १९९४ के पहले वैष्णव थे, वैष्णव। होशियार आदमी था। बाद में दर्शन करने का भाव हुआ। डोक्टर के पीछे बहुत पैसे खर्च किये। सब डोक्टर आये। हमें बुलाया, क्योंकि देह की स्थिति पूरी होने की तैयारी थी। आपके मकान में, भाई ! सेनेटोरियम में। होंशियार आदमी (था, कहने लगा), महाराज ! कपड़ा बदलने की तैयारी हो गई है। ये सब डोक्टर इंजेक्शन खोचते हैं, कुछ काम नहीं करता। पैसा ले जाये। डॉक्टर आया था, वह भी गृहस्थी था, मोटर थी, पैसे लेने आया। हम 'हीराभाई' के मकान में थे न ? पहले तीन वर्ष दूसरे में थे। कुछ काम नहीं करता। ये डॉक्टर भी नहीं करते। इंजेक्शन खोजा करते हैं। साध्य था। अब देह में रहने का

थोड़ा काल है। यह कपड़ा बदलकर दूसरा शरीर हो जायेगा। रात को मर गये। समझ में आया ? क्या करे ? लक्ष्मी क्या करे ? धूल क्या करे ?

आत्मा अन्दर शरण है उसकी तो कभी पहिचान की नहीं। उसका विश्वासकिया नहीं कि, मेरा आनन्द मेरे पास है। चारों ओरसे पीड़ा हो लेकिन मैं अन्तर आनन्द हूँ उसमें राग से पृथक् होकर मैं उसमें रहूँ तो मुझे विश्राम, आराम मिले। समझे ? आराम वहाँ मिले, और जगह आराम है नहीं। ये बराबर होगा ? पैसा-पैसा कुछ काम नहीं करता ?

मुमुक्षु :- पैसे थे तो ...

उत्तर :- क्या काम आया ? आत्मा को क्या है ?

'धन काज न आवै' एक बात। 'समाज काज न आवै' दूसरा बोल। सबके साथ यह शब्द है न ? '**धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;...**' धन काम में न आवे और समाज। पचीस-पचास कुटुंबी हो क्या काम आवे ? आत्मा को क्या है ? अरे...! आप को दुःख है, रोये, क्या करे ? कोई समाज आत्मा के शरण में - हित में काम करनेवाला नहीं। गज (अर्थात्) हाथी घर में हो। बडा हाथी हो। समझ में आया ? क्या काम आवे ?

मुमुक्षु :- अभी हाथी के बदले में मोटर पडी हो।

उत्तर :- मोटर पडी हो। पहले हाथी थे, अब मोटर हो। ए..ई...! कितनी मोटर है ? उसके पास लाख रूपये की मोटर है। धूल में भी नहीं है। क्या कहते हैं ? ब्लडप्रेशर हो जाता है, तब एं..ए..ए.. करता है। दो करोड रूपये होने परभी। धूल में भी काम नहीं आता। वहाँ एं..ए..ए.. होजाता है। यहाँ एक बार नहीं हुआ था ? यहाँ आहार दान के लिये, उनकी आहार की भावना थी। उसी दिन उसके लडके को... उसके पासदो करोड रूपये हैं, एं...ए..ए.. हो गया। क्या है ? ये रूपये है न ?

मुमुक्षु :- घोडागाडी में लाने पडे।

उत्तर :- हाँ, लाने पडे थे। धूल में भीपैसा काम नहीं आता। समाज क्या काम आता है ? ये उनके पिताजी थे, उनके मौसा थे, सब थे। कौन काम करता है ? हाय... हाय...! ये डॉक्टर

... थे। डॉक्टर ने कहा, हम इंजेक्शन लगाते हैं, क्या होगा (हमें पता नहीं)। डॉक्टर को भी विश्वास नहीं होता। समाज भी अपने काम में नहीं आता। है ? हाथी काम में नहीं आता, घोडा काम में नहीं आता। बडा पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार घोडा हो, लाख-लाख रूपये का घोडा होता है न ? 'अमेरकिा' में दो लाख का घोडा होता है। अढाई-अढाई लाख के घोड़े होते है। क्या कहते हैं ? शर्त... शर्त... (रेस में) भागने की। अढ़ाई-अढ़ाई लाख के (होते हैं), क्या धूल में काम आये ? मर जाये तब एं..ए..ए.. हो जाता है।

'राज काम न आवे।' राज क्या काम करता है ? देखो ! समझ में आया ? ये 'दिग्विजय' कितने करोडपति हैं ! 'जामनगर' के राजा थे न ? मर गये। कितने करोड़ों रूपये उसके पास हैं। उसकी रानी के पास करोड़ों रूपये हैं। 'जामनगर', अभी मर गये। समझ में आया ? क्या काम आवे ? हम (संवत) २०१० की साल में एक दिन उसके पास गये थे। महाराज ! मुझे दर्शन करने हैं। हम 'जामनगर' के बाहर जंगल जाते थे, उसके बंगले के पास जंगलजाते थे। उसको मालूम पड़ा (तो कहा), महाराज ! मुझे दर्शन करना है। मैं अपासरा में आउं लेकिन मेरी आँख दुखती है। अभी मर गये। वहाँ गये, उसके बंगले में पन्द्रह मिनिट सुनाया। उसकी रानी बहुत होशियार है। ये समाज, साम्राज्य कुछ काम नहीं करता। धूल में नहींहै।बारह महिने की एक करोड़ की पैदाईश थी। (कहने लगे), सच बात है, महाराज ! ये काम करने जैसा है। आत्मा का साम्राज्य आत्मा का काम करता है। आत्मा में अनन्त ज्ञान, आनन्द पड़ा है, ये आत्मा का साम्राज्य अपने शरणभूत होता है, दूसरा कोई शरण मिलता नहीं। कितना करोड़ है ! चले गये, थोडे दिन पहले - 'दिग्विजय' 'जामनगर' का दरबार चला गया।

ये 'भावनगर' दरबार। घूमते थे। मुझे असुख है, इतना बोला। ५३ वर्ष की उम्र। रानी को बुलाओ। रानी आयी। (रानी को कहा) मुझे असुख है। रानी डोक्टर को बुलाने गई (उतने में) खलास ! ये 'भावनगर' दरबार, 'कृष्णकुमार' यहाँ दो बार आये थे, व्याख्यान में आये थे। क्या करे राज ? शरण है ?

मुमुक्षु :- ... मान-पान देना तो चाहिए न !

उत्तर :- क्या करे ? मान में आत्मा को क्या हुआ ? अन्त में इतना बोले। सुना नहीं ? 'लालबहादुरशास्त्री' गुजर गये न ? 'मुंबई' आये थे न ? पुस्तक... पुस्तक... 'अभीनंदन ग्रन्थ' ! तुम्हारे पिताजी ने दिखाया या नहीं ? बाद में दिखायेंगे। एक पुस्तक है। शरीर को जब ७५ वर्ष है न, तब 'लालबहादुर शास्त्री' आये थे। उसने 'अभिनंदन ग्रथ' दिया, अपने पास है। बाद में दिखायेंगे, अभी तो थोड़े दिन रहनेवाले हैं न ? एक साडे पाँच हजार का पुस्तक है। क्या कहते हैं ? 'अभिनन्दन ग्रन्थ'। उसने दिया था। 'लालबहादुर शास्त्री' आझाद मैदान। दस-बारह हजार आदमी व्याख्यान में आते थे। बहुत आदमी (आते थे)। शरीर को ७५ वाँ वर्ष बैठा उस समय आये थे। (संवत) २०२० की साल, ७५ (वर्ष) ! उसमें अभिनंदन देने को आये थे। मर गये, और मरते समय क्या हुआ सुना है ?

मुमुक्षु :- वडाप्रधान हो गये...

उत्तर :- उसमें आत्मा को क्या हुआ ? मरते समय इतना बोले, मेरे बाप ! हे राम ! बस ! अन्त में इतनाबोले। मेरे बाप... मेरे बाप... ! अपने कहते हैं न मेरे बाप ! हे राम ! बस ! अन्दर इस आत्माराम के भान बिना कुछ शरण-फरण है नहीं। लाख पुलिस खड़े होते हैं। बाद में मुर्दे के पास खड़े रहे। मुर्दे को मान दिया। बन्दूक ऐसे ऊलटी रखते हैं, बाद में ऐसे रखते हैं। क्या हुआ उसमें ?

देखो ग्रंथाकार 'दौलतरामजी' कहते हैं, 'राज तो काम न आवै।' समाज में सब आ गया ? स्त्री काम में आती है या नहीं ? अच्छा पुत्र, अच्छाबाप कोई काम नहीं आता ? समाज में आ गया। समाज अर्थात् परिवार। परिवार में कोई आत्माको काम आते नहीं आहा..हा...! अन्दर चित्र दिया है, देखो ! परिवार-स्त्री, पुत्र ऐसे दिखाया है, देखो ! समझ में आता है ? पुत्री, पैसे, घोडा,हाथी,तिजोरी सब दिखाया

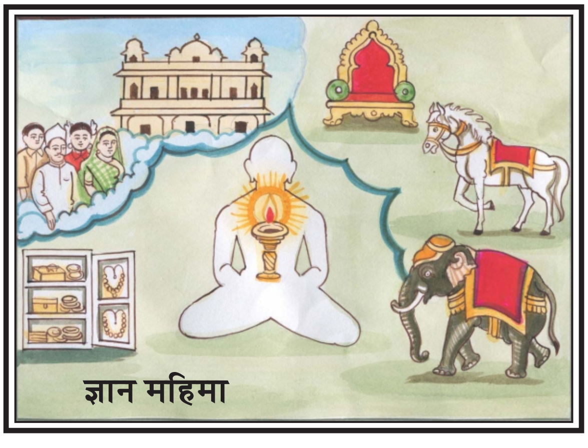
ज्ञान महिमा

है। महल है। धूल में भी काम नहीं आता। क्या काम आता है ?

'सम्यग्ज्ञान (आपको रूप)...' देखो ! दो बात कही। परचीज अपने को काम नहीं आती तो अपनी चीज है क्या ? अपनी चीज है क्या ? पर काम नहीं आता तो अपनी चीज क्या है तो अपने को काम आती है ? कि, अपनी चीज ज्ञानस्वरूप भगवान,चैतन्यमसूर्य मैं आत्मा हूँ। चैतन्य ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का, पुण्य-पाप के राग से भिन्न होकर अपने ज्ञान का ज्ञान (द्वारा) जो अन्तर में अनुभव किया तो वही अपना ज्ञान है, वह अपने को काम आयेगा, दूसरा कोई काम आयेगा नहीं। समझ में आया ?

'सम्यग्ज्ञान (आपको रूप)...' है देखो ! क्या कहते हैं ? सम्यग्ज्ञान **'आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।'** सब चीज तो चली जायेगी। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य बिंब है, चैतन्य का सूर्य बिंब है, उसका अपने सूर्य का अन्दर भान होकर अन्दर ज्ञान किया तो अपना ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान अचल रहेगा। ज्ञान में श्रद्धा, शांति आदि सब साथ में है। अपने आत्मा का ज्ञान किया तो वह ज्ञान साथ में रहेगा। क्योंकि ज्ञान अपना रूप है। राग, पुण्य अपना रूप नहीं। आहा..हा... ! कितनी बात कही है।

ज्ञान अपना रूप (है) इसमें भी वह ले लिया। उसमें भले ऐसे लिया, **'धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै, परन्तु ज्ञान आपको रूप...'** में ऐसा ले लिया कि, शुभ-अशुभ जो राग होता है वह अपना रूप नहीं। वह भी अपने को काम नहीं आता। भाई ! आहा..हा... ! भगवान चैतन्यसूर्य शांतरस से भरा, ऐसा अपना निज रूप है, जिसमें शुभ-अशुभराग का विकार भी नहीं तो परचीज तो काम कहाँ से आयेगी ? पुण्य का विकल्प अपने काम में नहीं आता, ऐसा कहते हैं। क्या कहा, समझ में आया ? क्या कहा ? पुण्य-पाप भी काम नहीं आता, ऐसा उसमें कहा या नहीं ?

मुमुक्षु :- ... उपदेश सुनाने में...

उत्तर :- सुने लेकिन अन्दर ज्ञान न करे तो क्या करे ? समझ में आया ? पुत्र तो उसे कहते हैं, बात तो शास्त्र में ऐसे चलती है। पुत्र क्या ? अपने पिता को, माता को पवित्र बनाने में सहाय(रूप) हो, पवित्र बनावे उसे पुत्र कहते हैं। पैसे की सेवा को नहीं कहते, ऐसा शास्त्र में

है। समझ में आया ? आत्मा की वस्तु अपने समझी हो, समझी हो तो माता-पिता को समजाये न ? समझे बिना क्या समजाये ? यहाँ तो पवित्रता (की बात है)।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, शुद्ध चैतन्यजल से भरा है, उसकी तुम अनुभव, दृष्टि करो, वही पवित्रता का कारण हैं ! दूसरा कोई आत्मा को शरण नहीं। समझ में आया ? देखो न कितना कहते हैं ! ज्ञान अपना स्वरूप '**प्राप्त होने के पश्चात् अचल रहता है।**' देखो ! पुण्य-पाप भी नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। शुभ-अशुभभाव भी चलायमान है, अस्थिर है, विकार है, पाप होता है, शुभ होता है, पुण्य होता है, पुण्य-पाप होता है, अचल नहीं है, वह तो चल है। वह शरण नहीं, आत्मा को शरण नहीं तो बाहर की चीज़ तो शरण कहाँ से हो ? बहुत लिखा है। समझ में आया ?

'**अचल रहावै**' वह चल है, (वह) चीज़ चली जायेगी। तेरी चीज़ है-ज्ञानानन्द स्वरूप, उसका अन्तर ध्यान करके प्रकट करो, अचल रहेगा। वस्तु है, कहाँ जायेगी ? वस्तु है, वहकहाँ जायेगी ? ज्ञान में ज्ञान को मिलाकर एकाकार हुआ वह अचल रहा, वह ज्ञान इस लोक में भी रहेगा, परलोक में भी साथ में आयेगा। सम्यग्ज्ञान किया हो तो। इसके अलावा कोई चीजज़ आत्मा को काम आती नहीं। ओ..हो..हो... ! शुभभाव भी काम करे, ऐसा नहीं लिया। अशुभभाव आया, लक्ष्मी का खर्च किया तो पुण्य बँधा तो पुण्य अपने को काम आता है (ऐसा नहीं कहा)। है उसमें ? देखो कुछ काम नहीं आता, क्या काम आयेगा ?

तेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द पड़ा है। अखंडानन्द भगवान पूर्ण आनन्द और ज्ञान से भरा प्रभु; उस ज्ञान का ज्ञान करो तो अचल रहेगा। अब ज्ञान कैसे करना यह बताते हैं। समझ में आया ? ज्ञानस्वरूप अपना, ये पुस्तक, पन्ने का (ज्ञान) नहीं। अपने ज्ञान का ज्ञान अन्दर में करना। मैं ज्ञान चैतन्यसूर्य हूँ, ऐसा अंतर्मुख होकर (ज्ञान करना)। वह कैसे करना यह बताते हैं। देखो !

'**तास ज्ञानको...**' सम्यग्ज्ञान का कारण। अब सम्यग्ज्ञान होता कैसे है ? कि, जो सम्यग्ज्ञान अपना स्वरूप है और प्रकट होकर अचल रहता है। यह अचल ज्ञान प्रकट कैसे होता है ? '**(स्व-पर विवेक) आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान...**' देखो ! समझ में

आया ? भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। शरीर, वाणी, मन पर हैं। पुण्य-पाप का राग विकार है। इन पर से अपना स्वरूप अन्दर में भिन्न करना, भेदज्ञान करना - वही सम्यग्ज्ञान प्रकट करने का कारण है। वही सम्यग्ज्ञान अपने स्वरूप से अचल रहेगा, दूसरी कोई (चीज़) अचल रहेगी नहीं। भाई ! समझ में आया ?

'आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान...' उसमें महासिद्धांत है। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान, अपना अचल रूप है तो उसको प्रकट करो तो वह अचल रहेगा। दूसरी चीज अचल नहीं, पुण्य-पाप, शरीर आदि अचल नहीं। एक बात। अब इस सम्यग्ज्ञान का कारण कौन ? भेदज्ञान। भेदज्ञान का अर्थ क्या ? कि, स्व-पर की भिन्नता करना। स्व-भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य की ओर दृष्टि करके, विकार और शरीर से भेद करना। भेदज्ञान... भेदज्ञान...समझ में आया ? आता है न ? **'भेदविज्ञानत: सिद्धा'** 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज कहते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के श्लोक की टीका बनाई है।

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

अभी तक अनन्तकाल में जो कोई मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे भेदविज्ञान से हुए हैं। समझ में आया ? अर्थात् राग और शरीर, वाणी, मन की क्रिया मेरी नहीं, राग मेरा नहीं, उससे भिन्न अपने स्वरूपको भेदज्ञान करके अब तक अनन्त (जीव) मुक्ति को प्राप्त की, वह (इस) उपाय से प्राप्त की है। आहा..हा... ! **'भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन'** जितने अनन्त सिद्ध हुए, वे भेदविज्ञान से ही मुक्ति पाये हैं। **'अस्यैवाभावातो बद्धा'** राग और विकल्प से भिन्न भगवान आत्मा (है), उसका अभाव (है अर्थात्) भेदज्ञान नहीं किया और भेदज्ञान का अभाव रहा अर्थात् पुण्य-पाप, शरीर मेरा है ऐसी मान्यता रही वही बन्ध का कारण है। जगत में भटकने का कारण वह एक ही है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।

एक श्लोक में सब आ गया। 'समयसार नाटक' का श्लोकहै। 'बनारसीदास' का (बनाया हुआ है)।'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के कलश हैं, उसमें से बनाये हैं। भेदज्ञान। भेदज्ञान - राग, विकल्प, शरीर से भिन्न। दूसरा ज्ञान नहीं, शास्त्रज्ञान नहीं।

भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान,

धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तुं मान।

एक 'धर्मदासजी क्षुल्लक' हुए हैं। दिगम्बर। पचास वर्ष पहले (संवत) १९४६-१९४८ की साल में (हुए हैं)। 'धर्मदासजी क्षुल्लक' ब्रह्मचारी हुए हैं। क्षुल्लक थे, अध्यात्मज्ञानी थे।

भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान,

धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तुं मान।

ऐसा आया है। देखो ! यही बात कहते हैं। तेरा भगवान चिदानन्दस्वरूप विकार, पुण्य-पाप का राग, कार्य से भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान (होना) वही ज्ञान है। '**बाकी बूरो अज्ञान**।' संसार का ज्ञान और शास्त्र का ज्ञान आत्मा का कोई काम करते नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ

सो चेतन सिवरूप कहायौ।

'**भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।**' वह तो चेतन शिवरूप हो गया। समझ में आया ? आहा..हा... ! वही कहते हैं, देखो ! अपना रूप। बाद में स्वरूप का भेदज्ञान हुआ, वह क्रमश: राग की अस्थिरता टालकर स्वरूप में स्थिर होगा और मुक्ति पायेगा। परन्तु पहले भेदज्ञान ही नहीं है, वह राग की एकताबुद्धि है, पुण्य की एकताबुद्धि है, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसी जसिकी मान्यता है, वह मूढ भेदविज्ञान के अबाव से '**ते जड़ जीव बंधै घट मांही**' समझ में आया ? भेदज्ञान जिसने घट में पाया, वह चेतनरूप शिव कहाया। वह चेतन तो शिव-मुक्ति में (जाने को) तैयार (है)। अरे..! शिव ही है, मुक्तस्वरूप ही है।

आहा..हा... ! कठनि बात है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- बदल जाता है, उसका अर्थ कि, निश्चय करता नहीं। निर्णय किया हो वह बदले ? अचल रहावै। नाम पडा है। भाई ! (ऐसा कोई कहे) तो सपने में बोलेगा, हैं... ! भाई कहाँ है ? इसमें कहीं भाई है ? किसे कहना ? शरीर कोकहना ? नाम गिराते हैं, किसका नाम है ? ये तो मिट्टी-धूल है। समझ में आया ? शरीर किसको कहना ? नाक को ? आँख को ? किसे कहना ? सारे अवयव को शरीर नाम दिया है। ऐसे नाम दिया है। फलाना है, पानाचंद नाम है, लक्ष्मीचन्द नाम है। किसका नाम है ? आत्मा में तो है नहीं।

मुमुक्षु :- पक्का कर लिया है।

उत्तर :- पक्का उसने कर लिया है, सबने मिलकर नहीं किया है। सबने इकट्ठे होकर नहीं करवाया है, उसने मानलिया है। सपने में भी बुलाये, जमु.. ! हँ.. ! कहाँ है जमु ? सपने में नहीं है, वह तो चैतन्यरूप है। ऐसा दृढ संस्कार लगा दिया है। समझ में आया ?

कहते हैं,

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।

आहा..हा... ! '**भेदज्ञान जिन्हके घट नांही**' चाहे तो क्रियाकांड करता हो, पंच महाव्रत पालता हो, बाह्य की क्रिया (करता हो) लेकिन उससे भिन्न ऐसा भान नहीं है, वह तो जड़ है, ऐसा कहते हैं। '**ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।**' वह चेतन नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं, सामने-सामने लेते हैं। समझ में आया ?

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।

आहा..हा...! देखो ! 'बनारसीदास' ने बनाया है। मूल श्लोक में से बनाया है, 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का मूल श्लोक है। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, सम्यग्ज्ञान अपना स्वरूप है। नित्य चैतन्यज्योति जल रही है, झगमग झगमग ज्योति ! भगवान आत्मा पर नजर कर। पुण्य-पाप का विकल्प, शरीर, वाणी, मन से हटाकर चैतन्यज्योत नित्य ध्रुव है। ध्रुव... ध्रुव (है) उसमें दृष्टि लगा दे। तुझे राग से, पर से भेदज्ञान हो, वही आत्मा का अचल रूप है। भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है, दूसरा कोई मुक्ति का उपाय नहीं। आहा..! समझ में आता है या नहीं ?

'आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा है।' '(बखानौ)' देखा ? भगवान ने उसकी प्रशंसा की है। सम्यग्ज्ञान में स्व-पर के भेदज्ञान की प्रशंसा की है। लाख शास्त्र पढे हों, लोगों का रंजन करता हो, उसके साथ भेदज्ञान का संबंध है ही नहीं। अपना स्वर और पर की अन्दर में भिन्नता करनी, अभ्यास करना... अभ्यास करना। क्या अभ्यास करना ? यहपहले कहा था। भिन्न तत्त्व का अभ्यास करना। भगवान आत्मा पहले जानना कि क्या चीज़ है ? क्या वस्तु है ? उसमें विकार कैसे होता है ? संयोग कैसा है ? संयोगी चीज़ क्या है ? संयोगी विकार क्या है ? और स्वभाव क्या है ? उसका पहले बोध करके अन्तर में उससे भिन्न करना। भेदज्ञान-छैनी मारनी। समझ में आया ? छैनी मारते हैं और दो टूकडे हो जाते हैं। वैसे भगवान आत्मा चैतन्य आनन्दस्वरूप और पर, विकार और शरीर, (ऐसे) स्व-पर का भेद करके, विवेक अर्थात् भेदविज्ञान कहा है। समझ में आया ? आहा..हा...! थोडे में बहुत बात कही है। भाई ! आहा..हा...!

भाई ! तू प्रभु कोई चैतन्यवस्तु है या नहीं ? समझ में आया ? पदार्थ है तो उसका कोई दल, प्रदेश पिंड है या नहीं कोई ? पिंड है तो उसमें कोई भाव है या नहीं ? समझ में आया ? जैसे यह लकडी है, देखो ! यह सुखड है, सुखड। चंदन, देखो ! यह चंदन है। वस्तु है या नहीं ? उसकी चौडाई है या नहीं ? उसमें सत्त्व भरा है या नहीं ? सुगन्ध, मुलयमता भरी है या नहीं ? उसे वस्तु कहते हैं या नहीं ? यह रूपी वस्तु है। आत्मा अरूपी है, परन्तु वस्तु है। अनन्त अनन्त ज्ञानादि अन्दर भरा है, बेहद शक्ति (है)। क्यों लक्ष्य में नहीं आता ? कि, उसकी वर्तमान अवस्था अनादि से परसन्मुख है। समझ में आया ? वस्तु में बेहद ज्ञानानन्द

स्वभाव पडा है, पूरा दल पडा है, पूरा चैतन्यदल, आनन्द की मूर्ति प्रभु है। समझ में आया ? हलवाई... हलवाई कहते हैं न ? हलवाई। हलवाई वह नहीं करते हैं ? लकडी का बीबा करके उसमें शक्कर भर देते हैं। पूतली बनाते हैं न ? शक्कर की पूतली नहीं बनाते हैं ? लकडे का बीबा होता है न ? तो शक्कर ... भर जाती है। ठंडा हो जाये फिर बीबा निकाल देते हैं। शक्कर की पूतली रह जाये। ऐसे आत्मा इस शरीर के बीबा से लक्ष्य छोड दे, पुण्य-पाप के विकल्प का मैल छोड़ दे और अन्दर में शक्कर अर्थात् अनन्त आनन्द की मूर्ति-पूतली है। वह बात बैठ जाये लेकिन अन्दर ये क्या है ? समझ में आया ? ऐसा अनन्त आनन्द की मूर्ति चैतन्यपिंड है।

जैसे शक्कर में मैल होता है न ? मैल। दूध डालकर धोते हैं न ? दूध डालकर नहीं धोते हैं ? साफ करते हैं। उसे क्या कहते हैं ? बूरा कहते हैं न ? बूरा कहते हैं। होता तो अच्छा है, कहते हैं बूरा। शक्कर में दूध डालकर साफ करते हैं न ? उसे क्या कहते हैं ? बूरा कहते हैं ? बूरा हो गया ? हुआ तो साफ है। ऐसे भगवान आत्मा में भेदज्ञान डालकर, पुण्य-पाप का विकल्प जो है उसका भेद करना। वहाँ जैसे बूरा होता है, वैसे यहाँ भला होता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं कि, आत्मा में भेदज्ञान ही एक कारण है। स्व-पर का भेदज्ञान वही ज्ञान का कारण है। ज्ञान का हेतु यह लिया, हाँ ! अभ्यास करना या धारणा करना ऐसा नहीं लिया। पहले अभ्यास करने को कहा था। कारण यह है। आहा..हा... ! परन्तु इतनी निवृत्ति नहीं, समय नहीं (है)। कहते हैं, भगवान ! तुझे इतना समय मिला है। आहा..हा... ! चैतन्यसूर्य भगवान अनन्त ज्ञान, आनन्द से भरा हुआ पदार्थ है, वस्तु है। अरूपी लेकिन वस्तु है। वस्तु में बसे हुए अनन्त गुण है। ऐसे भगवान आत्मा को विकार से, शरीर से अन्तर में भेद करके विवेक करना, भेदज्ञान करना, वही स्मयग्ज्ञान का उपाय है और वही सम्यग्ज्ञान आत्मा का मुक्ति का उपाय है। समझ में आया ? बाद में कहते हैं, भेदज्ञान करने के बाद क्या करना ? बाद में तो व्रतादि पालने या नहीं ? ऐ..ई.. ! भगवान ! वह विकल्प आते हैं, उससे भी बाद में भेदज्ञान करना। बाद में भी जो व्रत का विकल्प आता है वह भी राग है; उससे भी बाद में भेदज्ञान करना। बाद में भी जो व्रत का विकल्प आता है वह भी राग है; उससे भी भेद करके

एकाकार करना वही करना (है)। कब तक करना ? कि, जब तक आत्मा का केवलज्ञान प्राप्त न हो तब तक। आहा..हा...! समझ में आया ? इसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान का कारण **'आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा है।'**

'इसलिये हे भव्य जीवो !' देखो ! संबोधन करते हैं, हाँ ! भव्य जीवो। अभव्य को नहीं कहते हैं। **'हे भव्य जीवो ! करोड़ों उपाय करके...'** करोड़ों उपाय करके। दुनिया को छोड़, करोड उपाय कर,लाख-करोड-अबज कर। **'उसे भेदविज्ञान को हृदय में धारण करो।'** करोड़ों उपाय करके भी विकार और शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान करो। चाहे तो परीषह सहन करना पडे, दुनिया की निंदा सहन करनी पडे, दुनिया गिनने में आये नहीं, शरीर में रोग हो, लाख प्रतिकूलता हो... आहा..हा...! करोड़ उपाय करके भी (भेदविज्ञान कर)। देखो ! कितना जोर देते हैं ! भगवान आत्मा को विकार से, पर से भेद करना, वही तेरा हित है। वह क्रिया तो उसे ख्याल में आती नहीं। बाहर की कोई क्रिया करे तो (लगे कि), ये कुछ करता है, हाँ ! लेकिन यह करना तो मूल चीज़ है। वह ख्याल में आता नहीं, उसकी महिमा आती नहीं। वही कहते हैं।

मुमुक्षु :- उपाय तो एक ही है न ?

उत्तर :- करोड़ों उपाय करके भी यह भेदज्ञान करना, ऐसा कहते हैं। दूसरा कोई उपाय है नहीं। उपाय यह एक ही है। तुम करोड़ उपाय बनाकर भेदज्ञान करो, ऐसा कहते हैं। करोड़ उपाय अर्थात् ? चाहे तो प्रतिकूलता हो, चाहे सो अनुकूलता हो, दुनिया माने-न माने, शरीर में रोग हो, वाणी न हो, निर्धनता हो। बांझपना हो, कुँवारापन हो... समझ में आया ? सब छोड दे। एक आत्मा का ही भेदज्ञान कर और वही तेरा कर्तव्य है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं। वे तो कहते हैं कि, करोड़ उपाय करके भी भेदज्ञान ही करना। चाहे दूसरा लाख प्रयत्न कर, करोड़ प्रयत्न कर, उससे नहीं मिलेगा। समझ में आया ?

'कोटी उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।' उसे हृदय में धारण करो, इसके अलावा आत्मा का काम और नहीं है। भेदज्ञान में ही सम्यग्दर्शन आया और भेदज्ञान हुआ तो क्रमशः स्वरूप में स्थिरता होगी। भेदज्ञान से ही होती है। राग आया उसमें भी भेदज्ञान किया, स्थिर

होना हुआ। स्थिरता भी भेदज्ञान है, राग से भेद करना। समझ में आया ?

भावार्थ :- **'धन-सम्पत्ति, परिवार, नौकर-चाकर, हाथी, घोडा...'** बाज का अर्थ घोडा किया है। बाज का अर्थ हिन्दी में घोडा (शब्द) होता है ? **'राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को सहायक नहीं होते; किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है;...'** भगवान चैतन्यमूर्ति ज्ञानकला। 'ज्ञानकला जिसके घटजागी, ते जगमांही सहज वैरागी, ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत संभवे नाहीं, ज्ञानकला जिसके रे घट जागी...' गृहस्थाश्रम में भी पुण्य-पाप के भाव से भिन्न मेरा आत्मा है, ऐसी ज्ञानकला जागी ।'ज्ञानकला जिसके घट जागी। ते जगमांही सहज वैरागी।' मैं पर से भिन्न हूँ, मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं। भले गृहस्थाश्रम में हो तो भी अन्दर में पर से निर्लेप रहते हैं। समझ में आया ?

'ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत संभवे नाहीं।' अंतर में सम्यक् ज्ञान प्रकट हुआ वह विषयसुख में लीन होते हैं ऐसा कभी बनता नहीं। विषयसुख तो ज़हर है। भगवान आत्मा का आनन्द है, ऐसा जिसे अन्तर में सम्यग्ज्ञान हुआ, वह विषय में प्रेम रखकर भोग में उसे सुखबुद्धि होती नहीं। समझ में आया ? चक्रवर्ती 'भरत' चक्रवर्ती घर में वैरागी। आता है या नहीं कलश ? समझ में आता है। 'भरतजी घर में वैरागी' ९६ हजार पद्मणि जैसी स्त्री। उसका शरीर भी महासुंदर, इन्द्र जिनके मित्र हैं। क्या है ? कोई चीज़ हमारी नहीं। समझ में आया ? हमारी चीज़ तो आत्मा आनन्द, ज्ञान है - ऐसा भेदज्ञान 'भरत' चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्री के वृन्द में होने पर भी अपना आनन्द पर से भिन्न करते हैं। समझ में आया ? और अपने आनन्द का स्वाद लेते हैं, उसका नाम भेदज्ञान है, उसका नाम ज्ञान की कला है। आहा..हा...!

'किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, वह एकबार प्राप्त होने के पश्चात् अक्षय हो जाता है...' ज्ञान हुआ, वह कहाँ नाश होता है ? चंद्र की दूज उगी, वहदूज तो पूनम ही होगी। चंद्र की दूज होती है ना ? वह पूनम होगी ही। एकबार बोधबीज राग से भिन्न सम्यग्ज्ञान किया (तो) क्रमशः केवलज्ञान होगा। समझ में आया ? लेकिन इस सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन की महिमा नहीं। ये करो, ये करो, ये करो, व्रत करो, दमन करो... ये करो। राग मंद हो, मिथ्यात्व

सहित पुण्य बंध जायेगा। जन्म–मरण का नाश इस सम्यग्ज्ञान, दर्शन बिना तीनकाल तीनलोक में कभी किसी को होता नहीं। समझ में आया ?

'कभी नष्ट नहीं होता,...' कौन ? अपना ज्ञान, चैतन्य में अन्दर एकाकार हुआ (वह) नाश नहीं होता। **'अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओं का भेदज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञान का कारण है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव...'** प्रत्येक आत्मार्थी–स्त्री हो, पुरुष हो, राजा हो, गृहस्थ हो, रंक हो, भिखारी (हो), वह तो बाहर की सयोंग–स्थिति है, उसके आत्मा के साथ संबन्ध नहीं। **'प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव को करोड़ों उपाय करके...'** अनन्त उपाय करके यही करना है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... !

'उस भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए।' देखो ! भेदविज्ञान से ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्ज्ञान का कारण स्व–पर का भेद और भेदविज्ञान से ही सम्यग्दर्शन–आत्मा का अनुभव होता है। उससे आत्मा की मुक्ति होती है। समझ में आया ? बाद में लेंगे। सम्यग्दर्शन–ज्ञान की बात करने के बाद, आत्मज्ञान–दर्शन हुआ, बाद में व्रतादि का विकल्प आता है। श्रावक को बारह व्रतादि, मुनि को अठ्ठाईस मूलगुण (का विकल्प आता है), लेकिन वे जानते हैं कि, यह पुण्यास्त्रव है। मेरे भेदज्ञान जितना स्थिर है, उतना मुझे लाभ है। वह बाद में पाँचवी, छठ्ठी ढाल में कहेंगे। समझ में आया ? सातवाँ श्लोक कहा।

सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-धनधान बुझावै।।८।।

अन्वयार्थ :- (पूरव) पूर्वकाल में (जे) जो जीव (शिव) मोक्ष में (गये) गये हैं,

(वर्तमानमें) (जाहि) जा रहे हैं (अरु) और (आगे) भविष्य में (जैहे) जायेंगे (सो) वह (सब) सह (ज्ञान-तनी) सम्यग्ज्ञान की (महिमा) महिमा है - ऐसा (मुनिनाथ) जिनेन्द्रदेव से कहा है। (विषय-चाह) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी (दव-दाह) भयंकर दावानल (जगत-जन) संसारी जीवों रूपी (अरनि) अरण्य-पुराने वन को (दझावै) जला रहा है,(तास) उसकी शान्ति का (उपाय) उपाय (आन) दूसरा (न) नहीं है; (मात्र) (ज्ञान-धनधान) ज्ञानरूपी वर्षा का समूह (बुझावै) शान्त करता है।

भावार्थ :- भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों काल में जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, होंगे और (वर्तमान में विदेह-क्षेत्र में) हो रहे हैं; वह इस सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है। - ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। जिसप्रकार दावानल (वन मैं लगी हुई अग्नि) वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा संसारी जीवों को जलाती है दुःख देती है; और जिसप्रकार वर्षा की झड़ी उस दावानल को बुझादेती है उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान उन विषयों को शान्त कर देता है - नष्ट कर देता है।

'सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय।'

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी,मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह,जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै।।८।।

मुनिनाथ। मुनि के नाथ केवली परमात्मा ऐसा कहते हैं। सम्यग्ज्ञान-दर्शन का कितना वजन दिया है ! मूल चीज़ वह है।'मूलं नास्ति कुतो शाखा' मूलजहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है वहाँ चारित्र, व्रत, तप होता नहीं। सच्चा होता नहीं, झूठा हो उसमें आत्मा का कोई लाभ है नहीं, इसलिये कहते हैं। देखो !अन्दर सब दृष्टान्त दिये हैं। चित्र किये हैं न पहले चित्र में मुनि ध्यान में बैठे हैं। देखो अन्दर में। ज्ञान उपर लगन लगी है। चिदानन्द... चिदानन्द... चिदानन्द... चिदानन्द... चिदानन्द... विकल्प नहीं, हाँ ! ऐसे चादिनन्द में लौ लगी है, वे शिव

गये। चिदानन्द में लौ लगी है वे वर्तमान में जाते हैं। चिदानन्द में लौ लायेगा वह भविष्य में जायेगा। तीनों बात ली है न ? अर्थात तीनकाल में पन्थ एक है, ऐसा कहते हैं। चौथे काल का पन्थ दूसरा है, पाँचवें काल का दूसरा है और भगवान महाविदेह में बिराजते हैं, महाविदेह में दूसरा कोई धर्म का मार्ग है, ऐसा है नहीं। एक ही मार्ग तीनकाल में है। 'एक होय तीनकाल में परमार्थ का पन्थ।' भरत में भी वही, ऐरावत में भी वह, महाविदेह में भी वही; चौथे काल में भी वही और पाँचवे काल में भी वही। वह कहते हैं। समझ में आया ?

'**पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष में गये हैं,...**' मोक्ष का अर्थ अपना ज्ञानानन्द स्वरूप राग से, पुण्य से भिन्न किया था, वह पूर्ण राग से, अस्थिरता से हटकर स्थिर हो गया, पूर्ण अवस्था प्रकट हो गई, उसका नाम मोक्ष। आत्मा की पूर्ण शुद्धता जो शक्तिरूप में पडी है, वह वर्तमान अवस्था में पर से भिन्न करते-करते पूर्ण निर्मलानन्द अवस्था प्रकट हो जाये, उसका नाम मोक्ष (है)।

मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेप मां, सकल मार्ग निर्ग्रंथ।

'श्रीमद् राजचन्द्र' कहते हैं। 'आत्मसिद्धि' है न 'आत्मसिद्धि' ? 'आत्मसिद्धि' देखी है ? भैया ! एक 'श्रीमद् राजचन्द्र' हुए हैं, यहाँ 'ववाणिया' में हुए हैं। ३३ वर्ष की उम्र में देहछूट गया। सात वर्ष की उम्र में जातिस्मरण था। बाद में आत्मज्ञान प्राप्त किया और बहुत छोटी उम्र में-३३ वर्ष में देह छूट गया। उन्होंने उसमें कहा है। समझ में आया ? तीनकाल में जो कोई मार्ग है, 'एक होय त्रणकाळमां, परमार्थनो पन्थ'। परमार्थ का पन्थ एक है। 'एक होय त्रणकाळमां परमार्थनो पन्थ।' समझ में आया है या नहीं ? भैया ! 'आत्मसिद्धि'।

भगवान ज्ञानानन्द प्रभु, उसमें पुण्य-पाप का विकल्प हो परन्तु उससे हटकर अन्तर में चिदानन्द की ज्योत की एकाग्रता करना, वही करते-करते मुक्ति को पाया है। अनन्तकाल में अनन्त ने मुक्ति पायी तो इस कारण से पायी है। देखो ! भेदविज्ञान आया। '**भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन**'। समझ में आया ? '**जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं...**' समझ में आया ? अभी महाविदेहक्षेत्र है न ? वहाँ मोक्ष है, यहाँ केवल(ज्ञान)-

मोक्ष नहीं है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र अन्तर से भिन्न ऐसा होता है। मोक्ष वर्तमान में यहाँ भरतक्षेत्र में नहीं है, महाविदेह में है। भगवान 'सीमंधर' प्रभु जहाँ बिराजते हैं, वहाँ से आत्मा के ज्ञान में लीन होकर इतना उग्र पुरुषार्थ करते हैं, तो कहते हैं कि, परसे भिन्न होकर ही वहाँ मोक्ष जाते हैं। अभी महाविदेह में से जाते हैं तो ऐसे ही जाते हैं, भूतकाल में भरतक्षेत्र आदि में से गये तो परसे भिन्न करके गये।

'और भविष्य में जायेंगे...' अनन्त अनन्त काल में भविष्य में जितने मोक्ष में जायेंगे,... समझ में आया ? **'यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है...'** आहा..हा...! **'यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है...'** आहा..हा...! इतनी महिमा ! चैतन्यमूर्ति ज्ञान का सूर्य है, उसे पर से भिन्न करना, राग का कर्ता नहीं। राग का पुण्य परिणाम आता है, उसका आत्मा कर्ता नहीं। देह की क्रिया का आत्मा कर्ता नहीं। ऐसा अपना ज्ञान हो तो उसका नाम सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ऐसे सम्यग्ज्ञान की महिमा (है)। **'ऐसा (मुनिनाथ) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।'** वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने ऐसा कहा है। 'दौलरामजी' कहते हैं, हम हमारी कल्पना से नहीं कहते हैं। वीतरागदेव अनन्त तीर्थंकर हुए, वर्तमान में बिराजते हैं, भविष्य में होंगे। वे अपने ज्ञान की, स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप की रमणता से मुक्त होंगे। ऐसा मुनिनाथ, तीर्थंकरदेव, मुनि के नाथ, जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं। दूसरा दूसरे प्रकार से कहे तो भगवान की आज्ञा के अनुसार नहीं है। दूसरा कोई कहे कि, पुण्य करते-करते मुक्ति होगी, शुभभाव करते-करते मुक्ति होगी, सम्यग्दर्शन होगा, वह वीतराग की आज्ञा का वचन है नहीं, वीतराग का मार्ग नहीं है। वीतराग के मार्ग में मुनिनाथ ऐसा कहते हैं। दूसरा (मार्ग) है नहीं। देखो !

अभी तो शरीर की क्रिया से मुक्ति हैं। आहा..हा...! सचेत शरीर, सचेत शरीर से क्रिया... अरे...! भगवान ! यह तो जड़ है। उसकी क्रिया से अपने को कल्याण होता है, ऐसा (कोई) कहते हैं। आहा..हा...! लोगों को समझ नहीं (है)। यहाँ तो कहते हैं, जिनेन्द्रदेव, देह की क्रिया से तो नहीं परन्तु पुण्य के परिणाम से भी मुक्ति होती है, ऐसा नहीं कहते हैं। सम्यग्ज्ञान अन्दर में एकाकार होकर मुक्ति होती है। तीनकाल तीनलोक में ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। ऐसा भव्यजीव को यथार्त समझना चाहिए। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १२, गुरुवार

दि.१७-२-१९६६, गाथा ८, प्रवचन नं.-२८

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है, उसमें चौथी ढाल चलती है। चौथी ढाल की आठवीं गाथा है, आठवीं। देखो ! क्या कहते हैं ? '**सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय।**' थोड़ा चला है, फिर से लेते हैं।

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी,मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह,जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै।।८।।

देखो ! सादी सरल भाषा में 'छहढाला' में यहाँ चौथी ढाल में आठवीं गाथा (में) क्या कहते हैं ? '**जे पूरव शिव गये,...**' जो आज से पहले मुक्ति को अनन्त आत्मा प्राप्त हुए हैं... समझ में आया ? अनन्त काल में छह महीने और आठ समय में ६०८ (जीव) मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अनन्तकाल में अनन्त काल बीता, उसमें छह महीने और आठ समय में ६०८ मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अभी तक जितने मुक्ति को-शिवपद को प्राप्त हुए वह सब ज्ञान की महिमा है। कहा ना ?

'**सो सब महिमा ज्ञानतनी,...**' है उसमें ? उसका अर्थ करते हैं। शब्दार्थ है न ? '**पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं...**' वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' परमात्मा तीर्थंकर बिराजमान हैं और लाखों केवलज्ञानी भी वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में मोजूद हैं। उसमें ... वर्तमान में भी छह महीने और आठ समय में ६०८ वर्तमान में मुक्ति को प्राप्त हैं। महाविदेहक्षेत्र में। यहाँ भरत, ऐरावत में अभी केवलज्ञान की

प्राप्ति का इतना पुरुषार्थ नहीं है। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में जो मुक्ति प्राप्त करते हैं, वह भी ज्ञानतनी महिमा है।

'और (आगे) भविष्य में जायेंगे...' भविष्य में अनन्त अनन्त काल छह महिने आठ समय में ६०८ मुक्ति को जो प्राप्त होंगे... क्या कहते हैं ? देखो ! **'यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है...'** है उसमें ? भैया ! सम्यग्ज्ञान क्या ? वह बात पहले उपर में आ गई। स्व-पर का विवेक करना। उपर में सातवें में आ गया, सातवाँ श्लोक है न ? उसमें आ गया है, देखो !

तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपायबनाय भव्य,ताको उर आनौ।।

सातवे श्लोक में पहले आ गया। क्या कहते हैं ? सम्यग्ज्ञान से अनन्त जीव मुक्ति को पाये, वर्तमान पाते हैं, अनन्त पायेंगे। सम्यग्ज्ञान का अर्थ क्या ? कि, अपना आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और देह, वाणी, जड़ अजीव हैं और अपनी पर्याय अर्थात् अवस्था में शुभ और अशुभ जो राग होता है वह विकार है। इस विकार से मेरी चीज़ भिन्न है और कर्म और शरीर अजीव से मेरी चीज़ भिन्न है - ऐसा स्वस्वभाव और पुण्य-पाप का विभाव और जड़ की सामर्थ्य की पृथकता, उसका अन्तर में भेदज्ञान करना। समझ में आया ? यह तो सादी भाषा में बात करते हैं, देखो ! हिन्दी,सादी हिन्दी है।

स्व-पर का विवेक करना। मैं आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध हूँ, मेरे स्वरूप में तो अनन्त ज्ञान, शांति आदि का सामर्थ्य पड़ा है और मेरे स्वभाव के पूर्ण सामर्थ्य के आगे पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे विभाव, विकार, विपरीत भाव हैं। समझ में आया ? और शरीर, कर्म और अजीव पदार्थ हैं, वे मेरे से पृथक हैं। जड़ की पृथक्ता, विभाव की विपरीतता और स्वभाव की सामर्थ्यता - तीन बोल कहे। क्या कहा ? अपने पहले बहुत बार बात आ गई है।

यह भेदज्ञान की बात करते हैं। 'दौलतरामजी' जगत को सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा, उसका थोड़ा सार ले लेकर, गागर में सागर जैसे भर देते हैं, ऐसे भर दिया है। कहते हैं कि, अरे..! भैया ! अनन्तकाल में जितने आत्मा मुक्ति को प्राप्त हुए, वर्तमान में प्राप्त करते हैं और

प्राप्त करेंगे, वे सब भेदज्ञान से (प्राप्त करेंगे)। भेदज्ञान का अर्थ क्या ? अपना आत्मा अनन्त अनन्त स्वभाव के सामर्थ्यरूप आत्मा है। मैं तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शांति, वीर्य – ऐसा मेरा स्वरूप है। शुभ और अशुभ, पुण्य-पाप (के) जो भाव होते हैं, वे विभाव हैं। समझ में आया ? वे विकार हैं। आत्मा का स्वभाव बेहद आनन्द के आगे वह विभाव, स्वभाव से विपरीत है। समझ में आया ? वह कहा न ?

'सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।' मुनिनाथ-तीर्थंकरदेव जिनेन्द्र परमेश्वर, अनन्त वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर हुए, वर्तमान में भगवान जिनेन्द्र बिराजमान हैं, भविष्य में अनन्त तीर्थंकर होंगे। संवर किसको कहते हैं ? कि, पुण्य-पाप का जो राग उत्पन्न होता है, उससे अपना स्वभाव भिन्न करके स्वभाव में एकाग्रता का होना, उसका नाम भगवान संवर कहते हैं। आहा..हा...! **'सो सब महिमा ज्ञान-तनी,...'** उसका अर्थ क्या ? सातवीं (गाथा में) लिया – स्व-पर विवेक। समझ में आया ? मैं आत्मा... यह समझे बिना उसे कभी मुक्ति होती नहीं। यह समझे बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। यहाँ सम्यग्ज्ञान कहा है, लेकिन आगे-पीछे दोनों लेना. सम्यग्ज्ञान कहेत हैं (लेकिन) सम्यग्दर्शन पहले साथ में है। सम्यग्ज्ञान कहते हैं, तब साथ में राग से पृथक् स्थिरता भी है। नीचे कहा है ना ? देखो न ! सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तीनों लिखे हैं। नीचे...क्या कहते हैं ? चित्र...चित्र !

कहते हैं कि, भैया ! यदि मुझे मुक्ति प्राप्त करनी है अथवा धर्म करना है अथवा तुझे संवर और निर्जरा प्राप्त करनी है तो पहले यह करना। वह कल आया था, कहा था। '**भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ, भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ...**' 'बनारसीदास' 'समयसार नाटक' में कहते हैं।

(अढाई द्वाप के बाहर) असंख्य पशु हैं। मनुष्यक्षेत्र अढाई द्वीप में है, उससे बाहर के क्षेत्र में असंख्य समुद्र, द्वीप हैं। अन्तिम के स्वयंभूरमण समुद्र में भी असंख्य पशु सम्यग्ज्ञानी हैं। अभी (हैं)। इस सम्यग्ज्ञान का अर्थ क्या ? '**भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।**' राग, विकल्प पुण्य-पाप का वकिल्प उठता है, वह विभाव (है)। शरीर, कर्म आदि अजीव जड़ (हैं)। उसकी क्रिया जड़, उसकी पर्याय जड़ (है)। और मेरा स्वभाव शुद्ध अनन्त ज्ञानादि का सामर्थ्य (स्वरूप है), मैं चैतन्यमूर्ति (हूँ) - ऐसे स्वभावकी अनन्त सामर्थ्य का भान, पुण्य-पाप का, विभाव का स्वभाव से विपरीतपना है - ऐसा अन्तर बोध (होना) और देहादि जड़ की अपने स्वभाव से विभाव की पृथकता (होनी) समझ में आया ?

ये तो सात तत्त्व के अन्दर है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' अजीव और जीव दोनों भिन्न हैं और पुण्य-पाप का आस्रव और आत्मा का संवर - स्वभावसन्मुख होना वह भिन्न है। ऐसा अन्दर में सम्यग्ज्ञान किया, वही सम्यग्ज्ञानी ने संवर को पाया और वे ही मुक्ति को पाते हैं, दूसरे कोई प्राणी मुक्ति को पाते नहीं। यह तो सादी भाषा है। गहन तो है न।

भेदग्यान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।

जिसके घट में आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप आनन्द की मूर्ति मैं हूँ और विकार - परभाव होता है, वह बन्ध का कारण है और जड़ आदि परवस्तु है, ऐसा जिसकेअन्तर में भेदज्ञानरूपी सम्यग्ज्ञान नहीं (है तो) कहते हैं कि, वह जड़ जीव (है)। वह तो जड़ जीव है। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- जड़ जीव यानी ?

उत्तर :- जड़ जीव का अर्थ भान रहित जीव।

पहले ऐसे कहा कि, '**भेदग्यान संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।**' दूसरे में ऐसा कहा, '**भेदग्यान जिन्हके घट नांही, ते जड़ जीव बंधै घट मांही।**' समझ में आया ? एक ... और एक जड़। आत्मा, राग और पुण्य-पाप का भाव होता है, हो, परन्तु उससे मेरी चीज अन्दर में भिन्न आनन्दकन्द ज्ञायक चैतन्यमूर्ति हूँ। ऐसा भेदज्ञान अन्तर में न किया तो कहते हैं कि, जड़ है। राग को और जड़ को अपना मानना, वही जड़ है। वह जग में भटकता है। आहा..हा... ! ये तो साधारण सादी भाषा में कहते हैं तो लोग कहते हैं, ये नहीं, ये नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। क्या ऐसा नहीं ? तुझे क्या करना है ? समझ में आया ?

अनन्त काल से परिभ्रमण करता है। बाद में नववीं (गाथा में) कहेंगे, '**पुण्य-पाप-फलमाहि, हरख बिलखौ मत भाई;**' पुण्य और पाप ये दो तो विकार हैं। विकार के बंधन में जड़ का बंधन होता है, उसके फल में यह धूल आदि बाहर में संयोग मिलते हैं। समझ में आया ? कहते हैं, जितने प्राणी अभी तक मुक्ति को प्राप्त हुए और पायेगे, सब सम्यग्ज्ञान की महिमा (है - ऐसा) सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं। त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर आदि गणधरो, मुनिनाथ ऐसा कहते हैं कि, है मुक्ति पाने का उपाय सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है। इस सम्यग्ज्ञान का अर्थ-स्व-पर का भेद। स्व-पर का भेद का अर्थ-पुण्य-पाप का विभाव और त्रिकाल स्वभाव दोनों को अन्दर भिन्न करना। आहा..हा... ! वह पहले आ गया है। प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव को... सातवीं (गाथा में) आ गया न ? देखो ! क्या कहा ? '**तास ज्ञान को कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;**' सातवीं गाथा में आ गया। '**कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।**' है उसमें ? भैया ! सातवे श्लोक में है। आहा..हा... ! दुनिया को परवाह नहीं प्रवृत्ति की आड में निवृत्ति नहीं है। क्या चीज़ है ? मरी अन्तर चीज़ क्या है ? और यह विकार क्या होता है ? शरीर आदि जड़ की पर्याय जड़ से क्या होती है ? (उसके) भेद का कोई पता नहीं। सब एक मानकर अनादि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पर को एक मानकर चार गति में भटकता है।

भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर सर्वज्ञदेव का फरमान समवसरण में मुनिनाथ ऐसा कहते

हैं। 'दौलतरामजी' भी अपना नहीं कहते हैं। मुनिनाथ ऐसा कहते हैं। तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परेश्वर सो इन्द्र से पूजनीक समवसरण में भगवान फरमाते थे कि, सम्यग्ज्ञान समान कोई (महिमावंत) है नहीं। समझ में आया ? यहाँ तो ऐसा मानता है, कि देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ। वह तो जड़ है। जड़ की पर्याय तो जड़ से होती है। जड़ की पर्याय है। पर्याय समझे ? जड़ में तीन बोल हैं - द्रव्य, गुण और पर्याय जड़ पदार्थ है यह वस्तु (है)। उसमें गुण हैं-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण (हैं) और उसकी ऐसी हालत-रूपांतर होती है वह उसकी पर्याय (है)। जड़ में द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ से होते हैं और अज्ञानी माने कि मेरे से होता है तो जड़ को अपना माना। पहले आ गया है न ? तन उपजत मैं उपजा, तन नाशत मेरा नाश हुआ। वह जड़ को अपना मानते हैं। बहुत अच्छा लिया है।

'छहढाला' में बहुत थोड़े में भर दिया (है), परन्तु विवेचन नहीं,समझ नहीं, विचार नहीं, मनन नहीं। कल भैया कहते थे, थोड़ा पढ़ लेते हैं। पढ़े लेकिन मनन कुछ नहीं। थोड़ा स्वाध्याय करना है। दो पन्ने पढ़ लो। बस ! लेकिन क्या पढ़ते हो ? उसमें किया क्या ? उसमें भाव क्या है ? (उसका) भाव समझे बिना भावभासन हुए बिना का वांचन, मनन सब निरर्थक है। 'टोडरमलजी' 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहते हैं न ? भावभासन होना चाहिए। भाव का अन्दर ख्याल होनाचाहिए कि, यह आत्मा भगवान परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि, सम्यग्ज्ञान की महिमा से आत्मा मुक्त होता है, तो सम्यग्ज्ञान क्या ?

मैं आत्मा अन्तर ज्ञान की ज्योत चैतन्यसूर्य पड़ा हूँ और ये पुण्य-पाप का विकार, विभाव है, वह बन्ध का कारण है। मेरे स्वभाव से विभाव विपरीत है और कर्म, शरीरादि है, वे मेरे पृथक हैं। स्वभाव की सामर्थ्यता का भान, विभाव की विपरीतता का भान और जड़ की पृथकता का भान। समझ में आया ? आहा..हा... ! ... शरीर चलता है ? आत्मा बहुत प्रेरणा करे लेकिन चलता नहीं। शरीर जड़ है। पक्षघात होता है तब नहीं चलता। वह जड़ है। जड़ की अवस्था आत्मा से नहीं होती, पृथक है। पृथक पदार्थ की क्रिया पृथक में, अपने से पृथक में उसमें होती है, अपने से नहीं, अपने में नहीं। शरीर, वाणी की क्रिया अपने से नहीं, अपने में नहीं। आहा..हा... !

पुण्य-पाप का भाव, विभाव अपने स्वभाव में नहीं और अपने स्वभाव से विभाव उत्पन्न हुआ नहीं। समझ में आया ? आहा.. ! विकार जो उत्पन्न होता है, वह अंश में अन्दर योग्यता से, वर्तमान अंश की योग्यता की पुण्य-पाप का वकिार (उत्पन्न होता है)। दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम पुण्य है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग का भाव पाप है। दोनों विभाव हैं। वह कहते हैं। आहा..हा... ! विभाव, आत्मा में एक समय की योग्यता की विपरीतता से उत्पन्न होता है। स्वभाव में अविपरीतता त्रिकाल आनन्दकन्द ज्ञायक पड़ा है। ऐसा विपरीत और अविपरीत दो का भेदज्ञान करना और जड़ शरीर की पृथकता का ज्ञान अन्तर में लाना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान, भेदज्ञान, शिवमार्ग का उपाय भगवान फरमाते हैं। आहा..हा... ! कहा ? (ऐसा) महिमा मुनिनाथ ने कहा है। '**जिनेन्द्रदेव ने कहा है।**' देखो ! उसमें लिखा है। यहाँ तक तो कल चला था।

'**पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी भयंकर दावानल...**' क्या कहते हैं ? विषय में सुख मान रखा है। पाँच इन्द्रिय विषयों में सुख मान रखा है, वह मिथ्या भ्रम है। ये इन्द्रिय तो जड़ हैं, विषय पर हैं और अन्दर में भावइन्द्रिय खंड खंड से लक्ष्य करके, शब्द में, रूप में, रस में, गंध में, शरीर के स्पर्श में मुझे ठीक है, मुझे सुख होता है - ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। समझ में आया ? उन विषयों के सुख की इच्छा में सुख माना है वह मिथ्या भ्रम है। इस विषयसुख की इच्छा को सम्यग्ज्ञान नाश कर सकता है। समझ में आया ? क्यों ? विषय की इच्छा, इन्द्र का भोग, राज का भोग, शेठाई का भोग, ये सब इच्छा होती हैं सब दुःखरूप है। मानता है कि, हमें विषय में सुख का मजा आता है। मूढ है, मिथ्यादृष्टि है, उसे सम्यग्ज्ञान है नहीं। विषय में सुख मानना; सुख नहीं है, उसमें (सुख) मानना, उसका नाम मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव है। इस मिथ्यात्वभाव का नाश सम्यग्ज्ञान से होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? कहा ना ?

'**पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी भयंकर दावानल संसारी जीवों रूपी अरण्य-पुराने वन को...**' पुराना वन। क्या कहते हैं ? आहा..हा... ! एक श्लोक में दो बात कही। एक तो अपना सम्यग्ज्ञान, विभाव पर से भिन्न, उसमें विषय की चाह, उसमें सुख मानना, उससे भी सम्यग्ज्ञान में भिन्न हो गया। समझ में आया ? विषय की दाह-चाह जो है, सुखरूप मान्यता

(जो है) वह अज्ञान में है। ज्ञान हुआ कि, ओ..हो... ! मैं तो आत्मा आनन्द हूँ, आनन्द मेरे में है; आनन्द विषयो में नहीं। विषयो में आनन्द नहीं, भोग में आनन्द नहीं, इज्जत में आनन्द नहीं, लक्ष्मी में आनन्द नहीं, पर में आनन्द मानना, उसका नाम भगवान मिथ्यादृष्टि अज्ञान कहते हैं। इस मिथ्यादृष्टिपने (में) जो विषय में सुखबुद्धि है, वह सम्यग्ज्ञान से ही नाश होती है। समझ में आया ? आहा..हा... !

'विषय-चाह दव-दाह' दावानल जला, दावानल। थोडी अनुकूलता देखे, जैसे पतंगा गिरता है, पतंगा... पतंगा दीपक देखकर पतंगा गिरता है, वैसे यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, अज्ञानी पाँच इन्द्रिय विषयों की लालच करके अज्ञानी सुखबुद्धि (मानकर) अन्दर गिरता है। सम्यग्दृष्टि उसको नाश करते हैं। ओ..हो... ! पाँच इन्द्रिय के विषय में राग (होता है) उसमें सुख नहीं है। सम्यग्दृष्टि को राग होता है, समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को राग होता है। स्त्री के भोग में थोड़ा राग है, सुखबुद्धि नहीं है। यह कहते हैं, सुखबुद्धि नहीं। सम्यग्ज्ञानी को विषयचाह में सुखबुद्धि नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ यह कहते हैं, **'विषय-चाह दव-दाह'** आत्मा के आनन्द के भान बिना, आत्मा में आनन्द है, सुख है ऐसी दृष्टि और ज्ञान बिना विषय-चाह दाह, जलन-दावानल अन्दर में जलता है। ऐसा करूँ, ऐसा करुँ, ऐसा करुँ... ऐसी विषय-चाह की दाह (है)। समझ में आया ? **'पुराने वन...'** अनादि की विषयभोग की चाहना पड़ी है वह सम्यग्ज्ञान द्वारा नाश हो जाती है। क्या कहा ? समझ में आया ? **'जला रहा है, उसकी शान्ति का उपाय दूसरा नहीं है; (मात्र) (ज्ञान-धनधान) ज्ञानरूपी वर्षा का समूह शांत करता है।'** उसका क्या अर्थ हुआ ? कि, विषयभोग की वांछा में जो सुखबुद्धि अनादि की है, (वह सम्यग्ज्ञान से ही शांत होती है)।

समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अनादिकाल में विषयचाह में सुखबुद्धि (रखता है) और मुझे मजा आता है – ऐसा मानता है, वह मूढ जीव है। वह मूढता, विषय की चाह में सुख मानना वह भेदज्ञान से शांति होती है। समझ में आया ? आहा..हा... ! भाई ! आहा..हा... !

भगवान आत्मा इच्छा, राग से मेरी चीज़ भिन्न है – ऐसा आनन्दरूपी अपना ज्ञान करके इच्छा का दाह जो दावानल है, उसे सम्यग्ज्ञानी बुझाते हैं। इच्छा में सुख नहीं, भोग में सुख नहीं, इज्जत में सुख नहीं, पर में सुख नहीं। पर में सुख नहींहै, ऐसी बुद्धि सम्यग्ज्ञानी को सम्यग्ज्ञान से पर में सुखबुद्धि (रूप) अज्ञान को नाश कर देती है। बुझाता है, ऐसा कहा न ? '**ज्ञानरूपी वर्षा का समूह...**' ज्ञान की व्याख्या, ज्ञान की व्याख्या क्या ? विकार, विकल्प है उससे मेरी चीज़ भिन्न है। मेरे में आनन्द है। मेरे में आनन्द है, (ऐसा) सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में मानते हैं। समझ में आया ?

चौथे गुणस्थान में अभी अविरत सम्यग्दृष्टि हो, त्याग न हो, ९६ हजार स्त्री हो, इन्द्रों को इन्द्राणी है, पहले देवलोक में शक्रेन्द्र है। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों एकावतारी है, एकभवतारी (हैं)। समझ में आया ? स्वर्ग में इन्द्र है न ? शक्रेन्द्र और उसकी शचि (इन्द्राणी), दोनों एकभवतारी हैं। वहाँ से एक भव (करके) दोनों मोक्ष जानेवाले हैं। वहाँ दोनों में विषय की इच्छा का प्रेम नहीं है। आहा... ! अज्ञानी को थोड़ा भी राग है, भोग की इच्छा (है उसमें) अज्ञान के कारण मीठास, मीठास, प्रेम है – ऐसा बताते हैं। सम्यग्ज्ञान राग और अशुद्ध पुण्य-पाप के भाव से मेरा स्वरूप भिन्न है – ऐसा सम्यग्ज्ञान किया, यह सम्यग्ज्ञान विषयचाह की दाह को शांत करता है। समझ में आया ?

अपना स्मयग्ज्ञान करने से मेरे में आनन्द है – ऐसा भान होकर विषयचाह के दावानल

को शांत कर देता है। तीनकाल में (विषय में) सुख नहीं है। मेरे आत्मा के अलावा सुख तीनकाल में कहीं नहीं है। भोग में, विषय में, इज्जत में, कीर्ति में, महन्त में, बड़े अधिकारी में (सुख नहीं)। समझ में आया ? देखो ! इतना कहते हैं, थोड़े में बहुत भर दिया है।

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;

सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहैं हैं।

विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;

आहा..हा... ! पुराने वन को जला रहा है। ...रूपी वन। अन्दर शान्ति...शान्ति... भगवान आत्मा अपनी श्रद्धा-ज्ञान करके, रागरहित अपनी शान्ति होती है, इस शान्ति को, इच्छा में दाह, सुख है, पर में मज़ा है, ऐसी अग्नि बुझा देती है, शांति को बुझा देती है (और) सम्यग्ज्ञान अग्नि को बुझा देता है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि को दव तो नहीं है।

उत्तर :- दव भी नहीं है, थोडी अस्थिरता है। उसका प्रेम नहीं, उसका ज्ञाता-दृष्टा है। सम्यग्दृष्टि को राग आता है, उसका ज्ञाता-दृष्टा है। कल कहा था ना ? '**ज्ञानी विषयसुख मांही, यह विपरीत संभव नांही**' - यह 'बनारसीदास' में है।

ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांही सहज वैरागी,

'**ज्ञानकला जिसके रे घट जागी**' राग, विकल्प, पुण्य-पाप से मेरी चीज़ भिन्न है। शरीर की क्रिया आदि मेरे से भिन्न है। ऐसा अन्तर में सम्यग्ज्ञान चौथे गुणस्थान में हुआ। '**ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांही सहज वैरागी;**' स्वाभाविक वैराग्य है, हठ से नहीं। किसी में सुख नहीं। स्त्री की लालच नहीं, अपनी इच्छा थोड़ी होती है वह अस्थिरता है, उसे उपसर्ग मानते हैं। सम्यग्ज्ञानी भोग की इच्छा होती है, उसे उपसर्ग मानते है। मिथ्यादृष्टि इच्छा को सुखरूप मानते हैं। इतना बड़ा फर्क है। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या ?

मुमुक्षु :- सम्यग्यदृष्टि उपसर्ग मानता है।

उत्तर :- उपसर्ग मानते हैं। सर्प देखते हैं, जैसे सर्प देखते हैं और भागते हैं, वैसे

सम्यग्ज्ञानी-धर्मी जीव अपने में आनन्द देखते हैं, राग में दु:ख देखते हैं। भागना चाहते हैं। सर्प... सर्प भयंकर सर्प देखकर जैसे भागता है, वैसे सम्यक् धर्मी जीव राग में दु:ख देखकर वहाँ से हटना चाहते हैं। अज्ञानी राग में सुख मानकर वहाँ पड़ा है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... क्यो शादी करते हैं ?

उत्तर :- भागने के लिये ही शादी करते हैं। शादी ही नहीं करता है, वह सब सूक्ष्म बातें हैं। भगवान को सम्यग्ज्ञान है, क्षायिक समकित है और (गृहस्थदशा में) ९६ हजार (स्त्री के साथ) शादी करते हैं, ऐसा दिखता हैं। अन्दर में नहीं, अन्दर में नहीं। यह राग दु:खदायक है, मेरी शांति मेरे पास है। मेरा शांति का अनुभव मेरे पास है। यह राग मुझे दु:खदायक है। राग टलता नहीं है इसलिये इतना संयोग दिखने में आता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

पकड़ पकड़ में फर्क है। बिल्ली अपने बच्चे को मुख में पकड़ती है और बिल्ली चूहे को मुख में पकड़ती है। पकड़ती है या नहीं ? बिल्ली चूहे को पकडती है। चूहा कहते हैं न ? चूहे को ऐसे पकड़े और अपने बच्चे को सात दिन रखे फिर वहाँ से मुलामयता से (पकड़ती है)। पकड़ पकड़ में फर्क है। ऐसे सम्यग्ज्ञानी धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव भोग की वृत्ति उत्पन्न होती है परन्तु (उसकी) पकड़ नहीं, उसमें सुखबुद्धि नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सम्यग्ज्ञान की इतनी महिमा है, परन्तु सम्यग्ज्ञान करने की परवाह नहीं। दूसरा करता है, ये करो, ये करो, उसमें जिंदगी चली गई। समझ में आया ? बाहर का आचरण करते, करते, करते जिंदगी गँवा दी। मेरी चीज़ क्या है ? राग से भिन्न क्या हूँ ? मेरे में आनन्द क्या है ? ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करने का उसे अवसर मिलता नहीं।

कहते हैं कि, कोटी उपाय बनाय, करोड़ उपाय करके भी तुम सम्यग्ज्ञान का उपाय करो, दूसरी बात छोड़ दो। कहा या नहीं उसमें ? देखो न, सुख की बात उसे हिन्दी में कहते हैं। (सातवीं गाथा में) कहा या नहीं ? '**कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।**' क्या (कहते हैं) ? '**स्व-पर विवेक बखानौ;**' स्व और पर का ज्ञान कोटी उपाय करके भी वह एक करना है। जिसने सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन किया वह शिवमार्गी हो गया। उसे शिवपंथ हो गया, अन्तर में संवर पाया। और जिसने स्व-पर का भेदज्ञान नहीं किया और बाहर में दया, दान,

व्रत, भक्ति की क्रिया में रुक गया तो तो विकार, विभाव, शुभभाव है। शुभभाव में रुक गया और शुभभाव से भिन्न अपना आत्मा है ऐसा बोध नहीं किया तो उसे जन्म-मरण का अन्त कभी आता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

भयंकर दावानल। आ..हा... ! प्रभु ! आत्मा तो शांति का सागर है। समझ में आया ? जैसे शीतल बर्फ की शिला होती है, शीतल बर्फ... बर्फ कहते हैं ना ? बर्फ नहीं होता है ? शीतल बडी शिला, पाँच-पाँच मन की। ऐसे आत्मा शांत वीतराग स्वरूप अकषायस्वरूप शांत अरूपी शांत शिला आत्मा है। उसमें तो शांति है। परन्तु पुण्य-पाप का भाव उत्पन्न होता है, (उसमें) अशांति है। आहा..हा... ! शुभ-अशुभभाव में जिंदगी बिता दे और उससे भिन्न अपने आत्मा का ज्ञान न करे तो उसे आत्मा का कल्याण कुछ होता नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

अरे.. ! दुनिया कोई साथ में नहीं आयेगी। फू... हो जायेगा। शरीर (छूट जायेगा)। चलो, कितना अभी तो रोज सुनते हैं, हार्ट फेईल ! भाई ! अभी किसी ने कहा कि, (कोई बहन का) हार्ट फेईल हो गया। 'मुंबई' में एक बहन बहुत प्रेमवाली है, बहुत प्रेमवाली है। बहुत रुचि, हार्ट फेईल हो गया। छोटी-छोटी उम्र में ४५ वर्ष, ४० वर्ष, ५० वर्ष। चलो, निकलो ! येदुनिया कोई साथ में आनेवाली नहीं। तेरी धूल, इज्जत यहाँ पड़ी रहेगी। भगवान ! क्यों ? भाई ! आहा..हा... !

कहते हैं, अरे... ! प्रभु ! तुझे अपने हित के लिये इतना अवसर नहीं मिलता ? विकार से भिन्न करने का तुझे अवसर नहीं मिलता ? भिन्न करने का अवसर नहीं मिलता तो तू कभी भिन्न होगा नहीं, तेरी मुक्ति कभी होगी नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! महापुराना दावानल दावह (जल रहा है)। आत्मा राग से भिन्न है - ऐसा सम्यग्ज्ञान करने से, आत्मा में आनन्द भासित होने से, उसे चाह की दाह शांत हो जाती है। ज्ञानी को चाह की दाह शांत हो जाती है। आहा..हा... ! यह गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि कीबात चलती है, हाँ ! स्त्री हो, साधन हो, भले हो, उसमें क्या है ? हमें कुछ नहीं है। आहा..हा... ! भैया ! बहुत अच्छी बात है। यह तो समझ में आये ऐसी बात है, बहुत सूक्ष्म नहीं है। क्यों सेठ ? यह तो समझ में आये ऐसी बात है, भैया !

आहा..हा... !

कहते हैं, विषय '**अरण्य-पुराने वन को जला रहा है,...**' भगवान तेरी शांति का बडा महावन अन्दर पड़ा है। शांति... शांति... शांति... शांति... स्वरूप पड़ा है अन्दर में, उसे विषय की चाह-दाह जला रही है, सम्यग्ज्ञान बिना। क्योंकि तुझे चाह में मीठास (लगती है)। सम्यग्ज्ञान राग से भिन्न हुआ ऐसे ज्ञान में अपनी शांति का भासन हुआ तो चाह के दाह को बुझानेवाली है। समझ में आया ? आहा..हा... ! अ..हो... ! मैं तो ज्ञानस्वरूप शांतिस्वरूप (हूँ) ऐसे राग से भिन्न पडा (तो) राग में मीठास चली गई। समझ में आया ? मीठास... मीठास अर्थात् मिथ्यादृष्टि में मज़ा मानता था, ज्ञानी को इच्छा में मज़ा की बात चली गई। अपने आत्मा में आनन्द है - ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ तो इच्छा की दाह शांत हो गयी। समझ में आया ? आ..हा.. ! शांति का दूसरा उपाय नहीं है। क्या कहते हैं ?

तुम हठ से इन्द्रिय दमन करना चाहो, थोड़ा आहार करके इन्द्रियदमन करें, वह सब उपाय नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! थोड़ा आहार करना, ऐसा करना (तो) इन्द्रिय वश हो जायेगी, (तो) ऐसे नहीं होगी। अपना आत्मा राग से भिन्न (है), अपनी शांति का भासन हुए बिना राग की शांति नहीं होगी - ऐसा कहते हैं। आहा.. ! समझ में आया ? बहुत भरा है। थोडे में, गागर में सागर भर दिया है। अर्थ समझने की परवाह कितनी ? तोते की भाँति रटन करे। तोता रटन करता है न ? मुखाग्र कर लेते हैं ? तोते को सिखाते हैं न ? तोते को। देखो ! यहाँ बिल्ली आये तो यहाँ से भागना, बिल्ली आये तो यहाँ रहना नहीं, बिल्ली तुझे पकड़ेगी, मारेगी। तोता बोलते-बोलते बिल्ली आयी तो भी बोलता है बिल्ली यहाँ आयेगी, बिल्ली (मारेगी)। लेकिन आ गई, अब क्या करता है ? तोता रटन करते-करते बिल्ली आयी तो (भी बोलता है), बिल्ली आयेगी, तुझे पकड़ेगी, तुझे मारेगी। अरे.. ! आयी है, भाग तो सही। रटन क्या करता है ? वैसे विकार मेरा मानना दुःख है, फलाना दुःख है, ऐसे तोते की भाँति रटन करता है, परन्तु विकार से भिन्न मेरी चीज़ है, उसका भान करता नहीं। समझ में आया ? तोते की भाँति।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- इतना भी नहीं मालूम पड़ता। आहा..हा... !

यहाँ तो 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं कि, स्व-पर का भेदज्ञान किये बिना पर की इच्छा का दाह तुझे शांत नहीं होगा, भगवान ! समझ में आया ? तेरे में आनन्द है। भगवान आनन्द सच्चिदानन्द मूर्ति है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' - आता है न 'बनारसीदास' में ? 'चेतनरूप चेतनरूप अनूप... अनूप' - उपमा बिना की मेरी चीज़ है। ''चेतनरूप अनूपअमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' मैं तो सिद्ध समान शुद्ध आनन्द हूँ। रागादि मेरे में नहीं, ऐसा भान किये बिना उसे विषय की चाह, दाह और भ्रमणा का नाश कभी होता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! कहा था न ?

ज्ञानकला ऊपजी मोहि,
कहौं गुन नाटक आगम केरौ
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै भववास बसेरौ॥११॥

सम्यग्ज्ञान से घट में बसना छूट जाता है। सम्यग्ज्ञान बिना भव का अभाव कभी होता नहीं।

मुमुक्षु :- धर्म तो होगा।

उत्तर :- धर्म-बर्म कहाँ से होगा ? धर्म हो तब तो भव का अभाव हो जाये। समझ में आया ? वह कहते हैं। थोड़ा सूक्ष्म है।

यहाँ तो कहते हैं, शुभभाव में भी धर्म नहीं है - ऐसा बताते हैं। शुभभाव में धर्म माननेवाला, विषय दाह की इच्छा सुख माननेवाला है। उसे आत्मा की शांति की परवाह है नहीं। विषयदाह की चाह मिटा सकता नहीं और पर से भिन्न कर सकता नहीं। आ..हा.. ! जिसे पर माने बाद में उसमें सुखबुद्धि रहे कहाँ से ? शरीरादि पर, स्त्री आदि पर, लक्ष्मी आदि पर (हैं)। मेरी चीज़ मेरे में भिन्न है - ऐसा माननेवाले को पर में सुखबुद्धि रहती नहीं। और पुण्य परिणाम होता है, पाप का परिणाम होता है परन्तु उससे मेरी चीज़ भिन्न है तो पुण्य-पापभाव में

भी सुखबुद्धि होती नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

'ज्ञानरूपी वर्ष का समूह...' क्या कहा ? आहा..हा... ! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप विकार से भिन्न (है), ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ तो इस सम्यग्ज्ञानमें से शांति का प्रवाह बहता है। जैसे अज्ञान में अशांति का प्रवाह उत्पन्न करता था, वैसे ज्ञान में – विकार और शरीर से भिन्न मेरा आत्मा (है), ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यग्ज्ञान, हाँ ! तो सम्यग्ज्ञान में से शांति का प्रवाह आता है। अज्ञान में अशांति की उत्पत्ति, एकांत मिथ्यात्व और अशांति की उत्पत्ति थी।

'समयसार' शास्त्र में ऐसा लिखा है कि, ज्ञान का समकित, ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का चारित्र – ऐसे बोल 'समयसार' में आते हैं। चैतन्य भगवान आत्मा, पुण्य-पाप का विकार-विभाव से भिन्न (है), ऐसा आत्मा का ज्ञान, आत्मा का सम्यग्दर्शन और आत्मा का स्वरूप में चारित्र, उसका नाम चारित्र है। आत्मा में शुद्ध चैतन्य भगवान का अन्दर ज्ञान (होना) उसका नाम सम्यग्ज्ञान (है)। शुद्ध चैतन्य भगवान राग, पुण्य से भिन्न (है), उसकी प्रतीत (होनी), उसका नाम सम्यग्दर्शन (है) और स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द में रमणता करनी, लीनता करनी उसका नाम चारित्र है। लोग तो बाह्य क्रिया को चारित्र मानते हैं। लो, चारित्र (हुआ), व्रत (ले लिये)। लेकिन सुन तो सही। सम्यग्दर्शन बिना व्रत कहाँ से आया ? और तेरा चारित्र आया कहाँ से ? समझ में आया ? बिना अंक के शून्य... शून्य (हैं)। एक को क्या कहते हैं ? ईकाई कहते हैं ? एक नहीं है और लाख शून्य हैं। लाख शून्य की क्या किंमत है ? ऐसे आत्मा पहले (जाने), राग का अंश भी तेरा कर्तव्य नहीं। समझ में आया ?

'करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा,...' देखो ! ज्ञान आया। **'जो जानै सौ जाननहारा, जानै सो कर्ता नहीं होई, जो करता नहि जानै सोई।'** (कर्ता-कर्म अधिकार, श्लोक ३३) ये 'समयसार नाटक' के शब्द हैं। **'करै करम सोई करतारा,'** अज्ञानी दया, दान का विकल्प उठाकर मेरा काम है, मेरा कर्तव्य है – ऐसा करनेवाला, भगवान कहे हैं कि, अज्ञान है। विकार मेरा कर्तव्य (है-ऐसा) माननेवाला कर्ता होता है, वह अज्ञानी है। **'करै करम सोई करतारा, जो जानै सौ जाननहारा,'** पुण्य-पाप के विकल्प से तेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा जाननेवाला राग को जानता है लेकिन राग को करता नहीं – ऐसा भान नहीं, सम्यग्दर्शन-

ज्ञान नहीं (और मानते हैं कि) व्रत और चारित्र, तप हो गया। कहाँ से हो गया ? समझ में आया ?

'करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा, जो कर्ता नहि जानै सोई' देह-क्रिया और मैं राग मेरा काम है, कर्तव्य है - ऐसा माननेवाला। **'करता नहि जानै सोई'** उसके पास ज्ञान नहीं, मैं ज्ञाता हूँ ऐसा उसे रहता नहीं। मैं ज्ञान हूँ, कर्ता नहीं। **'जो करता नहि जानै सोई, जे जानै सो करता नहीं होई।'** सम्यग्ज्ञानी-धर्मी जीव अपना विकार और शरीर से भिन्न जाननेवाला राग और देह की क्रिया का कर्ता होता नहीं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! अनन्तकाल से वह स्व-पर भेदज्ञान नहीं समझा। शरीर को पर मानना, राग को विभाव मानना और कर्ता माना, उसे मेरा कार्य मानना, तब तो दो एक हो गये, भिन्न तो हुआ नहीं।

मुमुक्षु :- शरीर की क्रिया से धर्म होता है।

उत्तर :- शरीर की क्रिया से धर्म होता है, धूल में से होता है ? यह शरीर तो मिट्टी है, यह तो जड़ है, जड़ की पर्याय है, देखो ! राख है, धूल है। थोडे समय बाद राख होगी। स्मशान में इसकी राख होगी या दूसरे की होगी ? यह तो जड़ है। अन्दर में शुभ-अशुभभाव होता है, वह विभाव, विकार है। उससे भिन्न अपने ज्ञान का ज्ञान न हुआ तो राग और पर का कर्ता होता है तो पर और (स्व) दो को एक मानता है। आहा..हा... ! भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! अरे... ! उसने सत्य सुना नहीं, सत्य सुना नहीं, क्या है ? और ऐसे ही जिंदगी निकाल दी। वह तो गलुडिया... कुत्ते का बच्चा, उसे तुम्हारी भाषा में क्या कहते हैं ? पिल्ला। ऐसे जिंदगी निकाल दे, ऐसे (अज्ञानी) अपनी (जिंदगी) निकाल देता है। आहा... ! समझ में आया ? भगवान तो ऐसा कहते हैं, भैया ! करुणा करके कहते हैं, हाँ ! यहाँ भी 'दौलतरामजी', भगवान का कहा हुआ कहते हैं, हाँ ! उनके घर की बात नहीं।

कहते हैं, **'ज्ञानरूपी वर्षा का समूह शांत करता है।'** आहा..हा... ! अरे.. ! मैं तो शांत ज्ञान हूँ न ! ये विकार मेरे से पर है ना ! पर में मीठास, पर में मेरा मानना कहाँ रहा ? ज्ञानी ने अपने स्वभाव से विकार को पर माना तो पर में अपना मानना कहाँ रहा ? मानना रहा नहीं तो उसमें मीठास रही नहीं। मीठास है नहीं, मीठास है नहीं। ज्ञानी को राग में मीठास है नहीं,

अज्ञानी को अन्दर में मीठास हटती नहीं। ओ..हो..हो... ! एक श्लोक में तो बहुत भर दिया है, हाँ ! मौलिक रचना है। सादी हिन्दी भाषा में है। उसका भी विचार नहीं करते। 'छहढाला' बोलते रहो, रोज स्वाध्याय कर लो।

मुमुक्षु :- विचार के लिये समय चाहिए न !

उत्तर :- विचार करने का अवसर नहीं मिलता, ऐसा कहते हैं। अरे.. ! भगवान ! दूसरा अवसर तो बहुत मिलता है। अपने हित के लिये अवसर नहीं मिलता ! आहा.. ! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्यदेह बड़ी मुश्किल से मिला। पहले कहा था न ? पहले कहा था न ? पहले कहा था। '**तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे**' छठ्ठा श्लोक। '**संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।**' '**आपो लख लीजे।**' आपो-आत्मा। विकार और पर से भिन्न (है)। छठ्ठे श्लोक में है। उसमें पाँचवा होगा। गुजराती में पाँच होगा, इसमें छठ्ठा होगा। '**तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास...**' तत्त्व अभ्यास (अर्थात्) विकार तत्त्व पर है, स्वभाव तत्त्व स्व है, जड़ पर है - ऐसा अभ्यास करीजै।

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लखी लीजे,
यह मनुष्य पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले सुमणि ज्यौं उदधि समानी।

समुद्र में एक बड़ा मणि गिर गया, (अब) नहीं मिलेगा। ऐसा मनुष्यपना मिला, सुकुल मिला, जिनवाणी मिली, लेकिन यदि भेदज्ञान नहीं किया तो जायेगा चौरासी के अवतार में। समझ में आया ? आहा..हा... ! सादी भाषा में लिया है। उसका भावार्थ लो।

भावार्थ :- '**भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों काल में जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, होंगे और (वर्तमान में वेदेहक्षेत्र में) हो रहे हैं;...**' वर्तमान में विदेहक्षेत्र में मोक्ष हो रहे हैं। '**वह इस सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है।**' सम्यग्ज्ञान का प्रभाव ज्ञान अर्थात् वाणी नहीं, शास्त्रभाषा नहीं। राग और शरीर से भिन्न अपना ज्ञान (होना), उसका नाम ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान का प्रभाव (है)। '**ऐसा पूर्वाचार्यो ने कहा है।**' सन्तों 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज

आदि दिगम्बर संत हुए, महान संत पूर्व (में हुए), भगवान की आज्ञा के अनुसार सर्व आचार्यो ने ऐसा कहा है।

'जिसप्रकार दावानल (वन में लगी हुई अग्नि) वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देती है,...' जला दे न ? अग्नि किसे न जलाये ? सबको जला देती है। **'उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा संसारी जीवों को जलाती है...'** ओ..हो..हो...! शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में मीठास की इच्छा, मिथ्यात्व की इच्छा जलाती है। मूढ प्रसन्नता मानता है। हर्ष सन्निपात होता है कि नहीं ? क्या कहते हैं ? सन्निपात एक रोग होता है। सन्निपात में रोग होता है कि नहीं ? हँसता है ? हँसता है तो क्या वह सुखी है ? सन्निपात होता है न ? वात, पित्त और कफ। तीन के रोगमें से सन्निपात (होता है)। वहहँसता है तो सुख है ? सुख है ? मूढ को भान नहीं। आसपास लोग होते हैं वे मान लेते हैं कि अब दो घडी, चार घडी में समाप्त हो गया, हो जायेगा। हँसता है तो क्या सुखी है ? हर्ष सन्निपात। ऐसा अज्ञानी को हर्ष सन्निपात है। पुण्य-पाप के फल में और पुण्य में (सुख मानता है) देखो ! आगे कहेंगे। पर में मज़ा है (ऐसा) माननेवाला अज्ञानी सुख मानता है। (सुख) है नहीं। मिथ्याभाव से मान लेता है। कौन ना कहे ? हमें तो मज़ा है। धूल में मज़ा है ?

सुनने की चीज़ तो यह है। अनन्त ज्ञानी पहले कहते आये हैं, देखो ! है कि नहीं ? अपनी चीज़ है ? उसमें से तो निकालते हैं। पूर्वाचार्यो, मुनिनाथ, आचार्यो, मुनिनाथ लिया, उसमें तीर्थंकर लिये। मुनि के नाथ आचार्यो, 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज भगवान जैसा पंचमकाल में तीर्थंकर जैसा काम किया। महा दिगम्बर संत, भगवान के पास गये थे। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दो हजार वर्ष पहले संवत ४९ में भरतक्षेत्र में हुए। दिगम्बर मुनि महा समर्थ, आठ दिन भगवान के पास गये थे। महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा बिराजते हैं उनके पास गये थे। आठ दिन रहे थे। कल लिखाया है। कहाँ गये ? एक भाई थे न ? वह लिखा है न ? 'पोन्नुर हिल'।

❋

पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद का निषेध और तात्पर्य की बात

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।९।।

अन्वयार्थ :- (भाई) हे आत्मार्थी प्राणी ! (पुण्य-फलमांहि) पुण्य के फल में (हरख मत) हर्ष न कर, और (पाप-फलमाहिं) पाप के फल में (विलखौ मत) द्वेष न कर (क्योंकि यह पुण्य और पाप) (पुद्गल परजाय) पुद्गल की पर्यायें हैं। (वे) (उपजि) उत्पन्न होकर (विनसै) नष्ट हो जाती और (फिर) पुनः (थाई) उत्पन्न होती है। (उर) अपने अन्तर में (निश्चय) निश्चय से - वास्तव में (लाख बातकी बात) लाखों बातों का सार (यही) इसी प्रकार (लाओ) ग्रहण करो कि (सकल) पुण्य-पापरूप समस्त (जग-दंदफंद) जन्म-मरण के द्वन्द (राग-द्वेष) रूप विकारी मलिन भाव (तोरि) तोड़कर (नित) सदैव (आतम ध्याओ) अपने आत्मा का ध्यान करो।

भावार्थ :- आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान,दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि पुण्य के फल हैं, उनसे अपने को लाभ है तथा उनके वियोग से अपने को हानि है - ऐसा न माने; क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र हैं, उनमें किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मात्र जीव की भूल है; इसलिये पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए।

यहि किसी भी परपदार्थ को जीव भला या बुरा माने तो उसके प्रति राग या द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसने परपदार्थ-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है, उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त परपदार्थ मुझे सुख-दु:ख के कारण हैं - ऐसा भी माना है; इसलिये वह भूल छोड़कर निज ज्ञानानंदस्वरूप का निर्णय करके स्वोन्मुख ज्ञाता रहना ही सुखी होने का उपाय है।

पुण्य-पाप का बन्ध वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं; उनके उदय में जो संयोग

प्राप्त हों वे भी क्षणिक संयोगरूप से आते-जाते हैं, जितने काल तक वे निकट रहें उतने काल भी वे सुख-दु:ख देने में समर्थ नहीं है।

जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि - शुभाशुभभाव वह संसार है; इसलिये उसकी रुचि छोड़कर, स्वोन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निज आत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १३, शुक्रवार

दि.१८-२-१९६६, गाथा-९, प्रवचन नं.-२९

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। उसकी चौथी ढाल के आठ श्लोक हुए। नववां श्लोक।**'पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद का निषेध और तात्पर्य की बात।'**

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।९।।

देखो ! क्या कहते हैं ? **'हे आत्मार्थी प्राणी !'** 'दौलतरामजी' संबोधन करते हैं कि, **'(पुण्य-फलमांहि) पुण्य के फल में हर्ष न कर,...'** पूर्व का कोई पुण्य बँधा हो, दया, दान, व्रत, भक्ति अथवाकरुणा, कोमलता के शुभभाव से पुण्य बँधा हो, उस पुण्यबंध के बाह्य की अनुकूल सामग्री मिलती है।धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगता (मिलना) ये सब पूर्व के पुण्य का फल है। समझ में आया ? वर्तमान प्रयत्न का फल नहीं। लक्ष्मी मिलना, धन, मकान, दुकान आधि चलना, दुकान चलना, मकान मिलना, कीर्ति मिलनी, शरीर में निरोगता रहना,

अनुकूल परिवार, समाज आदि रहना, अनुकूल भागीदार मिलना। भागीदार को क्या कहते हैं ? हिस्सेदार ये सब पूर्व के पुण्य का फल है। उसमें हर्ष करना, मिथ्यादृष्टि उसमें प्रसन्नता मानते हैं। समझ में आया ? भाई ! यह क्या कहा ? देखो अन्दर ! कहाँ गये ? देखो अन्दर है ?

'पुण्य फल में हर्ष न कर,...' अफना स्वरूप आनन्द, ज्ञानमूर्ति है, उसकी जिसको दृष्टि हुई है – ऐसे सम्यग्ज्ञानी को पूर्व के पुण्य के फल में हर्ष नहीं होता। वह तो पुद्गल की पर्याय है। पुण्यभाव से पूर्व का कर्मबंधन हुआ, उस कर्मबंधन के कारण से उसमें उसके काल में संयोग मिला। लक्ष्मी, मकान, दुकान चले। कोई आदमी ऐसा माने कि,हम व्यवस्थित व्यवस्था करते हैं तो दुकान चलती है, मकान चलता है और नौकरचाकर सब बराबर बुद्धि का बल इस्तमाल करते हैं तो व्यवस्थित काम रहता है। कहते हैं कि, मूढ हो।

मुमुक्षु :– सयाने आदमी...

उत्तर :– सयाना किसे कहना ? समझ में आया ? सयाना... सयाना कहते हैं न ? चतुर। आपकी भाषा में चतुर (कहते हैं)। किसेचतुर कहना ? यहाँ न कहते हैं। पूर्व का पुण्य जो बंधा है...

शास्त्र में दान के अधिकार में एक बात चली है। दान देने की बात चलती है न ? वहाँ 'पद्मनंदि आचार्य' महाराज ने ऐसा अधिकार लिया कि, भैया ! पूर्व के पुण्य के कारण तुझे लक्ष्मी आदि मिली है (तो), जैसे कौआ... कौआ होता है न ? उसका उकडिया... उकडिया को क्या कहते हैं ? भैया ! खुरचन... खुरचन होता है न ? खीचडी, चावल आदि का खुरचन मिलती है तो कौआ अकेला नहीं खाता। समझ में आया ? खीचडी, चावल नीचे (बचता है)। माल–माल खा लेते है बाद में खुरचन होता है, उसे बाहर निकाल देते हैं। मकान के पास पत्थर की कुंडी रखते हैं, उसमें डालते हैं। उसे कौआ आकर खाये। कौआ अकेला नहीं खाता। कौआ दो पाँच–पच्चीस (दूसरे कौए को) बुलाकर खाता है। ऐसे आचार्य – 'पद्मनंदि आचार्य' दिगम्बर मुनि संत जंगल में रहते थे, (उन्हों ने) दान के अधिकार में वर्णन करके ऐसा बताया कि, जैसे कौई अकेला नहीं खाता, वैसे पूर्व में तेरी आत्मशांति जली थी। आत्मा का धर्म जला

था, उसमें तुझे पुण्यभाव हुआ था। समझ में आया ? पूर्व में जो पुण्यभाव हुआ था, उस समय आत्मा की शांति जली थी।

भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल अकषायस्वभाव, उसमें जितना शुभभाव उत्पन्न होता है, उतना आत्मा की धर्म की शांति का नाश होता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? ऐसे पुण्य से तुझे कोई पैसे आदि मिले हो, वह तेरा जला हुआ पुण्य है और उसके फल में यदि अकेला खायेगा और दान में राग मंद करके, दानादि में, धर्म प्रभावना आदि में नहीं ख़र्च करेगा तो कौए में से जायेगा। कौआ अकेला नहीं खाता, सब मिलकर खाते हैं – ऐसे तेरा पूर्व का पुण्य जला हुआ पुण्य है। पुण्य के फल में भी राग मंद नहीं करके, अकेला भोगने में पाप करेगा तो कौएमें से भी (जायेगा)। उसमें क्या न्याय लिया ? कि, पूर्व में तून पुण्य किया था, उसमें तेरे आत्मा की शांति जली थी। समझ में आया ? भाई ! (पुण्य के फल में) बाहर में पाँच-दस लाख मलिते हैं, वह दिखते हैं। भाई ! बाहर में पैसे दिखते हैं, पाँच-दस लाख, पच्चीस लाख (दिखता है) वह पूर्व के पुण्य में शुभभाव था, आत्मशांति से विरुद्ध भाव था। ऐसे शुभभाव से पुण्य बँधा और पुण्य के फल में तुझे यह सामग्री चलती है उसमें हर्ष मानना, मैंने किया, मैंने चलाया, हम हैं तो दुकान, मकान सब चलते हैं। भाई ! क्या होगा ? हर्ष न कर, भगवान ! हर्ष न कर, भाई !

अपना चिदानन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा की शांति में एकाग्र होकर प्रसन्नता प्राप्त करना, उसे छोडकर पूर्व के पुण्य के फल में प्रसन्नता करना, वह तो मिथ्यादृष्टि का भाव है। समझ में आया ? आहा..हा... ! देखो ! हैं तो गृहस्थ में रहनेवाले, परन्तु वस्तु की स्थिति का वर्णन जैसे शास्त्र में करते हैं, वैसे 'छहढाला' में सादी सरल हिन्दी में किया है।

'हे आत्मार्थी प्राणी ! (पुण्य-फलमांहि) पुण्य के फल में...' शरीर में निरोग रहना, वह पूर्व केपुण्य का फल है। पथ्य खाये तो हम शरीर को बराबर निरोग रख सकते हैं, ऐसा कभी है नहीं। समझ में आया ? पथ्य खाये, ऐसा खाये तो हमारा शरीर निरोग रहे। ऐसा है नहीं। शरीर में निरोगता का रहना(वह) पूर्व का पुण्य बँधा हो उसका फलहै। उसमें अभिमान करना कि, हम बराबर पथ्य खाते हैं, शरीर में निरोगता रखने का उपाय करते हैं तो निरोगता रहती है।

(यहाँ) ना कहते हैं। भगवान ! ऐसा मत कर। समझ में आया ? तू हर्ष मत कर, हर्ष मत कर। उसमें हर्ष करने से आत्मा की शांति लुट जाती है, जल जाती है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... पैसा हो और हर्ष न करे, ऐसा कैसे हो सकता है ?

उत्तर :- धूल में पैसा हो तो हर्ष (हो)। चक्रवर्ती को छह खंड का राज्य था। छह खंड का राज्य चक्रवर्ती को था। हमारा नहीं, हमारा नहीं। ये तो पूर्व के पुण्य का फल(है), वह पुण्य जला तो मिला है। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि, मुझे मिला। शास्त्रकार ऐसा कहते हैं कि, तेरा पूर्व पुण्य की लोन लेकर आया था। वह लोन जल गई तो मिला है। क्या (कहा) ? पूर्व की पुण्य की लोन लेकर आया था, अन्दर पडी थी। जैसे किसी के पास पाँच लाख की लोन हो, पाँच लाख बटा दिया और पाँच लाख आया। पाँचसो हजार, पाँच लाख में पाँचसो हजार आते हैं न ? वह कहता है, मेरे पास पाँचसो हजार आये। पाँचसो हजार यानी पाँच लाख आये। शास्त्र कहते हैं कि, तू पूर्व की तेरी पुण्य की लोन लेकर आया था वह लोन जल गई। वह लोन जल गई तो तुझे दिखने में आता है। वकील ! आहा..हा... !

कहते हैं, पूर्व के पुण्य के कारण जो चीज़ मिली, वह पुण्य जलता है और दिखता है, उसमें अभिमान मत करना, हर्ष मत करना, भैया ! वह जड़ की पर्याय है, मिट्टी की, पुद्‍गल की पर्याय है, तुझे किसमें हर्ष करना है ? तेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। आनन्द का अन्तर संतोष प्रकट कर। राग से पृथक कर, अपने आत्मा में शांति का संतोष प्रकट कर। वह तुझे प्रसन्न होने का हेतु है। बाहर की लक्ष्मी में प्रसन्नता मानना, वह तो मूढ जीव का लक्षण है। समझ में आया ?

'पाप के फल में द्वेष न कर...' पूर्व का पाप का फल आया और शरीर में रोग (हुआ)। समझ में आया ? अनुकूल का वियोग, प्रतिकूलता का संयोग (हुआ) बांझपना, कुँवारापना, कुटुम्ब नहीं, कबीला नहीं, लक्ष्मी नहीं। एक महिने में पचास रूपये की भी कमाई नहीं - ऐसी प्रतिकूलता पूर्व के कोई पाप के कारण से हो (तो भी) धर्मी विषाद नहीं करते, खेद नहीं करते। समझ में आया ? खेद तो अपना धर्म न हो, तभी खेद होता है। अरे... ! आज हमारी एकाग्रता शांति न हुई। संकल्प, विकल्प की जाल में हम हमारे आत्मा में एकाग्र नहीं रह सके। उसका

खेद हो, परन्तु प्रतिकूलता में ज्ञानी को खेद होता नहीं। प्रिय में प्रिय पुत्र मर जाये, स्त्री मर जाये। ऐसी चीज़ जो है (वह) पाप के उदय में ऐसा प्रतिकूल संयोग आता है, अनुकूल चला जाता है, उसमें आत्मा को हर्ष, संतोष मानना नहीं। उसमें हर्ष और खेद नहीं करना। समझ में आया ?

'रत्नकरंड श्रावकाचार' में लिया है कि, सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा विचार करते हैं कि, मेरी आत्मसंपदा शुद्ध आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान की शांति मेरे पास है तो मुझे बाहर की संपदा से क्या काम है ? 'संमतभद्राचार्य' ने 'रत्नकरंड श्रावकाचार' बनाया है। 'रत्नकरंड श्रावकाचार'। रत्न का करंडिया (टोकरी) ऐसे भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, उसकी दृष्टि ओर ज्ञान किया है और उसमें श्रावक स्थिरता करते हैं, वही उसका रत्नकरंड है। आहा..हा... ! समझ में आया ? बाहर की संपदा का मुझे क्या काम है ? मेरी शांति (में), मेरे में एकाग्र होता हूँ और मेरी अन्तर में धर्म की - शुद्धि की वृद्धि होती है तो लक्ष्मी से क्या काम है ? और अन्तर की शुद्धि की वृद्धि न हो तो भी लक्ष्मी से मुझे क्या काम है ? समझ में आया ? लेकिन अभी तो लक्ष्मी ही सर्वस्व हो गई (है)। क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु :- आदर्श जीवन।

उत्तर :- जीवन ! अच्छा ! यहाँ ना कहते हैं।

मुमुक्षु :- अंग्रेजी में कहते हैं।

उत्तर :- अंग्रेजी को कब भान था।

मुमुक्षु :- शब्द तो लिखते हैं।

उत्तर :- हाँ, लिखे होते हैं ना, अज्ञानी मूढ तो बहुत लिखते हैं न !

यहाँ तो भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव फरमाते हैं कि, श्रावक सम्यग्दृष्टि आत्मा की शांति का संतोष प्रकट करनेवाले, परचीज़ में संतोष मानते नहीं और प्रतिकूलता में उसे खेद, दुःख होता नहीं। हो, आनेवाली-जानेवाली चीज़ हो (वह) उसके कारण से आती-जाती है - ऐसा सम्यग्दृष्टि-धर्मी को हर्ष और विषाद अंदर में होता नहीं। ऐसे तो नाम धराये, हम श्रावक हैं। नाम धराने से क्या हुआ ? थैली मं चिरायता भरा हो। क्या कहते हैं थैली ?

थैली... थैली। चिरायता भरा और उपर लिखा शक्कर। क्या चिरायता (-चिरायता) मीठा हो जायेगा ? ऐसे (कहे कि), हम श्रावक हैं। श्रावक क्या ? नाम लिखा है तो अन्दर मीठास हुई है या नहीं ? आत्मा विकार और शरीर के संग से भिन्न (है), अपनी दृष्टि और ज्ञान किये बिना जितना श्रावकपना नाम धराते हैं, वह अन्दर में चिरायता भरी है और उपर से नाम शक्कर लिखा है, ऐसी बात है। समझ में आया ?

यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं, देखो ! '**पाप फल में द्वेष न कर...**' अरे... ! मुझे रोग आ गया, मेरा शरीर जीर्ण हो गया, लक्ष्मी चली गई, पुत्र मर गया, स्त्री जलकर मर गई, मकान जलगया, उस समय वीमावाल छूट गया। सब एकसाथ (हुआ)। यहाँ मकान जला, वहाँ वीमावाला चला गया। क्या कहते हैं ? वीमा। वीमा लेते हैं न ? वहाँ वीमावाला भाग जाये, यहाँ दुकान जल जाये, घर पर स्त्री जल जाये, पुत्र मर जाये, पुत्री का (पति मर जाये)। शरीर में रोग (आये)। समझ में आया ? और (पैसे) गाडे हो, पूर्व के पुण्य के कारण से पैसा होता है न ? (पैसे) गाडे हो (उसका) कोयला हो जाये, धूल हो जाये। ऐसा कहते थे। 'दामनगर' के पास 'लाखणका' गाँव है। एक भावसार था। भावसार में काठी... काठी होते हैं न ? हमने तेरह हजार रूपये गाड़े थे। पहले की बात है, हाँ ! ५०-६० वर्ष पहले की बात है। तेरह हजार। वह नहीं कहता था ? भाई ! भावसार। उसने कहा, मैंने गाडे थे। दो-चार वर्ष के बात जब दुष्काल पडा, खोदने लगे तो धूल (निकली)। पूर्व के पुण्य बदले तो गाड़ा हुआ (दन भी) धूल हो जाता है। और पूर्व के पुण्य के कारण धूल पैसा हो जाती है। समझ में आया ? पुण्य-पाप के फल में धर्मी को हर्ष, संतोष होता नहीं। जड़ की पर्याय में हर्ष मानना, तो उसने जड़ में अपने को माना। अपने आत्मा में आनन्द है, उसको तो माना नहीं। समझ में आया ?

पुण्य और पाप '**पुद्गल की पर्यायें हैं।**' जड़ की पर्याय हैं। जिसने अजीव को भिन्न माना उसे अजीव की अनुकूल-प्रतिकूलता की सामग्री में हर्ष-शोक होता नहीं। समझ में आया ? '**पुद्‌गल की पर्याय हैं। उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं...**' 'चलती-फिरती छाया है' - ऐसा आपकी हिन्दी में कहते हैं ना ? चलती फिरती छाया। एक व्यक्ति था, वह कहता था, समझे ? चलती फिरती छाया है। समझ में आया ?

हम 'जयपुर' में थे न ? 'जयपुर' दीवान के बंगले में हम उतरे थे। (एक मुमुक्षु) थे, वे हमारे साथ व्याख्यान में जाते थे। वहाँ एक वृद्ध आदमी, बहुत वृद्ध था, ८०-८५ वर्ष का था, भीख मांगता था, भीख। 'जयपुर' बजार में झवेरी की दुकान (थी)। उसका नाम भी कुछ था। समझे ? उसका पुत्र। झवेरी की दुकान (थी)। हैरान हो गया, भिखारी (होकर) भीख मांगता था। ८०-८५ वर्ष की उम्र थी। पूर्व का पुण्य फिरे (तो) पीछे पाई भी न रहे। तेरी व्यवस्था और तेरी होशियारी से रहता नहीं। उसमें कितनी होशियारी काम करती है ? चतुराई... चतुराई ! भाई ! वह पुद्गल की पर्याय है, चलती-फिरती छाया है। आये और जाये। धूल आती है न ? धूप। छाया आती है और जाती है। वह तो पौद्गलिक पर्याय आती और जाती है, तेरे आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध नहीं। धर्मी जीव को पुण्य-पाप के फल में हर्ष-विषाद होता नहीं। हर्ष-विषाद करे तो उसके आत्मा की शांति जलती है।

'नष्ट हो जाती है और पुन: उत्पन्न होती है।' एक भव में ऐसा बहुत हो जाता है। क्षण में गरीब हो, पाँच वर्ष तवंगर हो जाये, फिर से दस वर्ष भिखारी हो जाये। ये क्या ? समझ में आया ? वह तो पूर्व की पर्याय का फल है। आत्मा में वह है नहीं। जिसको सम्यग्दर्शन और आत्मा की प्रतीति हुई ऐसे धर्मीजीव को पुद्गल की पर्याय में,चलती-फिरती छाया में हर्ष-शोक होता नहीं। समझ में आया ?

'अपने अन्तर में निश्चय से - वास्तव में...' अब क्या कहते हैं ? देखो ! अरे... ! भाई ! **'अपने अन्तर में निश्चय से-वास्तव में (लाख बात की बात)...'** देखो ! **'लाखों बातों का सार इसी प्रकार ग्रहण करो...'** **'पुण्य-पापरूप समस्त जन्म-मरण के द्वन्द्वरूप विकारी मलिन भाव...'** देखो ! आत्मा में शुभ और अशुभराग होता है, वह विकारी भाव जगत द्वंद-फंद है। आहा..हा... ! क्या (कहा) ? शुभ और अशुभभाव होता हैं, वह जगत का द्वंद-फंद है। उससे तो पुद्गल बँधता है और उससे बाह्य की सामग्री का मिलना अथवा बिछुडना होता है।

'पुण्य-पापरूप समस्त जन्म-मरण के द्वन्द्व (राग-द्वेष) रूप विकारी मलिन भाव तोड़कर...' अरे.. ! आत्मा ! देखो ! संबोधन करते हैं। शुभ-अशुभभाव को छोड़कर शुभ-

अशुभभाव का फल बंध, उसका फल संयोग, तीनों को दृष्टि में छोड दे। समझ में आया ? शुभ-अशुभभाव, उसका फल बंध, उसका फल संयोग, सुख-दुःख संयोग छह प्रकार हुए। शुभ-अशुभभाव-१। शुभ-अशुभभाव का बंध पुण्य-पाप-२ और पुण्य-पाप का फल अनुकूल-प्रतिकुल संयोग-३। (इन) छह चीज से तेरी रुचि हटा दे। आहा..! समझ में आया ? तुजे आत्मदर्शन और आत्मशांति चाहिए तो, अनन्तकाल से नहीं मिली ऐसी स्वनिधि, उसको पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, पुण्य-पाप का बन्ध का भाव का भी हर्ष-शोक छोड़कर और उसके फल में हर्ष-शोक छोड़कर।

'**तोड़कर सदैव अपने आत्मा का ध्यान करो।**' लो ! देखो ! गृहस्थ को कहते हैं ? गृहस्थ को कहते हैं। अभी तो सम्यक्चारित्र, व्रतादि होते हैं। पीछे लेंगे। परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ, बाद में सम्यग्ज्ञान हुआ, बाद में उसे व्रत का परिणाम होता है। सम्यक्चारित्र, व्यवहारचारित्र। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना व्यवहारचारित्र-फारित्र, अणुव्रत और व्रत लेते हैं, वे सब एक बिना के शून्य हैं। समझ में आया ?

कहते हैं कि - हे जीव !

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जगदंद-फंद, नित आतम ध्याओ।

भगवान आत्मा पुण्य-पाप का विकल्प से रहित, मेरी चीज शुद्ध आनन्द है - ऐसी दृष्टि कर, उसका ध्यान करो। यही कर्तव्य मनुष्यपने में करने लायक है। नित्य ध्याना सदैव ? फिर खाने-पीने का काम कब करना ? इसमें तो यह कहते हैं, देखो ! '**(नित) सदैव अपने आत्मा का ध्यान करो।**' भाई ! फिर कमाना कब ? दुकान कब चलानी ? वह तो पहले कहा - काम सकते नहीं, खो सकते नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य-पाप से होता है। कहो, भाई ! क्या है ? बराबर ध्यान रखते हैं। (एक भाई) कहते थे, ध्यान रखा इसलिये दुकान चली। धूल में भी चली नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- सामने से आते हैं।

उत्तर :- क्या सामने आते हैं ? बैठे-बैठे आते हैं। खाना क्या ? आत्मा क्या खा सकता है ? उसकी तो यहाँ ना कहते हैं। वह तो जड़ की क्रिया है। पैसा आना जड़ का फल है। समझ में आया ? वह क्या कर सकता है ? एक रजकण को भी हिला नहीं सकता। परमाणु जड़ है, अजीव है, यह आँख जड़ है। आँख की पलक को ऐसे करना वह आत्मा का अधिकार है ही नहीं। आहा..हा... ! ऐसे-ऐसे होती है या नहीं ? वह आत्मा से नहीं (होती) आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, सो इन्द्र की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा भगवान की आवाज आती थी, अरे... ! आत्मा ! तेरे अलावा एक रजकण की भी क्रिया तुम कर सकते नहीं। समझ में आया ? वह आता है न ? भाई !'द्रव्यसंग्रह' में टीका में नहीं आता ? हाथ की क्रिया तुम नहीं कर सकते। राग कर सकता है, द्वेष कर सकता है, विकार कर सकता है। लेकिन क्या हस्त आदि की क्रिया तुम कर सकते हो ? यह तो जड़ है। जड़ की पर्याय (पर) तेरा अधिकार है कि तुम बना सके ? मूढ की मान्यता ऐसी है कि, मैं जड़ की बनाऊ, शरीर की बनाऊ, दुकान की बनाऊ, लक्ष्मी की बनाऊ। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- करना क्या ?

उत्तर :- करना, आत्मा की समझ करके एकाग्रता करना वह करना। क्या करना है ? मर जाना है क्षण में ? जाओ.. ! दुर्गति चौरासी के अवतार में।

कहते हैं, लाख बात की बात जग द्वंद-फंद। पुण्य-पाप का भाव होता है, उसकी भी रुचि छोड़कर। अपना बंधन ठीक है, पुण्य हो तो ठीक बंधन पडेगा। छोड दे रुचि ! और पाप हो तो अशुभ बंध पडेगा। उसमें है न ? देखो ! है न ? देखो ! पुण्य... पुण्य। देखो ! उसमें लिखा है न ? पुण्य में वह आराम से सोता है। आरामकुर्सी जैसा

किया है। सोफा। देखो ! क्या कहते हैं ? ऐसी भाषा हमें नहीं आती। आरामकुर्सी लो न ! जैसे आराम (मिल रहा है)। ऐसे बैठा है, स्त्री ऐसे बैठी है। कुर्सी पडी है, पुत्र भी ऐसे होशियार। ये सब पुण्य का फल। उपर पंखा घूम रहा है। देखो ! दिखाव ठीक किया है।

(यहाँ) पाप (दिखाया है)। एक आदमी है। बेचारे ने कपडा ऐसा रखा है। एक पुत्र ऐसे है,एक पुत्र वैसे है, उसकी पत्नी खाना बना रही है, मश्किल से बना रही है। कपडे टंग रहे हैं, एक कुर्सी... क्या कहते हैं ? छाता। छाता भी टुटा हुआ है। है या नहीं ? छाता ठीक नहीं है। टुटा हुआ छाता है। तार टुट गये हैं। पूर्व के पाप के कारण ऐसी अवस्था बने, उसमें आत्मा का अधिकार है नहीं। हम बराबर विचिक्षण है और व्यवस्था करनेवाले हैं तो ऐसी व्यवस्था रहती है। भगवान कहते हैं कि, मूढ है, भैया ! एक पलक भी घूमाने का तेरा अधिकार नहीं है। भाई ! तूने जड़ को, चैतन्य को भिन्न जाना नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

ये साँस चलती है वह भी आत्मा का अधिकार नहीं। ये साँस जड़ की क्रिया है। अधिकार ही नहीं, वर्तमान अधिकार कहाँ से लाये ? वह तो परमाणु की क्रिया है, जड़ का – रजकण का स्कंध है। अन्दर में जब यहाँ से साँस निकल जायेगी, नाभि से (निकलेगी)। किसी को ख्याल आयेगा कि नाभि से साँस हट गई है। तेरा अधिकार हो तो नीचे उतार दे न ! साँस की क्रिया– उपर जाना, नीचे जाना जड़ के कारण से है।

मुमुक्षु :– पूरी जिंदगी के पहले हिस्से में अभ्यास किया हो...

उत्तर :– वर्तमान में भी होता नहीं। मूढ मुफ्त में मानता है, भगवान तो ऐसा कहते हैं।

पाँछ इन्द्रिय, मन–वचन–काया, साँस। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि, एक समयमात्र भी

जड़ की दस प्राण की क्रिया तेरे अधिकार की बात है नहीं। दस प्राण है न ? पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया जड़, साँस और आयुष्य। उसमें साँस आती हैं न ? दस प्राण में साँस आती है या नहीं ? पाँच इन्द्रियां, मन-वचन-काया, साँस और आयुष्य। ये साँस जड़ है। आहा..हा... ! दुनिया में नहीं कहते हैं ? साँस तेरा रिश्तेदार नहीं, ऐसा नहीं कहते ? आपमें कहते हैं या नहीं ? साँस भी साथ नहीं देती हैं। साँस भी साथ नहीं देती। हमारे काठियावाड में कहते हैं, साँस तेरी रिश्तेदार नहीं। ये साँस तो जड़ है। जड़ की क्रिया होना जड़ से होती है, तेरे से नहीं। जब रुक जायेगी तुम नहीं कर सकते तो अभी चलती है तो तेरे से नहीं (चलती)। आहा..हा... ! कभी सुना नहीं।

'जड़ और चैतन्य दोनों प्रकट स्वभाव भिन्न, जड़ और चैतन्य दोनों प्रकट स्वभाव भिन्न।' दोनों के प्रकट स्वभाव भिन्न हैं, भाई ! सम्यग्दृष्टि जीव जड़ की क्रिया का अभिमान नहीं करते कि, हमसे होता है। ऐसा नहीं करते।

मुमुक्षु :- करे लेकिन उसका आभमान नहीं करते।

उत्तर :- कर ही नहीं सकते। करे क्या ? अनासक्ति कहते हैं न ? अनासक्ति योग)से करो)। झूठ बात है। कर सकते नहीं, फिर अनासक्ति कहाँ से लाया ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ना, ना। यहाँ ऐसी बात है ही नहीं। यहाँ तो भगवान कहते हैं, भैया ! तेरा ज्ञानस्वरूप है। उसे ज्ञाता होकर जान। पर की क्रिया होती है वह तेरे अधिकार की बात नहीं। जड़ की होती है तो हो, न होती हो तो न हो। तेरे अधिकार की बात है नहीं। तेरे अधिकार की बात हो तो पक्षपात होता है, (तब) क्यों कर सकता नहीं ? भाषा भी एं.. ए.. हो जाती है। समझ में आया ?

कहते हैं, सदैव आत्मा का ध्यान करो। दृष्टि आत्मा पर लगाओ। भगवान शाश्वत चैतन्यमूर्ति है। समझ में आया ? तेरी चीज़ तो शाश्वत सच्चिदानन्द मूर्ति है। ध्रुव सत् है, ध्रुव सत् है। चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि लगाओ, उसका ध्यान करो। यही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है। बीच में रागदि आओ, शरीरादि की क्रिया हो, उसका सम्यग्दृष्टि कर्ता होता नहीं। बहुत सूक्ष्म

बात, भाई ! कहो, समझ में आया ? (इनके) जैसे होशियार आदमी हो, वह कर सकते होंगे या नहीं ? (नहीं कर सकते हो तो) आपको वहाँ भाई क्यों बुलाते हैं ? आओ... आओ.. भाई ! (ऐसा कहेत हैं)।

मुमुक्षु :- हिंमतवाले आदमी का काम है।

उत्तर :- हिंमतवाला, धूल में हिंमत रखे। वीर्य उसके पास रहा, पर में कहाँ जाता है ? शरीर की क्रिया में वीर्य काम नहीं करता। शरीर की क्रिया में आत्मा का वीर्य काम नहीं करता तो पर में क्या कर सकता है ? तत्त्व की खबर नहीं। सत्य तत्त्व क्या है और कैसे होता है उसका ज्ञान नहीं और ज्ञान बीना सब (झूठ है)। ज्ञान नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं न ? सच्चा ज्ञानवंत हो वह जड़ की क्रिया अपने से होती है, ऐसा मानते नहीं। समझ में आया ? 'अपने आत्मा का ध्यान करो।' समझ में आया ?

भावार्थ :- 'आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान,...' तीनों ने अंत में 'न' आया। **'धन, मकान, दुकान...'** घर का मकान करते हैं न ? होशियार आदमी दो लाख, पाँच लाख का बड़ा (मकान बनाये)। यहाँ खिडकी, यहाँ दरवाजा, ऐसा... किसी का किया हुआ मकान हो तो पसन्द नहीं पडता। खुद का नया (बनाना हो तो) अपने को जैसे ठीक पडे वैसे खिडकी, दरवाजे (बनाता है)। (फिर कहता है) हमने मकान बनाया है। हम कूर्सी लगाकर आठ घण्टे सामने बैठे थे। कारीगर को कहते थे ऐसा करो, ऐसा करो। कौन करे ? धूल करे। भाई ! धूल करे। धूल से होता है, तेरे से नहीं।

'धन, मकान, दुकान, कीर्ति...' हमारे पिताजी की इतनी कीर्ति नहीं थी, हमने अपनी महेनत से लक्ष्मी कमाई है और मेहनत से कीर्ति मिली है। मूढ है। तेरी मेहनत कहाँ से आयी ? वह तो पूर्व का पुण्य है, उससे कीर्ति आई और कीर्ति तो जड़ की पर्याय है। आवाज होती है कि, ये आदमी ऐसा है। वह तो जड़ की आवाज है। तेरे में तेरी कीर्ति कहाँ से घुस गई ? समझ में आया ? भाई ! आहा..हा...! कीर्ति हो। बापनी आरती उतारीने दहाडो सारो करे तो कीर्ति अच्छी हो। (बाप की आरती उतारकर दहाड़ा अच्छा करें तो कीर्ति अच्छी हो)

मुमुक्षु :- कीर्ति बढ़ी गई...

उत्तर :- बढे तो वह तो पूर्व का पुण्य हो तो बढे। नहीं तो ऐसा भी कहे, पुत्र की शादी नहीं हुई इसलिये करते हैं, ऐसा बोले। ये सब आपने सुना नहीं ? लडका कुँवारा है, बाप के नाम से पाँच हजार का खर्च करता है, बाद में लडकी लेनी है – ऐसा भी बोलते हैं। भाई ! ये सब सुना है या नहीं ? (ये भाई) तो संसार में बराबर गहराई में ऊतरे हैं न ! आहा..हा...! हमने तो देखा है, हम उसमें घुसे नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं, '**निरोगी शरीरादि पुण्य के फल हैं,...**' समझ में आया ? आँख रहना वह पुण्य का फल है, ऐसा कहते हैं। (ये भाई) आँख गँवाकर आये है न ? नयी डाली या नहीं ? 'अहमदाबाद' गये थे। मोतिया उतारने थे तब उपर की कणि अन्दर घूस गई, डॉक्टर से घुस गई, हाँ ! डॉक्टर से घुस गई ? नहीं ? वह घुसने की थी घुस गई, वह जड़ की पर्याय है, कोई से घुसती नहीं। डॉक्टर ने कहा, निकाल दो, नहीं तो दूसरी आँख चली जायेगी। निकाल देना पडे, क्या करे ? वह कहाँ अपना अधिकार है ? जड़ ऊपर, कोई एक रजकण ऊपर भी अपना अधिकार है नहीं।

'**उनसे अपने को लाभ है तथा उनके वियोग से अपने को हानि है - ऐसा न माने;...**' देखो ! धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि का वियोग हो जाये। दुकान का वियोग, दुकान टूट जाये, लक्ष्मी चली जाये, कीर्ति चली जाये, रोग आ जाये तो उससे हानि है, ऐसा धर्मी मानते नहीं। आहा..हा...! कहो, समझ में आया ? ये तो कितनी मन्नत करते हैं। महावीरजी, पद्मपुरी, पैसा मिले, लड़का मिले। मूढ है, वह जैन है ही नहीं।

जैन जिसकी दृष्टि होती है, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि, तेरा आत्मा तेरी सम्पदा से तेरे पास है। तेरी सम्पदा बाहर में है नहीं। ऐसी दृष्टि जब तक न करे और बाहर की लक्ष्मी भगवान को मानने से मिलती है, ऐसे मिलती है केसरियाजी में केसर चडाने से मिलता है, बालक का रक्षण होता है – मूढ है, मिथ्यादृष्टि है (उसे) जैन की खबर नहीं। जैन परमेश्वर आत्मा और जड़ को जुदा कहते हैं। और जुदा की पर्याय अपने से मानना उसका नाम ही मिथ्यात्व है।

'**क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र है,...**' देखो ! अपने आत्मा से परपदार्थ तो

बिलकुल भिन्न हैं, जानने लायक हैं। देखो !'**ज्ञेयमात्र हैं,...**' जानने लायक हैं। मैं रखूँ, छोड दूँ या प्रतिकूलता में खेद मानना ऐसा चीज़ में है नहीं। उस चीज़ में ऐसा है ? क्या प्रतिकूलता उस चीज़ में है ? रजिस्टर किया है ? यह अनुकूल है ऐसी उसमें छाप पडी है ? उसमें छाप है-ज्ञेय की। समझ में आया ? यह जानने लायक है, ऐसा जानते हैं। धर्मी जीव उसे कहते हैं, अनुकूल-प्रतिकूल जड़ की पर्याय में जानने लायक जानते हैं। मुझे अनुकूल है और प्रतिकूल है, ऐसा मानते नहीं। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव पर की अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने में ऐसा मानते ही नहीं। वैसे कहना कि, हम जैनी हैं, धर्मी है और अनुकूल-प्रतिकूल में खेद.. खेद.. खेद (करता है)। पसीना उतर जाये। हमारी इतनी इज्जत गई, हमारा इतना गया, समय बदल गया, समय बदले, तब सब बदल जाता हैं। हमारा समय ! तेरा समय क्या ? तेरा समय तो तेरे आत्मा के पास है। समझ में आया ? भाई !

'**किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मात्र जीवकी भूल है;...**' देखो ! बाहर की प्रतिकूलता में दु:ख मानना, अनुकूलता में सुख मानना - वह तो ज्ञेय पदार्थ है, उसमें अनुकूल-प्रतिकूल है ही कहाँ ? सातवीं नरक के नारकी में, रौ-रौव नरक में समकिती नारकी पडा है, वहाँ भी आत्मा में आनन्द मानते हैं। समझ में आया ? रौ-रौव नरक में नारकी पडे हैं। सातवीं नरक में समकिती हैं। (फिर भी) दु:ख नहीं मानते। जितना थोड़ा दु:ख है वह अस्थिरता है, अस्थिरता मेरी चीज़ नहीं, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा सातवीं नरक में रहे हुए धर्मी-सम्यग्दृष्टि अपने को ऐसा मानते हैं। कहो, समझ में आया ?

'**इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मात्र जीव की भूल है;...**' यह चीज़ इष्ट है, यह चीज़ अनिष्ट है, उसमें इष्ट-अनिष्ट तो कोई है ही नहीं। विष्टा अनिष्ट मानते हैं, भूंड इष्ट मानकर खा जाता है। किसको इष्ट-अनिष्ट मानना ? वमन करते हैं, कुत्ता वमन को खा जाता है, किसको इष्ट-अनिष्ट मानना ? इष्ट-अनिष्ट कोई चीज़ है ही नहीं। आत्मा जाननेवाला है, जगत को जानना है (कि), ऐसा हुआ। मेरे में हुआ ऐसा धर्मी मानते नहीं। आहा..हा... ! धर्मी नाम धरानेवाले, धर्मी नाम धराये और (बोले कि) हमें ऐसा हुआ है। मूढ है, कहते हैं, तुझे धर्म की खबर नहीं। '**इसलिये पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए।**'

'**यदि किसी भी परपदार्थ को जीव भला या बुरा माने तो उसके प्रति राग या द्वेष,**

ममत्व हुए बिना नहीं रहता।' क्या सिद्धांत है ? आत्मा अपने अलावा, आत्मा का स्वभाव शुद्ध है वही भला (है), और विकार है वही बुरा है। बस ! इतना। क्या कहा ? अपना आनन्द, ज्ञानस्वभाव है वह अपना भला है और विकार भाव है वह अनिष्ट अर्थात् बुरा है। उसके अलावा दूसरी चीज़ को बुरी-भली माने तो उसके प्रति राग-द्वेष, ममता अर्थात् मिथ्यादृष्टि हुए बिना रहती नहीं। अरे.. ! मुझे अच्छी (परिस्थिति) हो तो ठीक, प्रतिकूलता हो तो ठीक नहीं। ऐसे माना (वह मूढ है)।

'जिसने परपदार्थ - परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को वास्तव में हितकर...' देखो ! परपदार्थकी व्याख्या क्या की ? परद्रव्य। आत्मा के अलावा कर्म, शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब सब परद्रव्य (है)। परक्षेत्र-इस आत्मा के क्षेत्र के अलावा सब परक्षेत्र है। काल-अपनी पर्याय के अलावा (सब) पर। भाव-अपने गुण के अलावा पर का भाव। उन्हें **'वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है, उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है।'** एक पदार्थ में प्रीति की और ठीक है - ऐसा माना, (उसे) सारे जगत की ठीक है - ऐसा अनन्तानुबंधी का मान हुआ। समझ में आया ? क्या कहा ?

एक (पदार्थ) ठीक है तो सारी दुनिया उसकी प्रतीति में ठीक है, अनंतानुबंधी का मान आया। आहा..हा... ! यह ठीक नहीं - (ऐसा माना) तो अनन्त चीज़ें ठीक नहीं, (वह) अनन्तानुबंधी का द्वेष आया। समझ में आया ? अनन्तानुबंधी, समझे ? अनन्त संसार का कारण। अनन्त संसार का कारण, एक परपदार्थ मुझे ठीक (है), तो ऐसे सब अनुकूल अनन्त (पदार्थ) ठीक (है)। उसे अनन्त का मान आया, मान नाम राग आया। समझ में आया ? एक चीज़ ठीक नहीं ऐसी अरुचि हुई (तो) सारी दुनिया ठीक नहीं, ऐसा द्वेष आया। अनन्तानुबंधी का क्रोध। समझ में आया ? है ? पुस्तक रखा है या नहीं ? भाई ! रखा है ? क्या लिखा है ? देखो ?

'परपदार्थ - परद्रव्य-परक्षेत्र...' ऐसे लेना। परकाल, परभाव को **'वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है...'** कोई भी एक चीज़ को हितकर माने या दूसरी चीज़ को अहितकर माने, **'उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है...'** सब चीज राग-द्वेष करने

योग्य है, ऐसा माना है। जानने योग्य है ऐसा माना नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! बडी सूक्ष्म बात है। संसार में ऐसा चलता होगा क्या ? यह तो किसे कहते हैं ? संसारी प्राणी को कहते हैं कि, भैया ! तुझे हित करना हो तो जगत की कोई भी चीज़ में यह ठीक और अठीक, ऐसी मान्यता छोड दे। तेरा आत्मा ही ठीक है, आनन्दस्वरूप ज्ञानानन्द है और उसमें जितना विकार उत्पन्न होता है, पुण्य-पाप दोनों जगत फन्द है, द्वंद्व है, वह अनिष्ट है। समझ में आया ? दूसरी कोई चीज़ अनिष्ट है ही नहीं। दूसरी कोई इष्ट नहीं और दूसरी कोई अनिष्ट नहीं। तेरा आनन्द शुद्धस्वभाव तुझे इष्ट नाम प्रिय, भला है और तेरे में पुण्य-पाप का भाव होता है, वह अनिष्ट और दुःखदायक है। समझ में आया ? दूसरी कोई चीज़ तो ज्ञेय है, वह कहाँ दुःख करती है ? वह पहले आ गया है। आस्रव दुःख का कारण है। नहीं आया ? पहले आया था न ? अजीवतत्त्व के बाद। आया था न ? आस्रव का नहीं आया था ? किसमें आया था ? कौन-सी गाथा ? पाँचवी है, देखो ! पाँचवी... पाँचवी (गाथा)।

'रागादि प्रकट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।' देखो ! दूसरी ढाल है न ? दूसरी ढाल, पाँचवी गाथा (है)। **'तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;...'** यह अजीव की भूल (है)। शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ, शरीर का नाश हुआ तो मेरा नाश हुआ - वह अजीव की भूल (है)। मिथ्यादृष्टि अजीव को अपना मानता है। **'रागादि प्रकट ये दुःख देन'** है ? उसमें ३४ पन्ना है, पाँचवी गाथा है। रागादि अर्थात् शुभाशुभभाव **'प्रकट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।'** है या नहीं ? यह बात पहले आ गई है। रागादि, देखो अन्दर लिखा है न ? क्या कहते हैं ? तिजोरी रखी है।

मुमुक्षु :- बाहर में सुख है...

उत्तर :- ऐसा मूढ मानता है, ऐसा कहते हैं। तिजोरीमें से पैसा निकालने के लिये हाथ डालता है। है राग, है दुःख देन, उसे सुख चैन मानता है। राग है, दुःख देन। लिखा है ? **'रागादि प्रकट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।'** राग दुःख का कारण है, पुण्य-पाप दोनों, हाँ ! उसको सुख का कारण मानना मिथ्यादृष्टि का लक्षण आस्रव की भूल में है। यह आस्रव की भूल है। वह आस्रव को आस्रव मानता नहीं। समझ में आया ? थोड़े शब्द में बहुत

भर दिया है। गागर में सागर भर दिया है लेकिन विचार नहीं। ऐसे ही तोते की भाँति रटन किये जाये। अर्थ विचारे नहीं, उसका भाव विचारे नहीं।

कहते हैं, **'राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त परपदार्थ मुझे सुख-दुःख के कारण हैं ऐसा भी माना है।'** दो बात कही। जिसने अपने आत्मा के अलावा दूसरे में ठीक-अठीक माना तो अनन्त पदार्थ राग-द्वेष का कारण माना और सुख-दुःख का कारण माना। एक को सुख का कारण माना या एक को दुःख का कारण माना (तो) समस्त पदार्थों को सुख-दुःख का कारण माना। सुख-दुःख का कारण परपदार्थ है नहीं। उसका विकारी भाव ही दुःख का कारण है और अपना आत्मा ही आनन्द का, सुख का कारण है, दूसरी कोई बाह्य की चीज़ सुख-दुःख का कारण है नहीं। समझ में आया ? विचार नहीं (करते)।

'इसलिये यह भूल छोड़कर...' यह भूल छोड़कर **'निज ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय करके...'** देखो ! शुभाशुभभाव - आस्रव ही दुःखरूप है। परपदार्थ दुःखरूप है ही नहीं। परपदार्थ को दुःखरूप मानना वह तो महाराग-द्वेष तीव्र हुआ और पर सुख-दुःख का कारण है, प्रतिकूलता रोग आया तो मुझे दुःख हुआ वह मूढ है। सब प्रतिकूलता को द्वेष का कारण माना। अनन्तानुबंधी का द्वेष का सेवन उसे हुआ। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह तो भाई ! वीतराग हो तब हो, ऐसा कोई माने। यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन में सीखते हैं।

भगवान ! तेरी दृष्टि यदि आत्मा पर हो, धर्मी की दृष्टि तुझे हो तो धर्मी को बाह्य चीज़ सुख-दुःख का कारण है, ऐसी दृष्टि है नहीं। मान्यता की बात है न ? छोडने की बात तो बाद में आयेगी। अस्थिरता छूटे और स्थिरता हो जाये उसे तो चारित्र कहते हैं। यह तो मात्र मान्यता में विपरीतता है, उसे छुडाने की बात करते हैं।

मरते समय शरीर अनुकूल न रहे। आहा..हा... ! अरे.. ! ये साँस ठीक नहीं चलती, ठीक चले तो मैं भगवान का स्मरण कर सकूं या आत्मा का ध्यान कर सकूं। शरीर विघ्न करता है ? एक बार दृष्टान्त नहीं दिया था ? नरक में नारकी को जम लोग हैं न ? वे बांधते हैं। ऐसा बांधे (जैसे) गठडी बांधे। गठडी बांधकर अन्दर अग्नि का लोहे का सलिया डाल दे। नाक बंध। बाद में नीचे से जलाये, अग्नि जलाये उं..ह। नहीं कर सकता। समझ में आया ? ऐसी स्थिति,

प्रतिकुल संयोग है, वह आत्मा को छूटा नहीं। आहा.. ! भाई ! क्या कहा ? कितना प्रतिकूल संयोग ? एक तो नरक में जन्म लेना, शरीर ऐसा, रोग, उपर से परमाधामी आकर गठडी बाँधकर उसमें लोहे का सरिया डाल दे। उपर से लोहे का दस-दस मन का घन (गिराते हैं)। सुनो ! वह प्रतिकूलता है ही नहीं।

मुमुक्षु :- पाप का फल है।

उत्तर :- पाप के फल में प्रतिकूल संयोग हुआ परन्तु आत्मा में वह संयोग कहाँ छूआ है ? सूक्ष्म बात है। तत्त्व की बात उसने सुनी नहीं। उस समय भी आत्मा ज्ञानानन्द होकर अन्दर सम्यग्दर्शन प्रकट कर लेता है। क्या (कहा) ? इतना प्रतिकूल संयोग ! वह तो बाहर है, आत्मा में अन्दर कहाँ घूस गया है ? आत्मा तो अन्दर भिन्न है। ऐसा भगवान आत्मा पूर्व में कुछ सुना हो, मुनि ने आत्मा सुनाया हो कि, आत्मा तो आनन्द है। राजा-महाराजा कोई महापाप करके, सम्यग्दर्शन नहीं किया और यहाँ जन्म ले लिया। ऐसे गठडी बाँधते हैं और(जलाते हैं)। अरे... ! ये क्या ? क्या है ये ? ऐसी चीज़ सदा रहेगी ? इससे छूटने की कोई चीज़ है या नहीं ? ऐसा अन्दर विचार करके क्षण में सम्यग्दर्शन पा लेते हैं। समझ में आया ? वह चीज़ प्रतिकूल नहीं मानते। वह तो छूटी भी नहीं। चाहे वह संयोग में हों। वह तो संयोग है। आत्मा अरूपी भगवान ज्ञानानन्द तो उससे भिन्न है। संयोगी की इतनी स्थिति में भी आत्मा उसमें दब गया है, ऐसा है नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... हो तो मानता फिर जाये...

उत्तर :- यहाँ क्या कहते हैं ? नहीं होने देना तुम्हारे साथ में है ? भाई ! यह क्या कहे हैं ? दृष्टान्त पहले एकबार दिया था। उसके कारण से होता है, तुम्हारे कारण टिकता है ? क्या करना है तुमको ? ऐसा कहते हैं, भाई ! वह तो जो होता है, वह होता है। वह तो जड़ की अवस्था है। आत्मा को दु:ख का कारण बिलकुल नहीं। (यहाँ) क्या कहते हैं ? लेकिन किया नहीं, उसमें तुझे खेद होता है। वह नहीं होता है इसलिये खेद होता है, वह मूढता है, उसे कभी करना है। पैर चलाने हैं, दुकान बराबर करनी है, ऐसा करना है। भाई ! शरीर अच्छा हो तो ऐसा करना है, इनके जैसा चले, ऐसे पुत्र होना... यह सब भ्रम है। कौन कर सका है ? पर का कौन

कर सकता है ? शरीर की प्रतिकूलता क्या आत्मा को दु:ख का कारण है ? भगवान तो कहते हैं कि, तेरा अभिप्राय-मेरे में दु:ख हुआ है, यह तेरा अभिप्राय दु:ख का कारण है। पर चीज़ दु:ख का कारण है नहीं। समझ में आया ? चिल्लाता है, पैर चलते नहीं। पैर चलता है न ? आत्मा नहीं चलता ? पहले कहा न ? अन्दर परिणमन नहीं है ? वस्तु भिन्न है तो भिन्न की दृष्टि करो। भिन्न की दृष्टि में प्रतिकूल संयोग रोकते हैं ? भिन्न की दृष्टि करने से प्रतिकूल संयोग रोकते हैं ? समझना पडेगा या नहीं ? चाहे जितना प्रतिकूल संयोग शरीर को हुआ, वह तो रजकण में हुआ है; आत्मा तो अन्दर से भिन्न है, भगवान आत्मा भिन्न है। उस समय भी अंतर्मुख होकर, बहिर्मुख का लक्ष्य छोड़कर मैं तो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, मैं ज्ञायक हूँ। जानने... जानने. जानने... जाननेवाला (हूँ) उसमें दृष्टि लगा दी। सम्यग्दर्शन हो जाये। ऐसी प्रतिकूलता में सम्यग्दर्शन (हो जाये)। आत्मा में प्रतिकूलता है कहाँ ? कठिन बात, भाई ! समझ में आया ?

अनुकूल संयोग। समवसरण में अनन्त बार गया। राजकुमार आदि भगवान को सुनने गये। क्या हुआ उसमें ? अनुकूलता उसमें क्या ? बाह्य चीज़ में क्या है ? (लेकिन) माना कि, हमें अनुकूल है। बस ! बादशाह है। मूढ है। बादशाही तो तेरे अन्दर में पडी है। ज्ञानानन्द की संभाल नहीं की तो समवसरण में भी मिथ्यादृष्टि रहा। समझ में आया ? आहा..! और ज्ञानानन्द की संभाल की, तो ऐसी गठडी बाँधी उसमें सम्यग्दर्शन पा लिया, जन्म-मरण का नाश कर दिया। आहा..हा...! परद्रव्य के साथ संयोग-वियोग मानना, वह तो उसकी कल्पना है। इसलिये कहते हैं, ऐसा छोड़कर '**ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय करके स्वोन्मुख ज्ञाता रहना ही सुखी होने का उपाय है।**' विशेष कहेंगे, लो !

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १४, शनिवार

दि.१९-२-१९६६, गाथा-९, प्रवचन नं.-३०

'छहढाला', उसमें चौथी ढाल चलती है, उसका ९वाँ श्लोक। श्लोक चला है, थोड़ा भावार्थ बाकी है। श्लोक फिर से (लेते हैं)।

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।९।।

क्या कहते हैं ? देखो ! अन्तिम दो शब्द हैं न ? '**पुण्य-पाप का बंध वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं;...**' क्या कहते हैं ? आत्मा है, आत्मा; वह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति (है)। उसकी दृष्टि (करने से) और उसमें स्थिर होने से कभी बन्ध होता नहीं। आत्मा ज्ञानानन्द पवित्र स्वरूप (है), उसकी अन्तर में श्रद्धा और उसका ज्ञान (करना) और उसमें लीनता होने से तो नया कर्म का बन्ध होता नहीं। पुराने खिर जाते हैं। यहाँ कहते हैं कि, पूर्व में अपने स्वरूप के भान बिन जो शुभ और अशुभभाव किये ते, पुण्य और पाप के भाव पूर्व में (किये थे)...

'**पुण्य-पाप का बन्ध, वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं;...**' है ? क्या कहते हैं ? कि, अपना आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, उसकी यदि धर्म दृष्टि हुई हो और अपने ज्ञान में लीनता-चारित्र हुआ हो तो उससे तो नया बंध होता नहीं। समझ में आया ? '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:**' यह तो छूटने का रास्ता है। क्या (कहा) ? आत्मा शुद्ध चैतन्य, राग-द्वेष, पुण्य-पाप से रहित, शरीर-देह की क्रिया से रहित - ऐसा अपना आत्मा एक

सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण शुद्ध आनन्द (स्वरूप है), ऐसी अन्तर्मुख की दृष्टि करना, वह तो बन्ध का कारण नहीं, वह तो मोक्ष का कारण है। डॉक्टर ! समझ में आया ? समझने की थोड़ी सूक्ष्म बात लेते हैं, देखो ! पाठ में तो ऐसा लिया ना ?

'**पुण्य-पाप फलमांहि, हरख विलखौ मत भाई;**' श्लोक है न ? डॉक्टर !

यह पुद्‍गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।

बड़ा श्लोक (है)। देखो !'**पुण्य-पाप का बन्ध, वह पुद्‍गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं;...**' क्या कहा ? पूर्व में कोई आत्मा ने शुभ-अशुभभाव किया हो; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा (के भाव किये), वह शुभभाव हैं। और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, काम, क्रोध, पापभाव हैं। दोनों भाव से नया बन्ध पडता है। शुभभाव से पुण्यबन्धन होता है, अशुभभाव से पापबन्धन होता है। एक बात। समझ में आया ? धर्म तीसरी चीज़ है।

पुण्य और पाप के भाव से भिन्न, अपना ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप की अन्तर में राग की एकता बिना स्वभाव की अन्तर एकता करके सम्यग्दर्शन प्रकट करना, वह मुक्ति का मार्ग है - और अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव का ज्ञान करेक एकाकार होना, वही मुक्ति का मार्ग है। फिर स्वरूप में लीन होना, आनन्दस्वरूप चिदानन्द काम अनुभव हुआ हो - ऐसे सम्यग्दृष्टि बाद में स्वरूप में लीन (होना), चरना, रमना, जमना (हो), उसका नाम भगवान चारित्र कहते हैं।

'**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:**' ये तीनों तो मोक्ष के मार्ग है। यह मार्ग प्रकट करने से पहले अनादिकाल से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते-करते उसने पुण्य और पाप अनन्तबार किये और उससे पुण्य-पाप का बंध भी रजकण में, पुद्‍गल में, जड़ में बंध हो गया। अब कहते हैं कि, पुण्य-पाप के भाव से जो जड़ बंध हुआ, उससे जो संयोग मिलता है, वह पुद्‍गल की अवस्था है। क्या (कहा) ? पुण्य-पाप, जैसा शुभभाव-अशुभभाव किया

था, उससे कर्म का बन्ध पड़ा, वह तो पुद्गल की अवस्था है। समझ में आया ? बराबर है ? क्या कहा ?

जिसको आत्मा का कल्याण करना हो, उसका (आत्मा का) ज्ञान करना, वह तो पहले कहा ना ? पहले कहा था। सातवें श्लोक में नहीं आया था ? '**धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;**' सातवाँ श्लोक है ?

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहचै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।

है ? करोड़ उपाय करके भी स्व-पर का विवेक करना, वह तेरा पहला कर्तव्य है। समझ में आया ? भेदज्ञान - पुण्य-पाप का जो विकल्प उठताहै, वह विकार है; आत्मा उससे भिन्न है - ऐसा सब-पर का विवेक करना वही कोटि उपाय करके भी पहले वह करो। भेदज्ञान किये बिना कभी कल्याण और मुक्ति का मार्ग तुझे (प्राप्त होगा नहीं)। आहा..हा... !

कहते हैं कि, सम्यग्ज्ञान '**कोटि उपाय बनाय**' स्व-पर भेद, पुण्य-पाप का भाव, उसे समझना पड़ेगा या नहीं ? शुभ-अशुभभाव उठता है, वह विकार बन्ध का कारण है। उससे रहित मेरी चीज़ शुद्ध चिदानन्दस्वरूप के सन्मुख होकर स्वभाव की दृष्टि करना और अन्तर स्वभाव का ज्ञान करके स्वभाव में लीन होना, वही एक मुक्ति का मार्ग और छूटने का रास्ता है, दूसरा कोई मुक्ति का मार्ग है नहीं।

कहते हैं कि, पूर्व में पुण्यभाव, पापभाव किया था, उसमें पुद्गल की पर्याय बन्धी थी, कर्म का बन्ध हुआ वह पुद्गल की अवस्था है, उसमें आत्मा की कोई अवस्था प्राप्त होती नहीं। समझ में आया ? शुभ और अशुभभाव होते हैं। तीन भाव होते हैं, शुद्ध, शुभ और अशुभ। शुभ और अशुभभाव है, उससे तो पुद्गलकर्म की, जड़ की अवस्था कर्म की बँधती है। और शुद्धभाव है, वह तो अपना आत्मा सन्मुखी श्रद्धा, ज्ञान, शांति करना उसका नाम शुद्धभाव है। इस शुद्धभाव से बंध नहीं होता। शुद्धभाव से निर्जरा और संवर होता है। समझ में

आया ? पूर्व में अनन्तकाल में जबतक संवर, निर्जरा आदि नहीं हुआ तो कहते हैं कि, पूर्व पुण्य-पाप के भाव से रजकण का बन्ध हुआ, वह पुद्‌गल की जड़ की अवस्था (है), कर्म की, मिट्टी की अवस्था है।

'उनके उदय में...' जो बन्ध पड़ा था, उसके पाक के काल में, उदय में पाक के काल में **'संयोग प्राप्त हों...'** उससे तो संयोग मिलता है। ठीक है ? उसमें आत्मा नहीं मिलता। पुण्य-पाप का भाव से बन्ध पड़ता है, वह जड़ की अवस्था (है) और जड़ के पाक से संयोग मिले। पुण्य का उदय हो तो ये पैसे-लक्ष्मी, कीर्ति का संयोग मिले। पाप का उदय हो तो निर्धनता, सरोगता-ऐसी प्रतिकूलता के संयोग मिले।

कहते हैं कि, **'उनके उदय में...'** पूर्व का कर्मबन्ध पड़ा है, उसके पाक काल में, उदय में **'संयोग प्राप्त हों, वे भी क्षमिक संयोगरूप से आते-जाते हैं,...'** बराबर है ? चलती-फिरती छाया। पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध से संयोग मिलो, संयोग वियोग हो जाओ - ऐसा अनन्तबार आते-जाते हैं। वह क्षणभंगुर वस्तु है। उसमें कोई आत्मा का लाभ है नहीं। ये तीसरी बात (हुई)।

पुण्य-पाप का बन्धन से संयोग प्राप्त हो, वह अपने आत्मा के वर्तमान पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होता। क्या कहा ? पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध पड़ा है, उससे जो लक्ष्मी मिले, निर्धनता मिले, सघनता मिले, वह सब वर्तमान प्रयत्न से नहीं (मिलता)। पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध बड़ा है, उससे संयोग की प्राप्ति होती है। समझ में नहीं आया ? ये पैसा मिलता है, निर्धनता मिलती है, सघनता मिले, निरोग मिले, रोग होता है, वह वर्तमान प्रयत्न का फल नहीं (है), वैसे राग बराबर करे तो शरीर की अवस्था रख सके, निरोगता (रहे) और बराबर ध्यान न रखे तो सरोग हो जाये, ऐसी बात है नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य-पाप के भाव से जैसा बन्ध पड़ा है, ऐसा उसके उदय से ऐसा संयोग हो जाता है। अपने प्रयत्न के बिना पूर्व के पुण्य के, पाप के कारण ऐसी संयोग अवस्था आ जाती है। आहा...! पैसा-बैसा चाँदी में कमाना, वह क्या वर्तमान पुरुषार्थ का फल है ? ऐसा कहते हैं। संयोग प्राप्त होता है, पूर्व का बन्ध पडा है उससे संयोग प्राप्त होता है। वर्तमान तेरा अशुभराग या शुभराग से वर्तमान सामग्री मिलती नहीं। क्या

करना ? पता नहीं, क्या चीज़ है, उसकी पता नहीं। तुझे सम्यग्ज्ञान का पता नहीं और हित करना (है), कहाँ से हित होगा ? समझ में आया ?

कहते हैं, पुद्‌गल बन्ध पड़ा है, उससे संयोग प्राप्त होता है, बस ! सघनता, निर्धनता, सरोगता, निरोगता, अनुकूलता, प्रतिकूलता वह सब पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध पड़ा है, उसके फल में आता है। बराबर है ? नौकरी व्यवस्था करते हैं तो पैसा मिलता है, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। दौसो का वेतन, तीन सो का वेतन मिलता है, वह वर्तमान नौकरी का भाव करते हैं तो भाव किया तो मिलता है, ऐसा नहीं। पूर्व के पुण्य के कारण से मिलता है। सरकार क्या दे ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ... घर में आते है...

उत्तर :- घर में आते है लेकिन वह तो विकल्प है और जाने की क्रिया जड़ की है। आत्मा कहाँ जड़ की क्रिया करता है। सूक्ष्म बात (है)। तत्त्व का पता नहीं। सात तत्त्व हैं... कहा न ? स्व-पर का भेद कोटि उपाय करके पहले करो। जब तक स्व-पर का भेद नहीं होगा, तब तक मेरी सम्यक् ज्ञान कला जागी नहीं और जगे बिना तुझे कभी धर्म होता नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ?

कहते हैं, थोड़ी बात में तो बहुत समा दिया है न ! देखो ! पाठ में ऐसा है या नहीं ? '**पुण्य-पाप फल मांहि**' इतने शब्द हैं। उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, पूर्व का जो पुण्य-पाप बँधा है, उसका फल है। कौन ? ये संयोग और वियोग होता है वह। '**हरख बिलखौ मत भाई;**' अब कहते हैं कि, पूर्व के पुण्य के कारण ये चीज़ मिली, उसमें हर्ष नहीं करना। समझ में आया ? उस चीज़ से आत्मा को कोई लाभ होता है - ऐसा है नहीं। पुण्य के कारण चीज़ मिली - लक्ष्मी, कुटुम्ब, परिवार, हाथी, समाज बोल लिये हैं न ? उससे कोई आत्मा का काम नहीं होता, वह कोई आत्मा का लाभ नहीं है। डॉक्टर ! कुटुम्ब-कबीला बहुत मिले, पाँच-पचास लाख की पुंजी मिले तो उसमें आत्मा को क्या ? वह तो पहले कहा नहीं ? उसमें कहा था न ? '**धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;**' तुझे थोड़ा भी काम नहीं आता। आहा..हा...! '**राज तो काज न आवै;**'

मुमुक्षु :- व्यवहार से आवे।

उत्तर :- धूल में भी आता नहीं है ? उसमें लिखा है ?

यह तो 'छहढाला' पढते हैं, 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप मैं ध्रुव नित्यानन्द हूँ, ऐसा अंतर्मुख का आत्मा का ज्ञान हुआ वह ज्ञान अचल रहेगा क्योंकि वह चीज़ अपनी है। पूर्व के पुण्य-पाप से मिली चीज़ अपने को कुछ काम आती नहीं, कुछ काम आती नहीं। कुछ काम आती नहीं ? खाना-पीना, लड्डू मिलना। पैसे हो तो मिलता है या नहीं ? आत्मा को कुछ काम नहीं आती, ऐसा कहते हैं। वह देहादि की क्रिया में भले निमित्त हो। समझ में आया ? पूर्व का पुण्य का फल राज, बाज, काज, घोड़ा, हाथी, स्त्री, कुटुम्ब आत्मा को बिलकुल काम नहीं आते। आत्मा परपदार्थ है, वे उससे परपदार्थ हैं। परपदार्थ अपने को काम में आवे - ऐसी चीज़ है नहीं। भाई ! ये क्या होगा ? अरे... अरे... ! बडी भ्रमणा ! परचीज़ बिलकुल, किंचित् आत्मा के हित में काम आवे - (ऐसा) बिलकुल नहीं (है)। समझ में आया ?

कहते हैं कि, पूर्व का पुण्य का फल और पाप का फल संयोग मिला, वह संयोग आत्मा को कुछ काम का है नहीं। भाई !

मुमुक्षु :- ... सोच में पड़ जाते हैं...

उत्तर :- ऐसा सुभट है न। आज सुबह वे उलझन लेकर आये थे।

मुमुक्षु :- रात को नींद नहीं आये तो क्या करे ?

उत्तर :- नींद न आये (वह) जड़ की क्रिया है, उसमें क्या हुआ ? आत्मा को क्या दुःख हुआ ? आत्मा को क्या दुःख हुआ ? संयोग है, संयोग की चीज़ है। यहाँ तो ग्रन्थकार कहते हैं। आचार्यों का कथन जो परंपरा से आया है, वही 'दौलतरामजी' 'छहढाला' में कहते हैं।

तुझे पूर्व के पुण्य के कारण संयोग मिला, वह क्या तेरे काम का है ? वह तो क्षणभंगुर चीज़ है, परचीज़ है, तेरे आत्मा के लिए बिलकुल हित में काम की नहीं। आहा..हा... !

पाप का संयोग मिला, वह (भी पूर्व के उदय का फल है)। अब पाप का (लेते हैं)। भाई ! एक तंदुरस्ती चाहिए, पैसे नहीं चाहिए। तब (दूसरे मुमुक्षुने) कहा कि, तंदुरस्ती .. मिले या .. निले ? पूर्व में असाता बांधी है... ये क्या कहते हैं ? पूर्व में पापभाव से असाता का बन्ध पड़ा है तो असाता मिलेगी, शरीर में रोग आयेगा। क्या तंदुरस्ती आयेगी ? तंदुरस्ती का पुण्य किया नहीं और तंदुरस्ती की इच्छा करनो, मूढ है। अरे... ! पुण्य हो और तंदुरस्ती हो तो भी आत्मा को क्या लाभ है ? ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! आत्मा को तंदुरस्ती का क्या लाभ है ? समझ में आया ? आहा..हा... !

सातवीं नरक में नारकी महापाप करके जाते हैं। (उसे) बहुत प्रतिकूलता हैं, तो भी उसमें कोई प्राणी आत्मज्ञान पा लेते हैं। अन्तर में (ऐसा हो जाता है कि), ओ..हो... ! ये क्या चीज़ है ? ये संयोग क्या ? प्रतिकूलता (क्या) ? मैं चीज़ क्या हूँ ? मुझे मुनियोंने, सन्तों ने, ज्ञानियों ने पूर्व में कहा था लेकिन मैंने मेरी सावधानी से मेरा काम नहीं किया, ऐसा विचार करके सातवीं नरक में सम्यग्दर्शन पा लेता है। कहाँ ? सातवीं नरक में। आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्य हूँ, ये शुभ-अशुभभाव दुःखदायक हैं, संयोग पर हैं, दुःखदायक नहीं। पर संयोग मुझे दुःखदायक नहीं। सातवीं नरक में संयोग, हाँ ! सातवीं नरक का संयोग, समकिती ऐसा जानते हैं कि, ये संयोग मुझे दुःखदायक नहीं (हैं)। भाई ! आहा..हा... ! यहाँ तो तुम्हारा पैर नहीं चलता, दूसरा कुछ है नहीं, दिखने में कुछ है नहीं, लड्डू खा जाते हो। लड्डू छोड़ देता है ? मुझे शरीर में ठीक नहीं है तो मैं लड्डू नहीं खाऊँगा।

मुमुक्षु :- पराधीन है ना !

उत्तर :- मैं दूसरा कहता हूँ, मैंने ऐसा कब कहा ? ये शरीर बराबर चलता नहीं है, चूरमा बनाया हो तो चूरमा छोड देता है ? कि, नहीं, नहीं। मैं पराधीन हूँ मुझे चूरमा नहीं खाना है, ऐसे छोड़ देता है ? मैं तो पराधीन हूँ, भैया ! चूरमा कहते हैं न ? लड्डू बनाते हैं। घी लबालब डालकर (बनाया हो) और उडद की दाल, पतरवेलिया की पकोडी, अलवी (के पान की)

पकोडी होती है न ? मेरे शरीर में ठीक नहीं है तो मैं वह चीज़ छोड देता हूँ, मुझे खाना नहीं है। ऐसा करता है ?

यहाँ कहते हैं, वह संयोगी चीज़ है। पूर्व के पाप के कारण सरोगता, निर्धनता, दारिद्रता तो संयोग है, क्षणभंगुर है वह आत्मा में दु:खदायक है नहीं, दु:खदायक है नहीं। अज्ञानी मूढ ऐसी मान्यता करता है कि, प्रतिकूलता मुझे दु:खदायक है। क्या परद्रव्य दु:खदायक है ? समझ में आया ? क्या परवस्तु आत्मा को दु:ख देती है ? तीनकाल में नहीं। आत्मा अपने को भूलकर विकार करता है वह दु:ख का कारण होता है। परचीज़ दु:ख का कारण है नहीं। समझ में आया ? परचीज़ दु:ख का कारण है नहीं।

उसी प्रकार परचीज़ सुख का कारण, कल्पना का सुख का कारण भी नहीं। अज्ञानी कल्पना करता है कि, मुझे ये चीज़ अनुकूल है, कुटुम्ब अनुकूल है, पैसा अनुकूल है, ऐसा है। ऐसी मान्यता करके मूढ कल्पना उठाकर सुखी हूँ, ऐसा मानता है। परचीज़ सुख का कारण है नहीं। पुण्य का लाख, करोड़ संयोग मिले, वह सुख का कारण है नहीं। पाप से करोड़ प्रतिकूलता मिले, वह दु:ख का कारण है नहीं। ऐसा नहीं मानता है और अज्ञानी मूढ ऐसा मानता है कि, प्रतिकूलता मुझे दु:ख का कारण है, अनुकूलता सुख का कारण है। (वह) मिथ्यात्व का बड़ा पाप करता है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! वह मिथ्यादृष्टि का बड़ा पाप है। श्रद्धा विपरीत है, श्रद्धा का भान है नहीं। जो पूर्व का पाप आया, उसमें उससे प्रतिकूलता हुई – ऐसा माननेवाला उससे अनंतगुना नया पाप बाँधता है। नकार किया, स्वयं ने नकार (किया कि), दु:ख मेरे कारण से नहीं, उसके कारण है। ऐसी मान्यता करके मिथ्यादृष्टि असत्यबुद्धि नया अनन्त पाप का बन्धन करता है। वर्तमान प्रतिकूलता है, उससे अनन्तगुनी प्रतिकूलता आयेगी, वहाँ उसका जन्म होगा। समझ में आया ? भान नहीं कि क्या (वस्तु स्वरूप है)।

यहाँ तो कहते हैं, '**उदय में जो संयोग प्राप्त हों...**' थोड़े में बहुत भर दिया है। यह 'छहढाला' तो सादी हिन्दी भाषा है। उसका भी अर्थ नहीं समझे और ऐसे ही बोले जाये। '**उदय में जो संयोग प्राप्त हों, वे भी क्षमिक संयोगरूप से आते-जाते हैं,...**' पूर्व के पुण्य के कारण ये चीज़ आते-जाते संयोगरूप हैं। अपने को कोई सुख-दु:ख का कारण ये चीज़ नहीं। बराबर

है ?**'जितने काल तक वे निकट रहें,...'** देखो ! आत्मा के समीप में पूर्व पुण्य-पाप का बन्ध पड़ा था, उसके समीप में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री जितने काल रहे **'वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं है।'** समझ में आया ? पूर्व के पुण्य-पाप के बन्ध की वर्तमान मिली सामग्री, वर्तमान क्षणिक कुछ काल रहे, वह सामग्री आत्मा को सुख-दुःख देने में तीनकाल में समर्थ नहीं। बराबर है ?

मुमुक्षु :- कर्म दुःख देते हैं।

उत्तर :- कोई दुःख देता नहीं। कर्म ने कहाँ दुःख दिया ? वह मूढ मानता है कि, मुझे दुःख हुआ। वह तो अज्ञान से मानता है। उसकी मान्यता का दुःख है। कर्म के कारण से नहीं, सामग्री के कारण नहीं। तत्त्व का पता नहीं और हमें धर्म करना है, कहाँ से होगा ? सात तत्त्व क्या है ? वह तो अजीवतत्त्व, संयोग में अजीव आया। अजीवतत्त्व दुःखदायक है ? पुण्य-पाप का बंध अन्दर में पड़ा, वह तो जड़ है। आत्मा का लाभ है ? और जो शुभाशुभभाव हुआ, वह आस्रव है। समझ में आया ? क्या वह आत्मा को लाभदायक है ? शुभाशुभ परिणाम से लाभ मानना, वह भी मिथ्यात्व, अज्ञान, स्व-पर का विवेक का अभाव (है)। पुण्य-पाप का बंध पड़ा, उसमें पुण्य ठीक (है), पाप अठीक है - ऐसी मान्यता भी अज्ञान और स्व-पर के विवेक बिना की चीज़ है और उससे बाह्य संयोग मिले, उसको सुख-दुःख का कारण मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि भेदज्ञान के अभाव से मानता है।

भेदज्ञान हो कि, ये तो परचीज़ है, मैं उससे भिन्न चीज़ को भिन्न चीज़ सुख-दुःख उत्पन्न करा दे - (ऐसी) तीनकाल में ताकत नहीं। पता नहीं, पता नहीं। समझ में आया ? भाई ! अच्छे पुत्र हों, अच्छी लक्ष्मी मिले, शरीर अनुकूल मिले, वह तो सुख का कारण है या नहीं ? बिलकुल नहीं ?

यहाँ तो पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना, इतना शब्द लिया। **'पुण्य-पाप-फलमांहि, हरख बिलखौ मत भाई'** एक पद में तो बहुत भर दिया (है)। भाई ! भगवान ! तुम आत्मा हो न ! तो ज्ञानानंद स्वरूप तेरी चीज़ है न ! पूर्व का पुण्य-पाप का बन्धन से संयोग मिले, तुझे क्या हर्ष-शोक करना है ? वह चीज़ कोई हर्ष-शोक कराती है ? हर्ष-शोक करना

तेरा स्वभाव है ? समझ में आया ? हर्ष-शोक करना, वह मिथ्यात्वभाव है।

तब कोई कहे कि, ज्ञानी होता है तो उसी भी हर्ष-शोक थोड़ा होता है न ? होता है। लेकिन वह हर्ष-शोक परपदार्थ के कारण से होता है - ऐसा नहीं मानते, तो अनन्त हर्ष-शोक नहीं होता। आहा.. ! भाई ! धर्मी जीव को प्रतिकूलता-अनुकूलता बाहर में आती है परन्तु ज्ञानी उससे सुख-दु:ख नहीं मानता, उससे हर्ष-शोक नहीं करते। अपनी पर्याय में कमजोरी से थोडा हर्ष-शोक हो जाये, वह चारित्र का अल्प दोष है और पर के कारण से मुझे सुख-दु:ख हुआ वह मिथ्यात्व का अनन्त दोष है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! है ? वह चारित्रदोष है लेकिन अपनी अस्थिरता का दोष है।

(समकिती ज्ञानी को) सम्यक् भान है कि, मैं तो आत्मा हूँ, शुद्ध चैतन्य हूँ, पुण्य-पाप का भाव विकार है; संयोग पृथक् है। प्रतिकूल संयोग आया तो प्रतिकूलता के कारण समकिती को शोक नहीं होता। २५ साल का एक लड़का दो साल की शादी के बाद मर गया, उस समय में धर्मी जीव है उसे लड़का मर जाने का शोक नहीं होता; पर से शोक नहीं होता। आहा..हा... ! थोड़ा शोक होता है, वह अपनी कमज़ोरी से होता है तो वह दोष अल्प है। आहा..हा... ! बात में फर्क (है)। उस चीज़ से मुझे दु:ख हुआ ऐसी मान्यता का पाप, मिथ्यात्व का अनन्तगुना पाप है। समझ में आया ? दोनों में फर्क है, पाप-पाप में फर्क है। पकड़-पकड़ में फर्क है। बिल्ली चूहे को पकडती है और बिल्ली अपने बच्चे को पकड़ती है। (लेकिन) पकड़-पकड़ में फर्क है।

धर्मी जीव अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा में आनन्द हूँ, पूर्व के किसी पाप के बन्धन से प्रतिकूलता आई, निर्धनता हो गई, पुत्र का मर जाना, शरीर में रोग होना, क्षय रोग आदि हो जाना, उससे वे दु:ख नहीं मानते। सम्यग्दृष्टि-धर्मी उससे दु:ख नहीं मानते लेकिन अपनी कमज़ोरी में सहनशीलता के अभाव में थोड़ा शोक, दु:ख आ जाता है, वह अल्प दोष अवस्था है।

मिथ्यादृष्टि को प्रतिकूल संयोग मिला (तो मानता है कि) उसके कारण मैं दु:खी हूँ, वह अनन्तानुबंधी का महान पाप दोष है। आहा..हा... ! पता नहीं, अभी दोष का माप क्या है ?

तत्त्व का पता नहीं कि, परतत्त्व मुझे दु:खदायक है, ऐसा माननेवाले को मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का पाप होता है। समझ में आया ? अनन्त पाप होता है।

सम्यग्दृष्टि लड़ाई में हो, पुत्र मर जाये, लडाई में भी गये हो, सम्यग्दृष्टि हैं, पुत्र मर जाये तो उसका उन्हें शोक नहीं है। आ..हा..! परद्रव्य के कारण शोक नहीं है, होता नहीं है। अपना पर्याय में सहनशीलता की कमजोरी के कारण थोड़ा शोक आया, उसका अल्प बन्धन है। मिथ्यादृष्टि, मेरा बड़ा लड़का मर गया, इसलिए मैं दु:खी हुआ, ऐसी दु:ख की अवस्था का परिणाम अनन्त संसार की वृद्धि का कारण पाप है। आहा..हा...! समझ में आया ? बात में ऐसा फर्क है। पकड़-पकड़ में फर्क है। अज्ञानी परचीज़ को दु:ख का कारण मानता है, वह बड़ा पाप है। ज्ञानी पर को दु:ख का कारण मानते नहीं। मेरी सहनशीलता में कमजोरी है, इसलिये मुझे थोड़ा दु:ख, शोक आ जाता है, शोक आ जाता है, पर के कारण से नहीं। इस शोक का आना अल्प पाप है और अज्ञानी को पर के कारण से मुझे थोड़ा दु:ख,शोक आ जाता है, शोक आ जाता है, पर के कारण से नहीं। इस शोक का आना अल्प पाप है और अज्ञानी को पर के कारण से मुझे दु:ख हुआ, वह मिथ्यात्व का -अनन्त संसार का पाप है। समझ में आया ?

वैसे सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को पूर्व के पुण्य के कारण चक्रवर्ती पद हो, छह खंड का पद हो। समझ में आया ? ९६ हजार स्त्री हो। समझते हैं (कि), ये परचीज़ हैं। मुझे सुख का कारण है नहीं। मेरा सुख का कारण तो मेरा आत्मा है। मेरे पास (है), मैं आनन्दमय हूँ. ऐसा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में अविरती सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में हो तो भी ९६ हजार स्त्री चक्रवर्ती को है... समझ में आया ? (लेकिन) सुख कारण नहीं मानते। सुख का कारण मेरा आत्मा है। आनन्द तो मेरे पास है लेकिन जरा आसक्ति का थोडा राग हो जाता है, ये आसक्ति का दोष-चारित्रदोष अल्प बन्धन है। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- इसलिये तो यहाँ कहने में आता है। ज्ञानी-अज्ञानी का प्रमाण अन्तर से है, बाहर से है नहीं। समझ में आया ?

'ऋषभदेव' भगवान जब कैलासपर्वत से मोक्ष पधारे तो 'भरतजी' अन्तिम दर्शन करने को गये और इन्द्र भी उपर से आये, 'शक्रेन्द्र' उपर से आये। उसका मित्र है न ? और दोनों भगवान के भगत हैं। भगवान को मोक्ष पधारते हुए देखा तो 'भरत' चक्रवर्ती की आँखमें से आँसू चले गये। आँसू की धारा बहती है। अ..हो..! भरतक्षेत्र का सूर्य आज अस्त हो गया, ऐसे रोते हैं। रोते हैं, कहते हैं न ?

इन्द्र कहते हैं, अरे..! 'भरत'! आपको तो मालूम है न कि, आप तो चरमशरीरी हैं। इन्द्र कहते हैंकि, आपको खबर है, आपको चरमशरीर, अन्तिम शरीर है। हम तो 'शक्रेन्द्र' हैं, हमें मनुष्य का एक अवतार लेना पड़ेगा। समकिती हैं, आत्मज्ञानी हैं, आत्मध्यानी (हैं), दोनों, हाँ !'भरत' चक्रवर्ती भी आत्मज्ञानी हैं और 'शक्रेन्द्र' भी आत्मज्ञानी समकिती हैं। भगवान को मोक्ष जाते हुए देखते हैं और जब रोते हैं, अरे..! प्रभु ! हमारा भरतक्षेत्र का सूर्य अस्त हो गया। आँसू की धारा (चली)। इन्द्र कहते हैं, 'भरत' तुम्हारा चरम शरीर है न ! तुम तो इसी भव में केवल(ज्ञान) पाकर मोक्ष जानेवाले हो। हमें तो अभी स्वर्ग से (जाकर) एक अवतार करना पड़ेगा। 'भरत' कहते हैं, इन्द्र ! इन्द्र मुझे मालूम है। परचीज़ के कारण मुझे रोना नहीं आया। समझ में आया ? परचीज़ का विरह हुआ इसलिए रोना नहीं आया, मेरी कमजोरी में भगवान के प्रति थोड़ा प्रेम है, इतना कमजोरी का प्रेम का रोना आ गया है। समझ में आया ? फर्क है, रोने-रोने में र्क है। आहा..हा...! (लोगों को) तत्त्व मालूम नहीं। जीव क्या है, पुण्य-पाप क्या है, बन्ध क्या है, फल क्या है, इस फल में सुख-दु:ख होता है या नहीं, मालूम नहीं ? तत्त्व की दृष्टि का पता नहीं और चलो हमें धर्म हो जायेगा। कहाँ से धर्म होगा ? संयोग के कारण रोना नहीं आया है। अपनी कमज़ोरी है न ! थोड़ा चारित्रदोष है। भगवान के प्रति इतना प्रेम है। अपने कारण थोड़ा रोना आया। उसका अल्प बन्धन है। समझ में आया ?

अज्ञानी (को ऐसा लगता है), भगवान चले गये, उनसे मुझे धर्म था, वे थे तो मुझे धर्म होता था, वे थे तो मुझे धर्म रहता था - ऐसी मान्यता थी तो उसे जो दु:ख होता है, वह अज्ञान का दु:ख होता है। ज्ञानी को तो मेरा आत्मा है तो धर्म मुझसे है। मेरे शुभभाव में, श्रवण में भगवान निमित्त थे, उसका अभाव हो गया है। तो ज्ञानी को थोड़ा शोक होता है, वह अल्प चारित्रदोष का शोक है। अज्ञानी को शोक होता है, (वह) प्रतिकूल चीज़ देखकर शोक करता

है तो अनन्त प्रतिकूल चीज़ का उसे द्वेष आया। ऐसे द्वेष में अनन्त पाप का बन्धन होता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? आहा.. ! तत्त्व की चीज़ ऐसी है।

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्ह के घट,

सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।

राग और पुण्य-पाप के विकल्प से मेरी चीज़ ही भिन्न है। ऐसा सम्यग्दर्शन गृहस्थाश्रम में पहले हुआ तो अनादि की पर से सुख-दुःख की मान्यता थी वह टल गई, नाश हो गई। समझ में आया ? अपने आत्मा से आनन्द है और अपनी कमज़ोरी में जितना राग-द्वेष आता है, उतना दुःख है। वह राग-द्वेष तो अनन्तवै भाग में बहुत थोड़ा आता है। अज्ञानी को इसका पता नहीं। अज्ञानी तो पर की प्रतिकूलता (देखता है तो माने कि), अरे.. ! मैं दुःखी। ये अनुकूलता है तो सुखी (हूँ)। भाई ! शरीर में निरोगता हो। आप सबका शरीर निरोग है, मेरा शरीर सरोग शरीर है; इसलिए हम दुःखी है। आप निरोग हैं तो सुखी हैं। मूढ है। महा मथ्यिात्व का नया पाप बाँधता है। बराबर है ? न्याय में बराबर है या नहीं ? समझ में आता है या नहीं ?

अपने अलावा कोई भी परपदार्थ हो, उससे सुख-दुःख की मान्यता, पर से करना, उसका नाम मिथ्यात्वभाव है। बराबर है ? और अपने आत्मा में आनन्द है - ऐसा न मानकर परचीज़ से मुझे आनन्द मिलेगा, परचीज़ से मुझे दुःख होगा, उसका नाम मिथ्यादृष्टि का अनन्त संसार का महान पाप है। आहा..हा... !

(यहाँ) कहते हैं कि, '**उदय में जो संयोग प्राप्त हों, वे भी क्षणिक संयोगरूप से आते-जाते हैं,...**' आते-जाते हैं, उसमें तेरे (में) क्या आया ? कहो, बराबर है ? भाई ! किसी के पास करोड़ रूपये हों और किसी के पास दस लाभ हो तो करोड़वाला सुखी है या नहीं ? पर में किसी के पास पाँच हजार और किसी के पास पाँच करोड़ (है)। तो संख्या पर से सुख कल्पना है ? मूढ है। कौन कहता है, संख्या पर से सुख है ?

मुमुक्षु :- लोग कहते हैं।

उत्तर :- लोग तो मूढ हैं। पागल की होस्पिटल में सब पागल हैं। पागल की होस्पिटल है न तो सब पागल हैं।

मुमुक्षु :- पागल को तो बंद करके रखते हैं।

उत्तर :- अज्ञान से बंध होता है, यहाँ यह कहते हैं। देखो न ! एक शब्द में कितना लिया है ! भगवान ! तुझे मालूम नहीं। पुण्य-पाप का फल तो संयोग की प्राप्ति है, क्षणिक चीज़ है। क्षणिक चीज़ है। क्षणिक चीज़ तुझे सुख-दु:ख का कारण नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

'जितने काल तक वे निकट रहें...' क्या ? पूर्व का पुण्य-पाप का फल अनुकूल-प्रतिकूल जितने काल निकट रहें। आत्मा में कहाँ चीज़ घुस जाती है ? वह तो दूर है। **'उतने काल भी वे सुख-दु:ख देने में समर्थ नहीं है।'** समझ में आया ? जितने काल पूर्व के पुण्य-पाप के संयोग से अनुकूल-प्रताकिूल सामग्री रही (उतने काल भी) वह चीज़ आत्मा को सुख-दु:ख का कारण है नहीं। समझ समझ में फर्क है। 'समज पीछे सब सरल है, बिन समझे मुश्केल।' सच्चा ज्ञान हुए बिना अनन्तकाल परिभ्रमण करके मुनिपना ले लिया। आया न ? 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।' उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, अनन्तबार में जितनी बार नौवीं ग्रैवेयक गया, पंच महाव्रत पाले, अठ्ठाईस मूलगुण पाले वह क्या है ? सुख नहीं दु:ख था - ऐसा कहते हैं। उसके अर्थ में आया या नहीं ?

'मुनिव्रत धार अनंतबार' तो मुनिव्रत धारे तो व्रत धारण किया था या नहीं ? व्रत धारे थे न ? पंचमहाव्रत लिये थे न ? अट्ठाईस मूलगुण पाले थे न ? 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' सुख न पाया उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, दु:ख पाया। क्या आया उसमें ? हिसाब करना है या नहीं ? दुकान पर चांदी का हिसाब करता है या नहीं ? डॉक्टरजी ! उसमें क्या आया ? 'लेश सुख न पाया' 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो' - उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, महाव्रत के परिणाम शुभराग हैं और दु:खरूप हैं। डॉक्टर ! देखो ! उसमें क्या लिखा है ? लिखा है या नहीं ? कौन-सी गाथा है ? पाँचवी, पाँचवी गाथा है। चौथी ढाल की पाँचवीं (गाथा है)। उन्होंने बहुत भर दिया है, गागर में सागर भर दिया है। देखो !

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्त तैं सहज टरैं ते।

सहज... सहज... ज्ञान के भान में कर्म सहज ही टल जाते हैं। ज्ञानानन्द मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, रागादि मेरी चीज़ नहीं – ऐसे भान में कर्म सहज टल जाते हैं। '**मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो**' मुनिव्रत न ? व्रत या अव्रत ? व्रत। व्रत यानी ? अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच व्रत अनन्तबार धारे। लेकिन '**निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।**' आत्मा का सुख अंश भी नहीं पाया। उसका अर्थ क्या हुआ ?

मुमुक्षु :– संसार का सुख प्राप्त किया।

उत्तर :– संसार का सुख अर्थात् दुःख। बराबर आया है या नहीं ? आहा..हा...! 'छहढाला' में तो थोड़े में ऐसी चीज़ भर दी है। सादी हिन्दी भाषा में है। समझ में आया या नहीं ?

आत्मा पुण्य–पाप के विकल्प से रहित है, ऐसा अनुभव दृष्टि किये बिना तेरा पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण भी दुःख का कारण है, ऐसा कहते हैं। आत्मा का लेश सुख न पाया तो दुःख पाया। शुभाशुभभाव दोनों दुःखरूप हैं, सुखरूप है नहीं। दूसरी बात। देखोयहाँ आया न ?'**सुख-दुःख देने में संयोग समर्थ नहीं है।**' परन्तु सुख–दुःख का कारण तेरा विकारीभाव (है)। समझ में आया ? वह चीज़ नहीं। बहुत लक्ष्मी मिली, बादशाही है, हमको सुख हुआ। मूढ है। पर से सुख है तो तूने कल्पना की। प्रतिकूलता है तो हम दुःखी हैं, भैया ! निर्धन हो गये। कुछ नहीं (है) शरीर ठीक रहता नहीं, स्त्री मर गई, लड़के को क्षय हो गया, लक्ष्मीचली गई, दुकान जल गई, वीमावाला डूब गया, उधारी चली गई। जहाँ पैसे लेने थे वहाँ सूखा पड़ा। इस साल तो हम बहुत दुःखी हैं। मूढ है। वह तो पूर्व के पाप का फल प्रतिकूलता है। वह दुःख का कारण है ? किसने तुझे कहा ? देखो !

'**वे निकट रहें उतने काल भी वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।**' उसमें कितना भरा है ! लेकिन समझे, विचार कहाँ करना है ? अब कहते हैं, अन्तिम (बात करते हैं)। '**लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।**' उसकी बात करते हैं। जैनधर्म में वीतराग सर्वज्ञ

परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा, उनके धर्म में '**समस्त उपदेश का सार यही है कि-शुभाशुभभाव, वह संसार है;...**' शुभभाव हो या अशुभभाव हो। वे स्वयं कहते हैं।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

शुभाशुभभाव भी द्वंद-फंद हैं। है ? 'छहढाला' तो आपके यहाँ पहले से चलती है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- तुम स्वीकार तो करते नहीं।

मुमुक्षु :- तोते की भाँति।

उत्तर :- तोते की भाँति। बात सच है।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

शुभाशुभभाव हैं वे फंद हैं, द्वंद हैं, विकार है, दुःख है। उनको छोड़कर '**नित आतम ध्याओ।**' देखो ! है ? भगवान आत्मा, शुभअशुभभाव हो और अशुभ से बचने को शुभभाव भी आता तो है, लेकिन है वह बन्ध का कारण। जगफंद का कारण है। उसमें जगत-संसार मिलेगा, आत्मा नहीं मिलेगा। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- अर्थ निकालने की आपकी विधि कोई अलग है।

उत्तर :- अर्थ निकालने की विधि, आप सब नहीं बैठे हैं ? ये युवा हैं, वकील हैं या नहीं ? यहाँ के कहाँ है ? वे तो 'कुचामण' के हैं, वकील हैं। युवा है, उसे यह बात जचती है या नहीं ? कहो, समझ में आया ? आपको अर्थ करना नहीं आये तो क्या करना ? ये 'छहढाला' तो बहुत कंठस्थ (की) है। अर्थ करने आये नहीं तो क्या करना ? आहा..हा... ! और ऐसा अर्थ करते हैं तो (दूसरे लोग) भडकते हैं, अरे... ! ऐसा हो गया। लेकिन सुन तो सही, अन्दर में वही कहते हैं।

‘**लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;**’ का क्या अर्थ हुआ ? कि, शुभ-अशुभ परिणाम ये सब व्यवहार है। भाई ! अन्दर शब्द में ऐसा कहते हैं, हाँ ! तुझे बीच में दया, दान का शुभभाव आता है लेकिन है व्यवहार। वह बन्ध का कारण है। आता है भले, शुभभाव होता है, भक्ति, दया, दान, पूजा (का भाव आता है) परन्तु ये शुभभाव पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया ? ‘**लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;**’ शुभ-अशुभभाव पूर्व में था उसका बन्ध पड़ा, उसका फल संयोग (मिला), वर्तमान शुभाशुभभाव बन्ध का कारण है। उसकी दृष्टि छोड़कर भगवान आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप की रुचि लगाओ, उसकी दृष्टि करो, उसका ध्यान करो। वही आत्मा का संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है दूसरा कोई (कारण) है नहीं। उसमें है या नहीं ? अर्थ भरे हैं या नहीं ? या, ‘सोनगढ’वाले (अपना घर का) निकालते हैं ? समझ में आया ? आहा..!

शुभाशुभभाव संसार (है)। उसका अर्थ निश्चय नहीं। ‘**इसलिए उसकी रुचि छोड़कर...**’ समझ में आया ? शुभाशुभभाव की रुचि छोड़कर। तो क्या करना ? शुभाशुभभाव तो होते हैं। भगवान ! तेरा हित करना हो तो ‘**स्वोन्मुख होकर...**’ स्वसन्मुख। शुभाशुभभाव हो, उसके सन्मुख में रुचि रखना, वह मिथ्यात्वभाव है। वह शुभाशुभभाव और देह की, जड़ की क्रिया का लक्ष्य करके उन्हें अपना मानना मिथ्यात्व है। तो क्या करना ? भगवान ! देहादि की क्रिया जड़ है, उसकी तो श्रद्धा छोड़ दे कि, मेरी क्रिया है, ऐसा छोड़ दे। परन्तु शुभ-अशुभभाव हैं वे मुझे हितकर हैं ऐसी श्रद्धा छोड दे। आहा..ह...! भाई ! पोपाबाई का राज नहीं है कि जल्दी से मिल जाये। पोपाबाई कहते हैं न ? कहो समझ में आया ?

क्या करना ? ‘**लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;**’ इन शब्दों की यह व्याख्या है ‘**लाख बात की यही, निश्चय उर लाओ;**’ उसकी व्याख्या (चलती है)। लाख क्या, करोड़ और अनन्त बार - चाल अनुयोग, भगवान ने कहे चार अनुयोग - द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, कथानुयोग, करणानुयोग। समझे ? सब का सार भगवान की वाणी में ऐसा आया कि, भगवान ! तुम तो पूर्णानन्द प्रभु हो न ! पुण्य-पाप विकार की रुचि छोड़, देह की क्रिया मेरी है - ऐसी श्रद्धा छोड़, चैतन्य सन्मुख हो और अपने सन्मुख में अपनी प्रतीति करना, उसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। आहा..हा...! समझ में आया ? परवाह ही नहीं की, भाई ! ऐसे ही कल

सुधरे (लोगों में) चले गये। काम कर दे, किसी का कर दे, किसी का सुधार कर दे, बड़े-बड़े भाषण करने। धूल में कुछ नहीं है। सही है या नहीं ?

मुमुक्षु :- आप कहो तो हाँ ही कहनी पड़े।

उत्तर :- ना कहो तो उसका उत्तर मिलेगा। ना कहो ना कि, हमें ऐसा नहीं बैठता तो उसका उत्तर मिले, उसमें क्या है ? देखो न, उसमें लिखा है क्या ? अपने तो शब्दार्थ में से निकलता हैं।

पुण्य-पाप-फलमाहि, हरख बिलखौ मत भाई;

यह पुद्गल परजाय, उपजि बिनसै फिर थाई।

उपजे-विनसे, जाये, उपजे-विनसे, जाये, उसमें तुझे क्या है ?

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जग दंद-फंद नित आतम ध्याओ।

'दौलतरामजी' पंडित ने गृहस्थाश्रम में रहकर 'छहढाला' बनाई। वे कहते हैं, भगवान ! हों, भाव भले हों, उस भाव की रुचि छोड़कर तेरा आत्मा आनन्द की खान पड़ी है; शुद्ध चिदानन्द प्रभु है। उसमें अंतर्मुख होकर रुचि करो, सावधानी से स्वभाव में लग जाओ। वह तेरा मोक्षमार्ग का धंधा है और धर्म है। आहा..हा... ! कठिन बात है, भाई !

हमारे डॉक्टर ने यहाँ से प्रश्न किया था। 'राजकोट'। 'अन्जनचोर' ! 'अन्जनचोर' ने शंका नहीं की उसमें मोक्ष हो गया। देखो ! ए..ई... ! डोक्टर पलट गये। भाई ! वस्तुस्थिति है, उसे यथार्थ समझनी चाहिए। यथार्थ दृष्टि और यथार्थ ज्ञान बिना चारित्र सच्चा होता नहीं। आ गया न ? पहले आया था न ? भाई ! 'सम्यग्ज्ञान पवित्रता...' क्या आया था ? तीसरी ढाल की अन्तिम गाथा है। ८३ पन्ना है। **'सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान चारित्र का मिथ्यापना।'** १७वीं गाथाहै, तीसरी ढाल। **'मोढमहल की प्रथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;'** 'या बिन ज्ञान चरित्रा' **'सम्यक्ता न लहैं,...'** सच्चापना, सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्रपना सच्चा होता नहीं। तीसरी ढाल की १७ वीं गाथा है, ८३ पन्ना है। ८० और ३ (है)। समझ में आया ?

'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै;

यह नरभव फिर मिलन कठनि है, जो सम्यक् नहिं हौवे।

समझ में आया ? यह नरभव फिर नहीं मिलेगा, भगवान ! सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लो, उसका प्रयत्न करो। शुभाशुभभाव का प्रेम-रुचि छोड़ो। हो, लेकिन स्वभाव की रुचि करो तो सम्यग्दर्शन होगा, नहीं तो फिर से ऐसा अवतार मिलेगा नहीं। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❈

अपनी अपेक्षासे अन्य द्रव्य असत् हैं, स्वयं ही सत् है । स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है । अतः स्वयंके सत्का ज्ञान करना । स्वयंके सत्का ज्ञान करने पर अतीन्द्रिय आनन्दकी झलक आए बिना रहती ही नहीं, और जो आनन्द न आए तो उसने निज सत् का यथार्थ ज्ञान किया ही नहीं । मूल बात तो अन्तरमें ढ़लना है - यही सम्पूर्ण सिद्धांतका सार है।

(परमागमसार-३८४)

❈

भले ही जीव तथा राग भिन्न रहकर एक क्षेत्रमें रहें तो भी दोनों कभी भी न तो एक रूप हुए और न ही हो सकते हैं । अतः तूँ सर्व प्रकारसे प्रसन्न हो । प्रभु ! तेरी चीज ! कभी राग रुप हुई नहीं, इसीलिए तूँ तेरा चित उज्जवल कर, सावधान होकर रागसे भिन्नरूप आनंदस्वरूपका अनुभव कर । प्रसन्न होकर भेद-ज्ञान पूर्वक ऐसा अनुभव कर कि यह 'स्वद्रव्य ही मैं हूँ ' ।

(परमागमसार-३८५)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ०)), रविवार

दि.२०-२-१९६६, गाथा-९, प्रवचन नं.-३१

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है, उसकी चौथी ढाल चलती है। 'दौलतरामजी' एक दिगम्बर पंडित हुए। पंडित ने गृहस्थाश्रम में रहकर जगत के उपकार लिये, बुद्धि... एक बुद्धिसागर है, क्या कहते हैं ? 'बुधजन' ढाल, 'बुधजन' की ढाल है, उसमें से 'छहढाला' (बनाकर) अपने न्याय से विषय (लिया है)। उसकी चौथी ढाला। 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला', उसकी चौथी ढाल की नौंवी गाथा, उसकी अन्तिम की बात चलती है। देखो ! क्या ? अन्तिम शब्द है, उसका अर्थ है।

'लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;' नौंवी गाथा का सार है। देखो ! यह 'छहढाला' तो बहुत प्रचलित है। 'छहढाला' में क्या भरा उसकी बहुत कठिन, सूक्ष्म बात है। अनन्तकाल से पहले आत्मा क्या चीज़ है ? उसका सम्यग्दर्शन अनन्तकाल में एक सैकेण्ड भी किया नहीं। समझ में आया ?

'छहढाला' की चौथी ढाला की नौंवी गाथा है। क्या कहते हैं ? देखो ! हिन्दी में नौंवी, गुजराती में आठवीं।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

यह सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं, क्या कहा ? कि, अनन्त-अनन्त काल में अनन्त बार नौंवीं ग्रैवेयक गया। वह पहले आ गया है।

मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।

उसका क्या अर्थ है ? कि, यह आत्मा अनंत बार नौंवी ग्रैवेयक तक, नरकयोनि निगोदयोनि आदि (में) अनन्त अवतार करते-करते, नौंवी ग्रैवेयक के भी अनन्त भव किये। नौंवीं ग्रैवेयक में तो कौन जा सकता है ? कि, जिसकी क्रियाकाण्ड, बहुत शुक्ललेश्या होती है। समझ में आया ? शुक्ललेश्या, भाई ! शुक्ललेश्या दूसरी चीज़ है। शुक्ललेश्या ऐसी चीज़ है, जिसके परिणाम में शुभभाव अति तीव्र हो, शुभभाव तीव्र हो, तब उसे शुक्ललेश्या होती है।

कहते हैं, नौंवी ग्रैवेयक अनन्तबार गया, तब उसका दिगम्बर नग्न लिंग था, अट्ठाईस मूलगुण भी उसका स्पष्ट-स्वच्छ था और दूसरे देव की इन्द्राणी डिगाने आये तो डिगे नहीं, इतना तो उसका ब्रह्मचर्य का मन का रंग था। उसके लिये आहार बनाकर, चौका बनाकर (बनाया हो) तो प्राण जाये तो भी उसके लिये बनाया आहार लेते नहीं। ऐसे अनन्तबार नौंवीं ग्रैवेयक गया, तब शुक्ललेश्या का भाव होकर अनन्तबार नौंवी ग्रैवेयक का अवतार धारण किया, लेकिन आत्मा क्या चीज़ है, उसके भान बिना अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत 'आतमज्ञान बिन सुख लेश न पाया' - उसका अर्थ क्या ? कि, पंच महाव्रत आदि, सम्यक् आत्मा के आनन्द के अनुभव बिना अट्ठाईस मूलगुण के व्रत का राग, उसको यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं, भगवान तो कहते ही हैं कि, वह तो दुःखरूप भाव था। भाई !

'आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ' का अर्थ क्या ? सुख न पाया तो क्या पाया ? दुःख। वह तो आया उसमें - 'छहढाला' में। समझ में आया ? क्योंकि आत्मा में जितने शुभ और अशुभभाव होते हैं, सब आस्रवभाव हैं, रागभाव हैं, विभावभाव हैं, विकार भाव हैं। उसमें शुभभाव हो तो पुण्य बंधे, स्वर्गादि मिले पापभाव हो तो नरक, निगोदादि मिले। उसमें आत्मा की श्रद्धा और आत्मा के ज्ञान बिना जन्म-मरण का अन्त कभी आता नहीं।

कहते हैं कि, 'लाख बात की बात' का क्या अर्थ किया ? देखो, अन्त में। उसका हिन्दी। **'जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है...'** जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है **'कि-शुभाशुभभाव, वह संसार है;...'** समझ में आया ? आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द निर्मलानन्द भगवान (स्वरूप है), उसका अन्तर सम्यग्दर्शन-अनुभव के बिना और साथ में स्व-चैतन्य का स्वसंवेदनज्ञान... स्वसंवेदनज्ञान (अर्थात्) आत्मा आत्मा का वेदन ज्ञान में

आनन्द का करे, उसका नाम स्वसंवेदन, आत्मज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस सम्यग्ज्ञान बिना और अपनी सम्यक् प्रतीति, अनुभव-आनन्द के अनुभव के अन्तर भान बिना उसने शुभाशुभभाव अनन्त बार किये, परन्तु उससे जन्म-मरण का अन्त आता नहीं। समझ में आया ? क्योंकि शुभाशुभभाव संसार है। आहा..हा... ! भक्ति का, पूजा का, दया का, दान का, महाव्रत का, बारह व्रत का भाव शुभ है, वह उदयभाव है, वह विकार है, उसे भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव बंध का कारण कहते हैं। अबन्धस्वभाव भगवान आत्मा... (है)।

'नियमसार' में 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने पहले श्लोक में कहा है, '**णियमेण य जं कज्जं,**' शब्द है न ? भाई ! '**णयमेण य जं कज्जं।**' ये शब्द हैं, 'नियमसार' में है। कौन-सी गाथा है ? तीसरी, तीसरी। तीसरी गाथा है, देखो ! 'णियमेण य जं कज्जं' क्या शब्द है ? नियम से जो निश्चय कर्तव्य है। यहाँ 'निश्चय' कहा न ? '**लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;**' वह निश्चय क्या ? वह निश्चय क्या ? कि, '**णियमेण य जं कज्जं ते णियमं णाणदंसणचरित्तं।**' भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अतीन्द्रिय अनाकूल आनन्दकन्द आत्मा है। इस अनाकुल आनन्दस्वरूप का '**णियमेण**' निश्चय से। सम्यग्दर्शन निश्चय से जीव को कर्तव्य-करने योग्य है। समझ में आया ? शुभाशुभभाव करने योग्य नहीं है। कर्तव्य नहीं है, ऐसे कहा, देखो ! समझ में आया ? आता है। सम्यग्ज्ञानी को भी जब तक वीतरागभाव न हो, तब तक ऐसा शुभभाव आता है, होता है, होय है, परन्तु वह '**णियमेण य जं कज्जं**' कार्य नहीं। आहा..हा... ! क्या (कहा) ?

नियम से करने योग्य हो तो '**तं णियमं णाणदंसणचरित्तं**' - यहाँ पहले से '**णाणदंसणचरित्तं**' लिया है। 'तत्वार्थसूत्र' दर्शन-ज्ञान-चारित्र से लिया है। क्योंकि ज्ञान लिया है कि, अपना और पर का अन्तर सम्यक् बोध हुए बिना प्रतीति सम्यग्दर्शन, भान बिना, अनुभव बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। समझ में आया ? '**स्वानुभूत्याचकासते**' 'समयसार' के पहले श्लोक में 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज (कहते हैं), '**नमः समयसाराय स्वानुभूत्याचकासते**' - भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के राग से प्रसिद्ध नहीं होता। अन्तर में उसकी प्रसिद्धि, सम्यग्दर्शन-ज्ञान की (प्रसिद्धि) शुभाशुभभाव से नहीं होती। आहा..!

'स्वानुभूत्याचकासते'।

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर मुनि इस भरतक्षेत्र में हुए, जिनको महान लब्धि थी, उस लब्धि से 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज देहसहित भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ 'सीमंधर' परमेश्वर महाविदेहक्षेत्र में बिराजते हैं, वहाँ गये थे, वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। समझ में आया ? भगवान 'सीमंधर' परमात्मा वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में बिराजते हैं। उस समय भी बिराजते थे। क्योंकि उनका आयुष्य करोड़ पूर्व का है। करोड़ पूर्व का आयुष्य ! ओ..हो..हो... ! करोड़ पूर्व किसे कहते हैं मालूम है ? नहीं ? एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं, उसे एक पूर्व कहते हैं। ओ..हो... ! क्या उसमें ? उसमें तो थोड़ा आया। सत्तर लाख करोड़। एक करोड, दो करोड, तीन करोड ऐसे नहीं, एक हजार करोड़ ऐसे नहीं, लाख करोड ऐसे नहीं, सत्तर लाख करोड़। सत्तर लाख करोड़ और उपर छप्पन हजार करोड़। इतने वर्ष का एक पूर्व होता है। ऐसा-ऐसा एक करोड़ पूर्व का भगवान का आयुष्य है।

'सीमंधर' परमात्मा वर्तमान में केवलज्ञानी समवसरण में बिराजते हैं। इन्द्र उपर से व्याख्यान सुनने को, प्रवचन सुनने को (जाते हैं)। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य देह में बिराजते हैं, इन्द्र जाते हैं, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, नरेन्द्र, नाग और बाघ (शेर) सब भगवान का प्रवचन सुनने जाते हैं। वहाँ 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' गये थे। दिगम्बर संत मुनि दो हजार वर्ष पहले संवत ४९ में भरतक्षेत्र में (थे), वे यहाँ से वहाँ गये, देह (सहित), हाँ ! आहारकशरीर नहीं था। पहले चौदह पूर्व और आहारकशरीर थे, वह नहीं था। लब्धि थी, जमीन से चार अंगुल उपर चलने की (लब्धि थी)।

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' महासंत मुनि आचार्य (को) लब्धि थी तो वहाँ गये थे। वहाँ से आकर शास्त्र बनाये हैं। 'समयसार', 'नियमसार', 'प्रवचनसार', 'पंचास्तिकाय' इत्यादि। उसमें यहाँ ('नियमसार' में) तीसरी गाथा में कहते हैं, अ..हो.. ! यहाँ भी वही कहते हैं, भाई ! **'लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ'** यह 'दौलतरामजी' कहते हैं। पूर्व के आचार्यों ने कहा, वही कहते हैं, अपने घर की बात नहीं कहते।

यहाँ 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं, **'णयमेण य जं कज्जं'**। जो आत्मा को निश्चय से-वास्तव में करने योग्य हो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (करने लायक है)। समझ में आया ? और वहाँ भी लिया है, **'विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।'** इस शास्त्र का नाम 'नियमसार' है। नियम और सार। नियम से अपना आत्मा शुद्ध अकंडानन्द प्रभु पूर्ण आनन्द का कन्द है, ऐसा स्वसन्मुख होकर (अनुभव करना)। शरीर, वाणी, मन की जड़ की क्रिया भिन्न, पुण्य-पाप का भाव बन्ध का कारण है, वर्तमान एक समय की वर्तमान अवस्था है वह तो अल्प ज्ञान, अल्प दर्शन, अल्प वीर्य है, इतना मैं नहीं। मैं तो एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण ज्ञान से भरा, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द से भरा, पूर्ण शांति अर्थात् चारित्र से (भरा), स्वरूप चारित्र, हाँ ! और पूर्ण दृष्टा भाव से भरा, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण विभूता, पूर्ण प्रभुता, पूर्ण स्वसंवेदता (से भरा हूँ)। पूर्ण स्वसंवेदता का अर्थ – मैं मेरे से वेदन में आनेवाला हूँ, ऐसा आत्मा में एक गुण है। क्या कहा, समझ में आया ?

शुभाशुभ विकल्प राग है, उससे आत्मा वेदन में, जानने में आता है – ऐसा आत्मा में कोई गुण है नहीं। समझ में आया ? आत्मा में एक ऐसा गुण है, कहते हैं कि, प्रकाशगुण। प्रकाश का अर्थ **'णियमेण य जं कज्जं'** अपना शुद्ध भगवान आत्मा अपने से **'स्वानुभूत्याचकासते'** वह तो अपना अनुभव, पुण्य-पाप के राग से पृथक् होकर अन्तर स्वरूप का स्वसंवेदनज्ञान का आनन्द का अनुभव करके, अपनी अपने से प्रसिद्धि करते हैं, वह अपना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वही नियम से अपना कर्तव्य अर्थात् कार्य है। आहा..हा..! समझ में आता है ? डॉक्टर ! लिखा है न ! देखो ! उसमें लिखा है।

'जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि-शुभाशुभभाव, वह संसार है; इसलिये उसकी रुचि छोड़कर...' है ? **'स्वोन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निज आत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।'** उनके घर की बात नहीं है। **'लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;'** मैं एक भगवान पूर्णानन्दस्वरूप (हूँ)। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' आता है या नहीं ? 'बनारसीदास' में। 'समयसार नाटक'। 'चेतनरूप अनूप अमूरत' – मैं एक चैतन्य भगवान अतीन्द्रिय आनन्दकन्द, अनूप अर्थात् जिसे कोई कोई उपमा नहीं, अमूरत (अर्थात्) जिसमें रंग, गंध, रस, स्पर्श नहीं अथवा जिसमें अमूरत

(अर्थात्) ये विकारी परिणाम भी जिसमें नहीं। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' मेरा स्वभाव तो अन्दर परमानन्द सिद्ध समान मेरी चीज़ है। यह 'बनारसीदास' कहते हैं, परन्तु अनादिकाल से **'मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महा तम घेरौ।'** कर्म ने नहीं, मैंने मोह माहात्म्य किया; पर का माहात्म्य किया, अपना माहात्म्य अनादि से छोड दिया। समझ में आया ?

भगवान पूर्णानन्द प्रभु, जिसको सर्वज्ञदेव आत्मा कहते हैं, जिसको सर्वज्ञदेव पूर्णानन्द प्रभु पुण्य-पाप के आस्रव से रहित, जड़ की क्रिया देह, वाणी, मन से रहित ऐसा आत्मा, उसकी मैंने अनन्तकाल में संभाल की नहीं, उसका भान किया नहीं। वह तो अनन्तकाल से जो करने योग्य कार्य था, वह किया नहीं। समझ में आया ? करने योग्य क्या था ? **'णियमेण य जं कज्जं त णियमं णाणदंसणचरित्तं।'** यहाँ स्वसन्मुख कहते हैं वह। स्वसन्मुख। वह तो ग्यारहवी गाथा में आया न ? भाई ! **'भूतार्थ अभिगताहाः'** अथवा

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।११।।

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दिगम्बर संत मुनि हुए, उनके बाद 'अमृतचंद्राचार्य' ११०० वर्ष पहले दिगम्बर संत हुए, वे कहते हैं कि, **'स्वानुभूत्याचकासते'** समझ में आया ? तेरा आत्मा अन्तर में... भूतार्थ का अर्थ भी उन्होंने किया **'भूदत्थमस्सिदो'** भगवान ! तुम तो भूतार्थ अर्थात् त्रिकाल आनन्दकन्द ध्रुव धातु सत् चैतन्यसत् है, ऐसा चैतन्य महासत् प्रभु, उसका आश्रय लेने से, उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? भाई ! ये सौभाग्य आत्मा की बात करते हैं, देखो यहाँ ! आहा..हा... !

भगवान आत्मा भूतार्थ **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव'ने कहा, 'अमृतचंद्राचार्य' ने कहा, अ..हो... ! शुद्धनय के अनुसार शुद्ध चिदानन्द प्रभु अंतर्मुख होकर अपना पूर्ण शुद्ध द्रव्यस्वभाव, परमात्मस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, एकरूप अभेदस्वभाव का आश्रय करते हैं अर्थात् उसके स्वसन्मुख होते हैं, उसे सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन हुए बिना ज्ञान सम्यक् होता नहीं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र कभी तीनकाल तीनलोक में होता नहीं। वह पहले आ गया न ? भाई ! पहले आ गया न ? क्या आया ?

१७ वाँ श्लोक है न ? तीसरी ढाल का १७ वाँ श्लोक। 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'।

'**मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;**' भगवान आत्मा..! १७ वाँ श्लोक है, १७वाँ। हिन्दी में ८३ पन्ना है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन '**णियमेण य जं कज्जं**' जो भूतार्थ आश्रित सम्यग्दर्शन होता है, जो त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति भगवान, उसके अन्तर सन्मुख होकर अपनी निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन में आत्मा अतीन्द्रिय का स्वाद आता है; सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है – ऐसा जो सम्यग्दर्शन (है), वह मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी (है)। है ? पढ़ा है या नहीं ? पहले कितनी बार पढ़ा है ?

'**मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;**' ऐसा सम्यग्दर्शन, स्वानुभव... आत्मा आनन्दकन्द की अंतरदृष्टि, अनुभव, इस अनुभव के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्ता न लहे। सच्चापना प्राप्त नहीं करता। मिथ्याचारित्र और मिथ्याज्ञान चार गति में भटकने का कारण है। शास्त्र का पढ़ा हुआ, ग्यारह अंग का पढ़ा हुआ, नौ पूर्व का पढ़ा हुआ ज्ञान भी दु:खरूप है। समझ में आया ? अपने आत्मा का सम्यक् चैतन्यमूर्ति भगवान, जो नियम से करने लायक भगवान आचार्य कहते हैं, ऐसा अनुभव सम्यग्दर्शन हुए बिना तेरा ज्ञान और तेरी व्रतादि की क्रिया सम्यक्ता न लहे, सच्चापन प्राप्त नहीं करता। उसे बालतप और बालतप कहने में आता है। समझ में आया ? आहा..हा...!

अनन्तकाल (में) ऐसा समय आया तो समय गँवा दिया। अनन्त-अनन्त काल में... समझ में आया ? सच्चा समय आया, सत्य क्या है (वह) सुनने में भी आया, समझे नहीं, समझ में लिया नहीं। बाहर में धंधा, धंधा व्यवहार धंधा, ये भी व्यवहार धंधा। 'योगसार' में कहते हैं न ? भाई ! व्यवहार धंधा, पुण्य की क्रिया व्यवहार धंधा है। भगवान आत्मा, नियम से करने योग्य जो आत्मा की क्रिया सम्यग्दर्शन हुआ नहीं तो ज्ञान और चारित्र सच्चापना प्राप्त नहीं करता, झूठापन प्राप्त करता है। उसका ग्यारह अंग का अभ्यास, नौ पूर्व पढ़ा वह भी झूठा ज्ञान (है) और सम्यग्दर्शन बिना, आत्मा की अनुभूति बिना, आत्मा के आनन्द के अनुभव की भूमिका प्रकट हुए बिना जितना व्रत क्रियाकांड करे, सबको मिथ्याचारित्र कहने में आता है।

'**सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।**' 'दौलतरामजी' कहते हैं, अरे..! भव्य जीव ! तूने

अनन्तकाल में सम्यग्दर्शन धारण किया नहीं तो अब तो धारण कर, अब तो प्रकट कर। '**दौल समझ सुन चेत सयाने**' हे सयाना ! '**काल वृथा मत खोवै।**' अनन्तकाल में ऐसा काल मिला, दुनिया के लिये काल मत गँवा। तेरा आत्मा क्या चीज़ है, उस ओर तेरा आराधन, सम्यग्दर्शन की ओर होना चाहिए। '**यह नरभव फिर मिलन कठिन है, यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।**' यदि सम्यक् अनुभव... यह सम्यक् रत्न की बात करते हैं। तीन रत्न हैं या नहीं ? तीन रत्न नहीं कहते ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग; ये तीन रत्न हैं। इस रत्न से मुक्ति मिलती है। मुक्ति अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन सिद्ध की पर्याय। तीन रत्न क्या ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र। यहाँ सम्यग्दर्शन की बात करते हैं। अनन्तकाल में तूने यह किया नहीं तो अरे... ! प्राणी ! अरे... ! जीव ! भगवान आत्मा ! देखो ! सब की रुचि छोड़कर...

भगवान ! 'नियमसार' (में) तो 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' वहाँ तक कहते हैं कि, शरीर, वाणी, मन, कर्म - ये तो अजीव है लेकिन पुण्य-पाप का भाव भी अजीव और परद्रव्य है। 'नियमसार' ५० वीं गाथा। समझ में आया ? लेकिन आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का क्षयोपशम, विकास, वर्तमान समय की पर्याय प्रकट है, उसको भी भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' परद्रव्य कहते हैं। समझ में आया ? डॉक्टर ! कठिन पड़ता हो तो धीरे-धीरे कहेंगे। यहाँ कोई दिन नहीं चला जाता है। देखो !

पुव्वुत्तमयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं;
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।।५०।।

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज संत दिगम्बर महान संत, वर्तमान में स्वर्ग में बिराजते हैं। पंचमकाल के संतो केवलज्ञान है नहीं तो वर्तमान में स्वर्ग में बिराजते हैं, एक भव करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाने की तैयारी उनकी है। वे भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दिगम्बर संत कहते हैं कि, पूर्व में जो आत्मा का भाव कहा, ४९ गाथा तक बहुत कहा, थोड़ी सूक्ष्म बात है। भगवान आत्मा ! '**लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;**' उसका अर्थ कि, एक समय में प्रभु शरीर, वाणी, कर्म तो जड़ है ही, परद्रव्य है ही (उन्हें) दृष्टि में छोड़ दे; और

पुण्य-पाप का भाव विकार है वह भी परद्रव्य है, परभाव है, हेय है – तीन बोल लिये। इसके अलावा अपनी वर्तमान ज्ञान की क्षयोपशम पर्याय-विकास की पर्याय है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य की (विकसीत पर्याय है), उसको भी यहाँ भगवान आचार्य परद्रव्य कहते हैं, परभाव कहते हैं, हेय कहते हैं। तीन विशेषण है, देखो !५० वीं गाथा। बहुत बार व्याख्यान हो गये हैं।

'परदव्वं परसहावमिदि हेयं' भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' प्रभु कहते हैं कि, आत्मा किसे कहते हैं ? कि, आत्मा एक समय की पर्याय जो विकास की है, वह आत्मा नहीं। आहा..हा... ! विकास समझते हैं ? विकास (अर्थात्) क्षयोपशम। भाषा नहीं समझते ? ये क्षयोपशम है न ? ज्ञान की पर्याय का विकास, उघाड है न ? उघाड़। उघाड़ को क्या कहते हैं ? विकास... विकास को हिन्दी में क्या कहते हैं ? उघाड़। उघाड़ कहते हैं न ? आत्मा तो केवलज्ञानकन्द है, पूर्णानन्द है परन्तु उसकी पर्याय में जो क्षयोपशमभाव है – मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय क्षयोपशमभाव है, उसको भी यहाँ भगवान तो परद्रव्य कहते हैं।

मुमुक्षु :- क्यों ?

उत्तर :- क्योंकि उसका आश्रय लेने से आत्मा की शान्ति नहीं मिलती। पर्याय का आश्रय लेने से आत्मा की शांति की वृद्धि होती नहीं। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन की बात बाद में करो। लेकिन पहले, देखो ! ज्ञान का क्षयोपशम-विकास है, दर्शन का उघाड़ है, वीर्य का उघाड़ है। है न वर्तमान में ? पर्याय में है न ? उसको भी भगवान परद्रव्य कहते हैं। क्यों ? कि, उसके आश्रय से आत्मा को सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्या कहा ?

मुमुक्षु :- समझ में नहीं आया।

उत्तर :- समझ में नहीं आया ? फिर से कहते हैं, सुनो ! यह आत्मा भगवान एक समय में – सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण अखण्ड द्रव्यस्वभाव वस्तु है। इसके अलावा, पुण्य-पाप के भाव को तो परद्रव्य कहा, परवस्तु कहा, क्योंकि वह अपनी चीज़ नहीं; छूट जाती है। शरीर, वाणी, कर्म तो अजीव हैं, पर पृथक् हैं, परन्तु अपनी वर्तमान अवस्था में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ जो है उसको परद्रव्य कहा, परभाव कहा क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन की नयी पर्याय उसमें से उत्पन्न नहीं होती। थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई !

सम्यग्दर्शन की पर्याय... सम्यग्दर्शन पर्याय है, गुण नहीं; गुण त्रिकाल है। सम्यग्दर्शन प्रथम सीढ़ी–मोक्षमहल की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन जो है, वह शरीर, वाणीमें से नहीं आता, पुण्य–पापभावमें से नहीं आता, ऐसे वर्तमान क्षयोपशम ज्ञान, दर्शन, वीर्य है, उसमें से नहीं आता। भगवान पूर्णानन्द प्रभु शुद्धद्रव्य, ध्रुव है, उसकी अंतरदृष्टि करने से उसमें से सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होती है। आहा..हा...! समझ में आया या नहीं ? इतने वर्ष से भक्ति तो बहुत करते हो।

मुमुक्षु :– ये आत्मा की भक्ति...

उत्तर :– आत्मा की भक्ति चलती है। आत्मा की भक्ति का नाम सम्यग्दर्शन। पर की भक्ति का नाम शुभभाव।

यह निश्चयभक्ति। भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण द्रव्य, उसकी एक समय की पर्याय को भी यहाँ परद्रव्य कहकर, परभाव कहकर हेय कर दिया। एक रहा भगवान पूर्ण अखंडानन्द ध्रुव वस्तु, उसकी अन्तर दृष्टि करने से, उसका आश्रय लेने से, अनन्त जीव को जितनों को सम्यग्दर्शन हुआ, है और होगा सबको अन्तर्मुख पूर्णानन्द प्रभु की अन्तर दृष्टि करने से, उसके आश्रय से होता है। समझ में आया ? भाई ! बहुत सूक्ष्म है, भाई ! बात चलती नहीं, बाहर की क्रिया करके जिंदगी पूरी (करते हैं)। आत्मा का लाभ सम्यग्दर्शन की श्रद्धा क्या है, उसका भी पता नहीं। समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन, जो द्रव्य वस्तु है... यहाँ कहा न ? स्वसन्मुख होकर... स्वसन्मुख का वह अर्थ है। पूर्ण वस्तु, पूर्ण वस्तु। स्व पूर्ण वस्तु के सन्मुख। वर्तमान पर्याय, राग और निमित्त का आश्रय छोड़कर पूर्ण स्वभाव का अन्तर आश्रय लेना, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। अनन्तकाल में नहीं हुई (ऐसी) सम्यग्दर्शन पर्याय अपने द्रव्य के आश्रय से होती है। समझ में आया ?

आचार्य तो इससे भी आगे बात करते हैं कि, सम्यग्दर्शन पर्याय हुई और अपने स्वरूप का सम्यग्ज्ञान हुआ, उसको भी यहाँ तो आचार्य परद्रव्य कहते हैं, परभाव कहते हैं, हेय कहते हैं। क्यों ? कि, जो पर्याय अन्दर में द्रव्य सन्मुख होकर प्रकट हुई, उस पर्याय के आश्रय से, नई

पर्याय – शुद्धि की वृद्धि, उसके आश्रय से नहीं होती। समझ में आया या नहीं ? कभी बात सुनने में आती है। क्या (कहा) ? फिर से ? फिर से कहते हैं, भाई ! भाई कहते हैं फिर से कहो। वन्समोर, कहते हैं न ? ये तो फिर से समझने जैसी बात है।

ऐसी बात अनन्तकाल में सुनी नहीं। सुनी हो तो अन्दर में यथार्थपने रुचि होनी चाहिए। आचार्य तो 'समयसार' की चौथी गाथा में कहते हैं, '**सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।**' '**सुदपरिचिदाणुभुदा**' अरे.. ! भगवान ! अरे.. जीव ! आचार्य तो भगवान कहकर बुलाते हैं, हाँ ! 'समयसार' की ७२ वी गाथा है, उसमें भगवान आत्मा कहते हैं। भगवान आत्मा है न, प्रभु ! तुम तो महिमावंत आनन्दकन्द प्रभु हो न ! भगवान ! तेरी चीज़ की बात तुने अनन्तकाल में कभी सुनी नहीं। सुने बिना परिचय किया नहीं, परिचय किये बिना अनुभव हुआ नहीं। तो क्या हुआ ? काम भोग – बंधकथा। उसका अर्थ राग का करना, पुण्य-पाप भाव का करना और पुण्य-पाप का भोगना। बस ! वह बात अनन्तकाल में अनन्तबार सुनी है। शुभाशुभभाव का करना। काम-इच्छा, राग। भोग-अनुभव। पुण्य-पाप भाव का करना और उसे भोगना। वह बात अनन्तकाल में अनन्तबार सुनी है। तेरे परिचय में भी यह बात अनन्तबार आ गई है और तेरे अनुभव में भी आ गई है। '**एयत्तस्सुवलंभो**' परन्तु भगवान इस पुण्य-पाप के विकल्प से पार है, अखंडानन्द प्रभु है, उसकी बात – एकत्व की, राग से पृथक् की बात भगवान तूने अनन्तकाल में यथार्थपने सुनी नहीं। समझ में आया ? सुनि नहीं तो परिचय में आया नहीं, परिचय में आये बिना अपना अनुभव उसे हुआ नहीं और जिसको अनुभव है – ऐसे सम्यग्ज्ञानी की सेवा उसने कभी की नहीं, ऐसा उसमें लिखा है। आता है न ? भाई !'समयसार' चौथी गाथा।'**एयत्तणिच्छयगदो**' तीसरी (है)।

कहते हैं, आत्मा... यहाँ आत्मा किसको कहते हैं ?'**सग्‌दव्वं.. सग्‌दव्वं, स्व द्रव्यं, स्व द्रव्यं**' अपनी पर्याय में स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान जो हुआ, उस पर्याय को भी परद्रव्य कहते हैं। वह परभाव है। क्षायिक समकित प्रकट हुआ, उसको भी भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' परद्रव्य कहते हैं, परभाव कहते हैं, हेय कहते हैं। क्यों ? कि, सम्यग्दर्शन स्ववस्तु के आश्रय से हुआ परन्तु उस पर्याय का आश्रय करने से नयी शान्ति, नया धर्म उत्पन्न होता नहीं। आहा..हा... ! क्योंकि द्रव्य में से पर्याय आती है; पर्यायमें से पर्याय नहीं आती है।

राग में से तो नहीं, निमित्तमें से तो नहीं। बात में इतना फर्क है। अपनी पर्याय निमित्त से प्रकट होती है वह तो नहीं, ये शुभविकल्प है, उसमें से तो नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन की पर्याय द्रव्य के आश्रय से प्रकट हुई उसके आश्रय से भी नई शुद्धपर्याय प्रकट नहीं होती क्योंकि पर्यायमें से पर्याय नहीं होती है; द्रव्यमें से पर्याय होती है। भाई !

द्रवता है ना ? द्रवति इति द्रव्यं। द्रव्य जो वस्तु अखंडानन्द प्रभु पूर्णानन्द सच्चिदानन्द परमपारिणामिक स्वभावभाव ज्ञायकभाव के आश्रय से जैसा सम्यग्दर्शन हुआ, उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान हुआ, उसके आश्रय से स्थिरता-चारित्र की लीनता हुई; जो हुई उसमें से नया चारित्र नहीं आता। आहा..हा...! समझ में आया ? पर्यायमें से नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। नयी अवस्था तो द्रव्य में से उत्पन्न होती है। द्रव्य एक स्वरूप अखंडानन्द भगवान का आश्रय सम्यग्दृष्टि कभी छोडते नहीं। समझ में आया ? एक समय भी राग और वर्तमान अवस्था का अवलंबन यदि मुख्य हो जाये तो दृष्टि मिथ्यादृष्टि हो जाये। आहा..हा...! समझ में आया ? थोड़ी सूक्ष्म बात निकल गई।

यह जैनधर्म का देखो ! '**जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार...**' भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्होंने चार अनुयोग कहे, चारों अनुयोग का सार वीतरागता (है), शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता (है)। 'पंचास्तिकाय' में आता है न ? वीतरागता का अर्थ - वीतरागता उत्पन्न कैसे होती है ? द्रव्य वस्तु अखंडानन्द प्रभु में ऐसी अनन्त वीतरागता पड़ी है - द्रव्य में, वस्तु में अनन्त वीतरागता पडी है। आहा..हा...! ऐसा द्रव्यस्वभाव परमात्मस्वभाव परमपारिणामिस्वभाव ज्ञायकस्वभाव एकरूप त्रिकाल अभेदस्वभाव (है) समझ में आता है ? यह बात उसने की नहीं, यह किये बिना मर गया।

कहते हैं, '**णियमेण य जं कज्जं**' जो कहते हैं और पहले '**विपरीयपरिहरत्थं**' कहा। '**विपरीतना परिहार अर्थे 'सार' शब्द योजेल छे।**' भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं, यह आत्मा निश्चय निज स्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करने योग्य है। उससे विपरीत जो शुभाशुभ आदि भाव हैं, उनको छोडने के लिए उसका नाम 'नियमसार' कहा है। नियमसार। समझ में आया ? उसका सार यहाँ 'दौलतरामजी' ने कहा,

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

ऐसा कहा। '**नित्य**' शब्द क्यों कहा है ? 'नित्य' शब्द है, (क्योंकि) पहले और पीछे आत्मा का ध्यान करो। आहा..हा... ! '**नित आतम ध्याओ**' आत्मा क्या ? यह पूर्णानन्द अखंड ज्ञायकभाव, वह आत्मा। एक समय की पर्याय भी आत्मा नहीं वह तो व्यवहार आत्मा (है)। पुण्य-पाप का भाव आस्रवतत्त्व; कर्म, शरीर आदि अजीवतत्त्व (है)। आत्मा एक समय में पूर्ण ज्ञायकभाव (है)। समझ में आया ? आत्मा उसको कहा। आत्मा कहा न ? पूर्ण एकस्वरूप। नित्य ध्यावो, ऐसे कहा 'नित आतम ध्याओ।' कोई बार नित्य आत्मा के अलावा कोई पर का आश्रय लेना या नहीं ? पर का आश्रय होता है, फिर भी अन्तर में सम्यग्दृष्टि धर्मी को आत्मा अखंडानन्द ज्ञायकभाव का अवलंबन-आश्रय कभी छूटता नहीं। भाई ! है न ? उसमें शब्द है या नहीं ?

'**नित आतम ध्याओ।**' ओ..हो.. ! किसी समय भगवान का ध्यान करना या नहीं ? आता है। जब तक स्वरूप में उपयोग स्थिर होता नहीं, शुद्ध उपयोग (होता नहीं), तब उसका विकल्प ऐसा आता है, परन्तु अन्तर दृष्टि में द्रव्य का आश्रय कभी छूटता नहीं। वस्तु का अन्दर आश्रय छूटे और पर्याय और राग का आश्रय हो जाये (तो) एकान्त मिथ्यादृष्टि हो जाता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भैया ! अनन्तकाल में कभी सुनी नहीं, समझी नहीं तो किया तो कहाँ से हो ? और यही करने से जन्म-मरण का अन्त आता है, दूसरी कोई क्रियाकाण्ड से जन्म-मरण का अन्त आता नहीं।

कहते हैं कि, '**नित आतम ध्याओ।**' ऐसा क्यों नहीं कहा कि, नित्य राग को करो, शुभराग को करो ? दोष है, वह तो पुण्य है। आता है। करने योग्य नहीं; आता है। ऐसे क्यों नहीं कहा कि, अपनी पर्याय जो प्रकट है, सम्यक् हुआ उसका ध्यान करो ? समझ में आया ? पर्याय प्रकट हुई, अवस्था प्रकट होती है वस्तुमें से, फिर भी वस्तु की नित्य लक्ष्य और दृष्टि रखो। पर्याय का लक्ष्य और दृष्टि का ज्ञान हो, परन्तु आश्रय करने योग्य है नहीं। ऐसी अन्तर दृष्टि हुए बिना उसे सम्यग्दर्शन होता नहीं और सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान कहने में आता नहीं।

लाख शास्त्र पढ़े हों, दुनिया (में) लाखों को समझा दे, परन्तु स्वयं यथार्थ समझा नहीं तो क्या समझा दे ? समझ में आया ? फिर भी दुनिया (में) लाखो लोगों को समझा दे तो वह तो विकल्प है। समझाने का तो विकल्प है, उस विकल्प से तो पुण्यबंध है। दूसरों को लाभ होता है उससे अपने को कुछ लाभ होता है ? दूसरा कोई समझ जाये, उसकी पर्याय का लाभ यहाँ होता है या नहीं ? (ये भाई) ना कहते हैं।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

'तोरि' (कहा) न ? तो तोड़ने की बात कही न ? तोड़े कौन ? स्वयं तोड़े। दूसरा कोई तोड़ दे ? गुरु और शास्त्र तोड़ दे ? **'तोरि सकल जग द्वंद-फंद,'** कहाँ गये ? भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि, लेने की चीज़ तो अन्तर में है, कोई बाहर से दे सकता नहीं। तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव के पास तेरा द्रव्य पड़ा है ? तेरा द्रव्य तो तेरे पास है। समझ में आया ? और तेरी पर्याय भी तेरे पास है और तेरे द्रव्य में तो अनन्त सिद्ध भगवान हैं। केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं कि, तेरे द्रव्य में अनन्त केवलज्ञान हैं। क्यों ?

जब केवलज्ञान होता है, केवलज्ञान। स्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र हुआ, बाद में उसके (स्वरूप के) आश्रय से केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान तो एक समय रहता है ? क्या (कहा) ? केवलज्ञान पर्याय है, गुण नहीं। तो केवलज्ञान एक समय रहता है। दूसरे समय उसका व्यय होता है, क्योंकि 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्' पर्याय का उत्पाद होता है, पुरानी पर्याय का व्यय होता है, वस्तुरूप से ध्रुव रहती है। केवलज्ञान एक समय की पर्याय दूसरे समय में व्यय हो जाती है। दूसरे समय दूसरा केवलज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा-ऐसा अनन्तकाल केवलज्ञान उत्पन्न होता है वह सब केवलज्ञान आत्मा के ज्ञानगुण में शक्ति पडी है। अन्दर में न हो तो आता कहाँ से है ? समझ में आया ? आहा..हा...! कहो, डोक्टर ! 'अंजनचोर' कहाँ गया ? हमारे भाई ने प्रश्न किया था न ? सोलह वर्ष पहले, सोलह वर्ष हुए (संवत) २००६ की साल। अभी २०२२ (चल रहा है), १६ वर्ष हुए। तुम पहले २००६ की साल में आये थे। पहली बार 'राजकोट' (आये थे)। मानस्तंभ के जन्माभिषेक करते थे, तब

पहली बार देखा। १६ वर्ष हुए, २००६ की साल।

यहाँ कहते हैं, भगवान ! आहा..हा... ! आत्मा एक वस्तु (है), उसमें ज्ञानगुण (है)। इस ज्ञानगुण में अनन्ती केवलज्ञान की पर्याय पडी है। आत्मा में एक आनन्द (गुण है), उसमें अनन्त आनन्द (है), भगवान को जो अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट हुआ, वह अतीन्द्रिय आनन्द भी एक समय रहता है, दूसरा समय में दूसरा अतीन्द्रिय आनन्द, तीसरे समय तीसरा अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसा अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द सादि अनन्त की जितनी पर्याय हैं, सब आत्मा के आनन्द गुण में पडी हैं। समझ में आया ? आत्मा किसको कहते हैं ? वह बात चलती है। वैसे अनन्त वीर्य। भगवान को अनन्त चतुष्टय प्रकट होता है या नहीं ? अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख। तो वह अनन्त (वीर्य) एक समय की पर्याय है, दूसरे समय दूसरी, तीसरे समय तीसरी। ऐसे सादि अनन्त। भूतकाल के काल से भविष्य काल अन्तगुना (है)। ये सब अनन्ती पर्याय एक-एक गुण में पड़ी हैं। ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड भगवान, उसको यहाँ आत्मा कहने में आता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं, '**तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।**' आहा..हा... ! यह 'छहढाला' तो (लोग) बहुत पढ़ते हैं और कंठस्थ करते हैं। भाव क्या है ? यहाँ तो 'दौलतरामजी' कहते हैं, अरे.. आत्मा ! जिसको भगवान ने आत्मा कहा, अनन्त पर्याय का पिण्डरूप गुण, अनन्त गुण का एकरूप आत्मा, उसकी अन्तर दृष्टि करो। उसका ज्ञान करो और उसमें लीन हो जाओ। वही मोक्ष का मार्ग नियम से करने योग्य है। बाकी रागादि आता है, जानने योग्य है। समझ में आया ? आहा..हा... !

अभी अर्थ किया था न ? 'स्व अपूर्व अर्थं।' 'स्व अपूर्व अर्थं।' स्व-पर, स्व-पर का ज्ञान। यहाँ कहा न ? स्व-पर का ज्ञान। स्व-पर के ज्ञान का अर्थ क्या किया ? यह ज्ञान की व्याख्या हुई। (उसके पहले) दर्शन की व्याख्या हुई। ज्ञान की व्याख्या सम्यग्ज्ञान। अपना शुद्ध स्वरूप भगवान एकरूप का ज्ञान। ऐसी ज्ञान की अनन्ती अनन्ती पर्याय शुद्ध स्वरूप भगवान एकरूप का ज्ञान। ऐसी ज्ञान की अनन्ती अनन्ती पर्याय अन्तर में पडी है। ऐसे अनन्त गुण के अवलंबन से जो ज्ञान हुआ वह सम्यग्ज्ञान (है)। शास्त्रज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं, वह व्यवहारु ज्ञान

है – पुण्यबन्ध का कारण है। परसत्तावलंबी ज्ञान पुण्यबंध का कारण है, स्वसत्तावलंबी ज्ञान मोक्ष का कारण है।

स्व–पर का भेद – ऐसा ज्ञानमार्ग लिया न ? पहले कहा था। '**तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ**;' सातवीं, सातवीं गाथा। आपमें छठ्ठी होगी।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनो।।

करोड़ उपाय करके भी भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, उसका ज्ञान कर। कैसे ? स्व–पर का भेद करके। स्व–पर का भेद क्या हुआ ? अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य का ज्ञान हुआ तो उसमें पुण्य–पाप आदि नहीं है – ऐसा पर का ज्ञान हुआ। अर्थात् अपने आत्मा का, शुद्ध चैतन्य का अन्तर्मुख होकर ज्ञान हुआ, तब बाद में रागादि व्यवहार बाकी रहता है, वह भी जानने योग्य है ऐसा पर का ज्ञान करो। 'स्व अपूर्व अर्थ।' स्व का ज्ञान अपूर्व नाम यह आत्मा नहीं, ऐसा पुण्य–पाप का भाव आदि का ज्ञान करो, है इतना ज्ञान करो। आहा..हा... ! भाई ! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! यह बात तो पहले एकबार कही थी। 'स्व अपूर्व अर्थ।' ऐसे दो शब्द हैं न ? इसमें आया है ना ?

(चौथी ढाल की) पहली गाथा (की) फूटनोट में आता है। देखो ! '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**' 'प्रमेयरत्नमाला' (का सूत्र है)। '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं**' क्या कहा ? सम्यग्दर्शन तो हुआ, बाद में ज्ञान का आराधन करो, ऐसा कहा है। ज्ञान तो साथ में उत्पन्न होता ही है। सम्यग्दर्शन कारण, सम्यग्दर्शन कार्य। दीपक कारण, प्रकाश कार्य। परन्तु है साथ में। लेकिन ज्ञान का सम्यग्दर्शन होने के बाद भी अन्तर ज्ञान का आराधन करो। इस ज्ञान की व्याख्या '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं**'। स्व भगवान आत्मा का ज्ञान और अपूर्व (अर्थात्) दूसरा। पूर्व–पुण्य, पाप, दया, दान, विकल्प, शरीरादि। अपूर्व अर्थात् यह आत्मा नहीं, वह पर, उसका ज्ञान करो। है, उसका ज्ञान करो, आदरणीय

नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा का स्व का ज्ञान और अपूर्व अर्थ नाम पर का, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दानादि विकल्प उठते हैं, (उसका ज्ञान करो)। भाई ! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह उसमें आ गया। ('समयसार') बारहवीं गाथा में कहा, '**भूदत्थमस्सिदो**' भान हुआ। (बाद में भी) जो राग-द्वेषादि आते हैं, दया, दान, व्रत,भक्ति का परिणाम होता है, (वह) जानने योग्य है। अपना नहीं ऐसा जानने योग्य है। ऐसा स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान करना उसका नाम आत्मज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह मोक्षमार्ग का दूसरा अवयव है। सम्यग्दर्शन पहला भाग है, सम्यग्ज्ञान दूसरा है। वह बात कही।

ज्ञान-दर्शनपूर्वक '**निज आत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।**' अब, ज्ञान हो तो बाद में चारित्र होता है, उसकी व्याख्या करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❈

अपनेमें केवलज्ञान प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है । यह प्रकट नहीं हो सकता- ऐसा न मान । केवलज्ञान प्रकट करना यह दुष्कर है, ऐसा न मान । जीवको परमाणु बनाना हो तो यह नहीं हो सकता । अरे ! रागको नित्य रखना हो तो वह भी नित्य नहीं रख सकता, परन्तु शुद्धता प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है । यह कैसे न हो सके ? यह कैसे कठिन है ? जीवमें स्थिर होना , शुद्धता प्रकट करनी - यह तो जीवका स्वभाव होनेसे हो सकता है । अतः ''न हो सके'' ऐसी मान्यतारूप शल्य छोड़ दे । (परमागमसार-३७९)

वीर संवत २४९२, फागुन शुक्ल ५, शुक्रवार

दि.२५-२-१९६६, गाथा-९, १०, ११, प्रवचन नं.-३६

चौथी ढाल चलती है, देखो !'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' चलती है।'छहढाला' में चौथी ढाला (है)। हिन्दी में नौंवी गाथा हो गई, हिन्दी में, हाँ ! गुजराती में नौ है। उसके अन्तिम के थोड़े बोल हैं, नौंवीं (गाथा का भावार्थ का) अन्तिम थोड़े बोल हैं, उसके साथ संबन्ध करते हैं। आज हिन्दीवाले आये हैं। नौंवी है न ? मूल श्लोक। चौथी (ढाल का) नौंवा (श्लोक)। नौंवी के साथ संबन्ध है।

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥९॥

क्या कहा ? इसमें सार लिया है।'**पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;**' पूर्व का जो पुण्य और पाप का जो बन्धन हुआ है, उसका जो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिले, उसमें हर्ष और खेद नहीं करना। समझ में आया ? '**पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;**' उसमें छह बोल आ गये हैं। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप का भाव, उसमें भी पुण्य ठीक और पाप अठीक नहीं मानना और पुण्य-पाप का बन्धन हो, उसमें भी पुण्य बंधे वह ठीक और पाप बंधे वह अठीक, ऐसा नहीं मानना। दोनों बन्धन हैं और पुण्य-पाप के फल में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिले उसमें भी हर्ष-शोक करना नहीं।

'**यह पुद्गल परजाय,...**' वह तो पुद्गल की अवस्था है।'**उपजि विनसै फिर थाई।**' पूर्व के पुण्य के कारण पुद्गल मिले, फिर बिखर जाये, फिर से मिले। वह तो पुद्गल की

अवस्था है। '**लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;**' सार में सार कहते हैं। '**तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।**' देखो ! सम्यग्ज्ञान की बात है। आत्मा, पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, उससे भिन्न अपना स्वरूप है। ऐसा भेदज्ञान करके अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करना। सारे वीतराग मार्ग का वह सार है। '**लाख बात की बात यही,**' शास्त्र में करोड बात, लाख बात कही हो; एक '**निश्चय उर लाओ**' आत्मा अखण्ड शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। शरीर, कर्म, अजीव से भिन्न है और पुण्य-पाप का भाव जो आस्रवतत्तव है, उससे भी भिन्न है। समझ में आया ? आस्रव से भिन्न है, अजीव से भिन्न है। आस्रव से भिन्न है क्योंकि सात तत्त्व हैं या नहीं ? पुण्य-पाप का भाव है वह तो आस्रवतत्त्व है। दोनों आस्रव हैं और शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व से और आस्रवतत्त्व से अपना शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, जैसा सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव ने शुद्ध आत्मा देखा है, ऐसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि करो।

सारे जैनशासन की सार बात यह है कि, '**तोरि सकल जग दंद-फंद,**' पुण्य-पाप का भाव जग दंद-फंद है। उसकी रुचि छोड़कर, अजीव की रुचि छोड़कर सहजानन्द नित्यानन्द प्रभु आत्मा है, उसकी रुचि करो और राग से भेदज्ञान करके अपना ज्ञान करो। कहो, समझ में आया ? मूल चीज यह है। इस चीज़ के बिना कभी उसको व्रत, नियम और चारित्र होता नहीं। कहते हैं कि, '**नित आतम ध्याओ।**' ऐसा क्यों कहा ? कि, हंमेशा अपना स्वरूप शुभ-अशुभराग और कर्म से भिन्न है, ऐसे स्वरूप की दृष्टि कर। हमेशा-नित्य ऐसी दृष्टि रखो और ऐसे आत्मा में ध्यान लगाओ। वही मोक्ष का मार्ग है और वही संसार का अन्त करने का उपाय है। नौ आ गयी, अब दसवीं। नौंवी गाथा तो विस्तार से हो गई है।

अब दसवीं (गाथा)। ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद उसे सम्यक्चारित्र होता है। दसवीं गाथा है, भैया ! है उसमें ? १०८ पन्ना है। यह चौथी ढाल चलती है। है न ?

सम्यक्चारित्र का समय और भेद तथा अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रत का लक्षण

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै;
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।
त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न सँहारै;
पर-वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै।।१०।।

अन्वयार्थ :- (सम्यग्ज्ञानी) सम्यग्ज्ञानी (होय) होकर (बहुरि) फिर (दिढ़) दृढ़ (चारित) सम्यक्चारित्र (लीजे) पालन करना चाहिए; (तसु) उसके (उस सम्यक्चारित्रके) (एकदेश) एक देश (अरु) और (सकलदेश) सर्वदेश (ऐसे दो) (भेद) भेद (कहीजै) कहे गये हैं। (उनमें) (त्रसहिंसाको) त्रस जीवों की हिंसा का (त्याग) त्याग करना और (वृथा) बिना कारण (थावर) स्थावर जीवों का (न सँहारै) घात न करना (वह अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है) (पर-वधकार) दूसरों को दु:खदायक, (कठोर) (और) (निंद्य) निंद्यनीय (वयन) वचन (नहिं उचारै) न बोलना (वह सत्य-अणुव्रत कहलाता है)।

भावार्थ :- सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सम्यक्चारित्र प्रकट करना चाहिए। उस सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं - (१) एकदेश (अणु, देश, स्थूल) चारित्र और (२) सर्वदेश (सकल, महा,सूक्ष्म) चारित्र। उनमें सकलचारित्र का पालन मुनिराज करते हैं और देशचारित्र का पालन श्रावक करते हैं। इस चौथी ढाल में देशचारित्र का वर्णन किया गया है। सकलचारित्र का वर्णन छठवीं ढाल में किया जायेगा। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करके निष्प्रयोजन स्थावरजीवों का घा न करना सो * अहिंसा अणुव्रत हैं। दूसरे के प्राणों को घातक, कठोर तथा निंद्यनीय वचन न बोलना (तथा दूसरों से न बुलवाना, न अनुमोदना सो सत्य-अणुव्रत है)।

* टिप्पणी :- (१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह जीव घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ' इसप्रकार संकल्पसहित किसी त्रसजीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधीनी हिंसा का त्यागी नहीं होता।

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै;
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।
त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न सँहारै;
पर-वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै।।१०।।

क्या कहते हैं ? देखो, शब्दार्थ। '**सम्यग्ज्ञानी होकर फिर...**' शब्दारथ-अन्वयार्थ। पहले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान न हुआ हो तो उसे व्रत और चारित्र कभी होता नहीं। सम्यग्दर्शन, आत्मा (का) अनुभव (हुआ हो); राग, शरीर, कर्म से भिन्न शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धस्वरूप - ऐसा अपना पवित्र भगवान आत्मा दृष्टि में पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके लिया न हो तो सम्यग्दर्शन होता नहीं। और शुभाशुभराग का ज्ञान छोड़कर, भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान करो, बाद में सम्यक्चारित्र धारण करो।

मुमुक्षु :- ... चारित्र हो जाये।

उत्तर :- चारित्र हो जाये। चारित्र है ही नहीं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना जितना, व्रत, नियम, तप आदि करते हैं, वह तो बालतप और बालव्रत हैं। समझ में आया ? वह सच्चा व्रत है नहीं। अपना स्वरूपभगवान शुद्ध, जिसमें स्थिर होने से शांति मिले... समझ में आया ? भगवान सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप परमानन्द अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य - ऐसे अनन्त चतुष्टय संपन्न अपना निज परमात्मस्वरूप है। उसका दर्शन, सम्यक् अनुभव करके प्रकट करना और उसका सम्यग्ज्ञान का आराधन करना, ऐसा होने के बाद सम्यक्चारित्र धारण करना। समझ में आया ? उसके बिना चारित्र सच्चा होता नहीं।

यह सम्यक्चारित्र का समय बताते हैं। काल क्या है ? सम्यक्चारित्र का समय क्या ? कि, सम्यग्दर्शन, ज्ञान होने के बाद चारित्र का काल है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ नहीं, अपना आनन्दकन्द ज्ञाता-दृष्टा मैं हूँ, राग उत्पन्न होता है, उसका भी मैं कर्ता नहीं। समझ में आया ? राग विकल्प उठता है लेकिन (वह) विकार है, मैं कर्ता नहीं, जड़ की क्रिया मेरी नहीं - ऐसा

अपना शुद्धस्वरूप का दर्शन–ज्ञान हुए बिना व्रत, तप, क्रियाकाण्ड सच्चा होता नहीं।

कहते हैं, '**सम्यग्ज्ञान होकर (बहुरि)...**' बहुरि अर्थात् '**फिर...**' बाद में। '**दृढ सम्यक्‌चारित्र का पालन करना चाहिए;...**' देखो ! 'दृढ' शब्द लगाया है। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप की दृष्टि हुई और शुद्ध अपने ज्ञान का बोध अन्तर भेदज्ञान हुआ, बाद में स्वरूप में स्थिर होने को दृढ चारित्र अंगीकार करना। समझ में आया ? चारित्र बिना कभी मुक्ति होती नहीं।

मुमुक्षु :– दृढ चारित्र लेता...

उत्तर :– दृढ़ अर्थात् ऐसे लेना कि बाद में च्यूत न हो, ऐसा कहते हैं। क्या (कहा) ? ऐसा चारित्र लेना कि, फिर नीचे गिरे नहीं, ऐसा कहते हैं। उपर चढ़ता जाये, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा अपनी दृष्टि में आया तो उसमें अन्तर में स्थिर होने को सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्र धारण करना। परन्तु कैसा ? '**दृढ सम्यक्‌चारित्र का पालन करना चाहिए; उसके...**' अर्थात् '**सम्यक्‌चारित्र के एकदेश और सर्वदेश (ऐसे दो) भेद...**' हैं। सम्यक्‌चारित्र के दो भेद (हैं)। सम्यग्दर्शन–ज्ञान (होने के बाद) सम्यक्‌चारित्र के दो भेद हैं। एकदेश श्रावक का, सर्वदेश मुनि का। ऐसे दो (भेद) '**कहे गये हैं।**'

उसमें भी पहले अहिंसा अणुव्रत में '**त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना...**' श्रावक को अपने स्वरूप का भान होने के बाद चारित्र में देश अणुव्रत है त्रस हिंसा का त्याग होना चाहिए। संकल्प से मैं त्रस को मारुं, संकल्प से मैं दोईन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौईन्द्रिय, पंचेन्द्रिय को मैं संकल्प (करके) मारुँ, ऐसा संकल्प श्रावक को पंचम गुणस्थान में अणुव्रत में होता नहीं। समझ में आया ? अन्दर स्पष्टीकरण आयेगा।

'**और बिना कारण स्थावर जीवों का घात न करना...**' स्थावर जीव (मे भी) एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय हैं। स्थावर में भी पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय जीव हैं। एक पृथ्वी के इतने कण में असंख्य पृथ्वीकाय के जीव हैं। जलकाय के एक बिन्दु में असंख्य अपकाय के जीव हैं। समझ में आया ? वायु में भी थोड़े वायु में असंख्य जीव हैं। हरितकाय में नींवपत्ता आदि में एक पत्ते में

भी असंख्य जीव हैं। एक शरीर में एक (जीव) है। और निगोद आलु, कंदमूल, काई, फूग में एक शरीर में अनन्त जीव हैं। उनकी हिंसा वृथा न करनी। गृहस्थाश्रम है, प्रयोजन है तो हिंसा आ जाती है। परन्तु अनर्थ-बिना कारण त्रसहिंसा छोडी वैसे ही स्थावर की हिंसा भी बिना कारण नहीं करनी। समझ में आया ? **'घात न करना (वह अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है)।'** यह अहिंसा अणुव्रत श्रावक का पहला अणुव्रत (है)।

'(पर-वधकार) दूसरों को दु:खदायक, कठोर...' अब सत्य अणुव्रत की बात चलती है। सत्य अणुव्रत। सम्यग्दृष्टि श्रावक को पाँच अणुव्रत में दूसरा सत्य अणुव्रत किसको कहते हैं, उसकी व्याख्या है। **'दूसरों को दु:खदायक, कठोर, निंद्यनीय वचन न बोलना...'** समझ में आया ? पंचम गुणस्थान(वर्ती) श्रावक को सर्वार्थसिद्धि के देव से भी शांति बढ गई है। क्या कहा ? सर्वार्थसिद्धि के देव को तो अविरत सम्यग्दर्शन है। उसको अणुव्रत आदि पंचम गुणस्थान नहीं है। जिसको अन्तर में आत्मज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूप की स्थिरता की शांति बढ गई है, दो कषाय का नाश हो गया। सर्वार्थसिद्धि के देव को तो एक अनन्तानुबंधी का ही अभाव हुआ और श्रावक को आत्मा के अनुभवपूर्वक अनन्तानुबंधी और प्रत्याख्यानवरणीय दोनों का अभाव हो गया है। समझ में आया ? भैया ! दो का अभाव हुआ है। अन्तर में कषाय का अभाव होना उसका नाम एकदेश चारित्र है।

अन्तर में अनुभव करके अनन्तानुबंधी का तो अभाव कर दिया है, बाद में स्वरूप में स्थिरता (करके) इतनी शांति आई कि जो सर्वार्थसिद्धि के देव को नहीं (है)। ऐसी अंतर्मुख में आंशिक शांति दूसरे कषाय का त्याग करके अन्दर स्थिरता हुई तो सर्वार्थसिद्ध के देव से भी पंचम गुणस्थानवाला बढ गया। ज्यादा गुणस्थान है। अन्तर की बात है, हाँ ! बाहर का अकेला क्रियाकाण्ड नहीं। अन्तर आत्मा का अनुभव, सम्यग्दर्शन हुआ है और भेदज्ञान - राग से भिन्न हुआ है, बाद में स्वरूप में स्थिर (होकर) दूसरे कषाय अप्रत्याख्यानावरणीय का नाश करके शांति... शांति... शांति... (का वेदन करते हैं)। दूसरे कषाय का अभाव करके अकषाय शुद्धपरिणति (प्रकट हुई है)। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणीय का अभाव होकर शुद्ध शांति की परिणति प्रकट हुई है। उसका नाम पंचम गुणस्थान का श्रावक कहने में आता है, उसको अहिंसा अणुव्रत में त्रस का घात नहीं होता और बिना कारण स्थावर की हिंसा वह नहीं

करते।

सत्य (अणुव्रत में) दूसरों को दु:खदायक हो, प्राणघात हो जाये, कठोर हो, निंद्यनीय हो – ऐसे वचन श्रावक को पंचम गुणस्थान में, सर्वार्थसिद्धि के देव से भी जिसकी शांति बढ गई है। शांति बढी है न ? अन्दर दो कषाय का अभाव (होकर) शांति बढी है। इस कारण से गुणस्थान है। उसके अणुव्रत में जो विकल्प उठते हैं, उसमें कठोर, दु:खदायक, निंद्यनीय वचन बोलने का भाव होता ही नहीं। समझ में आया ?

भावार्थ :- 'सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके...' सम्यग्ज्ञान, हाँ ! सम्यग्दर्शन तो पहले प्राप्त किया। वह तो कल पहली बात आ गई। बाद में अन्तर अनुभव में समायग्ज्ञान का आराधन किया। **'सम्यक्‌चारित्र प्रकट करना चाहिए। उस सम्यक्‌चारित्र के दो भेद हैं - (१) एकदेश (अणु, देश, स्थूल)...'** स्थूल है न ? श्रावक का व्रत तो स्थूल है। छट्ठे–सातवें गुणस्थान में बिराजमान हैं, उनको महाव्रत है। यह तो अंश, थोड़ा है। **'और (२) सर्वदेश (सकल, महा, सूक्ष्म) चारित्र...'** मुनि को तो सकलचारित्र, महाचारित्र अथवा सूक्ष्मचारित्र (है)। छठ्ठा–सातवां गुणस्थान। आनन्दकन्द में झुलनेवाले मुनि, भावलिंग शुद्ध चिदानन्द। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज, 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज संतो महा दिगम्बर अन्तर अनुभव में क्षण में छठ्ठा, क्षण में सप्तम, क्षण में छठ्ठा, क्षण में सप्तम ऐसी मुनि की अवस्था अन्तर में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द में बहुत लवलीन हैं। उनको सकल चारित्र का पंच महाव्रत का परिणाम होता है। समझ में आया ? उनको सकल चारित्र का पंच महाव्रत का परिणाम होता है। समझ में आया ? उनको अठ्ठाईस मूलगुण का विकल्प होता है।

मुनि को अन्तर अनुभव में आनन्द की दृष्टि होकर सम्यग्ज्ञान आत्मा का आराधन करके, बाद में स्वरूप में तीन कषाय का अभाव करके (लीनता प्रकट हुई है)। श्रावक को दो कषाय का, समकती को एक कषाय–अनन्तानुबन्धी का, श्रावक को दो कषाय और मुनि को तीन कषाय का अभाव (हुआ) है। इतनी वीतरागता अन्दर बढ गई हो। आहा..हा...! समझ में आया ? यह वीतरागता शांति इतनी बढी है कि, जिसमें पंच महाव्रत और अट्ठाइस मूलगुण के ही विकल्प उठते हैं। उनको वस्त्र–पात्र लेने का विकल्प होता नहीं। मुनि को वह होता ही नहीं,

मुनि की अवस्था ऐसी है। समझ में आया ?

मुनिपना जिसको हुआ उसकी बाह्य में नग्न अवस्था हो जाती है। वस्त्र-पात्र रहे और मुनि हो जाये, ऐसा कभी होता नहीं। समझ में आया ? अन्तर में जिसको तीन कषाय का अभाव करके अन्तर शांति का अनुभव, आनन्द का चारित्र हुआ ऐसे मुनि को पंच महाव्रत अहिंसा, सत्य व्रत पूरे होते हैं और अट्ठाईस मूलगुण (होते हैं)। एकबार आहार लेना, छह आवश्यक आदि ऐसे अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प होता है। उस व्यवहार को सकलचारित्र कहते हैं। अन्दर स्थिरता हुई है, वह यथार्थ चारित्र है; विकल्प उठते हैं, वह व्यवहारचारित्र है। पंच महाव्रत है न ? विकल्प उठते हैं वह व्यवहारचारित्र है। लेकिन उस व्यवहारचारित्र के साथ अन्दर निश्चयचारित्र है। स्वरूप की दृष्टि, ज्ञानपूर्वक स्थिरता तीन कषाय का अभाव है तो उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... !

वह कहते हैं, देखो ! सकलचारित्र अथवा सर्वदेश अथवा महाचारित्र अथवा सूक्ष्म चारित्र। समझे ? पहले में स्थूलचारित्र कहा न ? क्षावक को स्थूलचारित्र है। मुनि अर्थात् परमेष्ठी अवस्था। ओ..हो..हो... ! जिसकी बाह्य दिगम्बर अवस्था, एक वस्त्र का धागा भी नहीं होता। ऐसी आनन्द की मूर्ति। कमण्डल निमित्तरूप से उपकरण होता है। दूसरा (कुछ) होता नहीं। एक पुस्तक। आनन्दघन (में झूलते हैं)। 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य', 'पूज्यपादस्वामी' इत्यादि महासंत हुए वे सकल चारित्रवंत थे। समझ में आया ?

'उनमें सकल चारित्र का पालन मुनिराज करते हैं...' श्रावक को यह भूमिका होती नहीं। **'देश चारित्र का पालन श्रावक करते हैं।'** पंच अणुव्रत का पालन श्रावक को होता है। पंच महाव्रत का पालन तो मुनि को होता है। **'इस चौथी ढाल में देशचारित्र का वर्णन किया गया है।'** इस चौथी ढाल में। **'सकल चारित्र का वर्णन छठवीं ढाल में किया जायेगा।'** अन्तिम में (करेंगे)।

'त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करके...' देखो ! संकल्पी हिंसा। मैं इस प्राणी को मार दूँ। ऐसी हिंसा का भाव पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को होता नहीं। **'निष्प्रयोजन स्थावर जीवों का घात न करना, सो अहिंसा अणुव्रत है।'** प्रयोजन बिना...

श्रावक है, नीचे कहेंगे, देखो ! टिप्पणी है न नीचे ? नीचे टिप्पणी है। '**(१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह जव घात करने योग्य है, मैं इसे मारुं' इस प्रकार संकल्पसहित किसी त्रसजीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता;...**' एक मक्खी को भी संकल्प से मारना (कि), मैं मार दूँ, ऐसा भाव श्रावक को नहीं होता। एक मक्खी भी। मुझे ऊलटी नहीं होती, ऊलटी। बहुत दु:ख रहा है तो इस मक्खी को मार दूँ। ऐसे नहीं होता। संकल्पी हिंसा का त्याग है। पंचम गुणस्थान प्रकट हुआ है। शांति... शांति... शांति... अन्दर बहुत शांति (है), दो कषाय के अभाव (पूर्वक) शांति वर्तती है।

कहते हैं कि, '**इस प्रकार संकल्पसहित किसी त्रसजीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी,...**' आरंभी हिंसा है, उसका त्याग नहीं। खाना बनाते हैं, चलते हैं आदिआरम्भ होता है न ? (वह) आरम्भी। 'उद्योगिनी...' व्यापार। पंचम गुणस्थान में व्यापार होता है। जहाज का व्यापार होता है, धन्धे का व्यापार होता है। उस हिंसा का त्याग नहीं है। वह तो है न ? पंचम गुणस्थान में इतना परिणाम तो (होता है)। '**उद्योगिनी और विरोधीनी हिंसा का त्याग नहीं होता।**' विरोधीनी हिंसा का त्यागी नहीं। राजा हो और लड़ाई करने आये तो अपनी रक्षा के लिये सामने लड़ने का भाव होता है। मानते हैं कि, यह पाप है। विरोधीनी हिंसा भी पाप है, उद्योगिनी हिंसा भी पाप है, आरम्भी हिंसा भी पाप है परन्तु छोड़ नहीं सकते। पंचम गुणस्थान में छोड़ नहीं सकते। वह छूट जाये तो अन्दर में मुनिपना हो जाये। समझ में आया ? संकल्पी हिंसा का त्याग करते हैं और त्रस का स्थावर की बिना कारण हिंसा नहीं करते।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- उसे कहाँ है ? त्रस की हिंसा नहीं है। संकल्प-विकल्प नहीं है। तीन ज्ञान के धनी, कुछ तो जातिस्मरणज्ञानी हैं। वे क्या कहते हैं, समझ में आया ? अढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक हैं। यह अढाई द्विप का मनुष्य क्षेत्र है न ? अडाई द्वीप में मनुष्यक्षेत्र (है)। उसके बाहर असंख्य द्वीप, समुद्र में, स्वयंभूरमण समुद्र में सच्चे समकिती श्रावक हैं। है न, शास्त्र में पाठ है न ? समकिती अणुव्रतधारी। असंख्य मृग है, मच्छी है, मगर है, कुत्ता है, सिंह

है, वाघ है, ऐसे असंख्य हैं। सिद्धान्त में पाठ है, 'धवल' में पाठ है। भगवान ने केवलज्ञान में देखा है कि, अढाई द्वीप के बाहर (ऐसे जीव है)। अढाई द्वीप में तोबहुत थोडे श्रावक हैं। मनुष्य थोड़े हैं न ? और बाहर में असंख्य है। एक समकिती और असंख्याता मिथ्यादृष्टि। तो भी असंख्य समकिती और असंख्य श्रावक पंचम गुणस्थानवाले बाहर में हैं। हजार-हजार योजन का शरीर है। चार हजार गाउ का मच्छ का शरीर (है)। पंचम गुणस्थानवाला है, कोई अवधिज्ञानी (हैं)। तीन ज्ञान के धनी हैं। तो भी वे त्रस की हिंसा करते नहीं। संकल्प से त्रस की हिंसा नहीं (करते)। पानी में कोई त्रस आ जाये तो (अलग बात है)। वहाँ स्थावर तो हैं, स्थावर की हिंसा है।

मुमुक्षु :- ... ये चलता है ना ?

उत्तर :- लेकिन वह तो प्रयोजन का है न। बिना प्रयोजन की हिंसा कहाँ हुई ? चलता है (तो) स्थावर जीव की हिंसा होती है। समझ में आया ? जल में है न ? पंचम गुणस्थान है। चलता है, हजार योजन चले। मच्छी, कितना लंबा देह ! पानी बहुत है। तिर्यंच भी ऐसे होते हैं। यह बात क्या चलती है ? तिर्यंच पंचम गुणस्थानवाले होते हैं। भगवान तीर्थंकरदेव ने कहा है। ऐसे बहुत असंख्य बाहर पड़े हैं।

देखो ना, हाथी !'त्रिलोकमंडन' हाथी। 'त्रिलोकमंडन' था न ? जो 'रावण' का हाथी था। जब 'रामचंद्रजी' लाये, वह 'भरत' का मित्र था। 'भरत' दीक्षा लेते हैं न, देखो, 'भरत' दीक्षा लेते हैं। देखो ! चारों बैठकर जाते हैं। हाथी पर 'भरत', 'राम', 'लक्ष्मण', 'शत्रुघ्न' जाते हैं। 'भरत' दिक्षा लेते हैं, वह तो पूर्व का मित्र था। जातिस्मरण हो गया, तिर्यंच को जातिस्मरण हो गया। अ..हो.. ! मैं तो 'भरत' का मित्र था। अरे.. ! ये दीक्षा (ले रहा है), मैं तो मनुष्यपना हार गया। वैराग्य हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया। समझ में आया ? ये तो यहाँ अढाई द्वीप में है। अढाई द्वीप के बाहर असंख्य हैं। असंख्य ! अरबों, अरबों, समकिती श्रावक। मिथ्यादृष्टि उनसे असंख्यातगुने हैं।

मिथ्यादृष्टि तिर्यंच तो असंख्यगुना बाहर में हैं परन्तु समकिती भी असंख्य हैं। वह चले तब, पूंछ हिलाये तो स्थावर जीव बहुत मर जाते हैं। परन्तु वह तो शरीर की गति का प्रयोजन

है। हिंसा लगती है, हिंसा लगती है लेकिन उस हिंसा का त्याग उसे नहीं है। समझ में आया ? वह (क्रिया) बिना प्रयोजन नहीं है। शरीर चलता है, वहाँ पानी में लील-फूग भी हैं। लील-फूग समझे ? (-काई)।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- सामायिक करे, प्रोषध करे। पूछो न, भाई ! सामायिक का अर्थ अन्तर अखंडानन्द भगवान, उसमें समता-वीतरागी समता में स्थिर हो जाता है, उसका नाम सामायिक। वहाँ कुछ बिछाने का नहीं है कि, बिछा ले। कपड़ा, मकान नहीं है, वह तो जल में है और कितने पशु स्थल में पड़े हैं। सिंह, वाघ समकिती श्रावक (हैं)। अन्तर आनन्दमूर्ति का अनुभव सम्यग्दर्शन में हुआ है उसमें लीन हो जाते हैं। लीन... समता... समता.. समतारस का झरना अन्दर सामायिक में पीते हैं। प्रौषध में आत्मा का पोषण करते हैं। समकित में शुद्ध आनन्दकन्द की दृष्टि, अनुभव हुआ है, बाद में उसमें एकाग्र होते हैं, पोषण करते हैं, उसका नाम प्रौषध। तिर्यंच भी सामायिक और प्रौषध करते हैं। आहा..हा... ! आत्मा है न ! वह आत्मा की क्रिया है। जड़ की जड़ की क्रिया है। जड़ में क्या है ? समझ में आया ? कठिन बात, भाई !

यहाँ तो इतना कहते हैं कि, श्रावक पंचम गुणस्थान में जहाँ अपने स्वरूप का अनुभव और दृष्टि हुई है, बाद में जब पाँच अणुव्रत ग्रहण करते हैं, उसमें त्रसजीव की संकल्पी हिंसा का त्याग (है)। उद्योगिनी, आरम्भिनी और विरोधीनी हिंसा का त्याग नहीं होता। कोई विरोध करता हो तो ऐसा भाव आवे। माने, समझे कि पाप है। विरोध करना भी है तो पाप। व्यापार करने का भाव होता है, वह है तो पाप परन्तु उस पाप का त्याग पंचम गुणस्थान में नहीं हो सकता। समझ में आया ? आता है, उसे उतना राग है, अभी मोह है। स्त्री हो, श्रावक हो तो खाना बनाना पड़ता है। स्त्री पंचम गुणस्थान में आत्मध्यानी, ज्ञानी स्त्री हो पंचम गुणस्थान में, उसे भोजन करना पड़े, जल गरम करना पड़े तो उसमें जीव कि हिंसा होती है, कोई त्रस भी मरते हैं। (लेकिन) संकल्प से मारते नहीं।

मुमुक्षु :- उसे जलाये नहीं। छांटकर निकाल दे। लकड़ी हो उस पर रख दे। समझे न ?

क्या कहते हैं ? चिमनी गरम करके उस पर नहीं डालते ? चिमनी होती है न चिमनी ? सीसे की गरम-गरम चीमनी होती है ना ? कितने तो ऐसे होते हैं कि, खटमल हो उस पर गरम-गरम फिराये तो मर जो। प्राण जाये तो भी श्रावक करते ही नहीं। त्रसजीव को ऐसा नहीं करे। समझ में आया ? श्रावक है, करुणावंत है, उसमें दया है। ऐसे त्रस की हिंसा तो करते नहीं। जूँ होती है न ? जूं। जूं को क्या कहते हैं ? जूं कहते हैं न ? जूं निकालकर ऐसा करते हैं।

मुमुक्षु :- विरोधिनी है।

उत्तर :- वह विरोधीनी नहीं। ठीक कहते हैं। विरोधीनी नहीं है, वह तो बेचारी साधारण प्राणी है। कुछ औरतें जूं निकालती हैं, काम करती जाये। जैन में भी होते हैं, देखे हैं। नामधारी जैन। नामधारी जैन, भाव जैन क्या ? समझ में आया ? हमारे यहाँ महाजन लोग हैं, एक बाई कहने लगी, उस जूं को मारने का त्याग मुझसे नहीं हो सकता। जूं निकले तो तुरंत मार डालती हूँ। (नहीं) मारे तो कहाँ जाये ? (छोड दे तो) और किसी को काटे। आहा..हा... ! श्रावक को ऐसी हिंसा का भाव होता ही नहीं। बिलकुल नहीं होता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का भाव है। मैं सिद्ध समान (हूँ), सब सिद्ध समान आत्मा हैं। सब आत्मा ज्ञानमय भगवान है। समझ में आया ? सब जीव भगवान परमात्मस्वरूप हैं, पर्याय में भूल है तो मिथ्यात्व आदि है, तो भटकते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! समताभाव सब जीव है। कोई विरोधी दुश्मन है नहीं। समकिती किसी को दुश्मन मानते नहीं। कोई लड़ाई करने को आवे तो मारने का भाव आता है, परन्तु हमारा दुश्मन है -ऐसा नहीं मानते। आहा..हा... ! समझ में आया ?

व्रतधारी श्रावक **'आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधीनी हिंसा का त्याग नहीं होता।'** संकल्प हिंसा का त्यागी हो सकता है। **'दूसरे के प्राणों को घातक, कठोर तथा निंद्यनीय वचन न बोलना (तथा दूसरों से न बुलवाना, न अनुमोदना सो सत्य-अणुव्रत है)।'** देखो ! श्रावकपना अर्थात्... ओ..हो..हो..! जहाँ एकावतारी एकभवतारी सर्वार्थसिद्धि देव, एकभवतारी, एकभवतारी है न ? एक भव करके मुक्ति में जायेंगे। उससे भी ये (श्रावक) गुण में बढ गया। पंचम गुणस्थान (है)। गुण में बढ़ गया। बाहर से मात्र व्रत लिये ऐसा नहीं। अन्तर शांति और सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित कहा न ? **'सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ चारित**

लीजै' आत्मा का अनुभव हुआ है, आनन्दकन्द शुद्ध निर्विकल्प, निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हुआ है, निर्विकल्प आत्मा की अन्तर सम्यक् दृष्टि हुई है, बाद में स्वरूप की स्थिरता में ऐसे पाँच अणुव्रत का भाव होता है। आहा..हा...! ऐसी बात है, भाई ! समझ में आया ? वह एक श्लोक हुआ। दूसरा श्लोक।

अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत तथा दिग्व्रत का लक्षण

जल-मृतिका विन और नाहिं कछु गहै अदत्ता;
निज वनिता विन सकल नारिसों रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;
दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै।।११।।

अन्वयार्थ :- (जल-मृतिका विन) पानी और मिट्टी के अतिरिक्त (और कछु) अन्य कोई वस्तु (अदत्ता) बिना दिये (नाहिं) नहीं (ग्रहे) लेना (उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं) (निज) अपनी (वनिता विन) स्त्री के अतिरिक्त (सकल नारि सौं) अन्य सर्व स्त्रियों से (विरत्ता) विरक्त (रहे) रहना (वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है) (अपनी) अपनी (शक्ति विचार) शक्ति का विचार करके (परिग्रह) परिग्रह (थोरो) मर्यादित (राखै) रखना (सो परिग्रहपरिमाणाणु व्रत है)। (दस दिश) दस दिशाओं में (गमन) जाने-आने की (प्रमाण) मर्यादा (ठान) रखकर (तसु) उस (सीम) सीमा का (न नाखै) उल्लंघन न करना (सो दिग्व्रत है)।

भावार्थ :- जन समुदाय के लिये जहाँ रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्ति का स्वामित्व न हो - ऐसी पानी तथा मिट्टी जैसी वस्तु के अतिरिक्त परायी वस्तु (जिस पर अपना स्वामित्व न हो) उसके स्वामी के दिये बिना न लेना (तथा उठाकर दूसरे को न देना) उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं। अपनी विवाहित स्त्री के सिवा अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। (पुरुष को चाहिए कि अन्य स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समान

माने, तथा स्त्री को चाहिए कि अपनी स्वामी के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भाई तथा पुत्र समान समझे)।

अपनी शक्ति और योग्यता का ध्यान रखकर जीवनपर्यंत के लिये धन-धान्यादि बाह्य-परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) बांधकर उससे अधिक की इच्छा न करे उसे *परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं। दसों दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा निश्चित करके जीवनपर्यंत उसका उल्लंघन न करना सो दिग्व्रत है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है, इसलिए उसे दिग्व्रत कहा जाता है।

दूसरे में '**अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत तथा दिग्व्रत का लक्षण।**' चार की (व्याख्या कहेंगे)। दो की पहले आ गई, इसमें चार की (व्याख्या कहेंगे)।

जल-मृतिका विन और नाहिं कछु गहै अदत्ता;
निज वनिता विन सकल नारिसों रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;
दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै।।११।।

'छहढाला' में थोड़े में बहुत भर दिया है। गागर में सागर भर दिया है। दर्शन का

---

* टिप्पणी :- (१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह जीव घात करने योग्य है, मैं इसे मारूं' इस प्रकार संकल्प सहित किसी त्रस जीवकी संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधीनी हिंसा का त्यागी नहीं होता।

(२) प्रमाद और कषाय में युक्त होनेसे जहाँ प्राणघात किया जाता है वही हिंसा का दोष लगता है; जहाँ वैसा कारण नहीं है वहाँ प्राणघात होने पर भी हिंसाका दोष नहीं लगता। जिसप्रकार-प्रमादरहित मुनि गमन करते हैं; वैद्य डोक्टर करुणाबुद्धिपूर्वक रोगी का उपचार करते हैं; वहाँ सामनेवाले का प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं है।

(३) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रत को सर्वज्ञदेवने बालव्रत (अज्ञान) कहा है।

अधिकार भी इतना, सम्यग्ज्ञान का इतना, चारित्र का (भी इतना)। सब थोड़ें सारा सार भर दिया है, परन्तु लोग विचार नहीं करते, तोते की भाँति रट लेते हैं, परन्तु उसका भाव क्या है – (वह विचारते नहीं) इसीलिये तो उन्हों ने कहा कि, **'लाख बात की बात'** शुभाशुभ विकल्प से, राग से भिन्न आत्मा है ऐसा दृष्टि, अनुभव पहले करो। उसके बिना सम्यग्दर्शन, ज्ञान होता नहीं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना तेरा श्रावकपना, मुनिपना कुछ होता ही नहीं, बिना एक के सब शून्य हैं। शून्य है, एक बिना शून्य है।

पहले आत्मा का सम्यग्दर्शन ऐसा दृढ़ प्रकट करो – मैं शुद्ध आनन्दकन्द ही हूँ। पुण्य-पाप का राग होता है, वह मेरी चीज़ नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। शरीर, वाणी, मन जड़ की क्रिया का कर्ता मैं नहीं। क्योंकि जड़ पदार्थ की पर्याय, द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जड़ है। प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से हैं। द्रव्य त्रिकाली शक्ति का पिण्ड, गुण शक्ति और पर्याय चलती है, वह उसकी है, मेरी नहीं। वह मेरे से होती नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, जहाँ श्रावक के अणुव्रत है, वहाँ, तो अलौकिक शांति है। पंचम गुणस्थान नरक में तो होता नहीं। देव में होता नहीं, एक पशु में होता है, पंचम गुणस्थान पशु में... समझ में आया ? तिर्यंच में पंचम गुणस्थान होता है, उसको छठ्ठा नहीं होता। मनुष्य में चौथा होता है, पाँचवा होता है और छठ्ठा भी होता है। तीन की भूमिका अनुभवसहित होती है। समझ में आया ?

'(जल-मृतिका बिन) पानी और मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु बिना दिये नहीं लेना...' अचौर्यव्रत। समझे न ? नीचे टिप्पणी है न ? थोड़ी टिप्पणी (है)। **'प्रमाद और कषाय में युक्त होने से जहाँ प्राणघात किया जाता है वहीं हिंसा का दोष लगता है;'** **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** ऐसा 'तत्त्वार्थ सूत्र' (अधिकार-७, सूत्र-१३) में हैं न ? भगवान 'उमास्वामी' 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'मोक्षशास्त्र' में फरमाते हैं कि, **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** प्रमत्तयोग से हिंसा का भाव हो, उसका नाम हिंसा कहते हैं। **'प्रमाद और कषाय में युक्त होने से जहाँ प्राणघात किया जाता है, वहीं हिंसा का दोष लगात है; जहाँ वैसा कारण नहीं है वहाँ प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं लगता।'** मारने का प्रमाद नहीं, कषाय नहीं (है)। मर गया। मुनि का दृष्टान्त देते हैं, देखो !

'जिसप्रकार-प्रमाद रहित मुनि गमन करते हैं...' मुनि हैं न ? प्रमादरहित गमन करते हैं। आत्मा का ध्यान, ज्ञान, आनन्द, शांति है। प्रमाद न आ जाये ऐसे चलते हैं। (फिर भी) कोई जीव आ गया तो उसका पाप उनको नहीं लगता। भाव नहीं है, त्रस आ गया। कोई उड़ता प्राणी आ गया, मर जाये। (लेकिन) भाव नहीं है, प्रमादभाव नहीं हैतो वह त्रस मरे तो उसका पाप नहीं है। **'वैद्य डॉक्टर करुणाबुद्धिपूर्वक रोगों का उपचार करते हैं; वहाँ सामनेवाले का प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं है।'** मारने का भाव है नहीं। करुणाबुद्धि (है)। उसे हिंसा का पाप नहीं लगता।

'(३) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक...' नीचे है टिप्पणी में ? निश्चयसम्यग्दर्शन, हाँ ! चौथे गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन होता है। कोई कहे कि, व्यवहार सम्यग्दर्शन चौथे, पांचवे, छट्ठे है, ऐसा नहीं। वह तो राग है। व्यवहार तो पराश्रति है, निश्चय स्वआश्रित है। समझ में आया ? निश्चयसम्यग्दर्शन, अपना शुद्ध भगवान आत्मा के आश्रय से अन्तर अनुभव में प्रतीत होना, उसका नाम सच्चा-निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से होता है। समझ में आया ? और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा वह श्रद्धा, का विकल्प है, वह व्यवहार समकित है। वह व्यवहार समकित है। व्यवहार समकित कोई समकित है नहीं, परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन हुआ, अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभव प्रतीति (हुई) तो साथ में नौं तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, सच्चे अरिहंत परमेश्वर, गुरु निर्ग्रंथ चारित्रवंत, समझ में आया ? परम दिगम्बर संत महा आत्मध्यानी, ज्ञानी और भगवान सर्वज्ञ ने कहे हुए अनेकान्तमय शास्त्र। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहे हुए अनेकांतमय शास्त्र। इन तीनों की श्रद्धा शुभराग है। उसको व्यवहार समकित कहने में आता है। वर्तमान में बहुत गडबड चलती है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में व्यवहार समकित होता है। आठवें से निश्चय समकित होता है, ऐसा (है) नहीं। निश्चय समकित चौथे से ही होता है। स्वआश्रय (से) होता है।

मुमुक्षु :- ... निर्मल पर्याय...

उत्तर :- सम्यग्दर्शन तो श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। व्यवहार समकित तो शुभराग है, परआश्रित विकल्प उठता है। समझ में आया ? वर्तमान में बहुत गड़बड़ है। देव-गुरु-शास्त्र

की श्रद्धा करो। नौ तत्त्व की भेद श्रद्धा करो-ऐसा नहीं।

मुमुक्षु :- परद्रव्य तैं भिन्न आप (निज) में रुचि...

उत्तर :- परद्रव्य से भिन्न। भिन्न है। ऐसी रुचि, परद्रव्य से भिन्न, परद्रव्य से भिन्न अपने स्वरूप की रुचि। है न वह ? कौन-सा श्लोक है ? पन्ना ५६। **'परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है;'** देखो ! **'आपरूपको जानपनों सो सम्यग्यान कला है।'** आपना ज्ञान। शास्त्र ज्ञान तो पर-ज्ञान है। देखो ! भाषा कितनी ली है ! उन्हों ने पहले से लिया है। समझ में आया ? यहाँ (टेप) में सब आ गया है, सब व्याख्यान हो गया है, उत्तर आ गया है। चौथी ढाल चलती है न ? सब चल गया।

'परद्रव्यन्तैं भिन्न...' परद्रव्य की क्या श्रद्धा ? उसकी ... क्या है ? देव-शास्त्र-गुरु परद्रव्य है। शरीर परद्रव्य है, कर्म परद्रव्य है, उससे भिन्न (है)। वास्तव में पुण्य-पाप का भाव भी उससे पर है। उससे भिन्न अपना सम्यक् भला है। वह स्वरूचि निश्चय समकित है; और **'आपरूपको जानपनों,...'** देखो ! भाषा देखो ! 'छहढाला' (है)। **'आपरूपको... आपरुप'** शुद्ध ज्ञानानन्द आपरुप है। उसका ज्ञान। शास्त्रज्ञान तो व्यवहार ज्ञान हुआ। होता है, विकल्प होता है। वह निश्चय नहीं, निश्चय तो अपने स्वरूप का ज्ञान, वह ज्ञान है। है न भैया उसमें ? भैया ! देखो ! तीसरा शब्द क्या है ? **'आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित सोई;'** अणुव्रतादि विकल्प तो व्यवहार है। **'आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित सोई;'** भगवान आत्मा... !

मुमुक्षु :- अन्तर्मुहूर्त लीन रहे तो केवलज्ञान हो जाए।

उत्तर :- वह बाद में। अन्दर स्थिरता होती है न ? स्वरूप में स्थिरता होती है, उसका नाम चारित्र है, ऐसा कहते हैं। चारित्र कोई बाहर की चीज़ नहीं है। पंच महाव्रतादि परिणाम तो व्यवहारचारित्र है। स्वरूप में स्थिर होना, ठरना, छठ्ठे गुणस्थान में तीन कषाय रहित स्थिर हो, उसका नाम चारित्र है। आहा..हा... ! बहुत गडबड हो गई, इतनी गड़बड़ हो गई। बहार में वह सब सच्चा हो गया। निश्चय बिना का व्यवहार मात्र हो गया।

'अब व्यवहारमोक्षमार्ग सुनिये, हेतु नियतको होई।' निश्चय में ऐसा एक व्यवहार

निमित्त है। निमित्त (है)। व्यवहार समकित, व्यवहार ज्ञान, व्यवहारचारित्र निमित्त है, हेतु है न ? हेतु अर्थात् निमित्त। समझ में आया ?

११० पन्ने पर तीसरी टिप्पणी चलती है। '**पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो, उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।**' आत्मा का परद्रव्य से भिन्न स्वरूप का भान नहीं और स्वरूप की प्रतीति-अंतर निर्विकल्प श्रद्धा नहीं (है) तो इनके बिना व्रतादि धारण करे (वह) अज्ञानव्रत हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? मास-मास खमण के उपवास करे। बालतप है। सर्वज्ञ ने 'समयसार' में कहा है, '...' सर्वज्ञ उसे बालतप कहते हैं।

आत्मा अपना निज स्वरूप बिलकुल शुद्ध आनन्द (है), ऐसी अंतर्मुख दृष्टि का अनुभव हुए बिना, उसका ज्ञान हुए बिना रमना किसमें ? अन्दर में रमना वह चारित्र है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान तो हुआ नहीं, ठरना किसमें ? चारित्र का अर्थ रमना, लीन होना, चरना। चारित्र अर्थात् चरना, अन्दर में रमना। तो दर्शन-ज्ञान नहीं है तो रमना कहाँ से आया ? समझ में आया ? जगत को बहुत कठिन लगता है। (फिर कहते हैं), एकान्त... एकान्त... (है)। अरे.. भगवान ! सुन तो सही।

कहते हैं कि, '**निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।**' अब उसका अर्थ, ग्यारहवीं गाथा का (अर्थ)। श्रावक पंचम गुणस्थानवाला... ११० पन्ने पर। '**पानी और मिट्टी के अतिरिक्त...**' पंचम गुणस्थानवाला श्रावक पानी और मिट्टी के अलावा '**अन्य कोई वस्तु बिना दिये नहीं लेना...**' पानी तो नदी में चले ऐसा पानी, मिट्टी। वह अचौर्य अणुव्रत है। श्रावक का पंचम गुणस्थान का तीसरा अणुव्रत है।

'**अपनी (वनिता बिन)...**' देखो ! अपनी '**स्त्री के अतिरिक्त अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना...**' यहाँ तो पंचम गुणस्थानवाले को परस्त्री नहीं होती, ऐसा कहते हैं। नहीं होती है। पाप मानते हैं। स्वस्त्री के विषय में भी मानते हैं पाप, परन्तु छोड़ नहीं सकते। समझ में आया ? आ..हा... ! पाप तो पाप ही है न ! जितना स्थावर हिंसा का भाव, स्त्री के विषय का भाव... भाव भी है तो पाप। परन्तु उस पाप का त्याग पंचम गुणस्थान में हो नहीं सकता।

श्रावक है न ! उस पाप का त्याग, मुनि आत्मा के ध्यान में विशेष स्थिरता बढ जाये, उनको स्वस्त्री का त्याग हो जाता है। समझ में आया ?

'अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना...' सर्व स्त्री। पशु की स्त्री हो, देवांगना हो कि दूसरी मनुष्यणी हो। पंचम गुणस्थान में देवांगना आकर यदि लालच करे (तो भी नहीं डिगता।) आत्मा की शांति प्रकट हुई है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। पंचम गुणस्थान में चौथे गुणस्थान से (अधिक) आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। पंचम गुणस्थान में अतीन्द्रिय आनन्द का तो बहुत स्वाद है। ... स्व-स्त्री का राग आता है, उसे हम नहीं छोड सकते। दूसरे की मा-बहन, बेटी (देखते हैं)।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वह कुछ नहीं, वह अलग व्यवहार है, उसका व्यवहार अलग है। समझमें आता है ? यहाँ तो मनुष्य के व्यवहार की बात चल रही है।

'अन्य सर्व स्त्रीयों से विरक्त रहना (वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है)।' अब परिग्रह का त्याग। पाँचवे गुणस्थान में आत्मज्ञानी को स्वरूप में स्थिर होने की स्थिति में ऐसा शुभभाव होता है। **'अपनी शक्ति का विचार कर...'** देखो ! शक्ति विचार, हाँ ! अपनी शक्ति का विचार करके परिग्रह का माप करे। आता है न ? भाई ! तीर्थंकरगोत्र में... शक्ति तप त्याग। सोलह बोल आते हैं न ? तीर्थंकरगोत्र का नहीं (आता) ? क्या कहते हैं ? षोडशकारणभावना। षोडशकारणभावना में शक्ति तप त्याग। अपनी शक्ति विचारे कि, हमारी इतनी शक्ति है, विशेष नहीं। एकदम सब ले ले, हठ ले ले ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु :- परंपरा ले।

उत्तर :- परंपरा ले क्या करे ? (ऐसा कहे हैं) व्रत की हवा चली है, व्रत की बाढ चली है। ऐसे व्रत ले लेते हैं ?

मुमुक्षु:- ऐसे व्रत ले तो आकुलता हो जाय।

उत्तर :- तो आकुलता हो जाये। ऐसी बात है, ऐसी बात है। अपनी शक्ति विचारे कि,

मुझे तो त्याग करना है (लेकिन) इतना परिग्रह छोड़ सकता हूँ, विशेष नहीं छोड़ सकता। दुनिया एकदम छोड़ दे और कर दे और स्वयं हठ में जुड जाये, ऐसा नहीं। अपनी शक्ति की मर्यादा देखे, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कितना है, मेरा सामर्थ्य कितना है, मैं समता कितनी रख सकता हूँ, उतना त्याग हो तो भी मुझे आकुलता न हो, (उसके अनुरूप) परिग्रह का परिणाम करे।

मुमुक्षु :- संभाल सकता है।

उत्तर :- कौन संभाल सकता है ? धूल।... वह तो सम्यग्दर्शन में मानते हैं कि, एक पाई भी मैं रख नहीं सकता, वह तो जड़ है। परपदार्थ की मैं रक्षा करता हूँ या व्याज उत्पन्न करके व्यवस्था कर सकता हूँ वह बात तो मानते ही नहीं। वह तो मिथ्यादृष्टि माने कि, जड़ की अवस्था मैं कर सकता हूँ। वह तो है ही नहीं। परन्तु पर के त्याग में मेरा राग (घटा) इतना त्याग करता हूँ कि, मेरी मर्यादा में इतना परिमाण कर सकता हूँ, विशेष नहीं। इतना चारित्र में राग का अभाव करते हैं। पर के एक रजकण की क्रिया भी कर सकता हूँ, ऐसा माने तो परद्रव्य की क्रिया करनेवाला कर्ता मिथ्यादृष्ट हुआ। समझ में आया ?

जैसे ईश्वर कर्ता परद्रव्य का, जगत का कर्ता है, ऐसा कहते हैं, वैसे यह जैन नाम धारण करके जड़ की पर्याय (मैं करता हूँ ऐसा मानता है)। परमाणु स्वतंत्र पदार्थ है। एक-एक परमाणुमें अनन्त गुण है। अनन्त गुण की एक समय में अनन्ती पर्याय होती है। अनन्ती पर्याय उसके परमाणु का कार्य है। वह कार्य क्या आत्मा कर सके ? समझ में आया ? सम्यग्दर्शन हुआ तब से उसे भान हुआ है। नहीं, जगत के सब पदार्थ अपनी पर्याय प्रवाह से चलते हैं, मैं उसका कर्ता-हर्ता नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... माप करते है।

उत्तर :- नहीं, नहीं। पहले से ही व्रत लेते समय माप करते हैं कि, मैं इतना त्याग कर सकता हूँ। मुझे पाँच हजार या दस हजार हो, इतनी मेरी ममता छूटती नहीं। इतना परिमाण करे। एकदम छोड़कर कुछ नहीं रखे और फिर आकुलता उत्पन्न हो, ऐसा नहीं करते। सम्यग्दृष्टि विवेकी है। सम्यग्दर्शन हुआ है, आत्मा का भान (हुआ है), विवेक से काम लेता

है। हठ से काम नहीं लेता। अज्ञानी तो हठ से एकदम (कहता है), छोड दो..! क्या छोडे ? वस्तु कि स्थिति के भान बिना क्या छोड़े ? आग्रह हुआ है, आग्रह में छोड दिया। मैंने ऐसा छोड़ दिया। समझ में आया ?

'**मर्यादित रखना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। दस दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा रखकर...**' दस दिशा में मर्यादा करे। आजीवन। इसमें आजीवन की है।... रोज की आती है। इतनी ममता काम करे। मुझे इतने से बाहर नहीं जाना। पांचसो योजन, हजार योजन... सारी जिंदगी, हाँ ! '**आने-जाने की मर्यादा रखकर उस सीमा का उल्लंघन न करना।**' जो मर्यादा बांधी है, उसकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना। इतनी हद में उसे रहना, ऐसा विकल्प (आता है), उसको छठ्ठा देशव्रत कहते हैं। देखो ! भावार्थ है।

भावार्थ :- '**जन समुदाय के लिये जहाँ रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्ति का स्वामित्व न हो - ऐसी पानी तथा मिट्टी जैसी वस्तु के अतिरिक्त परायी वस्तु (जिस पर अपना स्वामित्व न हो) उसके स्वामी के दिये बिना न लेना...**' स्वामी की आज्ञा बिना न ले। '**(तथा उठाकर दूसरे को न देना)...**' हो किसी की चीज़ और उठाकर किसीको नहीं देता। '**उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं। अपनी विवाहित स्त्री के सिवा अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना, सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। (पुरुष को चाहिए कि अन्य स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समान माने, तथा स्त्री को चाहिए कि अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भाई तथा पुत्र समान समझे।**' पंचम गुणस्थान... ओ..हो..हो... !

'सीताजी' कहते हैं कि, मेरे स्वप्न में 'राम' के अलावा दूसरा कोई आया हो (तो) अग्नि जला दो। 'रामचंद्रजी' कहते हैं, गिरना पड़ेगा। अग्नि जलती है। अरे..! अग्नि 'राम' के अलावा मेरे संकल्प में, विकल्प में कोई दूसरा पति आया हो तो जला देना। ध्यान रखना, यदि दूसरा पति नहीं आया और जला दिया तो धर्म की इज्जत जायेगी। हमारे हृदय में 'राम' के अलावा दूसरा (कोई) है नहीं। पुण्य था, अनुकूल पुण्य था तो हो गया। (पुण्य न हो तो) जल भी जाये। समझ में आया ? ऐसा ब्रह्मचर्याणुव्रत में स्त्री भी अपने में दृढ़ है। पुरुष भी अपने ब्रह्मचर्यव्रत में (दृढ़ है)।

'सुदर्शन' शेठ नहीं आते हैं ?'सुदर्शन' शेठ। रानी बुलाती है। (कहेत हैं), माता ! मैं पुरुष नहीं। आहा..हा... ! मैं आत्मा हूँ, मैं श्रावक हूँ। मेरे दूसरी स्त्री न हो, प्राण जाय (तो भी) न हो। आहा..! समझ में आया ? ऐसा अन्तर दृष्टि का अनुभव, सम्यग्दर्शन है, इसके अलावा दूसरे कषाय का अभाव (है)। परस्त्री का त्याग, त्याग (है)। सपने में भी हमें परस्त्री न हो। सपने में न हो। समझ में आया ? सज्जन किसको कहे ? आहा..हा... ! आहा..हा... !

'अपनी शक्ति और योग्यता का ध्यान रखकर जीवनपर्यंत के लिये धन-धान्यादि बाह्य-परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) बांधकर उससे अदिक की इच्छा न करे उसे परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं।' उसका नीचे स्पष्टीकरण दिया है। **'निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथम दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके...'** नहीं होते हैं। यह बात पहले आ गई है। **'दसों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा निश्चित करके जीवनपर्यंत...'** आजीवन **'उसका उल्लंघन न करना, सो दिग्व्रत है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है, इसलिये उसे दिग्व्रत कहा जाता है।'** दिग–दिशा, मर्यादा करे। उसका नाम छठ्ठा व्रत कहते हैं। दूसरा देशावगाशिक व्रत आयेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✼

जिसे आत्माकी सच्ची रूचि जगे उसे चौबीसों घंटे उसीका चिन्तन-घोलन और खटक रहा करती है, नींदमें भी उसी-उसीका रटन चला करता है । अरे ! नरकमें गिरे हुए नारकी भीषण वेदनामे हों, और यदि पूर्वमें सत् सुना हो तो उसका स्मरण कर एकदम अन्तरमें उतर जाते हैं, उन्हें प्रतिकूलता छूती ही नहीं न । और स्वर्गकी अनुकूलतामें हो तो भी अनुकूलताका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जाते हैं । यहाँ तनिक प्रतिकूलता हो तो अरे ! मेरे ऐसा है और वैसा है, ऐसा कर-करके अनन्त काल गँवाया है । अब तो इनका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जा न । भाई !! इसके बिना सुखका अन्य कोई मार्ग नहीं । (परमागमसार-३९४)

वीर संवत २४९२, फागुन शुक्ल ६, शनिवार
दि.२६-२-१९६६, गाथा-११ से १४, प्रवचन नं.-३७

यह 'छहढाला', इसकी चौथी ढाल चलती है। ११ वाँ श्लोक पूर्वार्ध है। यह क्या अधिकार चलता है ? व्रत का... व्रत का। जो श्रावक के बारह व्रत है न ? उनका। पहले कह गये (हैं)। सम्यग्ज्ञानी होकर फिर सम्यक्चारित्र दृढ़पने ग्रहण करना। पहले तो शुद्धस्वरूप पूर्ण अखण्ड अभेद है, उसको रुचि और सन्मुख की दृष्टि हुए बिना जो मिथ्यात्व है – एक राग के अंश के कण का भी जो आदर करता है, वह अनन्त शुद्धस्वभाव का अनादर करता है। ऐसे मिथ्यात्वभाव में अनन्त नरक और निगोद भव की शक्ति पड़ी है। पहले उस भव की शक्ति का नाश करता है। समझ में आया ? इसलिए कहा न ? प्रथम ज्ञान होकर, आया था न क्या (था) ?

'सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ चारित लीजै;...' है न ? भाई ! उसका अर्थ क्या ? कि एक समय में आत्मा... विकार, राग, भ्रम आदि एक क्षण का है, परन्तु उस भ्रमणा का अर्थ परम शुद्ध चैतन्य अनन्त गुण समाज स्वरूप वीतराग पिण्ड आत्मा की रुचि न करके राग की रुचि (करना), यही मिथ्यात्व है। समझ में नहीं आता ? ऐ..ई..! भाई !

यहाँ तो व्रत कब होते हैं ? कि ऐसी भूमिका जिसकी अन्तर शुद्ध अनन्त ज्ञान आदि स्वभाव, एक समय का जो विकार, उससे रहित (है), उसकी दृष्टि रुचि होने पर, उसका ज्ञान होने के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता के अंश प्रकटे, उसे ऐसे बारह व्रत के विकल्प होते हैं; नहीं तो शुद्धस्वरूप पूर्ण है, उसकी जहाँ रुचि और आदर अन्तर में नहीं और एक मन्द का राग कण है, उसका भी जहाँ आदर है तो उसका अर्थ स्वभाव अनन्त गुण का अनादर अर्थात् मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व का पाप, उसका अनर्थपना जब तक भासित न हो और सम्यक् का अर्थपना प्रयोजनभूत मोक्ष, सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा का मोक्ष स्वभाव, जिसने अन्तर में प्रतीत किया,

उसकी महिमा न भासे, तब तक उसे यह व्रत आदि के विकल्प सच्चे नहीं होते। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार दृष्टि हुई हो, तब अन्तर में स्थिरता का अंश बढ़ा हो, तब उसे ऐसे विकल्प होते हैं, उन्हें व्यवहार, व्रत और पुण्यबन्ध का कारण कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह दृढ़ चारित्र, स्वरूप में स्थिरता का अंश हो तब उसे ऐसे व्रत के विकल्प आते हैं, वह ले – ऐसा कहा जाता है। कहो ! इसलिए कहा न पहले ? वस्तु जो है अनन्त चैतन्य गुणधाम, उसका बहुमान होकर जहाँ अन्तर रुचि और दृष्टि नहीं हुई, (वह) तो राग और निमित्त के प्रेम में रुचि में पड़ा है, वह तो मिथ्यात्व है। सत्य वस्तु का अनादर है और असत्य का आदर है, उसका नाम मिथ्यात्व (है)।

बात यह है कि इस मिथ्यात्व का अनर्थपना और सम्यग्दर्शन का प्रयोजन और अर्थपना, उसकी महिमा जब तक न आवे, तब तक वस्तु की दृष्टि नहीं होती। राग की मन्दता, यह तो एक व्यवहार परिमित दोष है; चारित्रदोष है, वह परिमित, परिमित मर्यादित, हदवाला दोष है; वह बेहद दोष मिटने के बाद (मिटता है)। बेहद दोष, अर्थात् मिथ्यात्व। बेहद स्वभाव अर्थात् आत्मा। क्या कहा ? बेहद दोष अर्थात् मिथ्यात्व, बेहद स्वभाव अर्थात् आत्मा। अनन्त, अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द की मूर्ति आत्मा, उसका पहलू छोड़कर पुण्य-पाप के राग के पक्ष की रुचि में खड़ा है, वह महा अनन्त मिथ्यात्व शक्ति में (खड़ा है)। अनन्त नरक और निगोद करने की मिथ्यात्व में शक्ति है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ! उस बहिर्मुख की वृत्ति की रुचि छोड़कर, अन्तर्मुख स्वभाव शुद्ध शुद्ध पूर्ण बेहद अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि एक-एक गुण बेहद है। ऐसा पूरा तत्त्व बेहद स्वरूपी प्रभु मुक्तस्वरूप, वीतरागस्वरूप है, उसकी अन्तर में रुचि होने पर बेहद मिथ्यात्व का, पाप का नाश और बेहद मुक्ति के उपाय की कणिका जागृत हुई, आहा..! क्या हो ? यह तो रात्रि में वे कहते थे न ? व्यवहार का उपदेश जरूर पडेगा। यह सब विचारो... अरे..! यह क्या कहते हैं ? भाई !

मुमुक्षु :- व्यवहार का विकल्प...

उत्तर :- परन्तु विकल्प उठना उपदेश, वही व्यवहार है। यह निश्चय का उपदेश करना, वह भी विकल्प और व्यवहार है।

मुमुक्षु :- सुनना वह.. ?

उत्तर :- वह भी व्यवहार है। क्या व्यवहार नहीं क्या ? भाई ! यह व्रत कब हो - इतनी भूमिका के लिए यह पहले उपोद्घात होता है। समझ में आया ? आज तो अब गुजराती है न, आज कोई (हिन्दी) नहीं। अधिक स्पष्ट होता है, ऐसा भाई के कहे अनुसार।

यहाँ तो भगवान आत्तमा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में, भ्रम एक समय का, मिथ्यात्व एक समय का काल; उसमें भाव अनन्त अनन्त नरक औरनिगोद की शक्ति का तत्त्व मिथ्यात्व में है, क्यों ? कि जो वस्तु है, वह भव के भावरहित चीज़ है। वस्तु है, वह भव और भाव का भाव - मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि भव का भाव, उससे रहित वह चीज़ है। आहा..हा.. ! ऐसा वस्तु स्वभाव अन्तर में उसे प्रेम में रुचि में अन्तर में न आवे और राग का, मन्द कषाय का, मन्द भाव (का) भले कण हो, उसका आदर आवे तो उस मिथ्यात्व में अनन्त भव की शक्ति है, उसने उत्पन्न की है।

भगवान आत्मा एक-एक गुण की अचिन्त्यता और अपरिमितता और बेहद स्वभाव - ऐसे अनन्त गुण का एक स्वरूप भगवान आत्मा जो मुक्तस्वरूप, शुद्धस्वरूप, एकरूप, अभेदरूप, उसकी अन्तरदृष्टि होने पर अनन्त भव के भाव का नाश (होता है)। एक परिमित रागादि थोड़ा रहा, उसके एकाद दो भव हो - ऐसा परिमित दोष रहा। अपरिमित मिथ्यात्व का दोष, अपरिमित अनन्त आनन्द के स्वभाव के आदर में अपरिमित दोष का नाश हुआ। आहा.. ! यह तो रात्रि में जरा-सा आया था न कि व्यवहार का उपदेश उसे समझाओ। अरे.. ! भगवान ! भाई ! व्यवहार किसे कहना ? बापू ! आहा..हा... !

यह राग की मन्दता की क्रिया हो परन्तु उसके प्रेम में पड़ा है कि यह मैं ठीक करता हूँ, यह मेरे हित के मार्ग में हूँ, वहाँ हित का मार्ग जो भगवान आत्मा - ऐसा शुद्ध भगवान परमानन्द की मूर्ति, उसमें से हित का पन्थ निकलता है; राग में हित का पन्थ नहीं है।

आहा..हा... ! समझ में आया ? वह स्वभाव ही स्वयं बेहद है, अचिन्त्य है। भगवान आत्मा का एक-एक स्वभाव अपरिमित है। अपरिमित अर्थात् परिमित - हद नहीं, बेहद स्वभाव, एक-एक गुण का बेहद स्वभाव। ओ..हो.. ! ऐसा पूर्ण भगवान जिसे अनादर में वर्ते और अकेले राग के कण या निमित्त के आदर में पड़ा हो, वह पूरे भगवान को पहलू से खिसक गया है और विकार तथा संयोग के पहलू में खड़ा रहा है।

न्याय से देखोगे न ? बापू ! यह कहीं कोई समाज अभी अच्छा कहे - ऐसा नहीं, दुनिया अच्छा कहे कि आहा..हा... ! अद्‌भूत भाई इसका ! यह कोई वहाँ अभी डाले ऐसा नहीं और दुनिया निन्दा करे, प्रतिकूलता हो, वह कोई अन्दर नुकसान नहीं करती। आहा..हा... ! दुनिया माने, न माने उसके साथ स्वभाव और विभाव का सम्बन्ध नहीं है। दोनों के साथ कहा, हाँ ! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानी होकर फिर दृढ़ चारित्र लीजे। सम्यग्ज्ञानी का अर्थ अपरिमित भगवान आत्मा जिसके प्रेम में पड़ा, जिसके प्रेम में रुचि में पड़ा, उसे इस राग के प्रेम की कट अवस्था हो गयी, उसके साथ कट्टी की। ऐसा जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अपरिमित अनन्त गुण का आदर करनेवाला और अपरिमित मोक्ष की पर्याय का कारण, उसे प्रकट करके... यह राग थोड़ा परिमित दोष शेष रहता है, उसमें यह स्थिरता का अंश इस और प्रकट करके और उसके ऐसे बारह व्रत के विकल्प, उसे शुभभाव उस भूमिका में ऐसे आते हैं, यह उसकी व्याख्या चलती है। कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु :- ... उपोद्‌घात ...

उत्तर :- उपोद्‌घात भाई ! व्रत का अर्थ कि जिसमें स्वरूप अपरिमित ज्ञानानन्द दृष्टि ज्ञान में जमाई है; भ्रम मिटाकर राग की एकता मिटी है; राग की एकता मिटकर जो राग रह गया है; अब आत्मा की ओर की स्थिरता के अंश को प्रकट करके, पंचम गुणस्थान... उस भूमिका में ऐसे बारह व्रत के शुभ विकल्पों की मर्यादा होतीहै, उसकी बात की जाती है। निश्चय दृष्टि और निश्चय अंश की स्थिरता (हुई है), उस भूमिका में ऐसे बारह व्रत के शुभराग का विकल्प है, उसे व्यवहारचारित्र कहा जाता है; परन्तु निश्चय अन्दर स्थिरता है, इस कारण उसे उपचार से

सम्यक्चारित्रपना कहने में आया है। आहा..हा... !

पूरी दुनिया विरोध करे, इस कारण विभाव उत्पन्न होता है – ऐसा नहीं है और सारी दुनिया हाँ, प्रशंसा करे तो इस स्वभाव को लाभ होता है – ऐसा नहीं है। कहो, ठीक है ? पूरी दुनिया प्रशंसा करे और विभाव की एकता का भाव जिसे पड़ा है, उसे जरा भी नहीं आत्मा का लाभ नहीं है। समझ में आया ? भाई ! क्या होगा इसमें ? आहा..हा... ! यह अणुव्रत (का वर्णन) चलता है। अणुव्रत किस भूमिका में होते हैं, कैसी भूमिका हुई हो, उसे ऐसे अणुव्रत होते हैं – उसका यह उपोद्घात चलता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! यह परिमित दोष जो है, उसमें भी स्थिरता का अंश प्रकट करके ऐसे विकल्प होते हैं, वह भी अभी इतना दोष है, परन्तु तीव्रता का कषाय चड़ा है और स्थिरता किंचित् अंश आयी है, इस कारण ऐसे व्रत को व्यवहार से सम्यक्चारित्र कहा जाता है। ऐसा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– ... आदरने को करे न !

उत्तर :– कहा जाता है, आदरने को करे, पाले, व्यवहानय से सब कहा जाता है, परन्तु उसका परमार्थ क्या ? ऐसे विकल्पों की मर्यादा की हद, मर्यादित दोष, स्वरूप का भान होने के बाद अमर्यादित दोष तो रहा नहीं, अपरिमित दोष तो रहा नहीं; परिमित–मर्यादित दोष–राग रहा, उसका फल भी संसार का मर्यादितपना आना इतना बस ! अब उसमें भी जब स्वरूप तरफ की स्थिरता जहाँ अंश विशेष हुई तो उसे ऐसे मर्यादि दोष में भी मर्यादित राग की हद ऐसी हो जाती है। समझ में आया ? दुनिया मानों या न मानों, सत्य तो यह है। समझ में आया ? सत् को कहीं आँच है नहीं।

यहाँ ग्रन्थकार भी ऐसा कहते हैं – सम्यग्ज्ञानी होकर फिर सम्यक्चारित्र (होता है)। इसलिए पहला दोष महान मिथ्यात्व और अज्ञान है, उसे मिटा, फिर सम्यग्दर्शन हुआ, फिर यह... ऐसी बात करते हैं। तो यह पहला दोष जो महान है, वह मिटा नहीं, मिटाने की आवश्यकता मानी नहीं; मिटे कैसे– इसकी विधि ख्याल में नहीं और यह अणुव्रत और महाव्रत के परिणाम ले –इसका अर्थ क्या ? समझ में आया ? भाई ! आहा..हा... ! अरे.. ! अनन्त निगोद और नरक के भव के अभाव स्वभावरूप भगवान आत्मा का जहाँ अन्तर में स्वसन्मुख

की रुचि की नहीं और जिसमें अनन्त नरक, निगोद के भव (करने की शक्ति है, उसका सेवन करता है)। अनन्तानुबन्धी अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व उसके साथ सम्बन्ध करनेवाली कषाय। अर्थात् स्वरूप का अनादर और पुण्य-पाप तथा संयोग का एकत्वबुद्धि से आदर, उसके पाप की हद क्या ? भाई ! उसमें अनन्त-अनन्त भव पड़े हैं, भाई ! वह मिथ्यात्व स्वयं ही अनन्त भवस्वरूप है, अनन्त भवरूप है। भगवान आत्मा अनन्त भव के अभावस्वरूप है। आहा..हा...! समझ में आया ?

यह तो रात्रि में जरा सुना था न ? भाई ! वह भी क्या करे, प्रभु ! यह क्या करता है ? अरे..! भाई ! ऐसा कि ये तो श्वेताम्बर में से आये हैं न, इसलिए यह इन्हें व्यवहार का पता नहीं होता। यह प्रभु ! व्यवहार क्या है, कैसे है, बापू ! उसके ज्ञान की कौन-सी बात विचक्षण अलग है। आहा...!

यहाँ तो ग्रन्थाकार कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि होकर, यह तो पहले हो गया है; फिर व्रत होते है, क्योंकि अभी स्वरूप में स्थिरता न जमे, तब तक उसे बारह व्रत का विकल्प नहीं होता और विशेष स्थिरता नहीं जमें, तब तक उसे पंच महाव्रत का विकल्प नहीं होता; इसलिए उसकी भूमिका में स्थिरता की शान्ति के लिये जहाँ बढ़ता है, उसे अंश में जहाँ बढ़ा, उसे बारह व्रत के, अणुव्रत के भाव होते हैं। विशेष स्थिर हुआ उसे मुनि के अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प होता है। यह उसका वर्णन-व्यवहार का जो स्वरूप है, है, ऐसा होता है, उसका वर्णन करते हैं। कहो ! यह दोष, इसलिए यह लाभ करे - ऐसा कहेंगे। सब व्रत शिक्षा देते हैं गुण को, गुण करते हैं गुण को, यह अपेक्षा है। यह ऐसी राग की मन्दता जहाँ है, वहाँ अन्दर लाभ की स्थिरता का अंश जगा है - ऐसा (कहना चाहते हैं)। नहीं तो व्रत को तो ऐसा कहेंगे, लो ! गुणव्रत और शिक्षाव्रत आते हैं न ? उनकी व्याख्या समझना चाहिए न बापू ! समझ में आया ?

यह ११ का पूर्वार्ध (हुआ)। यह पाँच अणुव्रतों की व्याख्या हो गयी। समझ में आया ? छट्ठे दिशाव्रत की व्याख्या हो गयी। यह सातवें की चलती है, हाँ ! देशावगाशिक छठवें में आजीवन दिशाओं की मर्यादा करनी कि इतने से बाहर मुझे नहीं जाना। एक राग की मन्दता की

निमित्त की यह सब व्याख्या है। राग की उग्रता – बहु ऐसा जाऊँ... उस राग को मन्द करने का एक प्रकार है, परन्तु वह राग जिसमें नहीं है – ऐसे (स्वभाव) सन्मुख की दृष्टि बिना ऐसे राग की मन्दता के विकल्प व्यवहाररूप भी यथार्त नहीं होते। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– सिर बाँधकर यह बात है।

उत्तर :– सिर बाँधकर बात है। आहा..हा... ! तब कोई कहे भी अकेला भले करे। किसने मना किया ? हो तो भले हो, परन्तु भाई ! वहाँ मिथ्यात्व के पाप के साथ जरा पुण्य बँधेगा। राग की मन्दता के मिथ्यात्वसहित के पाँच अणुव्रत, बारह व्रत हो परन्तु यह मिथ्यात्व का जो अनन्त पाप है, जिसकी शक्ति में अनन्त निगोद के भव करने की ताकत है; भाई ! उसमें राग की मन्दता उसे क्या करेगी ? एक–दो भव कोई स्वर्गादिक के मिलें – उससे क्या ? उससे क्या ? उसके बाद भी निगोद और नरक में, भाई ! उसकी पीड़ा की अपरिमितता... अरे.. ! जिसने भगवान को नहीं जाना और जिसने विकार–उसके विरोधी विकार का आदर किया, उसके फल में कदाचित् राग मन्द हो, स्वर्ग मिले परन्तु उसकी परम्परा से दूसरे, तीसरे भव में वह नरक और निगोद ही जाएगा। आहा..हा... ! और त्रस की स्थिति कितनी ? एक हजार, दो हजार सागर। त्रस में कितना रहे ? दो हजार सागरोपम। भाई ! इस दो हजार सागरोपम के त्रस के काल में त्रस और स्थावर के भव का भाव ऐसा मिथ्यात्व, उसका यदि अभाव उसमें नहीं करे तो त्रसकाल पूरा होकर निगोद में – एकेन्द्रिय में जाएगा।

यह मिथ्यात्व मिटाकर सिर आत्मामें से ऊँचा करना है, बाहर के साथ बात नहीं कि यह दुनिया ऐसा कहेगी और दुनिया वैसा कहेगी। ओ..हो... ! भारी व्रत पाले, महाव्रत लिये और अणुव्रत पाले। भाई ! बाहर के लोग महिमा करें, इससे कहीं अन्दर में गुण का लाभ नहीं होता और कदाचित् दुनिया की कीमत में, ख्याल में वह सच्ची चीज़ न आवे, उससे कहीं यहाँ नुकसान हो जाता है (–ऐसा नहीं है)। समझ में आया ? दुनिया की नजर कितनी ? उसकी दृष्टि कितनी कि उससे अभिनन्दन लेना ? आहा..हा... ! उससे अच्छापना (लेना) ? किसके पास से अच्छापना ? परन्तु वह कहाँ अच्छा है तो अच्छापना तुझे मनावे ? आहा..हा... ! कहो, भाई ! (इन्हें) बहुत प्रेम है। क्यों भाई ! आहा..हा... ! आजीविका थोड़ी हो, बहुत हो;

मान थोड़ा हो, बहुत हो – उसके साथ आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। भाई ! लड़के – लड़कियाँ हों, माननेवाले हों, नहीं माननेवाले हों; शत्रु हो, मित्र हो – उसके साथ भगवान आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है, हाँ ! जरा भी सम्बन्ध नहीं है। आहा..हा... ! जहाँ राग के साथ सम्बन्ध नहीं तो फिर राग के निमित्तो के साथ तो सम्बन्ध कहाँ था ? समझ में आया ? आहा... ! तत्त्वज्ञान किसे कहें ? बापू ! आहा..हा... !

कहते हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसे छह व्रत होते हैं। उनकी व्याख्या हो गयी। अब यह सातवें की व्याख्या है। सात का उपोद्घात हुआ, लो ! यह रात्रि के कारण हुआ। अरे.. ! भगवान ! क्या करता है कहा यह ? भाई ! तूने मार्ग सुना नहीं है, बापू ! यह भव के छेद (अभाव) का भाव सुना नहीं है, भाई ! और भव का अभाव करने की चीज़ क्या है और अनन्त भव क्यों हुए – किया है यह दोनों बातें सुनी नहीं, भाई ! आहा..हा... ! समझ में आया ? अब ११ वां आया, लो !

देशव्रत (देशावगाशिक) नामक गुणव्रत का लक्षण

ताहुमें फिर ग्राम गली, गृह बाग बजारा;
गमनागमन प्रमाण ठान अन, सकल निवारा॥१२॥
(पूर्वार्द्ध)

अन्वयार्थ :- (फिर) फिर (ताहुमें) उसमें (कित्हीं प्रसिद्ध) प्रसिद्ध (ग्राम) गाँव (गली) गली (गृह) मकान (बाग) उद्यान तथा (बजारा) बाजार तक (गमनागमन) जाने-आने का (प्रमाण) माप (ठान) रखकर (अन्य) अन्य (सकल) सबका (निवारा) त्याग करना (उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिक व्रत कहते हैं)।

भावार्थ :- दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त की गई जाने-आने के क्षेत्र की मर्यादा में भी (घड़ी,

घण्टा, दिन, महीना आदि काल के नियम से) किसी प्रसिद्ध ग्राम, मार्ग, मकान तथा बाजार तक जाने-आनेकी मर्यादा करके उससे आगे की सीमा में न जाना सो देशव्रत कहलाता है।।११।। (पूर्वार्द्ध)

ताहुमें फिर ग्राम गली, गृह बाग बजारा;

गमनागमन प्रमाण ठान अन, सकल निवारा।।१२।।

जो कोई आजीवन मर्यादा की हो (कि) अमुक (मर्यादा के) बाहर नहीं जाना; उसमें भी प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी मर्यादा कम करे, उसका नाम यह देशावकाशिक (देशव्रत) कहा जाता है।

'अन्वायर्थ - फिर उसमें (किसी प्रसिद्ध) गर, गाँव,...' कि भई इस गाँव में मुझे नहीं जाना, 'मुम्बई' या अमुक-अमुक बड़े-बड़े प्रसिद्ध हों, **'गाँव, गली, मकान, बाग तथा बाजार तक जाने आने का माप रखकर...'** कि यहाँ तक जाना और यहाँ तक नहीं जाना। इतनी अन्दर राग की मंदता का कारण है इसमें। समझ में आया ? जाने-आने की क्रिया का यहाँ सम्बन्ध नहीं है। वह क्रिया जाने-आने देह की है, परन्तु उसमें ऐसा जो ऐसे जाने-आने पर तृष्णा का तीव्र राग (है, उसे घटाने की बात है)। स्वरूप की दृष्टि होने पर भी... स्वरूप कहीं जाता नहीं, आता नहीं, फिरभी जो विशेष ममता का अंश था कि ऐसे यहाँ जाऊँ - उतना घटाने के लिए सदा इतना प्रत्याख्यान करता है। **'अन्य दूसरे स्थानों का त्याग करना, उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिकव्रत कहेत हैं।'**

मुमुक्षु :- सदा यह करे ?

उत्तर :- हाँ, सदा।

'भावार्थ :- दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त की गयी जाने-आने की क्षेत्र की मर्यादा में भी (घड़ी, घण्टा, दिन, महिना, आदि काल के नियम से) किसी प्रसिद्ध गाँव, मार्ग,...' यह रास्ता ऐसा। अमुक रास्ता। चारों और रास्ता होता है न ? यह 'मकरपरा' का रास्ता यह अमुक

हाथी का रास्ता। '**मकान और बाजार तक जाने-आने की मर्यादा करके, उससे अधिक मर्यादा में न जाना, वह देशव्रत कहलाता है।**' यहाँ नीचे लीखा है कि हिंसादि को लोक में भी पाप माना जाता है; उसका इस व्रत में एकदेश त्याग किया जाता है और इस कारण यह अणुव्रत कहलाता है। वरना यह सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। इन तीनों जगह यही भाषा लिखी है। अब, १२ वाँ उत्तरार्द्ध और १३ वाँ।

अनर्थदंडव्रत के भेद और उनका लक्षण

काहूकी धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
देय न सो उपदेश, होय अध वनज कृषि तै॥१२॥
(उत्तरार्द्ध)

कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै;
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
और हु अनरथ दंड, हेतु अध तिन्हें न कीजै॥१३॥

अन्वयार्थ :- १ - (काहूकी) किसीके (धनहानि) धन के नाश का, (किसी) किसी की (जय) विजय का (अथवा) (हार) किसी की हार का (न चिन्तै) विचार न करना (उसे अपध्यान: अर्थदंडव्रत कहते हैं।) २ - (बनज) व्यापार और (कृषी तैं) खेती से (अघ) पाप (होय) होता है; इसलिये (सो) उसका (उपदेश) उपदेश (न देय) न देना (उसे पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।) ३ - (प्रमाद कर) प्रमाद से (विना प्रयोजन) (जल) जलकायिक, (भूमि) पृथ्वीकायिक, (वृक्ष) वनस्पतिकायिक, (पावक) अग्निकायिक (और वायुकायिक) जीवों का (न विराधै) घात न करना (सो प्रमादचर्या-अनर्धदंडव्रत कहलाता है) ४ - (असि) तलवार, (धनु) धनुष्य, (हल) हल (आदि) (हिंसोपकरण)

हिंसा होने में कारणभूत पदार्थों को (दे) देकर (यश) यश (नहि लाधै) न लेना (सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।) ५ - (रागद्वेष-करतार) राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली (कथा) कथाएँ (कबहूँ) कभी भी (न सुनीजै) नहीं सुनना (सो दु:श्रुति अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।) (और हु) तथा अन्य भी (अघहेतु) पाप के कारण (अनरथ दंड) अनर्थदंड है (तिन्है) उन्हें तथा अन्य भी (न कीजे) नहीं करना चाहिए।

भावार्थ :- किसी के धन का नाश, पराजय अथवा विजय आदि का विचार न करना, सो पहला अपध्यान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।१

(१) हिंसारूप पापजनक व्यापार तथा खेती आदि का उपदेश न देना, वह पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

(२) प्रमादवश होकर पानी ढोलना,जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना-इत्यादि का त्याग करना अर्थात् पाँच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा न करना उसे प्रमादचर्या अनर्थदंडव्रत कहते हैं।*

(३) यश प्राप्ति केलिये, किसी के माँगने पर हिंसा के कारणभूत हथियार न देना सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(४) राग द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा और उपन्यास या श्रृंगारिक कथाओं के श्रवण का त्याग करना, सो दु:श्रुति अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

---

१. अनर्थदंड दूसरे भी बहुत से हैं। पाँच तो स्थूलता की अपेक्षा से अथवा दिग्दर्शनमात्र हैं। वे सब पापजनक हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिए। पापजनक निष्प्रयोजन कार्य अनर्थदंड कहलाता है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीवको सच्चे अणुव्रत होते हैं, निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रत को सर्वज्ञदेवने बालव्रत कहा है।

नोंध :- यह पाँच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिणाम) अणुव्रत है; जिस हिंसादिक को लोक में भी पाप माना जाता है, उसका इन व्रतों में एकदेश (स्थूलपने) त्याग लिया गया है। और उसी कारण से वह अणुव्रत कहे जाते है।

काहूकी धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
देय न सो उपदेश, होय अध वनज कृषि तै।।१२।।
कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै;
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
और हु अनरथ दंड, हेतु अध तिन्हैं न कीजै।।१३।।

यह आठवाँ अनर्थदण्डव्रत है। सम्यग्दृष्टि को स्वरूप का आश्रय, दृष्टि होने पर भी, जितनी अस्थिरता का भाग रहता है, उसमें भी घटाने के प्रमाण का यह अधिकार है। समझ में आया ? धर्मी जीव, अणुव्रतधारी जीव, स्त्री हो या पुरुष हो, उसे (ऐसा भाव आता है)।

'**अन्वयार्थ :- किसी के धन के नाश का...**' कि इसके धन का नाश हो जाए ! इसको पचास लाख – करोड़ है, मेरे पास पाँच हजार, दस हजार है, उसका नाश होवे तो मैं कुछ गिनती में आऊँ – ऐसा विचार श्रावक नहीं करता। आहा..हा... ! समझ में आया ? '**किसी के धन के नाश का...**' उसके पुण्य-प्रमाण हो, यहाँ पुण्य-प्रमाण है; है, वह आत्मा को कुछ लाभकर्ता तो है नहीं। कहो, भाई ! आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- उसका अपने कुछ नहीं, यहाँ तो अपने...

मुमुक्षु :- किसी की बिगड़ी बनाना।

उत्तर :- किसी का बिगड़े-बिगड़े नहीं। उसका विचार यह किस लिए रखे ?

मुमुक्षु :- अपना समझता है न ?

उत्तर :- अपना काम है और दूसरे को क्या काम है यहाँ ? ऐ..ई.. ! उसके काले बाजार के थे और वे लूटे तो अच्छा किया, भाई ! तुझे क्या काम है ? बापू ! उसे दुःख होता है या नहीं ? उसे तो दुःखता है न ? भले काले बाजार के थे और ले गया ,परन्तु उसका मन दुःखता

है या नहीं ? कितने ही तो मर जाते हैं। हाय... हाय... एक तो (धन) गया और फिर प्रतिष्ठा खुल्ली पड़ गयी कि वे तो कालाबाजार के थे। भाई ! उसमें लाभ क्या है ? भाई ! आहा..हा...!

वह सत्या क्या ? आग्रहक थे न ? क्या कहलाता है ? सत्याग्रह। दुकानो पर बैठते। सत्याग्रह (करे) तो दुकान के लोग बेचारे कितने ही व्यापारी ऐसे होवें कि पाँच हजार की पूंजी से सब चलाते हों। उसमें और उसमें से, गिनाता हो बाहर में लाख, दो लाख; परन्तु उसमें और उसमें चलाता हो और पाँच सो, दो हजार पैदा होते हों। आते हो, वे आकरबैठे हो, पाँच दिन बैठे तो उसे नुकसान हो, वह मुश्किल से उसके उपर हो इसलिए वे ऐसे... होते ऐसा मैने देखा है, हाँ ! अन्दर बेचारा बहुत दु:खी होता है। अर..र..र.. ! हमारा प्रसिद्ध हो गया। हमारी पूंजी बाहर मेंकहलाये... हमारीपूंजी तो है, वह हमारे ख्याल में है, परन्तु इस प्रकार हमारा निभाव (होता है), उसमें वह सामने जाकर बैठे, धन्धा चलने न दे। ऐसे सत्याग्रही थे। समझ में आया ? यह सब हमने देखा है, और उस समय विचार भी आये हों, उसका खुल्ला पड़ा। जहाँ छह महिना, महिना, दो महिना वहाँ बैठे तो खुल्ला पड़ जाए कि उसके पास पूँजी नहीं लगती है, यह तो इसी-इसी में बैठे तो निभे, वरना आजीविका नहीं। पैसे-बैसे ज्यादा कहलाते हैं, वे है नहीं। वह बेचारा दु:खी, उसे बहुत आर्तध्यान होता, हाँ ! समझ में आया ? ऐ..भाई ! आहा..हा...! जगत की विचित्रता ! धर्मी को किसी के धन के नाश का विचार किसलिए ?

'किसी की विजय का, किसी की हार का...' जीतना और हारना। यह जीते तो ठीक। भाई ! तुझे क्या काम है ? जीते या हारे, वह तो उसके पुण्यानुसार होगा। वह क्रिया उसके कार्यकाल में होने की हो वह होगी। तू जीत-हार में हर्ष-शोक करके स्वयं को पाप किसलिए बाँधता है ? धर्मी ऐसे जीत-हार का (विचार नहीं करता)। दूसरे की जीत हो और इसकी हार हो, यह पापी है, उसकी हार हो और यह पुण्यवन्त है, उसकी जीत हो - ऐसा विचार नहीं करना। आहा..हा...!

परिमित दोष में भी कितनी मर्यादा है उसकी। वह कम होता है - ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं होता। अपने को कुछ प्रसिद्ध करके उसकी ढंकी हुई लाज-इज्जत को खुला कर

देना... समझ में आया ? अपना काम नहीं, अपना काम नहीं। उसके पास कहाँ पूंजी थी ? देखो तो सही, एक ऐसी जाँच तो कराओ, मुफ्त के बड़े-बड़े घर कहलाते है, घर में कुछ नहीं, उसे ऐसा है, बापू ! ऐसे विचार ऐसे विकल्प मर्यादित दोषवाला समकिती भी नहीं करता। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'उसे अपध्यान अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।' अपध्यान। ये परिणाम आये न अकेले ? **'विचार न करना...'** अर्थात् मन आया न, मन ? **'व्यापार और खेती से पाप होता है, इसलिए उसका उपदेश न देना...'** यह वाणी का आया। वह मन का आया था। मन में ध्यान (करे)। आहा..हा... ! फिर आगे बढ़ा वह वाणी आयी। देखो ! अन्दर में घूंटता हो, फिर वाणी कहता है। समझ में आया ?

'(२) व्यापार और खेती से पाप होता है, इसलिए उनका उपदेश न देना, (उसे पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।)' आहा... ! अरे ! वीतराग मार्ग की मर्यादा में उसे ले जाना, वह अलौकिक मार्ग है, यह लौकिक के साथ मेल खाये - ऐसा नहीं है। ऐसी बात है, भाई ! समझ में आया ? आहा.. ! देखो ! 'टोडरमल' को वह नुकसान (हुआ परन्तु) बोले नहीं, हाँ ! कि उसने ऐसा किया है, वरना राजा तो मानता। मुझे क्या ? आयु पूर्ण हुई। अपने को उसे कहाँ दोष देना (कि) उसने शिव की मूर्ति डाली थी। समझ में आया ? जैसा होना हो, वैसा होता है; अपने को, किसी को नुकसान हो, वह अपने से हो नहीं। समझ में आया ?

'(३) (प्रमाद कर) प्रमाद से प्रयोजन बिना...' यह पानी का ढोलना। वे धोते हैं न ? देखो न यह क्या कहलाता है तुम्हारे यह ? नल खुले (हों) वह फव्वारा। यह व्यर्थ का फव्वारा खुल्ला रखते हैं। कितना (चला जाता है)। नल खुल्ला रखते हैं। पानी चाहिए हो दो शेर, खुला रखे तो पचास मण चला जाए सवेरे से शाम तक में। ऐसे बिना प्रयोजन पानी नहीं ढोले बापू ! वह जीव है। धर्मी को राग की मन्दता के व्रत परिणाम में ऐसे भाव नहीं होते।

'पृथ्वीकायिक...' बिना कारण पृथ्वी को नहीं खोदता। समझ में आया ? पत्थर के टूकड़े पड़े हो और बैठा-बैठा तोड़े और टूकड़े करे और खेले... जीव है, असंख्य जीव हैं। बिना प्रयोजन वह नहीं करता। समझ में आया ? इसमें है या नहीं ? ऐसा बनाया है या नहीं ? इसमें

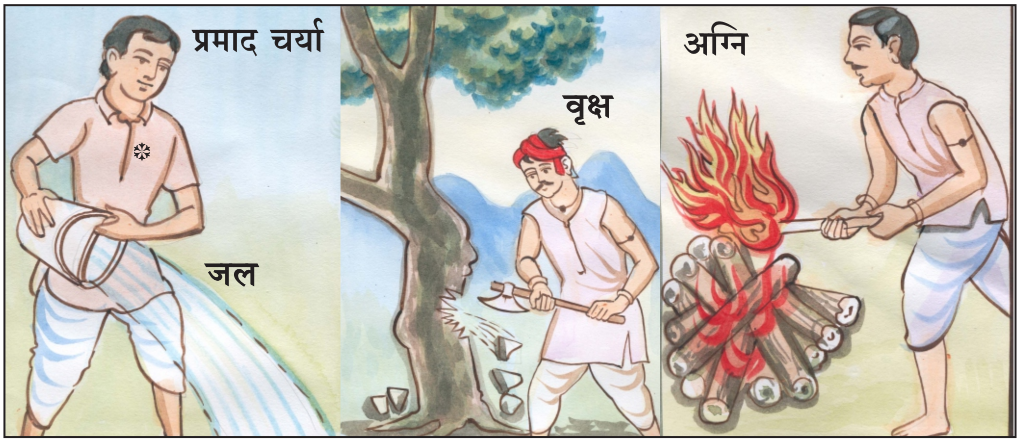

है, चित्र में होगा सब, थोड़ा बहुत देखो ! है यहाँ, हाँ ! पानी ढोलता है, देखो ! बहुत पानी ढोलता है। वह वनस्पति काटता है, वह अग्नि (जलाता है)। फिर हिंसादान के अधिकरण वह बाद में आयेगा। कहो, समझ में आया ?

'**वनस्पतिकायिक...**' कितने ही होते है न ? बिना प्रयोजन, हाथ में लकड़ी हो और वृक्ष हो तो ऐसे तोड़ता जाए। वृक्ष की डालियों को (तोड़े) परन्तु प्रयोजन क्या है ? होशियारी चलानी है ? हाथ में लकड़ी घूमती होवे तो ऐसे करता जाए, वृक्ष के वो (डालियाँ) होवे वे टूटते जाए, यह तो कुछ भान नहीं होता। बिना प्रयोजन के अनर्थदण्ड के ऐसे परिणाम धर्मी नहीं करता।

'**अग्निकायिक...**' ऐसे अग्नि को बिना प्रयोजन जला दे, दियासलाई रख दे। रखते हैं न ? किसी के अनाज का भूसा जल जाता हैं, तिल जल जाता हैं, अमुक हो जाए अथवा ... दियासलाई व्यर्थ की डालकर कहीं घास पड़ी हो, वहाँ डाल दे।

'**वायुकायिक...**' नहीं नष्ट करता। '**ऐसे जीवों का घात नहीं करना, वह प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।**' और

'**(४) तलवार...**' ऐसे उपकरण अपने रखो, दुनिया माँगे तो दे तो यश मिलेगा – ऐसे भाव समकित को नहीं होते। तलवार रखो, तलवार, जरूरत पड़े तो उसे दे। जाओ, 'जूनागढ़'

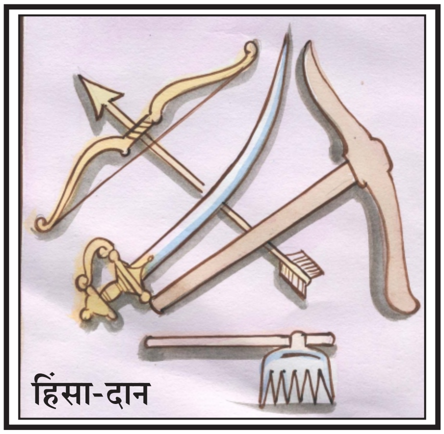

में लड़ाई है, हमारी तलवार ले जाओ। समझ में आया ? पता है न ? हुआ था न भाई ! एक व्यक्ति ने उसकी तलवार दी उसे, जाओ। अरे..! भाई ! ओ..हो..! उसने तलवार दी, लो ! लड़ाई करने जाता है, जाओ हम अनुमोदन करते हैं, लो ! हम तलवार देते हैं, तुम जाओ, लो ! हमारी तलवार ले जाओ। श्रावक को आत्मा में एक राग का कण करने योग्य नहीं – ऐसा माना है, वहाँ अस्थिरता आती है, उसमें अणुव्रतधारी को तो पंचम गुणस्थान अवस्था है, शान्ति बहुत है; इस कारण उसे तो कषाय की मन्दता बहुत हो गयी है। उसे ऐसे तलवार आदि (रखने के भाव नहीं होते)। समझ में आया ?

'धनुष...' लो ! जाओ, धनुष ले जाओ। मेरे पास दस धनुष है, लो ! **'हल...'** खोदने का। **'हिंसा होने में कारणभूत पदार्थों को देकर यश नहीं लेना...'** समझ में आया ? ऐसा होता है न घर में ? रखो कुदाली पाँच, दस–दस। कोई पीसने जाता है, हरितकाय अमुक छड़ी रखो अधिक, अमुक छड़ी रखे। हरित करनी हो न ? यह आचार ...ज्येष्ठ महिने में (बनाते हैं)। मागे तो दे सकें। ज्येष्ठ महिने में अचार होता है न ? आम का और हरी मिर्च और अमुक का ऐसा आधा मण – आधा मण, मण–मण, दो–दो मण बनाते है, ले जाओ, मेरे यहाँ से एक छूरी ले जाओ, बहुत बड़ी है, बड़ी ऐसे फटाफट काम करे, डाल–डाल काटते हैं नहीं ? क्या कहलाता है ? गरमर ... यह तो पुराना आया फिर लो ! डाली को गरमर बैठते है न ! वह बोरी डालकर, उलटी वह थेली डालकर ऐसे ऐसे करें।

मुमुक्षु :– होशियार होवे न ?

उत्तर :– हाँ, ऐसी काटे। होशियार हो, वह वहाँ बैठे। दूसरों को दे, लो ! करो। अरे..! भाई ! श्रावक है, अणुव्रतधारी है, महाव्रत चारित्र लेने का तो अभिलाषी है। समझ में आया ? नहीं ले सकता, उसकी मर्यादा में उसे ऐसे अनर्थदण्ड के परिणाम नहीं होते। समझ में आया ? **'वह हिंसादान अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।'** लो !

'(राग-द्वेष करतार) - राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली कथायें कभी भी नहीं सुनना...' समझ में आया ? उपन्यास और श्रृंगारिक (कथायें नहीं सुनना)। करने बैठे... वह बड़ा पाठ बैठता है न ? ऐसी कथा करे और ऐसे लड़ावे, ऐसे मानो अन्दर से। वे राग-द्वेष की कथाएँ हैं। समकिती वीतराग कथा करे या राग-द्वेष करे ? **'राग-द्वेष करनेवाली कथायें कभी भी नहीं सुनना, (वह दु:श्रुति अनर्थदण्डव्रत कहलाता है)।'** खराब सुनना छोड़ देना। **'और अन्य भी (अघ हेतु)...'** अघ अर्थात् **'पाप के कारण (अनर्थदण्ड) अनर्थदण्ड है, उन्हें भी नहीं करना चाहिए।'** लो ! यह सब स्पष्टीकरण आ गया है। समझ में आया ? अर्थ में अपने आ गया है।

नीचे फूटनोट है - **'अनर्थदण्डव्रत दूसरे भी बहुत से हैं। पाँच बताये...'** बनाये हैं, बताया होगा। **'बताया, वह स्थूलता की अपेक्षा से है अथवा दिग्दर्शन मात्र है।'** दिग अर्थात् कथन में थोड़ा बतलाया है, इतना। **'वे सब पापजनक है, इसलिए उनका त्याग करना चाहिए। पापजनक निष्प्रयोजन कार्य को अनर्थदण्ड कहते हैं।'** वह भी निश्चय दर्शन साथ में आया न अन्दर ? यह नीचे तीनों में यह बात है। तीन जगह वही के वही शब्द है। निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक पहली बात जो उपोद्घात में की वह। प्रथम की दो कषायों का अभाव हुआ हो, उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने अज्ञानव्रत कहा है। यह तीसरी बार आया है। यह तीन बार आया है। पहले ९० पृष्ठ पर था, ९२ पृष्ठ पर था और यह है - तीन बार आया। समझ में आया ? जहाँ हो, वहाँ वह डालते हैं। समझ में आया ? भावार्थ में आ गया हो, वह अपने आ गया है।

'भावार्थ :- (१) किसी के धन का नाश, हार अथवा जीव इत्यादि का निंद्य विचार न करना, वह प्रथम अपध्यान अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(२) हिंसारूप पापजनक व्यापार तथा खेती आदि का उपदेश न देना, वह पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

(३) प्रमादवश होकर पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना-इत्यादि का त्याग करना अर्थात् पाँच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा न करना, उसे

प्रमादचर्या अनर्थदंडव्रत कहते हैं।

(४) यश प्राप्ति के लिये, किसी के माँगने पर हिंसा के कारणभूत हथियार न देना, सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(५) राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा...' बिना (प्रयोजन के) स्त्री की कथा करे, रानियों की कथा करे, उनके वस्त्रों की करे, उनके अवयवों की करे – यह पाप अनर्थदण्ड है, भाई ! तेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और मुफ्त में पाप बँधता है। **'उपन्यास या श्रृंगारिक कथा आदि सुनने का त्याग करना, वह दु:श्रुति अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।'**

मुमुक्षु :– उपन्यास छपावे तो आपत्ति नहीं न ?

उत्तर :– वह तो आजीविका करने के लिये करता है। वह आजीविका के लिये करता है। उसमें अन्दर गप्पे मारे होते हैं। वह तो आजीविका के लिये करे, वह तो उसके खाते में है न उसे। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– अर्थात् करने जैसा है ?

उत्तर :– करने जैसा तो कुछ नहीं, रुक जाने का है। देखो ! यह बन्दर का दृष्टान्त आया है न ? तीन, गांधीजी के बन्दर। लिखा है – 'महात्मा गांधीजी' की त्रिवानर मूर्ति। है न ? अपने यहाँ है, हाँ ! अन्दर। है या तो। एक बन्दर मुँह बन्द रखता है ऐसे, बोलो नहीं, एक आँखे बन्द रखता है और एक कान (बन्द रखता है)। झूठ बात सुनना नहीं, झूठ देखना नहीं, झूठ बोलना नहीं। यह है पत्थर की आती है न ? बहुत जगह है, इसमें है। अपने यहाँ है अन्दर। है या नहीं ऊपर ? ऊपर होगा कहीं था अवश्य। तीन बन्दर छोड़ गये थे। लो ! यह आठ व्रत हुए। अणुव्रतधारी श्रावक को पंचम गुणस्थान में दो कषाय के अभाव की भूमिका में ऐसे आठ व्रतों की व्याख्या ग्रन्थाकार ने की है। अब चार की शेष है। बारह व्रत है न ? बारह व्रत।

सामायिक, प्रोषध, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभागव्रत

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये,
परव चतुष्टयमाहि, पाप तज प्रोषध धरिये;
भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै,
मुनिको भोजन देय फेर, निज करहि अहारै।।१४।।

अन्वयार्थ :- (उर) मन में (समताभव) निर्विकल्पता अर्थात् शल्य के अभाव को (धर) धारण करके (सदा) हमेशा (सामायिक) सामायिक (करिये) करना (सो सामायिक-शिक्षाव्रत है;) (परव चतुष्टयमांहि) चार पर्व के दिनों में (पाप) पापकार्यों को छोड़कर (प्रोषध) प्रोषधोपवास (धरिये) करना (सो प्रोषध उपवास शिक्षाव्रत है;) (भोग) एकबार भोगा जा सके ऐसी वस्तुओं का तथा (उपभोग) बारम्बार भोगा जा सके एसी वस्तुओं का (नियमकरि) परिमाण करके-मर्यादा रखकर (ममत) मोह (निवारै) छोड़ दे (सो भोग-उपभोगपरिमाणव्रत है;) (मुनिको) वीतरागी मुनि को (भोजन) आहार (देय) देकर (फेर) फिर (निज आहार) स्वयं भोजन करे (सो अतिथिसविभागव्रत कहलाता है।)

भावार्थ :- स्वोन्मुखता द्वारा अपने परिणामों को स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना सो सामायिक शिक्षाव्रत है। १ प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन कषाय और व्यापारादि कार्यों को छोड़कर (धर्मध्यानपूर्वक) प्रोषध सहित उपवास करना, सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है। २ - परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत में निश्चय की हुई भोगोपभोग की वस्तुओं में जीवनपर्यंत के लिये अथवा किसी निश्चिय समय के लिये नियम करना, सो भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत कहलाता है। ३ - निर्ग्रंथ मुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करना, सो अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है।।१४।।

'**सामायिक, प्रौषध, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभागव्रत**' चार है।

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये,
परव चतुष्टयमाहि, पाप तज प्रोषध धरिये;
भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै,
मुनिको भोजन देय फेर, निज करहि अहारै।।१४।।

चार अणुव्रत। '**मन में निर्विकल्पता अर्थात् शल्य के अभाव को धारण करके...**' समताभाव कब होता है ? जब पुण्य-पाप की रुचि छूटकर वीतरागभाव दृष्टि में बैठा है, उसे स्वभाव सन्मुख में समता का परिणाम प्रकट होता है। समझ में आया ? उसे सामायिक कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सामायिक कैसी ? सामायिक तो पाँचवे गुणस्थान की बात है।

शुद्ध चैतन्य है। विकाररहित स्वभाव का अनन्त में आदर नहीं है, उसे समताभाव किस प्रकार प्रकट होगा ? समता का पिण्ड ही आत्मा है। आत्मा अकेला वीतराग रसकन्द है। ऐसी रुचि-दृष्टि हुए बिना वीतरागता का - समता का प्रवाह पर्याय में आयेगा कहाँ से ? समझ में आया ? समकित सामायिक है, सम्यग्ज्ञान सामायिक है। यह व्रत की एक सामायिक है। देशव्रत और सर्वव्रत - ऐसे चार प्रकार की सामायिक है।

सम्यग्दर्शन सामायिक, दर्शनसामायिक यह तो उनमें श्वेताम्बर में आता है। अनुयोग द्वारा में आता है, वह बात होती थी। सम्यग्दर्शनसामायिक - पूरा आत्मा समभाव से भरा है, एक विषम राग का विषय अंश जिसमें नहीं - ऐसे आत्मा की अन्तर सम्यक्-सत्य प्रतीति का भान, वही पूरे समता के पिण्ड का आदर किया - ऐसे सम्यक् परिणाम को सम्यग्दर्शन सामायिक कहा जाता है। समझ में आया ? और ऐसा जो समता - वीतराग स्वभाव आत्मा, निर्दोष आत्मा का ज्ञान, इसलिए ज्ञान भी समतारूप हुआ, वह सम्यग्ज्ञान सामायिक है, सम्यग्ज्ञान सामायिक है। तदुपरान्त यह देशव्रत की सामायिक है। स्वरूप में थोड़ी स्थिरता तो थी, पंचम गुणस्थानवाला है न ? परन्तु विशेष प्रयोग करता है। सामायिक का प्रयोग / अजमाईश करता है कि मैं स्वरूप में स्थिरता कितने अंश रख सकता हूँ - ऐसा एक विकल्प आता है, उसे

व्यवहार सामायिक कहते हैं; स्थिरता होती है, उसे निश्चय सामायिक कहते हैं। समझ में आया ? एक अंश में स्थिरता भी है और एक अंश में विकल्प भी है, यहाँ दो प्रकार है। अणुव्रत के साथ लेना है न ? बारह व्रत लेना है न ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पाँचवे गुणस्थान में पाँच अणुव्रत तो होते ही है।

उत्तर :- होते ही है। पाँच अणुव्रत हो, उसे साथ होता है। कहो, समझ में आया ? पाँच अणुव्रत तो होते ही है वे।

मुमुक्षु :- बारह व्रत ग्यारह प्रतिमा मैं समा जाते है ?

उत्तर :- समा जाते हैं, आगे बढ़े तो, वरना पाँचवे में बारह व्रत होते हैं। क्या कहलाता है ? दूसरी प्रतिमा। फिर बढ़ता जाता है।

मुमुक्षु :- दूसरी ...

उत्तर :- इससे आगे अधिक होती है। दूसरी नहीं ली। उसका कारण है, उसमें आगे बढ़ जाए। यह बारह व्रत तो पाँचवे (गुणस्थान में) दूसरी व्रत प्रतिमा में भी होते हैं। है न प्रथम दर्शन और दूसरी (व्रत) प्रतिमा, उसमें होती हैं। फिर आगे बढ़ने पर सामायिक सदा कायम करता है। सामायिक तो होती है। बाहर में सब (होता है) परन्तु कायम सामायिक करे - ऐसी एक तीसरी प्रतिमा ... ऐसा। यहाँ तो इतनी ही बात ली है।

'**मन में शल्य के अभाव**...' देखो ! समता कही है न ? शल्य अर्थात् विषमता, मिथ्यात्व। मिथ्यात्व आदि शल्य का अभाव है अथवा नि:शल्य व्रती-व्रती ऐसा होता है, नि:शल्य होता है। उसे मिथ्यात्व का शल्य नहीं होता, निदान का शल्य नहीं होता; यह करूँ, इसका फल (मिले) और माया शल्य नहीं होता, तब उसे व्रत के परिणाम होते है। समझ में आया ? एकदम व्रती हो जाए और अभी शल्य तो पड़े हैं। व्रती कहाँ से हो गया ? शल्य तो पड़ा है कि घूंटता है अन्दर। यह आत्मा ऐसा नहीं परन्तु इस राग में, पुण्य में, पुण्य के फल में प्रेम और रुचि है, यह तो मिथ्यात्व का शल्य तो पड़ा है अन्दर। शल्य मिटे बिना शान्ति आये कहाँ से ? शल्य नहीं गया और फोड़ा मिटे कैसे ? लोहे का अन्दर पड़ा है, फिर ऊपर करे

मरहम-पट्टी परन्तु अन्दर तो सड़न बढ़ती जाती है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, हाँ, ऊपर चमड़ी आ जाती है, बाहर चमड़ी आ जाती है, अन्दर सड़ी रहती है, गंभीर फोड़ा (हो) ऐसे इसराग की मन्दता की बाहर क्रिया दिखती, अन्दर मिथ्यात्व का बड़ा फोड़ा पड़ा हो। समझ में आया ? इसलिए डोक्टर... गहरा फोड़ा हो न ? वाट डालकर कहाँ तक है, वहाँ तक देखता है, वहाँ से घाव का भरना शुरु होता है या नहीं ? वहाँ से घाव भरना शुरु होता है या नहीं ? - ऐसा देखता है। इसलिए यह चार घूस गया वहाँ से (घाँव) भरना शुरु हो कि नहीं ? यहाँ से मिटता नहीं। जहाँ से शुरु होनीचाहिए, वहाँ से हुई है या नहीं ? ऐसा जाँच करता है। (घाँव को) भरना पड़ेगा भले कल तीन पैठा है भरे हुए घाँव पर। यहाँ अन्दर में घाँव भरा न हो और बाहर से सारी त्वचा एक जैसी दिखे वह अन्दर सड़न है बड़ी।

इसीप्रकार जिसे मिथ्यात्व की सड़न पड़ी है अन्दर, ऊपर से राग की मन्दता की सामायिक और प्रौषध दिखे तो अन्दर सब सड़न पड़ी है। भाई ! ऐसे शल्य ही रहती है। अहा.. ! दूसरे का कुछ अधिक देखे, वहाँ ऐसा होता है, दूसरे की इज्जत देखे तो ऐसा हो दूसरे की निन्दा होवे तो ऐसा हो, अपनी निन्दा होवे तो ऐसा हो। निन्दा अर्थात्... कौन निन्दा और कौन... करे ? अब सुन न ! ज्ञानस्वरूप आत्मा है - ऐसा जाने बिना, इसका शल्य मिटे बिना इसे अन्दर खदबद खदबद हुआ ही करती है। समझ में आया ? लो ! यह भाई ! तुम्हारे एक के बारह व्रत आये, हाँ ! ऐसा पहला-बहला व्याख्यान आता है, यह छहढाला का। पूराना है न, पुराना है। कहो, समझ में आया ?

'और चार पर्व के दिनों में पापकार्य छोड़कर...' अष्टमी, चतुर्दशी दो और कृष्ण तथा शुक्ल (पक्ष की - इसतरह चार) **'प्रौषध-उपवास करना...'** प्रौषध, उपवास हाँ ! अकेला उपवास नहीं। आत्मा की स्थिरतापूर्वक उपवास। अष्टमी-चतुर्दशी को अधिक मुख्य, मुख्य वह है। चाहे जब हो सकता है। इतना तोकरना ही। इससे अधिक करे, भले करे, परन्तु उसे पंचम गुणस्थान के योग्य इतनी निवृत्ति इसे हो, अधिक हो। कोई अधिक तब कर सकता है,

स्थिरता करता है। वह अधिक... इससे बड़ी है। उस काल में उसे ऐसा प्रकार होता है। '**प्रौषध - उपवास करना, वह प्रौषध-उपवास शिक्षाव्रत है।**' देखा ?

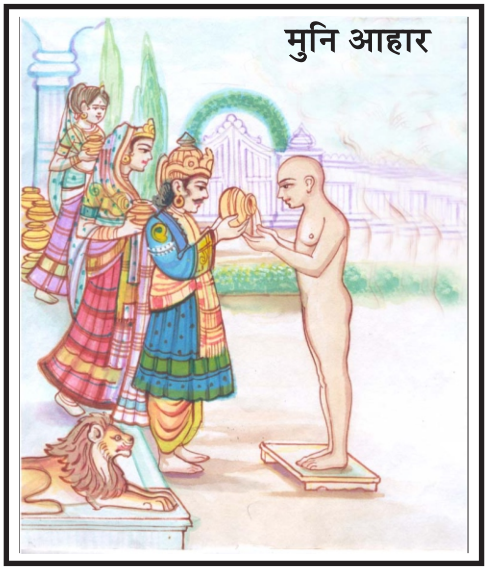

'**एकबार भोगा जा सके - ऐसी वस्तुओं का तथा बारम्बार भोगा जा सके - ऐसी वस्तुओं का...**' एक बार भोगा जा सके – समझे न ? अनाज आदि। बारम्बार – यह गहने, कपड़े आदि। इसका '**परिमाण करके...**' कि भाई इतना ही अनाज अथवा इतने ही कपड़े अथवा ये ही गहने, '**परिमाण करके - मर्यादा रखकर मोह छोड़ दे, वह भोग-उपभोग परिमाणव्रत है।**' लो, समझ में आया ? '**(मुनि को) वीतरागी मुनि को...**' और यह जो श्रावक गृहस्थ आदि पात्र हों, इसमें सब लेना, हाँ ! अकेला ऐसा नहीं। अर्थ में आयेगा, अर्थ में आयेगा। '**निर्ग्रन्थ मुनि इत्यादि सत्पात्रो को आहार...**' दूसरे में भी आता है, इसमें भी आता है। सब लिया है। मुनि की मुख्य बात है न ?

'**वीतरागी मुनि को भोजन-आहार देकर...**' इसमें भी लिखा है। पुरानी (पुस्तक में भी) लिखा है। स्वयं आहार करता है, वह राग है न ? श्रावक को भान है परन्तु... इसलिए राग घटाने में ओहो..! मुनि का योग, धर्मात्मा धर्मी का योग, पात्र धर्मपात्र का योग... समझे न ? उन्होंने लिखा है हाँ ! अर्थ है न ? '**मुनि व पात्र श्रावक को आहारदान देकर...**' यह पुस्तक है न, इसमें भी है और उसमें भी है। पुराना है न पुराना ! '**आदि पात्रों को आहार कराकर बाद में स्वयं भोजन करना।**' फिर अपने भी लिखा है, अन्तर में थोड़ा है। '**निर्ग्रन्थमुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात्...**' पीछे (भावार्थ में) लिखा है। समझ में आया ? अर्थात् मुख्य मुनि की बात की है। अपने साधर्मी धर्मात्मा को भी आहार देकर फिर स्वयं भोजन करे। लो ! यहाँ तो आवे, सब भाषा क्या आवे ? आहार करे, यह दे – व्यवहार की बात में जो कथन

आवे ऐसा आवे न! एक ओर कहते हैं, आहार-पानी कर नहीं सकता। परन्तु समझ तो सही। खाना-पीना करे, वह क्रिया कौन करे ? परन्तु इसे ऐसा विकल्प होता है कि मुनि को आहार देकर मुझे आहार करना - ऐसे विकल्प की मर्यादा में वह व्रत कहा जाता है। इतना बताते है। **'वह अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है।'** समझ में आया ? कथन तो ऐसा ही आये न ! उसका परमार्थ तो जैसा है, वैसा है।

भावार्थ :- **'(१) स्वोसन्मुखता द्वारा अपने परिणामों को विशेष स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना, वह सामायिक शिक्षाव्रत है। लो (२) प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन कषाय और व्यापारादि कार्यों को छोड़कर (धर्मध्यान पूर्व) प्रौषधसहित उपवास करना, वह प्रौषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है। (३) परिग्रह परिमाण - अणुव्रत में निश्चित की हुई भोगोपभोग की वस्तुओं में जीवनपर्यन्त के लिए...'** उसका किया था आजीवन का। **'अथवा किसी निश्चित समय के लिए नियम करना, वह भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत कहलाता है।'** लो ! **'(४) निर्ग्रन्थमुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करना, वह अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है।'** यह बारहव्रत श्रावक को आत्मा के सन्मुख की दृष्टि में स्थिरता का अंश विशेष हुआ, उस जगह उसे ऐसे बारह व्रत होते हैं, जिससे वह एकावतारी होकर मुक्ति हो - ऐसी योग्यता होती है। इत्यादि विशेष कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

यह आत्मा है सो ज्ञायक अखण्ड स्वरूप है । राग, कर्म व शरीर तो उसके नहीं, लेकीन पर्यायमें जो खण्ड-खण्ड ज्ञान है वह भी उसका नहीं । जड़इन्द्रियाँ तो उसकी नहीं, लेकिन भावेन्द्रिय व भावमन भी उसके नहीं । एक-एक विषयको जाननेवाली ज्ञानकी पर्याय; खण्ड-खण्ड ज्ञान है - यह पराधीनता है ,परवशता है, यह दुःख है ।

(परमागमसार-३८६)

निरतिचार श्रावकव्रत पालन करने का फल

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै;
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै।
यों श्रावक-व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै;
तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै।।१५।।

अन्वयार्थ :- जो जीव (बारह व्रत के) बारह व्रतों के (पन पन) पाँच-पाँच (अतिचार) अतिचारों को (न लगावै) नहीं लगाता, और (मरण-समय) मृत्यु-काल में (संन्यास) समाधि (धार) धारण करके (तसु) उनके (दोष) दोषों को (नशाव) दूर करता है, वह (यों) इसप्रकार (श्रावक व्रत) श्रावक के व्रत (पाल) पालन करके (सोलह) सोलहवें (स्वर्ग) स्वर्ग तक (उपजावै) उत्पन्न होता है, (और) (तहँतै) वहाँ से (चय) मृत्यु प्राप्त करके (नरजन्म) मनुष्यपर्याय (पा) पाकर (मुनि) मुनि (ह्वै) होकर (शिव) मोक्ष (जावै) जाता हैं।

भावार्थ :- जो जीव श्रावक के ऊपर कहे हुए बारह व्रतों का विधिपूर्वक जीवनपर्यंत पालन करते हुए उनके पाँच-पाँच अतिचारों को भी टालता है, और मृत्युकाल में पूर्वोपार्जित दोषों का नाश करने के लिये विधिपूर्वक समाधिमरण ([1]संल्लेखना) धारण करके उसके पाँच अतिचारों को भी दूर करता है, वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। फिर देवायु पूर्ण होने पर मनुष्यभव पाकर, मुनिपद धारण करके मोक्ष (पूर्ण शुद्धता) प्राप्त करता है।

सम्यक्चारित्र की भूमिका में रहनेवाले राग के कारण वह जीव स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है; धर्म का फल संसार की गति नहीं है किन्तु संवर-निर्जरारूप शुद्धभाव हैं; धर्म की पूर्णता वह मोक्ष है।

१. क्रोधादि के वश होकर विष, शस्त्र अथवा अन्नत्याग आदिसे प्राणत्याग किया जाता है, उसे 'आत्मघात' कहते हैं।'सल्लेखना' में सम्यग्दर्शन सहित आत्मकल्याण (धर्म) के हेतु से काया और कषाय को कृश करते हुए सम्यक् आराधनापूर्वक समाधिमरण होता है इसलिए वह आत्मघात नहीं किन्तु धर्मध्यान है।

चौथी ढाल का सारांश

सम्यग्दर्शन के अभाव में जो ज्ञान होता है, उसे कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहा जाकता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि यह दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ ही होते हैं, तथापि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं और कारण-कार्यभाव का अन्तर है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का निमित्तकारण है।

स्वयं को और परवस्तुओं को स्वसन्मुखतापूर्वक यथावत् जाने वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; उसकी वृद्धि होने पर अन्त में केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त सुखदायक वस्तु अन्य कोई कोई नहीं है और वही जन्म, जरा तथा मरण का नाश करता है। मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान के बिना करोड़ों जन्म तक तप तपने से जितने कर्मो का नाश होता है उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के त्रिगुप्ति से क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष गये हैं, भविष्य में जायेंगे और वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र से जा रहे हैं - वह सब सम्यग्ज्ञान का प्रभाव है। जिस प्रकार मूसलाधार वर्षा वन की भयंकर अग्नि को क्षणमात्र में बुझा देती है उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान विषय-वासना को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है।

पुण्य-पाप के भाव वह जीव के चारित्रगुण की विकारी (अशुद्ध) पर्यायें हैं; वे रहँट के घड़ों की भाँति उल्टी-सीधी होती रहती हैं; उन पुण्य-पाप के फलों में जो संयोग प्राप्त होते हैं, उनमें हर्ष-शोक करना मूर्खता है। प्रयोजनभूत बात तो यह है कि पुण्य-पाप, व्यवहार और निमित्त की रुचि छोड़कर स्वोन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिये संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (तत्त्वार्थों का अनिर्धार) का त्याग करके तत्त्व के अभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावक कुल और जिनवाणी का सुनना आदि सुयोग-जिसप्रकार समुद्र में डूबा हुआ रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसीप्रकार - बारम्बार प्राप्त नहीं होता। ऐसा दुर्लभ सुयोग प्राप्त करके सम्यग्धर्म प्राप्त न करना मूर्खता है।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके [१]फिर सम्यक्चारित्र प्रकट करना चाहिए; वहाँ सम्यग्चारित्र की भूमिका में जो कुछ भी राग रहता है वह श्रावक को अणुव्रत और मुनि को पंचमहाव्रत के प्रकार का होता है; उसे सम्यग्दृष्टि पुण्य मानते हैं।

जो श्रावक निरतिचार समाधि-मरण को धारण करता है, वह समतापूर्वक आयु पूर्ण होने से योग्यतानुसार सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है, और वहाँ से आयु पूर्ण होने पर मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है; फिर मुनिपद प्रकट करके मोक्ष में जाता है।

वीर संवत २४९२, फागुन शुक्ल ७, रविवार

दि.२७-२-१९६६, गाथा-१५, प्रवचन नं.-३८

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' चलती है। उसकी चौथी ढाल। उसका १५ वाँ श्लोक अन्तिम है। चौथी ढाल है न ? १५ वाँ श्लोक, '**निरतिचार श्रावकव्रत पालन का फल।**' यह अन्तिम श्लोक है।

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै;
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै।
यों श्रावक-व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै;
तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै।।१५।।

---

१. न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधनं तस्मात्।।३८।।

अर्थ :- अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता, इसलिये चारित्र का आराधन ज्ञान होने के पश्चात् कहा है।

(पुरुषार्थसिद्धिउपाय गाथा-३८)

देखो ! क्या कहते हैं ? '**अन्वयार्थ :- जो जीव बारह व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता...**' व्रत के अतिचार हैं। यह व्रत किसे होते हैं ? यह बात पहले आ गई है कि सम्यग्ज्ञान हो, फिर चारित्र के बारह व्रत का विकल्प होता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन, वह आत्मा अखण्ड शुद्ध आनन्दस्वभाव के आश्रय के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया ? निमिक्त से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। दया, दान, व्रत का राग – मन्द परिणाम से सम्यग्दर्शन नहीं होता; वर्तमान प्रकट पर्याय जितना क्षयोपशम ज्ञान, दर्शन और विकास है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन (तो) एकरूप चिदानन्दस्वरूप भूतार्थ आत्मा ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा – वस्तु ध्रुव, उसके आश्रय से उसके अनुभव में, उसमें एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शन की पर्याय मोक्षमार्ग का प्रथम अवयव पहला प्रकट होता है। कहो, समझ में आया ? उस सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना उसे व्रत आदि चारित्र–बारित्र नहीं होता। कहो, समझ में आया ?

यह चीज़ क्या है ? किसमें स्थिर होने से, स्थिर होने से चारित्र होता है ? चारित्र अर्थात् स्थिरता–रमना। किसमें ? क्या चीज़ है वह ? वह चीज़ सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द ध्रुव अन्तर्मुख... अन्तर्मुख दृष्टि करने से निर्विकल्प आनन्द के अनुभवसहित अन्दर पूर्ण शुद्ध की एकता प्रकट हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। कहो, भाई ! वह सम्यग्दर्शन कारण है और साथ में आत्मा का ज्ञान होता है, वह कार्य है। हैं तो (दोनों) एक साथ। (जैसे) दीपक और प्रकाश एकसाथ है, तथापि दीपक, वह कारण है और प्रकाश, वह कार्य है; हैं एकसाथ।

ऐसे हो आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द का भान अन्तर्मुख में राग, विकल्प जो, दया, दानआदि कषाय की मन्दता से मेरा कार्य नहीं होता। शरीर की अनुकूलता से, निमित्तता से भी मेरा कार्य नहीं होता; मेरा कार्य तो शुद्ध चैतन्य के अन्तर अनुभव की दृष्टि से होता है – ऐसा जानकर, अनुभव कर सम्यग्दर्शन प्रकट हो, उसे प्रथम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। ऐसे आनन्द में उसे प्रतीति होती है कि यह सम्पूर्ण आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है। इसमें स्थिर होने से मुझे शक्तिमें से अधिक आनन्द प्रकट होगा। ऐसा सम्यग्दर्शन– इस आत्मा के आनन्द का

भानवाला हो, तब उसे सम्यग्ज्ञान आत्मा का (सम्यग्ज्ञान होता है)। और राग बाकी रहे, उसका उसे ज्ञान होता है। समझ में आया ?

आत्मा का ज्ञान... दर्शन में तो अकेला आत्मा अखण्डशुद्ध, उसकी प्रतीति का भान और अनुभव। ज्ञान-आत्मा पवित्र है और साथ में वर्तमान में अल्पज्ञता वर्तती है और जो रागादि भाव आते हैं, उन सबको जाने, उसे स्वसन्मुखता के ज्ञानवाला, उसे ज्ञान कहा जाता है। अद्भुत शर्त ! ऐसे ज्ञानसहित पंचम गुणस्थान में श्रावक को अन्दर स्वरूप की शान्ति विशेष प्रकटती है। सम्यग्दर्शन उपरान्त स्वरूप में, दूसरे कषाय का अभाव करके (विशेष शान्ति प्रकटी है)। सम्यक् में तो एक अनन्तानुबन्धी का अभाव है और भ्रान्ति का अभाव है। श्रावक को... श्रावक अर्थात् यह बाड़ा (सम्प्रदाय) में रहनेवालों की बात नहीं है। यह तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कहे हुए की बात हैं। अन्दर में आत्मा के आनन्द का भान और शान्ति की - अविकारी शान्ति की वृद्धि पाँचवे गुणस्थान में होती है, कि जो शान्ति, सर्वार्थसिद्धि के समकिती देव से भी अधिक शान्ति होती है। समझ में आया ? सर्वार्थसिद्धि का देव सम्यग्दृष्टि-अनुभवी है, परन्तु उसे चौथा गुणस्थान है, पाँचवा नहीं।

पाँचवे गुणस्थान में मनुष्य को सम्यग्दृष्टि सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अन्तर का शान्तभाव, अविकारी परिणमन चौथे गुणस्थानवाले एकावतारी सर्वार्थसिद्ध देव से बढ़ गयी शान्ति होती है। ऐसी भूमिका में ऐसे बारह व्रत के विकल्प होते हैं। भाई ! लोगों को एक भी तत्त्व का पता नहीं होता। वे बाहर से मानते हैं कि यह व्रत है और यह अतिचार टालो और यह करो। परन्तु नियम नहीं होता, वहाँ व्रत कहाँ से आये ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' - मूल ही नहीं है, उसे शाखायें कहाँ से आ गयी ? कौन जाने ? पूछो उस चतुर मनुष्य को। किसी जगह मूल के बिना कदाचित् वृक्ष होता होगा ?

कहते हैं ऐसे बारह व्रत के विकल्प, अहिंसा अणुव्रत - ऐसे पंचमगुणस्थान में, दूसरे त्रस को तो संकल्प से मारने का भाव होता नहीं, विरोधी हिंसा आदि का भाव होता है।

मुमुक्षु :- हिन्दी में...

उत्तर :- हिन्दी प्रवचन कहाँ आ गया फिर से ?

मुमुक्षु :- कहाँ से आये ? (श्रोता :- पंजाब से)।

चौथी ढाल है, उसमें हिन्दी में १५ वाँ श्लोक है, गुजराती में १४वां है, हिन्दी में १५ वाँ है। है न अन्तिम का ? हिन्दी में १५ वाँ है। **'जो जीव बारह व्रतों के पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता,...'** यह व्याख्या चलती है। परन्तु किसको व्रत है, वह बात पहले चली। क्या चली ? कि, यह आत्मा शुद्ध आनन्द ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसी अन्तर में पुण्य-पाप के भाव की रुचि छोड़कर और संयोगी निमित्त की रुचि छोड़कर, ज्ञानानन्दस्वभाव की अंतर्मुख की अनुभव दृष्टि हो उसका नाम सम्यग्दर्शन पहले कहने में आता है। भैया ! समझे ? सम्यग्दर्शन।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणी मोक्षमार्ग:' आता है न ? 'उमास्वामी'। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:' तो सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ? 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' तत्त्वार्थ किसको कहते हैं ? कि, जीव-ज्ञायक चैतन्यूर्ति भगवान शुद्ध पूर्ण है, ऐसी अन्तर्मुख होकर (निर्विकल्प प्रतीति करना)। पुण्य-पाप का भाव आस्रवतत्त्व है। शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है, अजीवतत्त्व की रुचि छोड़कर और शुभ-अशुभभाव जो होता है, वह आस्रवतत्त्व है। उसकी भी रुचि छोड़कर। आस्रव और अजीव से भिन्न अकेला ज्ञायक तत्त्व चिदानंद भगवान आत्मा है, ऐसी स्वसन्मुख में राग से विमुख होकर, निमित्त से विमुख होकर पूर्ण स्वभाव के सन्मुख होकर अन्तर में दृष्टि होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहने में आता है। समझे या नहीं ? यहाँ तो सादी हिन्दी है। हमें बहुत हिन्दी आती नहीं। साधारण हिन्दी है। हम तो काठियावाड़ी है न ! समझ में आया ?

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्होंने एक समय में तीनकाल तीनलोक देखा। भगवान से मुख जो सम्यग्दर्शन की व्याख्या आयी, वही व्याख्या भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने की है। समझ में आया ? दो हजार वर्ष पहले संवत ४९ में भरतक्षेत्र में 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' नग्न दिगंबर मुनि थे, जो भगवान के पास गये थे, 'सीमंधर' परमात्मा के पास आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर 'समयसार' आदि यहाँ बनाये। उसी के अनुसार 'दौलतरामजी' ने भी 'छहढाला' में संत, मुनि तीर्थंकर कहते हैं उसी प्रकार से हिन्दी में

'छहढाला' बनाई। अपने घर की कोई बात है नहीं। समझ में आया ?

कहेत हैं कि, बारह व्रत किसको होते हैं ? बारह व्रत पंचम गुणस्थान में होते हैं। समझ में आया ? पंचम गुणस्थान किसको कहते हैं ? सर्वार्थसिद्धि के एकभवतारी देव हैं, उसको सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन में उसको जितनी आत्मा के अनुभव की शांति मिली और उसे रागादि दूसरे तीन कषाय का भाव है, उससे पंचम गुणस्थान में उससे अधिक शान्ति होती है। वह चौथे गुणस्थान में हैं। और पंचम गुणस्थान के श्रावक, सच्चे श्रावक की बात चलती है, हाँ ! संप्रदायवाले की बात यहाँ नहीं है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी में आया कि, पंचम गुणस्थान का श्रावक ऐसा है कि, सर्वार्थसिद्धि से भी उसको आत्मा की शान्ति, अकषायभाव (विशेष प्रकट हुआ है)। दो कषाय टल गया है - अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी। प्रत्याख्यानी और संज्वलन दो (कषाय) रहे हैं। पंचम गुणस्थान में श्रावक को अपने अनुभव में आत्मा आनंदकंद शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा आ गया है। इसके अलावा दूसरे कषाय के अभाव से शांति भी बढ़ गई है। ऐसे पंचम गुणस्थान में ऐसे बारह व्रत का विकल्प आता है, जो पुण्यबन्ध का कारण व्यवहारचारित्र कहने में आता है। समझ में आया ? भैया ! सूक्ष्म बात है। उसने अनंतकाल में चैतन्य का पता ही लिया नहीं।

नौंवी ग्रैवेयक अनन्तबार गया। इसमें पहले आ गया न ?

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।

आता है ना उसमें ? पहले आ गया है, 'छहढाला' में आ गया है। क्या पंक्ति हैं ? कौन-सी है ? 'मुनिव्रत धार' आता है या नहीं ? चौथी ढाल की पाँचवी। ये चौथी चलती है उसकी न ? आता है, देखो ! पाँचवी (गाथा) है। चौथी ढाल का पाँचवा श्लोक है। ९९ पन्ना है। १०० में १ कम।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।

करोड़ों भव में, करोड़ों मनुष्यभव में, करोड़ों मनुष्यभव जब मिला तब। मनुष्यभव भी अनन्तकाल में मिलता है। उसमें भी मनुष्य भव में करोड़ों भव में, करोड़ों वर्ष तप करे परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना उसमें कुछ लाभ है नहीं। '**मुनिव्रत धार अनंतबार, ग्रीवक उपजायो;...**' मुनिव्रत धार। अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत अनन्तबार लिये, अनन्तबार लिया। '**पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।**' क्या कहते हैं ? पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प भी दुःखरूप है, राग है, आस्रव है। समझ में आया ? क्या कहा ? देखो !

'**मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो; पै निज आतमज्ञान...**' विकल्पपुण्य का परिणाम है, पंच महाव्रत का, अट्ठाईस मूलगुण का, महाव्रत का विकल्प जो राग है वह विकार है, दुःख है, आस्रव है। उसका पालन किया तो स्वर्ग में गया। परन्तु रागरहित मेरी चीज़ (है उसका) '**आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।**' बराबर है ? आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है। महाव्रत का, व्रत का विकल्प से भिन्न है, ऐसे आत्मा की अनुभव की दृष्टि किये बिना उसको अंश भी आत्मा का आनंद आया नहीं। पंच महाव्रत पाला और आनन्द नहीं आया। क्योंकि पंच महाव्रत तो राग है, पुण्य है, दुःख है। आहा..हा... ! भाई ! दुनिया ने वीतरागमार्ग सुना ही नहीं।

सच्चे महाव्रत, हाँ ! सम्यग्दर्शन बिना के। अट्ठाईस मूलगुण - खड़े-खड़े आहार, एकबार आहार, इन्द्रियदमन, षट् आवश्यक, सामायिक आदि बराबर (पाले), हाँ ! सम्यग्दर्शन बिना के। सम्यग्दर्शन हो तो भी वह है तो राग ही। बंध का कारण है। सम्यग्दर्शन मुनि को है, सच्चे मुनि को भी पंच महाव्रत का विकल्प आता है, वह राग है, आस्रव है, दुःख है, विकार है, बन्ध का कारण है - ऐसा ज्ञानी जानते हैं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! अनन्तकाल में उसने तत्त्व को सुना ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि, आत्मदृष्टि बिना, अनुभव बिना, आत्मज्ञान के बिना अट्ठाईस मूलगुण उसने अनन्तबार पाले। नग्न दिगम्बर (हुआ), हजारों रानियों का त्याग (करके) मुनि हुआ, आनन्द लेश न पाया, क्योंकि आनन्द तो आत्मा में है। महाव्रत का परिणाम तो शुभ है, राग है, दुःख है; उसमें आनन्द नहीं। भाई ! बहुत चिल्लाते हैं। हम पालते हैं न ! तू धूल पालता है। सुन तो सही, तुझे मालूम नहीं। श्रद्धा की खबर नहीं, ज्ञान की खबर नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, निज आत्मज्ञान। भगवान का ज्ञान नहीं; भगवान परद्रव्य हैं, सिद्ध परद्रव्य हैं। अपना निज, शब्द है न ? '**पै निज आतमज्ञान।**' बड़ा शब्द है। उसमें गागर में सागर भर दिया है। 'दौलतरामजी' में सारे शास्त्र का हिन्दी में थोड़ा सार भर दिया है। लोगों को अर्थ का पता नहीं और कंठस्थ कर ले, बोल ले। '**निज आतमज्ञान**' अपना आत्मा। यह व्रतादि का जो विकल्प है, राग है, (उससे) भिन्न है, ऐसा अन्तर का आत्मज्ञान, आत्म अनुभव बिना, अंशमात्र भी अतीन्द्रिय आनन्द का सुख पाया नहीं। उसका अर्थ कि, आत्मा के ज्ञान बिना ऐसे पंच महाव्रत अनन्तबार पाले तो भी दुःख पाया। ऐसा अर्थ हुआ कि नहीं ? भैया ! दुःख पाया, ऐसा अर्थ है न ? आत्मा का आनन्द न पाया। आनन्द न पाया तो दुःख पाया, ऐसा अर्थ है न उसमें ? आहा..हा...! समझे कुछ नहीं और ऐसा मान ले कि, हम समझते हैं, समझते हैं। बफम् में ही बफम् में जिंदगी चली गई। बफम् में अर्थात् अंधापे में – अज्ञान में; और अज्ञान में अनन्तकाल चला गया, परन्तु वास्तविक तत्त्व की क्या दृष्टि है और वास्तविक तत्त्व का ज्ञान क्या है और वास्तविक तत्त्वपूर्वक बारह व्रत के विकल्प का क्या स्वरूप है ? – उसका भी उसने बोध किया नहीं। यहाँ तो वह कहते हैं। यह चौथी ढाल की पाँचवीं गाथा है। पंद्रहवी चलती है। समझ में आया ? चलती है वह पंद्रहवी है, वह पांचवी थी।

आत्मज्ञान, जो आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, आत्मा में बेहद आनन्द और ज्ञान है, ऐसा अनन्तगुण का पिंड प्रभु (जीवतत्त्व है)। पुण्य-पाप तो आस्रवतत्त्व है, शरीर, वाणी अजीवतत्त्व हैं। कहते हैं, यह सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञान के अनुभव की आनन्द की भूमिका में स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तो उसे बारह व्रत का विकल्प, शुभराग आये बिना रहता नहीं। समझ में आया ? बारह व्रत का विकल्प है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। आस्रव है या नहीं ? भैया ! कहते हैं, स्वर्ग मिलेगा, उससे स्वर्ग मिलेगा; और जितना स्वरूप की दृष्टि और अनुभव हुआ है, उससे संवर, निर्जरा होगी। भैया ! सूक्ष्म बात है, भैया !

लोगों में वर्तमान में बहुत गड़बड़ चली है। उस गड़बड़ के सामने यह बात आती है तो ऐसा लगता है कि, एकान्त है। भगवान ! सुन तो सही, प्रभु ! तेरी चीज़ निराली है, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो फरमाया है ऐसा मार्ग दूसरे में कहीं है नहीं। वीतराग परमेश्वर

सर्वज्ञदेव एक समय में तीनकाल तीनलोक जिन्होंने देखा, उन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान का ऐसा स्वरूप कहा है। समझ में आया ? सर्वज्ञ के अलावा दूसरे में तो कोई मार्ग है नहीं।

कहते हैं, ऐसे पंचम गुणस्थानवाला जीव बारह व्रत का पालन करे, शुभराग है, परंतु पीछे स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप के आनन्द की शान्ति है उतना धर्म है। समझ में आया ? और जितना बारह व्रत का विकल्प आता है वह पुण्यबन्ध है। कहेत हैं कि, **'पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता...'** पीछे **'मृत्यु काल में...'** जब मृत्यु-काल आता है तब **'समाधि धारण करके...'** देखो ! शान्त... शान्त... शान्त... अन्तर समाधि आनन्द (में) स्थिर होकर संन्यास धारण करे। **'उनके दोषों को दूर करता है...'** श्रावक समाधिमरण में आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में दृष्टि देकर शान्ति में रहते हैं, तब उन्हें समाधिमरण होता है। अन्तर में शान्ति होती है तो समाधिमरण होता है।

'इस प्रकार श्रावक के व्त पालन करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है,...' सोलहवें स्वर्ग (तक जाता है)। राग है न ! इतना पुण्यबन्ध हो जायेगा। मुनि को भी जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक आत्मा के अनुभव में तीन कषाय का अभाव है, इतनी तो संवर, निर्जरा है। उनको भी जितना पंच महाव्रत का परिणाम आता है, वह भी शुभराग आस्रव है। उससे बन्ध हो जायेगा स्वर्ग में जायेगा, (वह) संवर, निर्जरा नहीं (है)। समझ में आया ? भैया ! समझ में आया या नहीं ? **'उत्पन्न होता है,...'**

'वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके...' देखो ! सम्यग्दृष्टि श्रावक अपने स्वरूप की दृष्टि अन्तर में रखकर, शान्ति का वेदन करके अन्त में समाधिमरण करके स्वर्ग में जाते हैं। सोलहवाँ अच्युत स्वर्ग है न ? अच्युत देवलोक में जाते हैं। **'वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके...'** वहाँ की स्थिति पूरी होकर **'मनुष्यपर्याय पाकर...'** वहाँ से मनुष्य होता है। अपना अपूर्व काम (बाकी) रह गया, वह **'मुनि होकर मोक्ष जाता है।'** श्रावकपने में कभी मोक्ष होता नहीं। समझ में आया ? भले पंचम गुणस्थान में अनुभव दृष्टि, एकावतारी हुआ परन्तु जब मुनि हो, दिगम्बर सन्त आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते,झूलते इतना अतीन्द्रिय आनन्द, तीन कषाय के अभाव में आते हैं, तब नग्न दिगम्बर अवस्था हो जाती है। दिगम्बर अवस्था; उनको वस्त्र-पात्र लेने का विकल्प होता

नहीं। ऐसी दिगम्बर मुनि अवस्था हुए बिना मोक्ष कभी होता नहीं। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में वस्त्र-पात्र सहित हो तो सम्यग्दृष्टि हो सकता है, पंचम गुणस्थान हो सकता है, मुनि नहीं हो सकता; और मुनि (हुए) बिना मुक्ति कभी होती नहीं।

यह कहते हैं, देखो ! '**मनुष्यपर्याय पाकर मुनि होकर मोक्ष जाता है।**' स्वर्ग में से निकलकर उत्तम कुल में पुण्य के कारण उत्पन्न होता है। वहाँ अल्पकाल में गृहस्थाश्रम छोड़ देते हैं। मुनिपना आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते उग्र पुरुषार्थ से शान्ति का वेदन करते-करते पंच महाव्रत का पहले विकल्प आता है, फिर उसे भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। समझ में आया ? नीचे नोट है न ? संल्लेखना की व्याख्या करेंगे।

'**क्रोधादि के वश होकर विष, शस्त्र अथवा अन्नत्याग आदि से प्राणत्याग किया जाता है, उसे आत्मघात कहते हैं। संलेखना में सम्यग्दर्शनसहित...**' है। संलेखना आत्मघात नहीं, वह आपघात नहीं। संलेखना में आनन्दकन्द की भूमिका का भास है अन्दर। '**सम्यग्दर्शनसहित आत्मकल्याण के हेतु...**' अन्तर में आनन्द में रहने के कारण, अतीन्द्रिय आनन्द में झूलने के कारण '**काया और कषाय को कृष करते हुए...**' काया भी कृष पडती है और कषाय भी पतला हो जाता है। '**सम्यक् आराधनापूर्वक...**' आत्मा की शान्ति, निर्विकल्प आनन्द की आराधनापूर्वक '**समाधिमरण होता है, इसलिये वह आत्मघात नहीं...**' वह तो '**धर्मध्यान है।**' वह आत्मघात नहीं। लोग कहते हैं, वह मर गया। ऐसा नहीं है।

सम्यक् आत्मा के अनुभव में आनन्दकन्द में झूलते (हुए) शरीर का कृश होना और कषाय थोड़ा पतला है, उसे भी कृश करते हैं, और आत्मा का अकषायभाव उग्र करते हैं। ऐसे में देह छूट जाना, वह तो आत्मध्यानसहित धर्मध्यान है, उसको समाधिमरण कहते हैं। समझ में आया ? देखो, भावार्थ।

'**जो जीव श्रावक के उपर कहे हुए बारह व्रतों का विधिपूर्वक जीवपर्यंत पालन करते हुए उनके पाँच-पाँच अतिचारों को भी टालता है...**' शास्त्र में सब अधिकार हैं। '**मृत्युकाल में दोषों का नाश करने के लिये विधिपूर्वक समाधिमरण (संलेखना) धारण करके उनके पाँच**

अतिचारों को भी दूर करता है, वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त कर...' देखो ! आयु पूर्ण होने पर उसकी मृत्यु होती है, आगे-पीछे मृत्यु होता नहीं। जिस समय जहाँ आयु पूर्ण होनेवाला है, वहाँ होता है। '**सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है।**' यह तो उत्कृष्ट बात कही है, हाँ ! कोई आठवें, पाँचवें, दसवें स्वर्ग तक भी जाये, कोई सोधर्म में भी जाये। पहला सोधर्म देवलोक है, वहाँ भी उत्पन्न हो परन्तु उत्कृष्ट जाये तो श्रावक सोलहवें तक जाये।

'**फिर देवायु पूर्ण होने पर मनुष्य आयु पाकर,...**' मनुष्यभव बिना मुनिपना होता नहीं। देव में मुनिपना नहीं, सम्यग्दर्शन है, नारकी मैं सम्यग्दर्शन है, पशु में पंचम गुणस्थान है। समझ में आया ? पशु है न ? पशु, उसे पाँचवा गुणस्थान श्रावक होता है। अढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक हैं। ये अढाई द्वीप है ना ? अढाई द्वीप के बाहर असंख्यद्वीप, समुद्र हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य श्रावक हैं। सुना है या नहीं ? अढाई द्वीप के बाहर। ये अढाई द्वीप तो मनुष्य का है, उसमें तो संख्यात् मनुष्य हैं। अढाई द्वीप के बाहर असंख्य समुद्र हैं। बाहर असंख्य समुद्र और द्वीप हैं। उसमें एक स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्यात समकिती पंचम गुणस्थानवाले पशु हैं। किसी को अवधिज्ञान है, किसी को जातिस्मरण है। ऐसा सम्यक् अनुभववाला, हाँ ! आत्मदर्शनवाले। ऐसे असंख्य श्रावक स्वयंभूरमण समुद्र में हैं, लेकिन उसमें मुनिपना नहीं आता। नारकी और देव में चौथा गुणस्थान होता है, पशु में पंचम होता है, मनुष्य को तो चौथे से केवलज्ञान तक प्राप्त होता है। समझ में आया ?

पशु का नहीं सुना होगा। अढाई द्वीप के बाहर है, भैया ! स्वयंभूरमण समुद्र है, द्वीप हैं, मगरमच्छ हैं, मच्छी हैं। समकिती, आत्मज्ञानी, हाँ ! आत्मा का अनुभव करनेवाला, आनन्द का अनुभव करते-करते पंचम गुणस्थानवाले। पंचम गुणस्थानवाले असंख्य श्रावक बाहर हैं, पशु ! भाई ! कौन जाने भगवान जाने कौन होंगे ? मनुष्य में तो मनुष्य थोडे हैं। भगवान ने असंख्य श्रावक कहे हैं। परमात्मा केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने पंचम गुणस्थानवाले असंख्य श्रावक कहे हैं। समझ में आया ? तो मनुष्यपने में तो असंख्य है नहीं। बाहर पशु में हैं। समझ में आया ?

कहते हैं, पूर्ण शुद्धता प्राप्त करने का एक मनुष्यपना ही है, दूसरे में है नहीं। समझ में

आया ? आत्मा का आनन्द, सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान, जैसा सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा है, ऐसे आत्मा का आनन्द अनुभव हो, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? आहा..हा...!

मुमुक्षु :- बहुत कठिन है...

उत्तर :- है, ऐसा है। अनादि है। दुनिया कुछ मान लेती है। दुनिया निम्बोली को नीलमणि मान ले तो क्या नीलमणि हो जाती है ? ऐसे सम्यग्दर्शन मान ले कि, हमें देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है, नौं तत्त्व की श्रद्धा है तो समकित है। वह समकित है ही नहीं। समझ में आया ? वह तो अनन्तबार नौंवी ग्रैवेयक गया तब ऐसा तो अनन्तबार माना था। अनन्तबार नौंवी ग्रैवेयक गया। समझ में आया ? दिगम्बर लिंग धारण करके, अट्ठाईस मूलगुण (का) पालन करके, हजारों रानियों का त्याग करके (गया)। वह पहले आया न ? समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन भगवान इसको कहते हैं, '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।**' भगवान आत्मा... 'समयसार' की ११ वीं गाथा में है। '**भूदत्थमस्सिदो**' भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप पूर्ण आनन्द अनन्त गुण का पिंड, निर्विकल्प आनन्द (स्वरूप में) अन्तर सन्मुख होकर, पुण्य-पाप का विकल्प, राग से विमुख होकर, निमित्त से विमुखता होकर अन्तर आनन्दस्वरूप में सन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदनसहित प्रतीति हो, उसका नाम सर्वज्ञ परमात्मा, सम्यग्दर्शन कहते हैं। भैया ! समझ में आया ? उसके बिना सब मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो नौं तत्त्व को विकल्पसहित माने, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र को माने। उनको माने बिना तो शुक्ललेश्या तो होती नहीं। नौंवी ग्रैवेयक गया तो शुक्ललेश्या लेकर गया। सुना है न ? भैया ! नौंवी ग्रैवेयक आया न पहले ? 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रैवेयक,' शुक्ललेश्या, हाँ ! अनन्तबार शुक्ललेश्या हुई।

शुक्लध्यान दूसरी चीज़ (है), शुक्ललेश्या दूसरी चीज़ (है)। शुक्ललेश्या तो अभवि को भी होती है। शुक्लध्यान दूसरी चीज़ (है)। वह तो आत्मा का अनुभव (होने के बाद) आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान होता है। शुक्ललेश्या अनन्तबार प्रत्येक प्राणी को आ गई। नौंवी ग्रैवेयक अनन्तबार गये। सुना न नौंवी ग्रैवेयक ? ग्रैवेयक। चौदह राज पुरुषप्रमाण है।

ग्रैवेयक यहाँ सर पर है। भगवान केवलज्ञानी परमात्मा ने लोक को पुरुषाकार देखा है। वहाँ ग्रैवेयक के स्थान में ग्रैवेयक की नव पृथ्वी हैं। वहाँ ३१ सागरोपम की स्थिति में अनन्तबार जीव (गया है)। पंच महाव्रत का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण का परिणाम, हजारों रानियों का त्याग, बारह-बारह महिने का उपवास का भाव, ऐसी शुक्ललेश्या करके नौंवी ग्रैवेयक अनंतबार गया। समझ में आया ? आत्मा का कोई कार्य किया नहीं। शुभभाव... शुभभाव... शुक्ललेश्या का शुभभाव। ऐसा शुभभाव कि, दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगाने आये तो डिगे नहीं, ऐसा उसका शुक्ललेश्या का शुभभाव होता है। समझ में आया ? उसके लिये आहार बनाने में एकेन्द्रिय का एक पत्ता भी मरा हो तो आहार न ले। उसके लिये बना हुआ आहार हो तो प्राण जाये तो भी न ले। ऐसी शुक्ललेश्या अनन्तबार की। समझ में आया ? परन्तु आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना उसका कुछ लाभ हुआ नहीं। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ? वह यहाँ कहते हैं, देखो !

'सम्यक्चारित्र की भूमिका में रहनेवाले राग के कारण वह जीव स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है;...' श्रावक समकिती आत्मा का अनुभव करनेवाला, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ है, उसको श्रावक कहते हैं। संप्रदाय में है, उसे श्रावक नहीं कहते हैं। समझ में आया ? थैली में चिरायता भरा हो और ऊपर से शक्कर नाम रखे तो वह चिरायता मीठा नहीं होता। मीठी हो जाये ? उपर शक्कर लिखते हैं न ? ऐसे नाम रखे कि, हम श्रावक हैं, मुनि हैं। रखो नाम। थैली रखो, अन्दर में क्या ? मिथ्यात्वभाव पड़ा है, जहर तो पड़ा है। समझ में आया ? राग का कण भी दया, दान, व्रत का विकल्प उठता है वह राग है। उस राग से अपने को लाभ मानना वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। उसके हृदय में जहर भरा है। भगवान त्रिलोकनाथ उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसको समकिती तो नहीं (कहते), तो श्रावक तो है ही नहीं। समझ में आया ? भाई ! कठिन बात है, भाई ! यह कहते हैं।

श्रावक को अपने स्वरूप की दृष्टि अनुभव की हुई है। मैं आनन्द, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ। राग आता है, वह भी आस्रवतत्त्व है। सात तत्त्व में शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है। सात तत्त्व हैं न ? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। ये शरीर, कर्म, वाणी ये सब

अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व के द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में है। अजीव की पर्याय, अजीव से होती है, मेरे से नहीं; और अन्दर में पुण्य-पाप का भाव शुभ-अशुभ होता है, वह आस्रवतत्त्व है। आस्रवतत्त्व अजीव से भिन्न है और अजीव से आस्रव से भिन्न है और पुण्य-पाप का भाव आस्रव से भगवान आत्मा भिन्न है। ज्ञानानन्द भगवान आत्मा का, आस्रवतत्त्व से भिन्न होकर अपने स्वरूप की अन्तर अनुभव दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और उसका नाम सम्यग्ज्ञान है।

ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक श्रावक को अन्तर में शान्ति बहुत बढती है। वह तो पहले कहा। सर्वार्थसिद्धि में एकभवतारी सम्यग्दृष्टि हैं, उससे भी पंचम गुणस्थानवाले श्रावक को शांति बढ़ गई है। उसको (देव को) एक अनंतानुबंधी कषाय का त्याग है। सच्चा श्रावक होता है, उसे दो कषाय का त्याग है। अनंतानुबंधी का और अप्रत्याख्यानवरणीय का। तो अन्दर में शान्त... शान्त... शान्ति का वेदन श्रावक को है। अनन्तगुणी शान्ति अन्दर में बढ़ गई है। आहा..हा...! ऐसी भूमिका में जो बारह व्रत का विकल्प होता है, उससे पुण्यबन्ध होकर स्वर्ग में चले जाते हैं। समझ में आया ? इतना पुण्य बाकी है तो स्वर्ग में चले जाते हैं।

मुमुक्षु :- बाद में ख्याल आता है, पहले ख्याल नहि आता।

उत्तर :- तो फिर उसका ख्याल कहाँ से आया ? पहले आत्मा जाने बिना पर का ख्याल आया कहाँ से ? एक का भान नहीं और दो का भान होता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! अरे.. भगवान ! प्रभु !

तेरी चीज़ में तो अनन्त अनन्त शान्ति आदि पड़ी है। अनन्त गुण भरे हैं, अनन्त गुण ! भैया ! कितने गुण है ? सुना है कभी ? कितने अनन्त ? दस-बीस नहीं। शास्त्र में है, अनन्त की गिनती कितनी ? कि, अभी तक जितने सिद्ध हुए, छह मास और आठ समय में, भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ने देखा है कि, छह मास और आठ समय में ६०८ मुक्ति को पाते हैं। समझे ? छह मास और आठ समय में ६०८ मुक्ति को पाते हैं। तो अभी तक जो सिद्ध हुए, अभी तक अनादि से सिद्ध होते आये हैं, अबी यहाँ नहीं है तो महाविदेहक्षेत्र में भगवान

बिराजते हैं, त्रिलोकनाथ 'सीमंधर' प्रभु मनुष्यदेह में बिराजते हैं। वहाँ भी अभी साधु, सन्त, सन्त, आत्मज्ञानी, ध्यानी केवलज्ञान पाकर मोक्ष जाते हैं। तो छह मास और आठ समय में ६०८ मोक्ष पाते हैं। इतने अनन्त पुद्‌गल परावर्तन हो गये, उन सिद्ध की संख्या से एक शरीर... आलु... आलु होता है न ? बटाटा नहीं कहते ? आलु, कोई, लील-फूग होती है न ? पानी के उपर होती है, उसे क्या कहते हैं ? काई कहते हैं ना ? काई का इतना टूकडा लो, एक टूकडा में असंख्य औदारिकशरीर हैं। एक शरीर में अभी तक सिद्ध हुए उससे अनंतगुने जीव हैं। समझ में आया ? जितने सिद्ध हुए उससे, काई का एक इतना टूकडा लो उसमें असंख्य तो औदारक शरीर हैं। असंख्य औदारिक शरीर इतने में, हाँ ! गप्प नहीं, यथार्थ है। सुना नहीं तो क्या हुआ ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहा है, ऐसा है। एक शरीर उसमें से लो, असंख्यमें से, तो एक शरीर में इतने आत्मा हैं कि, सिद्ध से भी अनंतगुने। और उससे ये शरीर के रजकण, दुनिया के परमाणु हैं उससे अनन्तगुने हैं, जीव की संख्या से पुद्‌गल की परमाणु की संख्या अनन्तगुनी है। समझ में आया ? और उससे आकाश सर्वव्यापक है, आकाश सर्वव्यापक है न ? अलोक है न ? अलोक। यह तो चौदह ब्रह्मांड लोक है। खाली अलोक (है)। चला जाये, चला जाये आकाश चला जाता है, कहीं अन्त नहीं, कहीं अन्त नहीं, अन्त नहीं। उतना आकाश, उसके इतने टूकडे को प्रदेश कहते हैं। ऐसा अनन्त आकाश, जितने आकाश के प्रदेश हैं वे परमाणु की संख्या से अनन्तगुने हैं।

इस अनन्तगुने से एक जीव में उसस अनन्तगुने गुण हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! कुछ मालूम नहीं। घर के बर्तन मालू है, कितनी थाली और कितने बर्तन है ? धूल में भी मालूम नहीं। आत्मा कौन है ? देह में बिराजमान प्रभु आत्मा, आकाश के प्रदेश की संख्या अमाप अनन्त, उससे अनन्तगुने गुण हैं। अनन्त गुण का पिंड आत्मा भगवान, पुण्य और पाप के शुभ-अशुभराग की रुचि छोड़कर ऐसे अनन्त गुण भगवान की अन्तर अनुभव में दृष्टि होना, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, उसका नाम भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक श्रावक को बारह व्रत का शुभराग आता है। इस शुभराग से

तो स्वर्ग में जाते हैं। जितनी अन्तर में निर्मलता प्रकट हुई है, उतनी तो संवर और निर्जरा प्रकट हुई। समझ में आया ? सच्चे श्रावक की बात करते हैं। वैसे तो सब अपने को श्रावक कहते हैं, हम श्रावक हैं, जन्म ले तब से कहते हैं, हम श्रावक हैं, श्रावक हैं। कौन ना कहे ? पैसे देने पडते हैं ? समझ में आया ?

'किन्तु संवर, निर्जरारूप शुद्धभाव है;...' देखो ! क्या कहा ? श्रावक को आत्मा के अनुभवपूर्वक जितना बारह व्रत का राग रहा, उतना पुण्यबंध हुआ और संवर, निर्जरा तो शुद्धभाव है। अन्दर में जितना पुण्य-पाप से रहित, बारह व्रत के विकल्प से रहित, संवर के अनुभव में स्थिरता शान्ति की, आनन्द की हुई वह शुद्धभाव है। शुद्धभाव संवर, निर्जरा है और शुभभाव जो बारह व्रत का है, वह आस्रव है। समझ में आया ? भैया !

शुभ, अशुभ और शुद्ध। भाव की तीन जाति हैं। आत्मा में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना अशुभभाव हैं और इस हिंसा में मीठास आना और दया, दान, व्रत का परिणाम शुभ है वह ठीक है, ऐसा भाव आना, वह मिथ्यादृष्टि का अशुभभाव है। और मिथ्यादृष्टि जाने के बाद भी जितना हिंसा, झूठ, चोरी, विषमय का भाव (आता है वह) पाप (है), और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव पुण्य (है)। पुण्य और पाप दोनों आस्रवतत्त्व है। ये शुभभाव भी आस्रव है और उससे रहित जितने निर्विकल्प आत्मा के आश्रय शुद्ध शुद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रकट हुए वह शुद्धभाव है। वह शुद्धभाव संवर, निर्जरा है। समझ में आया ? सातों तत्त्व आ गये, देखो !

शरीर, अजीव आदि। ये शरीर और कर्म अजीवतत्त्व हैं, अजीव है। ये मिट्टी है न ? अजीव है। जड़ कर्म अजीवतत्त्व है। ये वाणी अजीवतत्त्व जड़ तत्त्व है। यह अजीव हुआ। हिंसा, झूठ, आदि के परिणाम होते हैं, वे पापरूपी अशुभ आस्रव परिणाम (हैं)। दया, दान, व्रत के (परिणाम) पुण्यरूपी आस्रवतत्त्व (है)। उससे भिन्न भगवान ज्ञानमूर्ति चिदानन्द आत्मतत्त्व (है)। उसकी अन्दर में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान प्रकट करना, वह संवर, निर्जरा तत्त्व (है) और पूर्ण शुद्धि प्रगट होना, वह मोक्षतत्त्व (है)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पहले क्या करना ?

उत्तर :- ये क्या कहते हैं ? धर्म के लिये पहले आत्मा राग से भिन्न है, उसकी अनुभव दृष्टि करनी। वह धर्म के लिये पहले हैं। पहले एक के बिना शून्य कहाँ से आया ? आहा..हा...! समझ में आया ?'एक होय त्रणकाळमां परमार्थनो पंथ' - वीतराग परमेश्वर ने कहा हुआ, बरत, ऐरावत या महाविदेह में सभी भूमि में 'एक होय त्रणकाळमां परमार्थनो पंथ' परमार्थ का पंथ दो, तीन, चार होता नहीं। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :-पुरुषार्थ किये जा।

उत्तर :- कौन-से प्रकार का ? किस प्रकार का ? पुरुषार्थ - पुण्य-पाप के विकल्प से आत्मा पर है, उसका पुरुषार्थ किये जा, ऐसा है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं कि, पुरुषार्थ किये जा। किस प्रकार का ? क्या जड़ का पुरुषार्थ आत्मा कर सकता है ? आत्मा शरीर को हिला सकता है ? ये तो मिट्टी है, अजीव है। उसमें उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् है। उसमें पर्याय का उत्पाद होता है, जड़में जड़ से होता है। क्या आत्मा उसका उत्पाद पुरुषार्थ से कर सकता है ? माननेवाला मूढ है। जड़ की पर्याय मेरे से होती है, वाणी मेरे से होती है, जड़ की पर्याय का उत्पाद जड़ से होता है। पूर्व की पर्याय का व्यय, नयी पर्याय का उत्पाद, सद्दशपना ध्रुव (है)। यह तो प्रत्येक परमाणु का उत्पादव्ययध्रुवयुक्त सत् उसका धर्म है। वह माने कि, मेरे से जड़ की पर्याय हुई, मैं बोलता हूँ। मूढ है। जड़ की पर्याय को, अजीव को जीव माना। अजीव को जीव माने, वह मिथ्यादृष्टि (है)। रट तो ले। विचार करने की कुछ खबर नहीं। 'वांचे पण नहीं करे विचार' 'दलपतराम' का आता था न ? 'ए समझे नहीं सघळो सार।' 'दलपतराम' में आता था। 'दलपत' कवि में (आता था)।

यहाँ तो कहते हैं, जड़ कर्म, शरीर, वाणी जगत के स्वतंत्र पदार्थ हैं। उसकी पर्याय का मैं आत्मा कर्ता नहीं; जैसे ईश्वर कोई जगत का कर्ता नहीं। जगत स्वयंसिद्ध तत्त्व है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मी जानते हैं। जड़ अजीवतत्त्व का कुछ करना आत्मा (का कार्य) नहीं। अजीव की पर्याय अजीव से होती है, अजीव का गुण अजीव में है, अजीव का द्रव्य अजीव में है, अजीव का द्रव्य-गुण का परिणमन अजीव से होता है। समझ में आया ? भैया ! अजीव की पर्याय अजीव से होती है, आत्मा से नहीं। कठिन बात है, भाई !

ऐसा हाथ चलता है, उसका आत्मा कर्ता नहीं है। ये हाथ चलता है, उसका आत्मा कर्ता है – ऐसा माननेवाला अजीव को जीव मानता है। मूढ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, वीतराग की आज्ञा की उसे खबर नहीं। समझ में आया ? अजीव से भिन्न पुण्य-पाप का शुभ-अशुभ परिणाम दोनों आस्रव हैं। दोनों से बन्ध है, शुभ हो या अशुभ हो, दोनों से बन्ध है। अबन्ध नहीं, अबन्ध अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं। अबन्ध स्वभाव भगवान आत्मा चादिनन्द की मूर्ति, उसके सन्मुख होकर सम्यक् प्राप्ति होना, वह शुद्धभाव है। यह शुद्धभाव संवर-निर्जरा है। आत्मा जीवद्रव्य है, वह संवर, निर्जरा है, पूर्ण शुद्धि मुक्ति है, पुण्य-पाप आस्रव है, उससे बन्ध होता है। जड़ की पर्याय जड़ बन्ध है, वह अजीव है। ऐसा भिन्न-भिन्न सात तत्त्व का यथार्थ अन्तर अनुभवपूर्वक श्रद्धा होनी, उसका नाम सम्यग्दर्शन-'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहते हैं। समझ में आया ? भैया ! अरे..! भगवान के मार्ग सब लूट चल रही है। मार्ग कहाँ रहा औरकहाँ मानकर चलते हैं। समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो !

श्रावक को जितना शुभभाव है, (उससे) वह स्वर्ग को प्राप्त करता है। धर्म का फल संसार की गति नहीं। कोई कहता है कि, अपने धर्म करते हैं तो स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग का तो बन्ध है। धर्म से बन्ध होता है ? जिस भाव से बन्ध हा वह धर्म है ? समझ में आया ? जिस भाव से बन्ध हो, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्ध होता ही नहीं।धर्म तो संवर, निर्जरा है। समझे ? नहीं समझे। धर्म से आत्मा का स्वभाव मिले। पुण्य परिणाम, धर्म नहीं। उससे बन्ध (होता है), बन्ध से स्वर्गादि मिले। धर्म से मिले ? और स्वर्ग का जो भाव है, वह धर्म है ? धर्म से बन्ध हो तो फिर छूटने का क्या उपाय ? समझ में आया ? आहा..हा... ! (अज्ञानी) चिल्लाते हैं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधता है, वह भाव भी धर्म नहीं। बन्ध पडा है न ? बन्ध है, शुभभाव है। षोडशकारण भावना शुभभाव है। सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि, ये भाव आते हैं, लेकिन है बन्ध। मेरी चीज़ तो राग से भिन्न है, उसको मैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान जानता हूँ, ऐसा माने। आहा..हा... ! समझ में आया ? कुछ भान नहीं और (कहे कि), हम जैन हैं। जैन किसको कहना ? जैन का सर पर सिक्का मारा है तो जैन हो गया ?

भगवान सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ कहते हैं कि, श्रावक को जो शुभभाव रहा,

उससे तो स्वर्ग मिला और संवर, निर्जरारूप शुद्धभाव है, उस धर्म की पूर्णता वह मोक्ष है। तीनों आ गये, देखो ! श्रावक को जितना शुभभाव रहा उससे पुण्यबन्ध हुआ, बन्ध मिला और आत्मा का स्वभाव का अनुभव करके जितना निर्विकारी अकषाय परिणाम हुआ, उसका नाम संवर, निर्जरा (है)। पूर्ण शुद्धि हुई, उसका नाम मुक्ति। समझ में आया ? चौथी ढाल पूरी हुई, लो !

नीचे लीखा है वह सब आ गया है। इस ओर (फूटनोट) है। ११९ पन्ना। '**अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता,..**' है उसमें ? है ? 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' का श्लोक है।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।।३८।।

अज्ञान नाम आत्मा का चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा के अनुभव के भान बिना चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता। चारित्र को सम्यक् लागू नहीं पडता; मिथ्याचारित्र है। मिथ्याचारित्र अर्थात् राग की क्रिया है। '**इसलिये चारित्र का आराधन ज्ञान होने के पश्चात् कहा है।**' अपना अनुभव, दृष्टि करना, बाद में अन्तर स्वरूप का चारित्र स्वरूप में स्थिरता बाद में होती है। दर्शन, ज्ञान बिना चारित्र होता नहीं हो, चार ढाल पूरी हुई।

पाँचवी ढाल

भावनाओं के चिंतवन का कारण, उसके अधिकारी और उसका फल

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन भाई, अचिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई।।१।।

अन्वयार्थ :- (भाई) हे भव्य जीव ! (सकलव्रती) महाव्रतों के धारक (मुनि) भावलिंगी मुनिराज (बड़भागी) महान पुरुषार्थी हैं, क्योंकि वे (भव-भोगनतैं) संसार और भोगों से (वैरागी) विरक्त होते हैं और (वैराग्य) वीतरागता को (उपावन) उत्पन्न करने के लिये (भाई) माता समान (अनुप्रेक्षा) बारह भावनाओं का (चिन्तैं) चिंतवन करते हैं।

भावार्थ :- पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिंगी मुनिराज महापुरुषार्थवान हैं, क्योंकि वे संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं, और जिस प्रकार कोई माता पुत्र को जन्म देती है, उसीप्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं, इसलिये मुनिराज इस बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं।

अब पाँचवी, पाँचवी ढाल है, भैया ! पहला श्लोक। '**भावनाओं के चिंतवन का कारण, उसके अधिकार और उसका फल।**' श्रावक के बाद अब मुनि लेते हैं। पहले सम्यग्दर्शन का अधिकार बहुत आ गया। सम्यग्ज्ञान का आ गया, श्रावक के व्रत का आ गया, अब मुनि की बात करते हैं।

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन भाई, अचिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई।।१।।

श्रावक होने के बाद मुनिपना लिये बिना विशेष शान्तिहोती नहीं, मुक्तिहोती नहीं। '**हे भव्य जीव ! महाव्रतों के धारक भावलिंगी मुनिराज...**' मुनि दिगम्बर होते हैं और अन्तर में आनन्द की, अतीन्द्रिय आनन्द की दशा (प्रगट होती है)। भगवान के शासन में मुनि उसको कहते हैं, क्षण में सप्तम गुणस्थान आता है। अकेला आनन्द.. आनन्द... आनन्द... क्षण में छट्ठे गुणस्थान का विकल्प आता है। एक दिन में हजारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान आता है, उसको भगवान के शासन में मुनि कहने में आया है। समझ में आया ? भैया ! छठा-सातवाँ गुणस्थान है न ? अन्तर में तीन कषाय का अभाव हुआ है। छठा गुणस्थान हुआ। अन्तर आत्मा (के) अतीन्द्रिय आनंद का वेदन(प्रगट हुआ है)।

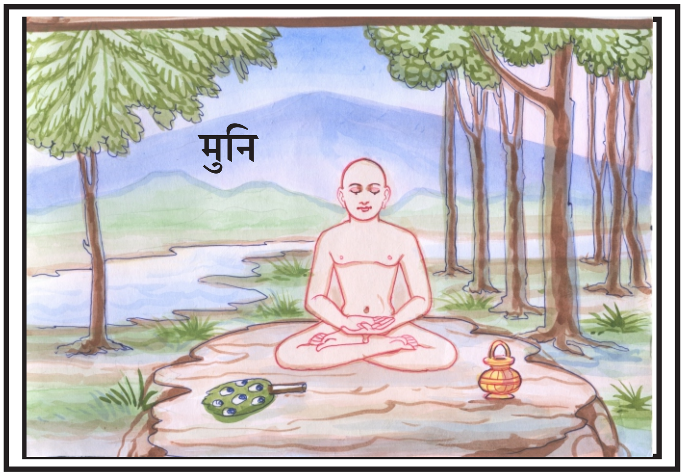

जो श्रावक को अतीन्द्रिय आनंद का वेदन है, उससे भी मुनि को अन्दर से बहुत आनन्द बढ गया। अन्दर अतीन्द्रिय भगवान में से प्रवाह (प्रगट) हुआ। तीन कषाय का नाश होकर मुनिपना प्रगट होता है। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में जब छठे गुणस्थान में है, तब उनको पंच महाव्रत का विकल्प होता है। पंच महाव्रत का विकल्प राग है, पुण्य (है)। क्षण में वह विकल्प छूट जाता है। अतीन्द्रिय आनन्द का भिन्न गोला ! क्षण में सप्तम, क्षण में छठा, क्षण में सप्तम, क्षण में छठा। ऐसी भूमिका को जैनशासन में भावलिंगी संत कहते हैं। समझ में आया ? आगो थोड़ा कहेंगे, हाँ ! उनकी नींद भी थोडी (है)। इतनी काग-नींद जितनी। उनको पौन सैकेन्ड नींद आती है। भावलिंगी संत को पौन सैकेन्ड नींद आती है। पीछे कहेंगे, रयन में आता है न

पीछे ? रयनि नहीं (आता) ? पिछली रयनि। कहाँ (है) ? पीछे ? छठी ढाल, छठी ढाल में है। वह छठी ढाल में है। '**पिछली रयनि**' शब्द आता है। छठी ढाल का पाँचवा श्लोक।

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनि में कछु शयन एकासन करन॥५॥

मुनिदशा किसको कहें ! ओ..हो..हो... ! परमेश्वरपद ! पिछली रात में थोड़ी आती है, छठवें प्रमत्त गुणस्थान में पौन सैकन्ड निंद्रा आती है। फिर जागृत होकर सप्तम गुणस्थान में (आ जाते हैं)। फिर छठा। समझ में आया ? आहा..हा... ! मुनिपना किसको कहना ? (यह) दुनिया ने सुना नहीं। जिनको गणधरदेव नमस्कार करे। पंच नमस्कार में णमो लोए सव्वसाहूणं। ऐसे छोटे साधु को नमन नहीं करते परन्तु गणधर भगवान अभी 'सीमंधर' प्रभु के पास बिराजते हैं, वे जब बारह अंग की रचना करते हैं, (उस समय) णमो लोए सव्व साहूणं (बोलते हैं)।

हे अढ़ाई द्वीप में संत मुनि, आत्मज्ञानी-ध्यानी आनन्दकन्द में झूलनेवाले, हे संत ! तुम्हारे चरण में मेरा नमस्कार। समझ में आया ? गणधर के नमस्कार जिनके चरणों में पहुँचे, उनको मुनि कहते हैं। बारह अंग की रचना करते हैं, तब पंच नमस्कार (मंत्र) का विकल्प आता है न ? गणधर चार ज्ञान और चौदह पूर्व अंतर्मुहूर्त में रचते हैं। वह भी जब पंच (परमेष्ठी) स्मरण का अथवा रचना का विकल्प आया (तब बोलते हैं), णमो लोए सव्व आईरियाणं। 'लोए' शब्द सब में लागू पडता है। आखिर का शब्द है, अन्तदीपक है, अन्तदीपक है। णमो लोए सव्व अरिहंताणं। मूल तो ऐसा है। णमो लोए सब में लागू पडता है। णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

अहो संत ! छठी-सातवीं भूमिका के आनन्द में झूलनेवाले, उनके चरण में मेरा नमस्कार है। गणधर नमस्कार करते हैं, वह मुनि की दशा जैनशासन में गिनने में आयी है। समझ में

आया ? मुनिव्रत की भावना, मुनि कैसी भावना करते हैं, उनकी दशा कैसी है कि, श्रावक को अनतंगुनी शांति बढ गई है। उस भूमिका में बारह भावना भाते हैं। उसका अधिकार चलेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

आहाहा ! क्षणमें अनेक प्रकारके विचित्र रोग हो जाए - एसा शरीर है । कहाँ शरीर और कहाँ आत्मा ! इनमें तनिक भी मेल नहीं है । अहा ! ऐसी दुर्लभ मनुष्य देर मिली और ऐसा वीतराग मार्ग महाभाग्यसे मिला है, अतः मनका अधिकतम बोझा घटाकर आत्माको पहचाननेका प्रयत्न करना चाहिए । पांच इन्द्रियोंके रसरुप बोझेको हटाकर आत्माको पहचाननेके विचारमें लगना चाहिए । अन्दरमें अनन्त आनंद आदि स्वभाव भरे हैं - ऐसे स्वभावकी महिमा आए (पहचान-होने पर) तब अन्तर पुरुषार्थ स्फूरित हुए बिना रहे ही नहीं । (परमागमसार-३९६)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ९, मंगलवार
दि. ०१-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१,२,३. प्रवचन नं. ३९

('छहढाला') की पाँचवी ढाल का, पहला श्लोक।

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन भाई, अचिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई।।१।।

क्या कहते हैं ? आत्मा नित्यानन्द स्वरूप, नित्यानन्द आत्मस्वरूप। स्थायी आत्मा नित्य है, उसमें दृष्टि लगाकर, उसमें स्थिर रहना वही आत्मा का मार्ग है। उसमें यह बारह भावना भानी, वह वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली यह भावना है। समझ में आया ? आत्मा नित्यानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द आत्मा नित्य (है)। उसकी स्थायी दृष्टि करने को अन्तर पुरुषार्थ करना और उस पुरुषार्थ में इन बारह भावनाओं को भाना। मुनि होने के पहले भी भावना करना और मुनि होने के बाद भी भावना करना। उसका नाम यहाँ बारह भावना का स्वरूप का वर्णन करते हैं।

आत्मदर्शन सम्यग्दर्शन आत्मानुभव, उसका भानपूर्वक श्रावक को स्वरूप में शान्ति के अंश की वृद्धि हुई है, उनको बारह व्रत का विकल्प उत्पन्न होता है, वह बात आ गई। अब पाँच महाव्रत आदि मुनि के व्रत होते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अन्तर शान्ति बहुत उत्पन्न हो गई हो। वह कहते हैं, देखो !

'हे भव्य जीव ! महाव्रतों के धारक भावलिंगी मुनिराज...' आत्मा में, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा, उसका अन्तर उग्र अनुभव हुआ है। समझ में आया ? उसको मुनि कहते हैं। सम्यग्दर्शन में आत्मा, पुण्य-पाप का रागरहित अुभव में अल्प आनन्द आया है और श्रावक होता है, तब विशेष अतीन्द्रिय आनन्द की शान्ति विशेष हुई और मुनि होते हैं, उनको अतीन्द्रिय

आनन्द उग्ररूप से होता है। प्रचुर स्वसंवेदन (होता है)। समझ में आया ? प्रचुर स्वसंवेदन। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु है। सच्चिदानंद आत्मा है। सत् शाश्वत (है), उसके अतीन्द्रिय आनन्द में से एकाग्र होकर प्रचुर आनन्द का अपना वेदन हुआ है, उसको मुनि कहने में आता है। ओ..हो... !

वे मुनि महाव्रतों के धारक हैं। सकलव्रती। पहले श्रावक में देशव्रती की व्याख्या की। उनको पाँच महाव्रत हैं। मुनि, '**भावलिंगी मुनिराज महान पुरुषार्थी हैं,...**' देखो ! ओ..हो..हो... ! आत्मा आनन्द की भूमि, आनन्द की भूमि, अतीन्द्रिय आनन्द की भूमि में बहुत लीन हो गये हैं। इतना पुरुषार्थ मुनिराज को अन्तर आनन्द में आता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- महान पुरुषार्थ क्यों कहा ?

उत्तर :- महान पुरुषार्थ कहा न ? श्रावक का अल्प पुरुषार्थ है, मुनि को महान पुरुषार्थ है। सम्यग्दृष्टि को और श्रावक को अल्प पुरुषार्थ है, मुनि की अपेक्षा से।

मुमुक्षु :- महान में क्या कहना है ?

उत्तर :- महान नाम उग्र, पहले कहा न ? प्रचुर स्वसंवेदन। वह शब्द तो कहा। उग्र आनन्द का पुरुषार्थ से उग्र आनन्द प्रगट किया। आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का भंडार है, अतीन्द्रिय आनन्द की निधि है, उसको खोजकर प्रचुर उग्र महान पुरुषार्थ द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द को पर्याय में जिन्होंने प्राप्त किया है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बड़भागी..

उत्तर :- बड़भागी पुरुषार्थ। वे बड़भागी हैं। वास्तव में पुण्यशाली भी वे हैं और महान पुरुषार्थी भी वे हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! वह तो समकित की बात की, सम्यग्ज्ञान की बात की, बाद में देशव्रत की कही, अब सर्वविरति की बात चलती है। चार ढाल तो पूरी हुई, यह पाँचवी ढाल चलती है।

प्रत्येक में अपना आत्मा सच्चिदानन्द अतीन्द्रिय आनन्द, उसके अनुभव में सम्यग्दर्शन हुआ हो और आत्मा का ज्ञान हुआ हो तो उसे धर्म की प्राप्ति हुई और बाद में श्रावक (दशा) की

प्राप्ति (हुई)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- श्रावक तो जन्म से होते हैं।

उत्तर :- श्रावक जन्म से होते हैं ? कोई कहता है कि, जैनकुल में जन्म लिया तो श्रावक हो गया। ऐसा है ही नहीं। श्रावक कोई सम्प्रदाय की चीज नहीं, वह तो वस्तु के स्वरूप की चीज है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय सच्चिदानंद धाम है, उसकी अन्तरदृष्टि करके विशेष शान्ति की, आनन्द की प्राप्ति होना उसका नाम श्रावकपना वास्तव में गिनने में आया है। आहा..हा...! भैया ! महान पुरुषार्थ... ओ..हो...! मुनि पंच परमेष्ठी में मिल गये। जिनको गणधर नमस्कार करे-णमो लोए सव्व साहूणं। करे कि नहीं ? गणधर चौदह पूर्व की रचना करते हैं, संत, जो संतों के अग्रेसर मुनि गणधर, वे भी जब बारह अंग की रचना करते हैं (उस समय बोलते हैं), णमो लोए सव्व साहूणं। हे संत ! तेरे चरण में मेरा नमस्कार। गणधर का जिसके चरण में नमस्कार पहुँचे वह मुनिपना कैसा है ? आहा..हा...! समझ में आया ?

पाँच नमस्कार (का) रटन करते हैं न ? गणधरदेव चौदह पूर्व की रचना करते हैं या नहीं ? 'गौतमस्वामी' ने की। भगवान के पास बिराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' भगवान के पास गणधर बिराजते हैं। वे गणधर जब बारह अंग की रचना करते हैं (तब बोलते हैं), णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आईरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। अढ़ाई द्वीप में जितने संत महाव्रतधारी भावलिंगी आत्म-आनन्द में झूलनेवाले, ऐसे छठे-सातवें गुणस्थान में मुनि बिराजते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। गणधर उनको नमस्कार करे के नहीं ? वह मुनिपना कैसा है ?

मुमुक्षु :- अतन्द्रिय कहा न ?

उत्तर :- अतीन्द्रिय कहो, (कहते हैं), ठीक ! आत्मा कहो या अतीन्द्रिय कहो। यह जड़ है, वह तो इन्द्रिय से ग्राह्य है, आत्मा अतीन्द्रिय ग्राह्य है। मूल अभी अन्दर बहुत धुआँ (-विपरीत अभिप्राय) घसू गया है। अभी प्रश्न आया है। भाई ! यह आत्मा अतीन्द्रिय स्वरूप है, इन्द्रिय से ग्राह्य (नहीं होता)। इन्द्रिय से आत्मा ग्राह्य होता है ? ये तो जड़ मिट्टी है। उससे लक्ष्य करते हैं तो रूपी पदार्थ लक्ष्य में आते हैं।

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। इन्द्रिय से मानता है कि, मुझे सुख है, वह तो दुःख है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, में हम सुखी है - (ऐसा मानता है)। वह तो मूढ़ है। मान्यता करता है। सुख तो आत्मा में है। पर में सुख है ? समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख नहीं मानते। आसक्ति होती है, परन्तु सुख नहीं मानते। अस्थिरता होती है, सुख मानते नहीं। सुख तो अपने आत्मा मे अतीन्द्रिय आनन्द पडा है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि, दृष्टि अनुभव हुआ, बाद में आसक्ति रहती है। आसक्ति आंशिक कम होती है और अपना अतीन्द्रिय आनन्द थोड़ा बढ़ता है, उसको श्रावकपना कहने में आता है, और सब आस्कति नाश होती है और सर्वविरति अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द की पुष्टि बहुत होती है, उसको मुनिपना कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! वह तो कहते हैं, देखो !

'महान पुरुषार्थी...' सन्त तो आत्मा अकेला, उदास.. उदास.. दुनिया से उदास। श्रावक को भी सन्यग्दर्शन होनेपर भी अभी थोड़ी आसक्ति है। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार के प्रति प्रेम है। रुचि नहीं है कि, वे मेरे सुख का कारण है, राग आया वह सुखरूप है-ऐसी दृष्टि नहीं (है)। उस आसक्ति का अंश कम होता है, वह श्रावक (है)। उस आसक्ति की सर्वथा विरति-निवृत्ति होती है, वह मुनि (है)। समझ में आया ? दृष्टि में तो पहले से सम्यक् हुआ है।

मुमुक्षु :- दृष्टि की बात बहुत करनी पड़ती है।

उत्तर :- लेकिन दृष्टि बिना, द्रव्य के भान बिना कहाँ ठरना ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संसार ?

उत्तर :- संसार राग, द्वेष, अज्ञान (है)। संसार पूछा न ? भैया ! आत्मा आनन्दकन्द सच्चिदानन्द शुद्ध आनन्द प्रभु है, उसमें से निकलकर विकार पुण्य-पाप भाव उत्पन्न करना और पुण्य-पाप भाव मेरा है, ऐसा मिथ्यात्व (उत्पन्न करना) उसका नाम संसार (है)। संसरणं इति संसारः। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिंड प्रभु, उसमें से संसरण-हट जाना, हट जाना, हटकर विकार को अपना मानना, परवस्तु को अपना मानना, पुण्य-पाप में मीठास-आनन्द है-ऐसा मानना वह मिथ्यात्व भाव और राग-द्वेष, संसार है। समझ में आया ? ऐ..इ... ! संसार भूल है न ? तो आत्मा की भूल आत्मा में रहती है या बाहर रहती है ? संसार कहाँ बाहर

रहता है ? बाहर तो जड़ है, वह तो परद्रव्य है। अपना आत्मा मुक्तस्वरूप है। वस्तु मुक्त आनन्दमूर्ति आत्मा है। उसकी रुचि छोड़कर पर मेरा, मैं उसका ऐसा मान्यता और इष्ट-अनिष्ट देखकर राग-द्वेष करना, ये राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव जो अपनी पर्याय-अवस्था में स्वरूपमें से हटकर विकार में आया, वही संसार (है)। इस संसार की रुचि छोड़कर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि करना उसका नाम सम्यग्दर्शन है। पीछे संसार की आसक्ति का भाव रहता है, परन्तु संसार सुखरूप है-ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं रहती है। समझ में आया ?

संसार विकार में सुखबुद्धि है, वह मिथ्यात्वरूपी संरार और आसक्ति (है) वह भी चारित्र के दोष का संसार (है)। पहले आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है-ऐसी अनुभव दृष्टि हुई तो पुण्य-पाप के भाव में सुख है-ऐसी बुद्धि हट जाती है परन्तु पुण्य-पाप भाव हटता नहीं। समझ में आया ? तो इतने अपरिमित संसार का नाश सम्यग्दृष्टि ने किया। समझ में आया ? शुद्ध भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, उसके अनुभव में (आया कि), यह आत्मा आनन्द है-ऐसी दृष्टि की तो पुण्य-पाप के भाव में सुखबुद्धि थी, वह मिथ्यात्व था, अपरिमित अनन्त संसार था, उस अनन्त संसार का, आत्मा अतीन्द्रिय है-ऐसी दृष्टि करके अपरिमित संसार का छेद कर दिया। समझ में आया ? और परिमित राग-द्वेष रहा, मर्यादित राग-द्वेष रहा। उस मर्यादित राग-द्वेषमें से भी आंशिकरूप से आसक्ति को हटाकर स्वरूप में स्थिरता का अंश प्रगट करना, उसका नाम श्रावकपना पंचम गुणस्थान कहने में आता है। उस आसक्ति का सर्वथा अभाव करके स्वरूप में निवृत्ति में विशेष लीन होना, उसका नाम मुनिपना, पर का त्याग, संसार का त्याग अर्थात् विकार की रुचि और आसक्ति का त्याग (हो गया)। थोडा विकल्प रहता है, उसका ज्ञान करते हैं, उसका नाम मुनिपना कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? दुनिया से अलग चीज है। दुनिया मानती है, (ऐसा नहीं है)।

यह देह तो जड़ है, उसमें संसार है ? यह तो मिट्टी है। स्त्री-पुत्र पर है, उसमें संसार है ? वह संसार हो तो मृत्युकाल में सब पडा रहता है। समझ में आया ? यदि वह संसार हो, स्त्री, कुटुम्ब (संसार हो तो) मृत्युकाल में सब पडा रहता है, (जीव स्वयं) चला जाता है। तो संसार पडा रहा, मुक्ति हो जायेगी। वह संसार है ही नहीं। संसार उसकी मान्यता में और राग-द्वेष में संसार पडा है। सब पडा रहता है। शरीर पडा रहता है। चला जाये। संसार लेकर चला जाये।

अपनी मिथ्यारुचि और राग-द्वेष की आसक्ति लेकर चला जाता है, वही संसार है। समझ में आया ? आहा..हा...! साथ में गया, संसार यहाँ थोड़ा पडा रहा ? स्त्री-पुत्र संसार था ? वह संसार (यदि हो तो) ये सब यहाँ पडे रहे तो मुक्ति हो गई। ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, मुनि... सम्यग्दृष्टि से श्रावक ऊँचे हैं, श्रावक से मुनि ऊँचे हैं, क्योंकि आसक्ति बहुत घट गई। **'(बड़भागी) महान पुरुषार्थी हैं, क्योंकि (भवभोगनतैं वैरागी...)'** भव अर्थात् संसार। देखो ! उसमें साथ में शरीर लेना। संसार, शरीर और भोग से **'विरक्त होते हैं...'** संसार, रागादि में बहुत विरक्त हैं, भोग से विरक्त हैं, शरीर से भी विरक्त हैं। अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द में, विपति में लीन हैं। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा, उसमें आनन्द की बाढ़ आती है। मुनि को अतीन्द्रिय आनन्द की बहुत बाढ़ आती है। उसमें लीने हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बहुत लेते हैं। वे संसार, शरीर और भोगों से वैरागी हैं। समझ में आया ?

'और वीतरागता को उत्पन्न करने के लिये...' देखो ! मुनि अथवा मुनि होने से पहले वीतरागता को उत्पन्न करने के लिये **'माता समान बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं।'** बारह भावना माता समान हैं। है न ? **'वैराग्य उपावन भाई...'** वैराग्य उत्पन्न करने की माता। भगवान आत्मा की शुद्ध सन्मुख अतीन्द्रिय दृष्टि हुई है तो बाद में जो आसक्ति है, उसे हटाने को बारह भावना मुनि अथवा मुनि होने से पहले श्रावक भी बारह भावना भाते हैं। कहो, समझ में आया ? देखो !

भावार्थ :- 'पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिंगी मुनिराज महापुरषार्थवान है,...' संसार में गृहस्थ को, श्रावक को इतना पुरुषार्थ नहीं (है)। **'क्योंकि संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं...'** स्पष्टीकरण के लिये शरीर डाला है। पाठ में **'भव-भोगनतैं'** है ना ? **'और जिस प्रकार कोई माता पुत्र को जन्म देती है...'** माता कोई पुत्र को जन्म देती है, **'उसी प्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं...'**

वैराग्य.. वैराग्य.. 'क्षण लाखेणी जाये...' माता ! हे माँ ! जब दीक्षित होता है न ? माता-पिता आज्ञा नहीं देते हैं तो कहते हैं, माता ! मेरी क्षण लाखेणी जाये। मेरे स्वरूप की सावधानी करने में एक क्षण लाखेणी जाती है। (अर्थात्) लाख रूपये, करोड़, अबज, अनन्त

रूपये दे (तो भी) एक क्षण नहीं मिलती। ऐसा हमारा जन्म और अपने स्वरूप में सावधानी करने का काल (कीमती है)। मताा ! आज्ञा दो, आज्ञा दो। अपनी स्वरूप सावधानी में रहने को हम वनवास जाते हैं। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम को छोड़कर, राग की आसक्ति घटाकर हम वनवास जाते हैं। वनवास में आनन्द का साधन करते हैं, उसका नाम मुनिपना कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! '**मुनिराज इन बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं।**' पहली भावना। भावनाओं का स्वरूप बतलाते हैं।

भावनाओं का फल और मोक्षसुख की प्राप्ति का समय

इन चिन्तत सम सुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागै;

जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठाने।।२।।

अन्वयार्थ :- (जिमि) जिसप्रकार (पवन के) वायु के (लागै) लगने (ज्वलन) अग्नि (जागै) भभक उठती है, (उसी प्रकार न बारह भावनाओ का) (चिंतत) चिंतवन करने से (सम सुख) समतारूपी सुख (जागै) प्रगट होता है। (जब ही) जब (जिय) जीव (आतम) आत्मस्वरूप को (जानै) जानता है (तब ही) तभी जीव (शिवसुख) को (ठानै) प्राप्त करता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है, उसीप्रकार इन बारह भावनाओं का बारंबार चिंतवन करने से समता (शांतिरूपी सुख प्रगट हो जाता है-बढ़ जाता है)। जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब पुरुषार्थ बढ़ाक परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर परमानन्दमय स्वस्वरूप में लीन होकर समतारस का पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है।।२।।

'**इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै;...**' देखो ! कितनी भावना भर दी है ! 'दौलतरामजी' पंडित श्रावक थे, रन्तु 'छहढाला' में गागर में सागर भर दिया है।

इन चिन्तत सम सुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागै;

जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठाने।।२।।

देखो ! कैसी भाषा (है) ! थोड़े में-अल्प में बहुत भर दिया है। 'छहढाला' है, भैया ! 'छहढाला' तो बहुतों को कंठस्थ है। अर्थ समझे नहीं। गडिया बोले जाये, गडिया को क्या कहते हैं ? पहाडा। क्या अर्थ है ?

'जिस प्रकार वायु के लगने से...' हवा आती है न ? हवा। **'अग्नि भभक उठती है...'** पवन के आने से... लोगों में कहते हैं न ? 'ला त्यां वा, ला त्यां वा...' हमारे में कहते हैं। आप की भाषा में कुछ होगा। अग्नि उठती है न ? अग्नि। हवा आती है तो अग्नि भभक उठती है। ज्वाला (उठती है)। **'अग्नि भभक उठती है, (उसी प्रकार बारह भावनाओं का) चिंतवन करने से...'** आत्मा का आनन्द का भान तो पहले (हुआ) है, समझ में आया ? मेरा आनन्द मेरे में है। रागादि शुभाशुभभाव उत्पन्न होते हैं, वे दु:खरूप हैं। वस्तु दु:खरूप नहीं, चीज दु:खरूप नहीं (है)। समझ में आया ? मेरे में जितने प्रकार का राग उत्पन्न होता है, वह दु:खरूप है। मेरा आत्मा ही आनन्दरूप है। ऐसा पहले आनन्द का भान हुआ है और बारह भावना भाते हैं।

कहते हैं कि, (भावनाओं का) **'चिंतवन करने से समतारूपी सुख प्रगट होता है।'** समता कहो, वीतरागता कहो, अनाकुल रागरहित शान्ति की उत्पत्ति विशेष होती है। भावना करते हैं, अ..हो..! मेरा कोई नहीं। मैं मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है, मैं ही मेरे स्वरूप को चूककर मुझे आसक्ति थोड़ी होती है, वह मुझे दु:खरूप है। समझ में आया ? **'चितवन करने से समतारूपी सुख प्रगट होता है।'** आत्मा में आनन्द अनाकुलस्वरूप शुद्ध है-ऐसी अनुभव में दृष्टि तो हुई है, परन्तु आसक्ति है, उसे हटाने को बारह भावना भाते है। बारह भावना का चिंतवन करने से समतारूपी सुख-वीतरागी सुख (प्रगट होता है)। पुण्य-पाप के भाव में जो दु:ख की आसक्ति थी तो यह भावना भाने से अपने स्वरूपसन्मुख में समतारूपी सुख की ज्वाला उत्पन्न होती है।

जैसे अग्नि में हवा लगने से अग्नि भभक उठती है, ऐसे भगवान आत्मा जळहळज्योति आनन्दकन्द की दृष्टि तो है और बारह भावना भाने से शान्ति की ज्वाला प्रगट होती है। समझ में आया ? यह तो अन्तर की बात है, भैया ! बाहर से कुछ है नहीं। ये तो जड़ है, मिट्टी है-धूल है। उसके साथ सम्बन्ध क्या ? वह अभी कहेंगे।

'जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है...' देखो ! आत्मस्वरूप को जाना है और

विशेष भावना करने से विशेष स्थिरता होती है। आत्मस्वरूप को जाना है, उसे बारह भावना होती है। अज्ञानी को बारह भावना है नहीं। नित्य (स्वरूप का) तो भान नहीं। मैं नित्यानंद प्रभु स्थायी आनन्दकन्द हूँ, ऐसे भान बिना अनित्य (आदि) बारह भावना कौन भाता है ? एक ओर स्थायी आत्मा है, नित्यानन्द प्रभु है-ऐसी दृष्टि हुई है, उसको बारह भावना होती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- कैसी ज्वाला होती है ?

उत्तर :- यह शान्ति की ज्वाला (है)। प्रवाह कहते हैं। प्रवाह-धारा बहे, धारा। शान्त.. शान्त.. शान्त.. मेरा स्वरूप शान्त (है)। कितनी शान्ति ! अपरिमित शान्ति। इसकी रुचि-दृष्टि में अल्प शान्ति हुई। ऐसी भावना करते-करते स्वसन्मुख में आते हैं, इतनी समता भी वृद्धि होती है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब...' जीव मोक्षसुख को प्राप्त करता है। आत्मा के आनन्द का भान नहीं, भावना किसकी करे ? जो वस्तु ही दृष्टि में आयी नहीं (तो) किसकी एकाग्रता करे ? किस में एकाग्रता करे ? भावना का वास्तविक अर्थ तो एकाग्रता है। आत्मा अनाकुल शान्तरस का स्वामी, पूर्ण आनन्द शुद्ध की दृष्टि हुए बिना उसमें एकाग्रता की भावना और समता कहाँ से आयेगी ? समझ में आया ? मात्र विकल्प करेगा। (वह तो) पुण्यबन्ध है। कोई वस्तु नहीं।

'आत्मस्वरूप को जानता है...' भगवान आत्मा ! आत्मा है। है तो है कैसा ? उसमें क्या स्वभाव है ? उसमें कोई स्वभाव है या नहीं ? वस्तु कोई भी है तो उसका कोई गुण है या नहीं ? गुण है या नहीं ? आत्मा है तो उसका कोई गुण है या नहीं ? उसका गुण मुख्यरूप से आनन्द और ज्ञान (है)। उसका गुण आनन्द और ज्ञान। गुण का गुण... एकाग्र होते हैं तो आनन्द और ज्ञान की वृद्धि होती है। समझ में आया ? जगत को बहुत कठिन पड़े। बाहर से ले लेना है। वस्तु बाहर में है नहीं। आहा..हा...!

आत्मा को जानता है, तभी जीव मोक्षसुख को प्राप्त करता है। क्यों ? पूर्ण सुख को कौन प्राप्त करता है ? मोक्षसुख अर्थात् पूर्ण सुख। पूर्ण सुख को कौन प्राप्त करता है ? कि, पहले

आत्मा के सुख को जान लिया है। आत्मा का सुख आनन्द अपने में है तो उसकी एकाग्रता करते–करते पूर्ण सुख प्राप्त होगा। परन्तु आत्मा का सुख और आत्मा क्या है ? उसका तो भान नहीं। समझ में आया ? आत्मस्वरूप को जानता है, तभी जीव पूर्ण मोक्षसुख, मोक्ष अर्थात् शिवसुख अर्थात् निरुपद्रव यानी पूर्ण, ऐसे पूर्ण सुख को प्राप्त करता है।

मुमुक्षु :– गुरु की कृपा बिना होता नहीं।

उत्तर :– आत्मा की कृपा बिना होता नहीं। समझे ? वास्तव में तो आत्मा आत्मा का गुरु, आत्मा आत्मा का देव (है)। ए..ई... ! तब व्यवहार से बाद में कहने में आता है। ऐसी बात है, भैया ! आहा..हा... ! देखो ! दृष्टान्त दिया है या नहीं ? देखो ! मुनिराज का दिया है। और यहाँ समसुख (का लिया है)। अग्नि में फूँक मारता है। सोनी भूंगली नहीं मारते ? सोनी। अग्नि जलती है। सोनी होता है न ? सोनी को क्या कहते हैं ? कारीगर, सुवर्णकार। वह भूंगली मारता है। वैसे यहाँ भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल आनन्द की दृष्टि हुई है उसमें बाहर भावना की फूँक मारते हैं। समझ में आया ? उसमें चित्र भी है। उसमें है ? उसमें है, चित्र भी है।

'जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है,...' वायु लगने से अग्नि भमक, प्रज्वलित.. प्रज्वलित होती है। **'उसी प्रकार इन बारह भावनाओं का वारंवार चिंतवन करने से...'** वारंवार, हाँ ! एकबार क्षणिक (विचार किया) ऐसे नहीं। वारंवार। ओ..हो... ! आत्मा स्थायी आनन्द की भूमि तो तू है, ये सब अनित्य क्षणिक है। कोई शरण नहीं। ऐसे बारंबार.. बारंबार भावना करने से समता अथवा शान्तिरूपी सुख अथवा स्वभाव का अनाकुल वीतरागी सुख **'प्रगट हो जाता है।'** आत्मा का लक्ष्य करके, अनित्य, अशरणादि भावना भाते हैं, अपने में स्वसन्मुख एकाग्र होने से अपने में शान्ति, समता, अरागी पर्याय प्रगट होती है–ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

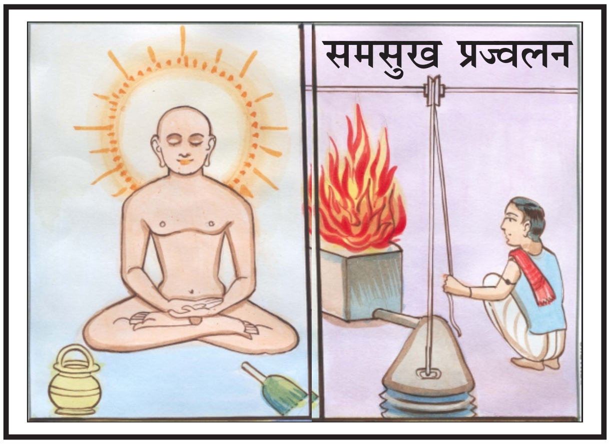

'बढ़ जाता है।' तब शान्ति का सुख बढ़ जाता है। **'जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब पुरुषार्थ बढ़ाकर...'** देखो ! लगनी तब लगे। एक चीज का स्वाद आया तो वह स्वाद लेने को बारंबार चिंतवन करते हैं। ऐसे आत्मा का पहले भान हो, पुण्य-पाप का विकल्प से, शरीर से भिन्न ऐसे अपने स्वरूप का स्वाद आया हो, दृष्टि हुई तो फिर लगनी लगने का बारंबार प्रयत्न चलेगा। परन्तु वस्तु के भान बिना किसमें लगनी लगाना ? समझ में आया ?

जिसमें लगनी लगती है उसमें बारम्बार चिंतवन होता है या नहीं ? भाई ! रात और दिन राग की ज्वाला जले। राग और द्वेष, राग और द्वेष, राग और द्वेष। अनुकूल हो तो ठीक, प्रतिकूल हो तो ठीक नहीं। राग-द्वेष (करता रहता है)। चौबीस घंटे धमण चलती है, धमण। धमण समझते हो ? सुवर्णकार की.. क्या कहते हैं ? आहा..हा...! अरे..! चौबीस घंटे भगवान तेरी चीज आदि अन्त नित्यानंद प्रभु की तो तुझे थोडी भी सावधानी, दरकार भी नहीं और परपदार्थ रखने को विकल्प की ज्वाला उठाता है, (वह तो) अग्नि है, ज्वाला है, कषाय है, दुःखरूप है। मानता है कि, मैं ठीक करता हूँ, वही मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। आहा..! सम्यग्दृष्टि (जिसे) अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि हुई है और उसकी भावना करते हैं तो शान्ति की पुष्टि करते हैं-ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा..! अरे.. भगवान ! समझ में आया ? बहुत अच्छी भावना लेंगे।

'जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है, तब पुरुषार्थ को बढ़ाकर...' देखो ! **'परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर...'** मुझे परपदार्थ से क्या सम्बन्ध है ? शरीर से नहीं। वह भी चलता है तो उसकी पर्याय से, मेरी इच्छा से उसमें किंचित् काम होता नहीं। बराबर है ? इच्छा है तो यह शरीर चलता है-ऐसा बिलकुल तीनकाल तीनलोक में नहीं। साँस का चलना ऐसा.. ऐसा.. सब जड़ की पर्याय जड़ के कारण जड़ में होती है। अपने से बिलकुल नहीं। बिलकुल करने से नहीं होती। चैतन्य के करने से हो तो दोनों एक हो जाये। जिसके करने से जो हो तो (दोनों) एक हो जाये। एक है ही नहीं। समझ में आया ? यह वाणी भी निकलती है, वह अपनी नहीं, आत्मा से नहीं। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- एकान्त नहीं हो जाएगा न ?

उत्तर :- यह सम्यक् एकान्त है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, अपने से नहीं, उसका नाम सम्यक् एकान्त है। यह अनेकान्त है कि अपने से अपनी होती है, पर से पर की होती है। पर से अपनी नहीं होती है, उसका नाम अनेकान्त (है)। आहा..हा...! ये रजकण मिट्टी (है)। समय-समय में उसमें उत्पाद-व्यय है या नहीं ? सुना है या नहीं ? 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्।'' 'सत् द्रव्य लक्षणं।'' 'तत्त्वार्थसूत्र' में आता है ?

प्रत्येक पदार्थ, अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, आकाश (ऐसी) जाति से छह द्रव्य हैं, संख्या से अनन्त हैं। प्रत्येक पदार्थ में एक सैकन्ड के असंख्यवे भाग में 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्' वह द्रव्य का लक्षण है। अपनी नयी पर्याय से उत्पन्न होता है, पुरानी पर्याय से व्यय होता है, सदृशता से ध्रुव रहता है। उसमें वह है, अपनी से उसमें है ? उत्पादव्ययध्रुव तो उसमें है, उसके कारण से है। समझ में आया ? आहा..हा...! लेकिन उसे अभिमान है, अभिमान। मैं कर दूँ, मैं ऐसा करता हूँ, मैं ऐसा करता हूँ। पहले मैंने शरीर को ऐसे चलाया था, अब शरीर काम करता नहीं, इच्छा के अनुसार काम नहीं करता है। पहले भी कहाँ करता था ? नहीं करता था। वह मूढ मानता था।

मुमुक्षु :- चलते थे, फिरते थे...

उत्तर :- चलता-फिरता कौन था ? देह या आत्मा ? आत्मा उसे चलाता था ? मूढ (को) सन्निपात हुआ था। सन्निपात समझे ? सन्निपात नहीं कहते ? पागल। सन्निपात होता है न ? सन्निपात। वात, पित्त और कफ रोग होता है ना ? ऐसा मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तीन का रोग लगा था। मैं चलता हूँ, ऐसा मानता था।

मुमुक्षु :- चलता था और अब अटक गया...

उत्तर :- चलता भी वही था और अटका भी वही है। आत्मा के कारण से चलता था ? और आत्मा के कारण से अटक गया ?

मुमुक्षु :- अटक गया उसके कारण से।

उत्तर :- उसके कारण अटक गया, चलता था उसके कारण से। आहा..हा...! अँगूली उपर करो, मरते समय नहीं कहते हैं ? क्या करे ? उसके अधिकार की बात है ? अँगूली उठनी

हो तो उठे, नहीं (भी) उठे, वह तो जड़ की पर्याय है। जड़ से भिन्न आत्मा माना ही नहीं। मूढ है। आत्मा और जड़ भिन्न है,-(ऐसा) माना ही नहीं कभी। मैं शरीर का करता हूँ। धूल का करे ? रोग क्यों आने दिया ?

मुमुक्षु :- उसको खिलाना तो चाहिए।

उत्तर :- क्या खिलाये ? धूल खिलाये ? आहार-पानी की क्रिया होती है वह तो जड़ की है। आत्मा में एक विकल्प, राग होता है, बस इतना। खाना-पीना, ऐसे चबाना वह तो जड़ की क्रिया है। आत्मा खाने-पीने का कर सकता है ?

मुमुक्षु :- मुर्दा कहाँ करता है ?

उत्तर :- मुर्दा भी करता है। मुर्दे की उत्पाद-व्यय की पर्याय मुर्दे में होती है। किस समय परमाणु में उत्पाद पर्याय नहीं होती है कि जो आत्मा उसे कर दे ? समझ में आया ? आहा..हा... ! भाई ! क्या करना इसमें ?

मुमुक्षु :- ... करनो करनो..

उत्तर :- करना किसका ? पर का या अपना ? पर का करना ऊड जायेगा, अपना करना रहेगा। समझ में आया ? आहा..हा... ! भाई ! एकबार विचार कर, प्रभु ! मुझे कुछ होता है। क्या होता है ? बोल न। मुझे कुछ होता है। जाने, कर सके ? क्या धूल में कर सके ? वह तो जड़ की पर्याय है। मुझे यहाँ दुःख होता है, मुझे यहाँ मूंझवन होती है। मूंझवन को क्या कहते हैं ? मुंझारा। तुझे क्या होता है ? तुम तो जानते हो। वह जड़ में होता है। ये साँस। ख्याल आया कि साँस रुक गई। भैया ! मेरी साँस अन्दर से रुक गई है। नीचे आगे नहीं जाता, आगे नहीं जाता। उपर हो गया। नीचे ले न, तेरा अधिकार हो तो। मृत्यु के समय ख्याल में आये कि, साँस यहाँ से हट गया। ये नाभि है न (वहाँ से) हट गया, ख्याल में आया। नीचे ले। क्या ले ? तेरा अधिकार है ? वह तो जड़ की पर्याय है। आता है तो उससे और जाता है तो उससे। मूढ को जड़ की पर्याय का अभिमान अन्दर से टलता नहीं है। आहा.. ! आहा..हा.. !

शरीर अनन्त रजकणों का पिंड (है)। पीछे आयेगा। भगवान ! उसकी पर्याय उससे (होती है)। अनित्य, अशरण आदि (भावना) लेंगे वहाँ सब लेंगे। समझ में आया ? अ..हो.. !

परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़। परपदार्थ से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ उस समय उसकी पर्याय जब उस कारण से होती है तो मैं निमित्त कहने में आता हूँ। निमित्त का अर्थ पृथक् ज्ञान करने की चीज है। पृथक् का कार्य करने की चीज है नहीं। समझ में आया ? आवाज धीरे से, जोर से निकलती है, क्या वह आत्मा से निकलती है ? पुद्गल की क्रिया है। आहा..हा..! तेरी निराली चीज भगवान चैतन्य-बँगले में बिराजमान है। वह जड़ में आती है ? परमाणु में घुस जाती है ?

(यहाँ) कहते हैं, भाई ! '**पुरुषार्थ बढ़ाकर...**' यहाँ मुनि की विशेष बात है ना ? परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़। पहले दृष्टि में तो सम्बन्ध छोड़ा है, बाद में आसक्ति का सम्बन्ध छोड़ते हैं, उसका नाम उग्र पुरुषार्थ का मुनिपना कहते हैं। समझ में आया ? '**परमानन्दमय स्वरूप में लीन होकर...**' अतीन्द्रिय भगवान परमात्मा, स्वयं अतीन्द्रिय स्वरूप ही है। उसमें लीन होकर भगवान आत्मा ही परमानन्द स्वरूप है। उसका आनन्द बाहर में नहीं, राग में नहीं, शरीर में नहीं, धूल में नहीं, पैसे में नहीं। लेकिन मूर्ख हुआ है न ! कितनी मूर्खता ! पैसे पाँच लाख हुए तो मैं सुखी। उसके पास दस (लाख) है तो बड़ा सुखी (है)। मूढ है। ये तेरी गिनती कहाँ से आयी ? ऐसा तेरा अज्ञान का गज कहाँ से आया ? उसके पास पचीस लाख है तो सुखी है। मेरे पास पाँच लाख है तो मैं थोड़ा सुखी हूँ। मूढ है। परपदार्थ से तूने सुख-दु:ख कहाँ से माना ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- सब कहते हैं उसमें क्या ?

उत्तर :- सब कहे तो क्या ? पागल के अस्पताल में सब पागल होते हैं। पागल की अस्पताल में तो सब पागल होते हैं। वह सयाना हो जाता है ? भाई ! यह साँस की क्रिया होती है, वह जड़ से होती है। भाई ! परपदार्थ का अभिमान छोड़ दे। परपदार्थ का अभिमान छोड़े बना तेरे में अहंपने की दृष्टि नहीं आयेगी। यह अभिमान छोड़े बिना मैं चैतन्य हूँ-ऐसा अहंपना की श्रद्धा का, अस्तित्व की प्रतीत नहीं आयेगी। आहा..हा..! समझ में आया ?

'**परमानन्दमय स्वस्वरूप में लीन होकर समतारस का पान करता है...**' सम्यग्दृष्टि विशेष पुरुषार्थ करके जब मुनिपना होता है तो समता का, सुधारस का बहुत पान करते हैं।

सम्यग्दृष्टि को थोड़ा सुधारस का पान है, श्रावक को थोड़ा विशेष बहुत है, मुनि को उससे उग्र है। वास्तव में तो वह आनन्द की वृद्धि का गुणस्थान है। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या करे ? चैतन्य की जाति की महिमा नहीं। महान अनाकुल शान्तरस का पिंड मैं (हूँ), मेरी शान्ति तीनकाल में पर है नहीं। परपदार्थ का जितना लक्ष्य करके जितना विकल्प उठता है, इतना दु:ख है। आहा..हा... ! जितना अन्तर स्वरूप में दृष्टि करके एकाग्र होना, वही सुख है। बाकी कहीं सुख तीनकाल में है नहीं। समझ में आया ? '**समतारस का पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है। उन बारह भावनाओं का स्वरूप कहा जाता है :-**'

---

१ - अनित्य भावना

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई।।३।।

अन्वयार्थ :- (जोबन) यौवन, (गृह) मकान, (गो) गाय-भैंस, (धन) लक्ष्मी, (नारी) स्त्री, (हय) घोड़ा, (गय) हाथी, (जन) कुटुम्ब, (आज्ञाकारी) नौकर-चाकर तथा (इन्द्रिय-भोग) पाँच इन्द्रियों के भोग-यह सब (सुरधनु) इन्द्रधनुष तथा (चपला) बिजल की (चपलाई) चंचलता-क्षणिकता की भाँति (छिन थाई) क्षणमात्र रहनेवाले हैं।

भावार्थ :- यौवन, मकान, गाय-भैंस, धन-सम्पत्ति, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के विषय - यह सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं-अनित्य है-नाशवान है। जिसप्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं, उसीप्रकार यह यौवनादि कुछ ही काल में नाश को प्राप्त होते है; वे कोई पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं है; किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।

ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके, सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है वह 'अनित्य भावना' है। मिथ्यादृष्टि जीव को अनित्यादि एक भी भावना यथार्थ नहीं होती।।३।।

पहली भावना

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;

इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

देखो ! सब चित्र दिये हैं। '**जोबन गृह गो धन नारी,...**' भावना भाते हैं, देखो ! '**(जोबन)...**' शरीर की युवा अवस्था। धूल की अवस्था अनित्य है। क्षण में पलट जायेगी, भाई ! तुझे मालूम नहीं। आहा..हा... !

जोबन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;

इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

'**यौवन...**' शरीर का यौवन। माँस की कड़क अवस्था, उसका नाम यौवन कहते हैं। माँस की कड़क अवस्था। कड़क, समझे ? सखत। उसको यौवन कहते हैं। परन्तु यह यौवन कैसा है ? '**इन्द्रधनुष तथा बिजली की चंचलता-क्षणिकता की भाँति क्षणमात्र रहनेवाले हैं।**' बिजली का चमकारा आये (और) चला जाये। समझ में आया ? और इन्द्रधनुष अथवा मेघ एकदम चडे, (फिर) गिरे। इन्द्रधनुष.. क्या कहते हैं ? ... ये यौवन अवस्था.. भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु की दृष्टि करके... यह यौवन अवस्था चपल है, भैया ! देखो ! पहले जोबन लिया। वह पर्याय अनित्य है। परमाणु नित्य है, उसके साथ सम्बन्ध तो यहाँ पर्याय के साथ है न ?

कहते हैं कि, '**(जोबन)...**' कैसा है ? '**इन्द्रधनुष तथा बिजली की चंचलता-क्षणिकता की भाँति क्षणमात्र रहनेवाले हैं।**' २५-२५ साल की युवान अवस्था हो, काले-काले बाल हो,। तेल डाला हो। कंगे से (बाल) बनाये हों। क्या हुआ ? हुआ वह क्षणिक था। तूने नित्य मान रखा है। वह तो पर्याय है। पर्याय नित्य कहाँ से रहेगी ? आहा..हा... ! समझ में आया ? शरीर की यौवन अवस्था, बिजली की चमक होती है, बिजली की चमक क्षण में आती है और चली जाती है। (वैसे ही) यौवन अवस्था क्षण में आती है और चली जाती है। मैं कर सकता हूँ। यौवन अवस्था मैंने रखी थी। भाई ! धूल में भी नहीं रखी थी। सत्ताप्रिय प्रकृति।

मुमुक्षु :- ... किया होता था।

उत्तर :- वह करने से होता नहीं था। मूढ मान रहा था। करने से होता नहीं था, मूढ होकर मानता था। भाई ! मात्र माना था ऐसे नहीं, मूढ, पागल होकर माना था। यहाँ तो स्पष्ट बात है न ! हम दोनों भाई मिलकर करते थे। ये भाई उसके भाई को सौंप देते थे। कर तू। माथापच्ची कर। पैसे ले-दे तो माने कि मैंने किया। अभिमान किया था। समझ में आया ? यह तो आप का दृष्टांत है, हाँ ! सिर्फ आप की बात नहीं है। (सब की बात है)। भाई ! यह तो नाम देकर स्पष्टता होती है। आहा..हा...! रोज चलता है। दुनिया में लोग उसी प्रकार (चलते हैं)। युवान हो, जुते ऐसे पहने हो.. हाथ में लकड़ी.. (ऐसे ऐसे चले)। आहा..हा..! भाई ! चमड़ी फट जायेगी, ए..ए..ए.. हो जायेगा। वह तो अस्थिर है।

बिजली और इन्द्रधनुष दो दृष्टांत हैं। समझे ? तीसरा दृष्टान्त दिया है। बादल आये, काले बादल एकसाथ आये। फट.. बरस गये। फिर कुछ नहीं। (बाद में) बादल भी नहीं दिखते। काले बादल चड गये। ओ..हो..हो...! एक क्षण में खलास। वैसे ये सब बादल चढे थे। बादल समझे ? यह युवान अवस्था परमाणु के बादल है। दल.. दल.. एक क्षण में बिखर जायेगा। तुम मानते हो कि रहेगा। धूलमें भी नहीं रहेगा। आहा..हा...! मेघ.. मेघ.. बड़ा चड़ता है या नहीं ? कितने काले होते हैं। कहाँ गया ? क्यों गया ?

एक बार अखबार में आया था, बारीश (बहुत आया)। कितना पाक हुआ था। अनाज (बहुत पका था)। एक बादल भी नहीं था और एकदम बादल आये, उसके खेत में गिरा और सब कुछ धूल गया। एक घंटे के बाद बादल का टूकड़ा भी नहीं था। आहा..हा...! अखबार में आया था। हुआ क्या ये ? एक घंटे पहले खेती का जो दाना था, वह पडा था। सब बैठे थे। बादल नहीं थे, एकदम आये, एकदम गिरा। अनाज सब समाप्त हो गया। एक घंटे के बाद देखो तो बादल का टूकड़ा भी नहीं। अरे..! ये हुआ क्या ? समझ में आया ? ऐसा यह है। क्या है ? दो साल, पाँच साल शरीर युवान दिखे, पैसे, स्त्री (दिखे)। क्षण में बिखर जाते हैं। हाय.. हाय..। फोटो लो (एक्स-रे लो)। शरीर में तो कुछ दिखता नहीं।

मुमुक्षु :- मुद्त लगे...

उत्तर :- धूल में भी मुद्त नहीं लगती। क्षण क्षण में उत्पाद होता रहता है। नयी-नयी

पर्याय , परमाणु में नयी, नयी, नयी होती है। आहा..हा..! पहले जोबन में लिया। समझ में आया ? धम-धम शरीर चले, दो-तीन लड्डु खा जाये। ओ.. करके पलंग पर सो जाये। पलंग पर सोये। कौन है ? भगवान ! सुन तो सही। यह तो जड़ मिट्टी-धूल है। 'बिजली की चमक में मोती पिरो लो तो पिरो लो' बिजली की चमक आयी और चली जायेगी। वैसे युवान अवस्था क्षण में चली जायेगी। २५-२५ वर्ष के देखे हैं। खून नहीं, माँस नहीं। समझ में आया ? आपके (रिश्तेदार) थे ने ? यहाँ आया था। वहाँ जाकर ठीक हो गया था। ऐसे देखो तो मुर्दे की भाँति बैठा था। क्षय लगा हो ऐसा शरीर। बापू ! वह तो परमाणु की (अवस्था है)। बादल की वर्षा है। कब गिरेगा। और कब क्षय होगा, क्षणिक चीज है-ऐसी भावना मुनि भाते हैं, गृहस्थाश्रम में समकिती भाते हैं। पर से उदास होकर भावना करते हैं। अपने में लीनता की एकाग्रता बढाते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'**यौवन, मकान**...' दस-दस लाख के मकान। बिजली गिरी। हाँ..! धरतीकम्प 'बिहार' में हुआ था न ! एक करोड़पति.. करोड़पति (था)। घोड़ागाडी लेकर बाहर घूमने निकला था। आठ हजार की घडी साथ में थी, बस ! वापस आया तो मकान, कुटुम्ब, सब (जमीन के) अन्दर, भाई ! वह किस की भाँति है ? इन्द्रधनुष। यानी काचबी। काचबी कहते हैं न ? इन्द्रधनुष और बिजली की भाँति। मकान। चपल है, भाई ! क्षणमात्र रहनेवाला है। यहाँ 'छन थाई' इतना ही कहा है। क्षण थाई है। यह आत्मा भगवान नित्यानन्द स्थायी है। नित्यानन्द प्रभु आत्मा है। उसकी दृष्टि कर। यह तो छिन थाई, क्षणिक रहनेवाला है। थोडी देर में फिर जाये। इज्जत जाये, मकान, दस-दस लाख के पचास-पचास लाख के। फू.. हो जाये। दरार हो गई। ये क्या हुआ ? चार गाँव दूर से नीचे से झटका लगा। १९९४ की साल में लगते थे। 'पालियाद'। नीचे एक माईन (खान) थी। कोयला में से आठ-आठ गाउ दूर 'राणपुर' तक झटके लगते थे न ? सात-सात गाउ दूर तक जमीन टूट जाये। ऐसा झटका अन्दर से (लगे)। क्षणभंगुर (है)। मकान नया बनाया। 'पालियाद' में कितने टूट गये। 'बोटाद' के पास। नीचे से आता था। थोड़े महिने रहा, फिर बंद हो गया। ओ..हो..हो...! समझ में आया ?

देखो ! सब दृष्टान्त दिये हैं, हाँ ! देखो मकान। बड़ा मकान है न ? बैठ जाये। 'मुम्बई' में एक करोड़ का मकान था। एक करोड़ का एक मकान बनाया। दोपहर को मजदूर खाना खाकर

सोये थे। चार सौ मजदूर। अन्दर सीमेन्ट थोड़ी कच्ची थी। (गिर गया)। चार सौ मजदूर समाप्त,

करोड़ का मकान समाप्त। करोड़ रूपये का माकन आधे घंटे में (समाप्त हो गया)।

मुमुक्षु :- वह एक गिर गया, बाकी के सब नहीं गिरे।

उत्तर :- वे सब रहे हैं गिरने लिये ही रहे हैं। कहो, समझ में आया ?

ऐसी भावना करते हैं तो नित्यानन्द आत्मा में उसकी सन्मुखता विशेष बढ़ती है, इसलिये यह भावना करते हैं। (विशेष कहेंगे...) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १०, बुधवार

दि. ०२-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-३,४,५. प्रवचन नं. ४०

अनित्य भावना। धर्मी क्या विचारते हैं, वह कहते हैं। धर्म अर्थात् आत्मा.. अपने आत्मा में आनन्द है, ऐसा निर्णय करनेवाला धर्मी, अपने शुद्धस्वरूप सन्मुख दृष्टि रखकर परपदार्थ की अनित्यता का चिंतवन करते हैं। वह बात चलती है। श्रावक हो या मुनि हो, अपने आत्मा में आनन्द (है), नित्यानन्द स्वरूप मैं हूँ। नित्य-स्थायी टिकनेवाली चीज तो मैं हूँ। आनन्द और शान्ति से भरा आत्मा मैं हूँ। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने आत्मा का ऐसा वर्णन किया है, ऐसा कहा है। मैं आनन्द शुद्ध हूँ। पुण्य-पाप का भाव होता है वह भी क्षणिक है। सारी बाहर की चीज तो क्षणिक, अनित्य है ही। वह बात कहते हैं।

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई।।३।।

देखो ! '**यौवन...**' शब्दार्थ है न ? यौवन। यह यौवन क्षणिक चपल है। देह तो नाशवान है। जैसे इन्द्रधनुष और बिजली, उसकी चंचलता चमक.. चमक.. क्षण में नाश होती है। ऐसे शरीर की यौवन अवस्था (क्षणिक है)। यह तो मिट्टी-धूल है। भगवान आत्मा तो अन्दर चिदानन्दस्वरूप है। ऐसा धर्मी जीव ने अपने आत्मा में शुद्ध में, आनन्द में दृष्टि रखकर, यह यौवन अनित्य है ऐसी विचारणा वारंवार करनी। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- यौवन बीत गया हो, उसे क्या करना ?

उत्तर :- वृद्धावस्था भी ऐसी है। यौवन बीत गया हो तो क्या हुआ ? वृद्धावस्था कैसी है ? धूल है, क्षण में पलट जायेगी। बिजली की चमक अथवा इन्द्रधनुष, वह है न ? क्या कहते हैं ? मेघधनुष। क्या कहते हैं ? काचबी.. काचबी.. काचबी.. होती है न ? क्षण में नाश होता

है। वैसे यह शरीर(में) वृद्धावस्था हो या युवान हो, मिट्टी है, यह तो धूल है। जड़ परमाणु पुद्‌गल की दशा है, यह आत्मा नहीं है। भगवान आत्मा तो अन्दर अरूपी सच्चिदानन्द सिद्ध समान (है)। जैसे सिद्ध भगवान है, अशरीरी हुए, ये (भी) आत्मा थे। ऐसा आत्मा अन्दर अशरीरी चैतन्यमूर्ति है, ज्ञान, आनन्दकन्द है। ऐसी दृष्टि करके यौवन हो या वृद्धावस्था हो.. भाई ! यौवन गया और वृद्धावस्था रही, उसे क्या करना ? ऐसा पूछा है।

वृद्धावस्था तो क्षण में गिर जाती है। उसके लिये तो कहते हैं न, 'खर्युं पान'। पीले पत्ते को खिरने में देर नहीं लगती। ऐसे वृद्धावस्था तो क्षण में नाश हो जायेगी। बैठे हो और फू... हो जायेगा। क्या हुआ ? अभी तो हार्ट फेईल बहुत होते हैं। मजबूत शरीर हो (और हार्ट फेईल हो जाता है)। क्योंकि संयोगी चीज है। ये कोई आत्मा की चीज नहीं। आत्मा तो अविनाशी भिन्न है। यह तो नाशवान पदार्थ का संयोग है।

'अमृतचंद्राचार्यदेव' तो वहाँ अनित्य कहते हैं, माता के उदर में बालक आया तो माता की नजर पड़े उसके पहले तो अनित्यता ने उसे गोद में ले लिया। क्या कहा ? माता को प्रसव होकर बालक आया। अभी नजर करे उसके पहले, गोद में लेने से पहले अनित्यता ने गोद में ले लिया है। कब क्षण में नाश हो जायेगा। नाशवान पदार्थ है। जन्म होते ही देह का नाश हो जाता है। ऐसी अनित्य चिंतवना करके अपना आत्मा शुद्ध स्वरूप है, उसकी अन्तर दृष्टि (करके) एकाग्रता करना, वही मनुष्यपना का कर्तव्य है। कहो, समझ में आया ?

'**यौवन, मकान,...**' पाँच-पाँच लाख, दस-दस लाख का मकान हो। बिजली गिरे और क्षण में समाप्त हो जाये।

मुमुक्षु :- जो भाडे पर रहता हो, उसे क्या करना ?

उत्तर :- वह मकान कहाँ उसके बाप का था, भाई ! उनके पुत्र के बहुत मकान हैं। करोड़ों रुपये हैं। धूल में भी नहीं है। रुपया रुपया में है, मकान मकान में है, आत्मा उसमें कहाँ से आया ? मकान में, पैसे में आत्मा कहाँ रहा ? वह तो जड़ है। क्षण में ए..ए.. ए.. हो जायेगा। क्या हुआ ? ब्लड प्रेशर। क्या कहते हैं ? ब्लडप्रेशर हो गया। ये पैसे तुम्हारे पास है न ? धूल.. होली। पैसा क्या करे ? पैसे पड़े रहे। वह नाशवान है, भाई !

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ कहते हैं कि, प्रभु ! तेरा आत्मा तो अन्दर ध्रुव है न ! ध्रुव ध्रुव अनादि है। आत्मा का नाश कभी होता है ? आत्मा कभी उत्पन्न होता है ? कोई से उत्पन्न हुआ है ? है.. है.. और है। अनादि का आत्मा अन्दर ज्ञानानन्द अरूपी सच्चिदानन्दस्वरूप है। ऐसे आत्मा की दृष्टि करके, ऐसा मकान भी नाशवान है (ऐसा चिंतवन करना)।

'**गाय, भैंस**...' लो ! नाशवान है। हमारी चीज नयी आयी और समाप्त हो जाये, मर जाये, सर्प काट ले। नाशवान चीज है। '**लक्ष्मी,**...' लो ! आप की लक्ष्मी आयी। धूल।

मुमुक्षु :- लक्ष्मी है, धूल कहाँ है ?

उत्तर :- धूल नहीं तो क्या है लक्ष्मी ? पुद्गल है। पुद्गल मिट्टी है। भगवान उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं। आत्मा अन्दर जीवास्तिकाय भगवान है। यह पुद्गल है, पैसा मिट्टी-धूल है। नाशवान है, क्षण में चला जायेगा। भिखारी बन जाता है। देखो ! क्षण में भिखारी, क्षण में राजा, क्षण में रंक, कर्मे वाल्यो आडो अंक। ऐसा आता है न ? पूर्वकर्म का उदय आये तो क्षण में पैसा आये। धूल में कहाँ पैसे उसके थे ? मुफ्त में अभिमानी अनादि से (भटकता है)। ऐसा मनुष्यपना मिला उसमें पाँच-पच्चीस-पचास साल का आयुष्य। अनन्तकाल में निगोदमें से निकला। निगोद समझे ? आलू, लील, फूग (काई)। पानी में कोई होती है ना ? आलू। हमारे यहाँ बटाटा कहते हैं। एक कण में अनन्त जीव हैं। आलू के एक कण में अनन्त जीव हैं। उसमें मुश्किल से मनुष्य हुआ। यहाँ आया तो भूल गया। अपना (हित) करने का अवसर नहीं।

'**लक्ष्मी,**..' नाशवान (है)। कैसी (है) ? इन्द्रधनुष और बिजली की भाँति। '**नारी,**...' नाशवान है। देखो ! अन्दर दृष्टान्त दिये हैं, चित्र दिये हैं। देखो, स्त्री। वह तो परवस्तु है। वह आत्मा और शरीर पर है। क्षण में ए..ए..ए.. हो जाये। चली गई। अर्धांगना कहता था। वह कहाँ तेरी है ? शरीर तेरा नहीं तो स्त्री कहाँ से तेरी आई ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा... अपने ध्रुव निज स्वरूप की दृष्टि रखकर, ऐसी पर चीज की अनित्यता की वारंवार भावना करनी चाहिए, तो आत्मा में राग को कम किया और वतीरागता की वृद्धि होती है। '**घोड़ा, हाथी, कुटुम्ब (आज्ञाकारी) नौकर-चाकर**...' ऐसे हुकम बराबर करे। सेठ साहब.. सेठ साहब ! क्षण में नाश हो जाये। '**नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के भोग**...'

शब्द, रूप, रस, गन्ध। घर में भंडार भरा हो। फू... होकर राख हो जाये। समझ में आया ? देखो न, जल जाता है। गोदाम जल जाता है। गोदाम जल जाये। करोड़ो रूपये के मकान जल जाये, गिर जाये, नाश हो जाये। क्षण-क्षण में वह तो नाशवान पदार्थ है। उसकी क्या चिन्ता ? अपने आत्मा की चिन्ता करे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'**(आज्ञाकारी) नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के भोग-यह सब इन्द्रधनुष तथा बिजली की चंचलता-क्षणिकता की भाँति क्षणमात्र रहनेवाले हैं।**' लो !'श्रीमद्' ने अनित्य भावना में कहा है न ?

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग;
पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग।

'श्रीमद् राजचंद्र' सोलह वर्ष में कहते हैं। सोलह वर्ष अर्थात् शरीर बालक था न ? शरीर बालक है, आत्मा कहाँ बालक है ? आत्मा तो अनादि अनन्त है। यह तो धूल है। शरीर बालक, वृद्ध उसकी अवस्था है। उन्होंने पहली अनित्य भावना में लिया। पहले 'मोक्षमाला' बनाई थी। '**विद्युत, लक्ष्मी**...' लक्ष्मी बिजली की चमक जैसी है। यहाँ लिया है न ?'श्रीमद् राजचंद्र' ने सोलह साल में कहा था।'**विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग,...**' बडप्पन... बडप्पन। सेठाई, ईश्वरता, बडप्पन, अधिकारी, अमलदार पाँच-पाँच हजार का वेतन।'**प्रभुता पतंग...**' पतंग के रंग जैसी प्रभुता है। भगवान आत्मा प्रभु आत्मा अन्दर है। चिदानन्दस्वरूप भगवान (है)। कवली ने, तीर्थंकर प्रभु ने आत्मा को प्रभु कहा है। अपना निज स्वरूप की दृष्टि बिना ये सब चीज अनित्य है, ऐसी भावना धर्मात्मा बारंबार भाते हैं। समझ में आया ?'**प्रभुता पतंग,..**' प्रभुता (अर्थात्) बडप्पन.. बडप्पन। सेठाई मिली हो, पाँच-पच्चीस करोड़ (हो), बड़ा सेठ हो। फू.. हो जाये। जाओ नीचे.. भीख माँगे।

'जयपुर' की बात कही थी न ? जौहरी था।'वांकानेर' में एक बड़ा जौहरी था।'जयपुर' की बजार में जौहरी की बड़ी दुकान थी। हम (संवत) २०१३ की साल में गये थे। हम दीवान कें बंगले में ठहरे थे। खाली मकान था, खाली (वहाँ) ठहरे थे। नीचे उतरे। वहाँ एक (भीख) मांगता था। ८५ साल का बुढा भीख मांग रहा था। मेरी नजर उसपर गई।'जयपुर' की बात है।

ललाट देखा। ये कोई मूल गरीब भिखारी आदमी नहीं है। ऐसा देखा। मूल में भिखारी नहीं है। किसी को पूछा कि, यह कौन है ? यह तो जौहरी की दुकान है, उसका पुत्र है। 'वांकानेर' के ब्राह्मण थे। उसका ८५ साल का पुत्र था। भिखारी के जैसे मांग रहा था। ए.. भाई ! एक पैसा दो। सब समाप्त हो गया। लक्ष्मी गई, दुकान गई, वस्तार (कुटुम्ब) गया, भिकारी भाँति। जूत्ता पुराना पहने थे। मेरी नजर गई। मुझे लगा, ये कोई मूल भिखारी नहीं है। मूल में कोई गृहस्थ है। ड्राईवर जो था (उसने कहा), जौहरी का पुत्र है, सेठने उसको पहचाना। अरे... ! मैंने पहले तो उसे बहुत पैसे दिये हैं। अभी ऐसी हालत हो गई ? ऐसी हालत क्या भिखारी होकर नरक में जाये। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु की दृष्टि, श्रद्धा ध्रुव की करे नहीं और ऐसी अनित्यता में रुक जाये तो वह तो नाशवान चीज है। समझ में आया ?

'**पुरंदरी चाप अनंग रंग...**' यह 'श्रीमद्' कहते हैं, हाँ ! कामभोग कैसा है ? पुरंदरी- इन्द्रधनुष। काचबी के जैसे नाश हो जाये ऐसे कामभोग। युवान अवस्था में पच्चीस साल की.. अवस्था, बैल जैसा शरीर क्षण में (फू... हो जाये)। भोग स्त्री का, विषय का, कीर्ति का (भोग) क्षण में नाशवान है, भाई ! वह अनित्य है। भगवान आत्मा शुद्ध नित्य ध्रुव अपना स्वरूप रखनेवाला है। उसका तुम अनुभव करो, उसकी दृष्टि करो। ये सब तो नाशवान है। समझ में आया ? '**पुरंदरी चाप अनंग रंग**'।

'शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग..' अरे.. ! जहाँ क्षण का प्रसंग है, वहाँ क्या राचना ? भगवान आत्मा ध्रुव स्वरूप है, उसमें रुचि, दृष्टि करना या इस क्षण का प्रसंग (है उसमें करना) ? फू.. होकर चला जाये। ऐसा धर्मीजीव अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सन्मुख दृष्टि रखकर ऐसी भावना वारंबार करते हैं। कहो, समझ में आया ? आहा..हा... !

'**किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।**' लो ! उसके अर्थ में है। एक आत्मा निज शुद्ध भगवान, नित्य रहनेवाला। अनादि.. अनादि.. अनादि.. अनादि... अनन्त काल रहेगा। अनादि का है। आत्मा नित्य वस्तु है। नित्य की श्रद्धा, आत्मा नित्य स्थायी है, '**ऐसा स्वोन्मुखपूर्वक चिंतवन करके, सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है...**' समझ में आाया ? समय मिले नहीं, क्या करना ? कहो, भाई ! ये समय मिला तो होली (करने लगा)।

राग और द्वेष, विकार, कमाना, खाना, दुकान की, धूल की। ये तो मिट्टी–धूल है। सुन न ! समझ में आया ? भाई ! हाँ कहते हैं। (इनके) पास पैसे बहुत है, इसलिये निवृत्त होकर बैठे, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। लेकिन है कहाँ ? उनके साथ है ? साथ में कहाँ लाये हैं ? देखो ! आहा..हा... ! जो कुछ हो उसके घर पडा हो। भाई ! तेरी चीज तो अन्तर आत्मा (है)। देह का नाश हो जायेगा। देखो ! उसमें लिखा है। चित्र में मुर्दा (है)। एक कौआ है। आहा..हा... ! कौआ तेरे मुख में चरकेगा। देह तेरा नाश (होगा), भगवान ! ऐसी चीज में (मोह मत कर)।

'जामनगर' में लिखा है। 'जामनगर' स्मशान है न ? दर प्रकार की चीज लिखी है। जन्म, युवान, फिर ब्याह करता है, फिर युवानी, कमाता है, फिर वृद्ध होता है, पलंग पर गिरता है, मर जाता है और फिर उठा ले जाते हैं। ऐसे 'जामनगर' के स्मशान में दस चित्र बनाये हैं। अपने यहाँ है। इस कबाट में है। स्मशान में बनाया है। अभी देखने गये थे। देखो ! एक आदमी मर गया है। य सब है न ? स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धूल में है, क्या है तुझे ? वह तो परचीज है। अनित्य चीज तेरे साथ क्या आयेगी ? आहा..हा... !

२- अशरण भावना

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते;

मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥४॥

अन्वयार्थ :- (सुर असुर खगाधिप) देवों के इन्द्र, असुरों के इन्द्र और खगेन्द्र (गरुड़, हंस) (जे-ते) जो-जो हैं (ते) उन सबका (मृग हरि ज्यों) जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है, उसी प्रकार (काल) मृत्यु (दले) नाश करता है। (मणि) चिन्तामणि आदि मणिरत्न, (मंत्र) बड़े-बड़े रक्षामंत्र, (तंत्र) तंत्र, (बहु होई) बहुत से होने पर भी (मरते) मरनेवाले को (कोई) वे कोई (बचावै) नहीं बचा सकते।

भावार्थ :- इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र (पक्षियों के राजा) आदि हैं, उन सब का-जिस प्रकार हिरन को सिंह मार डालता है उसी प्रकार-काल (मृत्यु) नाश करता है। चिंतामणि आदि मणि, मंत्र और जत्र-तंत्रादि कोई भी मृत्यु से नहीं बचा सकता।

यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीव को रक्ष कर सकने में समर्थ नहीं है, इसलिये पर से रक्षा कि आज्ञा करना व्यर्थ है। सर्वज्ञ-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है। आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादि अनन्त है-ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह 'अशरण भावना' है।।४।।

अब, अशरण, दूसरी अशरण भावना।

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते;
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई।।४।।

है दूसरा श्लोक ? अशरण भावना। देखो ! यहाँ एक मुर्दा बनाया है, देखो ! यहाँ मुर्दा (है)। '**(सुर, असुर)**...' तेरे लाख देव और देवी हो, तुझे मृत्यु से बचानेवाला कोई है नहीं। लक्ष्मी को माने, वृक्ष को माने, धूल को माने, अम्बाजी को माने, भवानी को माने। वे सब नाशवान हैं। वे सब भूत हैं। अम्बाजी और भवानी सब भूतनी हैं। ऐ..ई.. ! भूतनी को माने, वे सब नाशवान हैं। वे सब वहाँ दुःखी हैं। देव में भी दुःखी है। उसको मानना। मरते समय कोई बचा सकता नहीं।

'**(सुर असुर खगाधिप)**' अर्थात् '**देवों के इन्द्रि, असुरों के इन्द्र और खगेन्द्र**...' समझे ना ? विद्याधर '**(गरुड, हंस)**...' कोई मृत्युकाल में किसी को बचानेवाला है नहीं। देखो ना ! ये 'लालबहादुर शास्त्री', कहाँ 'ताश्कंद' में बड़े डॉक्टर साथ में थे। असुख है, ऐसा बोले। असुख है। चलकर गये। डॉक्टर दूसरे कमरे में थे। ऐसे देखा, खत्म। साँस बन्द हो गई थी। पाँच-सात मिनिट में तो खत्म। क्या करे ? धूल करे कोई। समझ में आया ? देह का आयुष्य पूरा हो (तो) इन्द्र, नरेन्द्र, रखने को समर्थ नहीं। एक समय का आयुष्य किसी का बढ़े (ऐसा) तीनकाल में नहीं (बनता)। जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस स्थिति में देह छूटनेवाला है, वहीं छूटेगा, वहाँ कोई शरण-फरण है नहीं। एक क्षण रख सके (ऐसी) तीनकाल में किसी की ताकत नहीं। ऐसी अशरण भावना भानी। देखो !

'उन सब का जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है...' देखो ! सिंह लिया है। हिरन के पैर पकड़ लिये हैं। सिंह है। हिरण क्या करे ? मृत्युकाल आया, कोई शरण नहीं। 'श्वास तारो सगो नहि'–ऐसा हमारे यहाँ काठियावाड़ में कहते हैं। आपमें भी कुछ कहते होंगे। कहते हैं या नहीं ? साँस तो जड़ है, वह मिट्टी चलती है, तेरे से नहीं चलती। तुम तो आत्मा हो। वह तो साँस है, रजकण है, पुद्ग परमाणु के स्कंध का पिंड है। वह साँस की क्रिया चलती है, आत्मा से नहीं। अरे.. अरे... ! किस को फूर्सत है ? मरने की फूर्सत नहीं। आहा..हा... ! सारा दिन मरण.. मरण.. मरण.. क्षण क्षण भयंकर मरण। मेरा.. मेरा.. मेरा.. मेरा.. करके अनन्तकाल से मर गया है। परन्तु मेरी चीज अन्दर में क्या है, उसकी कभी पहिचान की नहीं। भगवान परमात्मा तीर्थंकरदेव कहते हैं कि हे भाई ! विचार कर, क्षण भर तू विचार कर।

'जिस प्रकार हिरन को सिंह मार डालता है; उसी प्रकार मृत्यु नाश करता है। चिन्तामणि आदि मणिरत्न...' मृत्यु के समय काम करे ? चिन्तामणि घिसकर पिलाओ। धूल, क्या करे चिन्तामणि ? हिरन गर्भनी आती है न ? वह तो स्वार्थ के लिये बुलाते हैं। वहाँ थोड़ा घिसकर दे। फिर भले ही मर जाये। गर्मी से थोड़ा आवाज दे। कस्तूरी की हिरनगर्भ की गोली आती है। मात्र कस्तूरी नहीं, गोली आती है। बहुत ऊँची चीज उसमें होती है। मैंने देखी है। बहुत साल पहले 'पालेज' में देखी थी। एक आदमी बेचने आता था और एक स्थानकवासी साधु था, वह लेता था। मैंने कहा, ठीक ! 'बरवाला' के (कोई साधु थे)। वे लेते थे। उस दिन देखा था। संवत १९६७ की साल। मरते समय थोड़ा घिसकर पिलाते हैं। थोड़ी गर्मी हो तो बोले, क्या बापू ! क्या करना है ? बस ! इतना। बाद में तो मर जायेगा। कुछ पूछना हो तो पू ले। बाद में मर जाता है। क्या कोई शरण है ?

मणि, चिन्तामणि रत्न घर में पड़ा हो। कौन रख सके ? समझ में आया ? आहा..हा... ! देखो न ! दस-दस करोड़ रूपये। दस करोड़। अभी 'रतनगढ़' है न ? अभी आया था न भाई ? उनके मामा के पास दस करोड़। देखो तो माणेक भरे हो या सोना भरा हो। कहीं खर्च करने की वृत्ति नहीं। पुत्र नहीं था। दस करोड़ रूपये। सोना तो सोना ही भरा हो, माणेक तो माणेक ही भरे हो, समझे न ? इतनी चीज। ढिगले (थे). चांदी ही भरे हो। मणिरत्न हो तो मणिरत्न भरे हो। दस करोड़ कहाँ डाले ? मरत समय... भाई ! आहा..हा... ! अरे.. ! कोई नहीं है। पुत्र नहीं था।

सरकार ने कहा, दो करोड़ लाओ। उत्तराधिकारी का दो करोड़ लाओ। दुनिया हैरान.. हैरान... (हो रही है)। अपनीचीज नित्यानन्द भगवान, उसकी दृष्टि करते नहीं, संभाल करते नहीं, उसकी क्या चीज है-उसका ज्ञान करते नहीं। मैं हूँ कौन ? यह आत्मा-आत्मा करते हैं, वह है कौन ? सब है उसका विचार करता है, लेकिन मैं कौन हूँ ?

'चिन्तामणि आदि मणिरत्न बड़े-बड़े रक्षामंत्र...' हो। देखो ! मुर्दे के पास किया है न ? स्वाहा.. ब्राह्मण करता है। धूल में भी रख सकता नहीं। ब्राह्मण भी मर जाता है। ब्राह्मण के पास पढ़ाते हैं न ? क्या कहते हैं ? मृत्यु के जाप। सेठ लोगों को भ्रमणा के पार नहीं होते। बड़ी भ्रमणा... बड़ी भ्रमणा। समझ में आया ? हमने एक बड़ा सेठ देखा था। बड़ा करोड़पति। मिल थी। उनके घर पर ही ठहरे थे। वहाँ एक ब्राह्मण जाप जप रहा था। ये क्या ? सेठे के लिये। अरे..रे..रे... ! ऐसे बनिये होकर भी जाप जपे। मृत्यु का जाप। लक्ष्मी आती होगी ? मर जायेगा (तो भी) 'भाग्य बिना मिले न कोड़ी, हुन्नर करे हजार, भाग्य बिन मिले न कोड़ि।' लाख हुन्नर कर ना, वह तो तेरा राग है। पैसा आदि मिलना तो पूर्व के पुण्य के कारण से है। तेरी व्यवस्था के कारण मिलता है ? समझ में आया ? तेरी होशियारी से मिला होगा न ? धूल में भी नहीं है। उससे अधिक होशियार तो बहुत है। पूर्व के पुण्य के रजकण पड़े हो, (उसके) पाक के काल में लक्ष्मी दिखती है। उसमें तेरे में क्या आया ? धूल में आया क्या ? पाँच करोड़ देखा उसमें (क्या हुआ) ? ममता में निमित्त है।

भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसकी रुचि और दृष्टि किये बिना वह सब अशरण.. अशरण.. अशरण.. (है)। समझ में आया ? पचास लाख की पुँजी हो, थोड़ा बीमार हो, डॉक्टर कहे, केन्सर हुआ है। साहब ! स्त्री को मत बोलना। अभी दो साल हुए शादी की है। ऐसा बना था ? भाई !'लींबडी' में। दस लाख हुए थे। हमें तो यह सब एक-एक बात मालूम है न ! दस लाख हुए थे ओर नयी शादी की थी। ४८ साल की उम्र में नयी शादी की थी। दस लाख रूपये। डॉक्टर कहे, केन्सर हुआ है। (तो उसने कहा), साहब ! किसी को बोलना मत। मुझे भले बताया, परन्तु अब बाहर किसी को मत कहना। नहीं तो स्त्री को और सब को दु:ख होगा। सब को दु:ख होगा। मर गया बेचारा। ४८ वर्ष की छोटी उम्र थी। क्या करे धूल में ? अशरण में पैसा शरण (है) ? स्त्री शरण है ? कोई शरण है ? सिंह देखो ! हिरन के पैर पकड़ लिये हैं।

कौन करे ?

'तंत्र, बहुत से होने पर भी...' जंत्र, तंत्र, मंत्र कोई करे। मादलीया करते हैं। ऐसा.. ऐसा.. करते हैं। धूल भी नहीं है, सुन ना। तुझे कोई शरण नहीं है। मूढ, पक्का मूढ है। बैल जैसा मूढ। भाई ! तेरे आत्मा का चिंतवन कर। हित कर। आत्मा क्या है ? उसकी तो पड़ी नहीं और ऐसा-ऐसा (करता है)। कोई शरण नहीं। 'मरनेवाले को वे कोई नहीं बचा सकते।' आहा..हा...! रोये। ३५ साल की स्त्री मर जाये, ४० वर्ष का पति रोये। अरे..! ये लड़के का क्या होगा ? नयी शादी करुँगा। छोटी उम्र है। पाँच लाख की पूँजी है। हाय.. हाय..। कोई शरण है ?

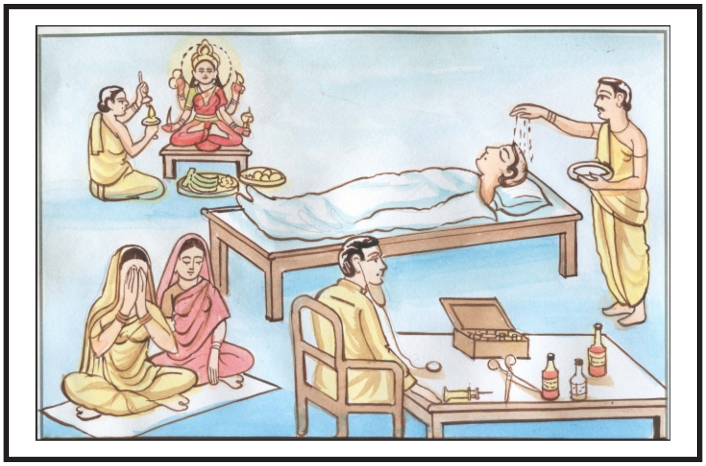

सब किया है अन्दर, देखो ! देवी जैसा किया है। एक ब्राह्मण मुर्दे पर ऐसा ऐसा करता है। क्या जंतर-मंतर करता है ? जिस आयुष्य की स्थिति, जिस समय जिस क्षण में, जिस पलंग पर, जिस प्रकार से (पूरी) होनेवाली है, उसे तीनकाल में इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र कोई बदल सके नहीं। किसी की ताकत नहीं कि आयुष्य का एक समय बढ़ा सके। लेकिन मूढ पर में शरण ढूँढने जाता है। आहा..हा...! ये सब ऐसे मूढ होंगे ? पैसेवाले ? पैसेवाले माने क्या ? पैसेवाले अर्थात् बड़े धूलवाले।

भावार्थ :- 'इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र, (पक्षियों का राजा) आदि हैं, उन सब का, जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है, उसी प्रकार-काल (मृत्यु) नाश करता है। चिंतामणि, आदि मणि, मंत्र और जंत्र-मंत्रादि कोई भी मृत्यु से नहीं बचा सकता।'

'यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है।' अ..हो...! मैं नित्य ध्रुव, मैं तो हंमेशा

रहनेवाला हूँ। विकार भी क्षणिक पलटता है, शरीर पलटता है, मैं तौ ध्रुव नित्यानन्द हूँ। मेरे अन्तर स्वरूप में तो, आनन्द-अतीन्द्रिय आन्द पड़ा है। वस्तु में आनन्द, शान्ति पडी है। ऐसा मैं ही आत्मा हूँ, ऐसा धर्मी जीवों को अपने स्वरूप का वारंवार मनन, चिंतन करना। '**आत्मा ही शरण है।**' दूसरा कोई शरण है नहीं।

अरिहंता शरणं आता है न ? मांगलिक में आता है या नहीं ? अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं, केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं। मांगलिक में आता है या नहीं ? भगवान शरण देते हैं ? भगवान कहते हैं कि, तू तेरे स्वरूप की संभाल कर, तू तेरा शरण है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- किसका शरण ? यहाँ आकर भगवान देते हैं क्या ? अरिहंत भगवान तो अरिहंत के पास है। महाविदेह में बिराजते हैं, तीर्थंकरदेव 'सीमंधर' प्रभु बिराजते हैं। 'महावीर' भगवान तो सिद्ध हो गये। चौबीस तीर्थंकर तो सिद्ध हो गये। शरीर बिना (है)। क्या नीचे कोई शरण देने आते हैं ? वे कह गये हैं कि, तेरा स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द अन्दर है, उसका शरण लो। उसे ही भगवान का शरण कहते हैं। दूसरा क्या ? दूसरा भगवान कहाँ शरण देने आते हैं ?

मुमुक्षु :- शरण न आये ?

उत्तर :- शरण में क्या ? थोड़ा शुभभाव होता है। उसमें आत्मा में क्या हुआ ? देनेवाले को, लेनेवाले को कहाँ भान है ? आत्मा अन्तर ज्ञानानन्द प्रभु चैतन्यसूर्य (है)। आत्मा अर्थात् चैतन्यसूर्य। आत्मा अर्थात् आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का भंडार। आहा..हा... ! ऐसे आत्मा का शरण न ले तो (अन्य) किसी में शरण देने की ताकत है नहीं। आहा..हा... ! तेरी नजर तेरे में पड़े तो शरण है। तेरी नजर शरीर और पर में, पुण्य-पाप पर रहे तो कुछ शरण है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! इसका नाम धर्म है। तेरी नजर तेरे में पड़नी (उसका नाम धर्म है)। बात सुनने का समय मिलता नहीं, विचारने का समय नहीं। बहुत कहे तो कहे, हमें मरने का समय नहीं। मरने का समय आयेगा तो सब (सब कुछ) एक तरफ पड़ा रहेगा। सुन तो सही। तेरे रूपये-पैसे कुछ काम नहीं आयेंगे।

कहते हैं, शरण आत्मा है। '**उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नही ंहै। कोई जीव अन्य जीव की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं है।**' कोई रक्षा कर सकता है ? मुत्युंजय करावे तो ? मृत्युंजय जाप। मृत्युंजय करनेवाला ब्राह्मण मर जाता है। मृत्युंजय (जाप) ब्राह्मण के पास करवाते हैं, सवा लाख करवाओ, सवा लाख। क्या है ? उसको पाँच-दस हजार मिले। मृत्यु से कोई बचा सकता है ? एक समय आयुष्य का बढ़ता है ? तीनकाल में नहीं। जिस समय उसे जहाँ मरना है, वह मर जाता है। भगवान केवलज्ञानी ने देखा है। इस समय देह छूटेगा। वह तीनकाल में बदलता नहीं। कहो, भाई ! क्या होगा ? यहाँ से मरकर कहाँ जाना है ?

'**इसलिये पर से रक्षा की आशा करना व्यर्थ है।**' देखो ! '**सर्वत्र-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है।**' आत्मा अन्दर शुद्ध चिदानन्द प्रभु है। पुण्य-पाप विकार दिखता है, वह तो विकार है। विकार से (भिन्न होकर) अन्दर में देखे तो शुद्ध चिदानन्द आत्मा है, ज्ञानानन्द सिद्ध समान है। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग ने आत्मा आनन्दस्वरूप देखा है। वह आनन्दप्रभु आत्मा का शरण तुम लो, उसकी दृष्टि करो, उसके सन्मुख हो। दुनिया से क्या ? दुनिया कोई शरण देनेवाली नहीं। समझ में आया ?

'**आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं**...' देह का नाश होवे। आत्मा मर जाता है ? मरते समय कोई कहता है कि, आत्मा मर गया ? आत्मा मर गया, ऐसा कहते हैं ? जीव गया-ऐसा कहते हैं। जीव गया, ऐसा कहते हैं। जीव गया। जीव वहाँ था तो अन्य जगह गया। बराबर है या नहीं ? आहा..हा... ! अभी नहीं बताया था या नहीं ? लड़की का जातिस्मरण (बताया था)। यहां आयी थी न ? 'जूनागढ़' की लोहाना की लड़की (है)। अपने यहाँ आयी है। अभी आयी थी न ? (उसे पूछा), तू कहाँ से आयी ? 'जूनागढ़' से आयी हूँ। पूर्व में तू कौन थी ? मैं गीता थी। अभी आयी थी न ? आठ दिन रही थी। समझ में आया ? 'राजुल'। पूर्व भव में 'गीता' थी। 'जूनागढ़' के लोहाना की पुत्री थी। अभी चार महिने पहले नक्की हुआ। यहाँ दो बार आ गई। अभी रहकर गयी है। आठ दिन में सब बताया। देखो ! इस लड़की को जातिस्मरण है। लोहाना की लड़की है। लोहाना समझते हो क्या है ? एक जाति है। लोहाना की एक ज्ञाति है।

'जूनागढ़' में लोहाना की जाति में वह लड़की जन्मी थी। ढ़ाई साल में उसका देह छूट

गया। ढ़ाई वर्ष। बुखार में (मर गई थी)। यहाँ आयी है। हमारे पंडितजी है न ? उनके भतीजे की लड़की (है)। यहाँ 'वांकानेर' में आयी है। यहाँ आयी थी, लाये थे। यहाँ से जाकर पक्का बताया कि, ये मेरी माँ, ये मेरे पिता, ये मेरे चाचा। वैष्णव थे तो मन्दिर में दर्शन करने जाती थी। सब बताया। २०-२२ बोल बताये। पेड़ा खाती थी, ऐसा बताया। सब बताया था। दूध इतना लाते थे, मेरे घर इतना रखते थे। दूसरे के पेड़े बनाते थे। सब बताया। उसकी माँ ने स्वीकार किया। वहाँ से मरकर यहाँ आयी। देह का खोखा तो वहाँ पडा रहा। उसको एकबार हमने पूछा, गीता कहाँ गई ? तो कहा, गीता ये रही। गीता वहाँ कहाँ है ? गीता तो मैं हूँ। पाँच साल की है। गीता कहाँ है ? बाद में तो किसी से सुना हुआ बोली कि, उसके खोखे को जला दिया। गीता का जो खोखा-शरीर था उसे जला दिया। गीता का आत्मा मैं यहाँ हूँ। ऐसा बोली। अभी आयी थी। समझ में आया ? कहाँ मालूम है ? आत्मा कौन है ? कौन जाने। दुनिया की पड़ी है। धूँए को पकड़ता है। क्या कहते हैं ? धूँआ। धूँए को पकड़े तो पकड़ सकता है ? धूँए की बोरी भरी है। धूँए की बोरी भर सकते हैं ? ऐसी इस जगत की चीज अनित्य है, उन्हें रख सकते हैं ? तुझे कोई शरण नहीं है, कहते हैं।

आत्मा अनादिअनन्त (है)। **'ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है...'** धर्मी जीव अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि करके अनित्य, अशरण की भावना करके अपने स्वसन्मुख में वृद्धि करते हैं। वही धर्म है, दूसरा कोई बाहर से धर्म होता नहीं।

३ - संसार भावना

चहुँगति दुःख जीव भरै है, परिवर्तन पंच करे है;

सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगारा ।।१।।

अन्वयार्थ :- (जीव) जीव (चहुँगति) चार गति में (दुःख) दुःख (भर है) भोगता है और (परिवर्तन पंच) पाँच परावर्तन पाँच प्रकार से परिभ्रमण (करे है) करता है। संसार (सबविधि) सर्व प्रकार से (असारा) साररहित है, (यामें) इस में (सुख) सुख (लगारा) लेशमात्र भी (नाहि) नहीं है।

भावार्थ :- जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है। अज्ञान के कारण जीव चार गति में दुःख भोगात है और पाँच (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव) परावर्तन करता रहता है, किन्तु कभी शांति प्राप्त नहीं करता; इसलिये वास्तव में संसारभाव सर्वप्रकार से साररहित है, उसमें किंचित्‌मात्र सुख नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप नहीं है और जिसमें सुख मानता है, वह वास्तव में सुख नहीं है-किन्तु वह परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला भाव है। निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं-ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता में वृद्धि करता है, वह 'संसार भावना' है ।।५।।

संसार भावना

चहुँगति दुःख जीव भरे है, परिवर्तन पंच करे है;

सबविधि संसार असारा, यामैं सुख नहीं लगारा।।५।।

देखो ! इसमें लिखा है, देखो ! यहाँ मनुष्यगति ली है, मनुष्यगति। एक आदमी है, एक लड़का है, स्त्री सामने देखती हुई बैठी है, मकान है। यह मनुष्य का संसार। यह देव, फिर तिर्यंच। एक घोड़ा लिया है, घोड़ा। उसपर वजन भरा है। नीचे कुत्ते जैसा किया लगता है। एक नारकी। नीचे नरकगति है, हाँ ! यह पशु दिखते हैं, मनुष्य दिखते हैं। उपर देव हैं, स्वर्ग में देव हैं और नीचे नारकी हैं। माँस, शराब (खाते) पीते हैं, शिकार करते हैं, लंपटीपना करते हैं, (वे सब)

मरकर नरक में जाते हैं। नरकगति हैं। कल्पना नहीं है। कोई माने या नहीं माने, उससे वस्तु चली जाती है ? देखो ! नारकी पड़ा है। बिच्छु.. बिच्छु डंख मार रहा है और उसको जम मार रहा है। समझ में आया ? ये चार गति। मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी।

'जीव चार गति में दु:ख भोगता है...' स्वर्ग में दु:ख ? स्वर्ग में कुछ सुख होगा या नहीं ? भाई ! लिखा है न उसमें ? क्या लिखा है ? देव में दु:ख है, देव में दु:ख है।. धूल में कहाँ (सुख), वहाँ तो आकुलता है। इन्द्राणी आदि भले (हो), परन्तु आकुलता है न ! आकुलता है कि, मेरा है, मेरा है। वह तो दु:ख है। देव में सुख कहाँ से पड़ा था ? शेठाई में ? चार गति में चारों गति ली हैं। शेठाई में सुख है ? दु:ख है। सेठ लोग दु:खी हैं, ऐसा कहते हैं। ऐ..ई.. ! भाई ! दु:खी है ? आप अन्दर में मानते हो ?

मुमुक्षु :- अन्दर आकुलता भरी है।

उत्तर :- वह आकुलता है। यह लक्ष्मी मेरी, शरीर मेरा, ऐसे रक्षण करना, ऐसा करना, धूल करना ये सब आकुलता है, दु:खी है। अन्दर कषाय की होली जल रही है। विकार की ज्वाला जल रही है, वह दु:खी है। सेठ दु:खी, रंक-राजा दु:खी, देव दु:खी। चारों गति में दु:ख (है), देखो ! ऐसे लिया है। सुख है नहीं। सुख, आत्मा के आनन्द में है। सुख सिद्धपद में है। वह सुख आत्मा में है, उसमें से प्रगट होता है। बाहर से कोई सुख आता नहीं। समझ में आया ?

'चार गति में दु:ख भोगता है...' **'भरे है'** ऐसा लिखा है। **'पाँच प्रकार से परिवर्तन...'** परिभ्रमण करे। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव। लो ! ये शुभाशुभभाव दु:खरूप हैं, ऐसा

कहते हैं। क्या (कहा) ? पाँच परिवर्तन आया न ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। जितना शुभ और अशुभभाव है, वह संसार परिवर्तन दु:खरूप है। आहा..हा... ! पाँच परिवर्तन आया या नहीं ? द्रव्य में ये संयोग, क्षेत्र में यह क्षेत्र, काल में समय-समय, भव में चार गति और भाव में शुभाशुभभाव। पाँचों परिवर्तन में अनन्तकाल से आत्मा शुद्ध चैतन्य के भान बिना, सम्यग्दर्शन बिना, सम्यग्दर्शन-आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति, अनुभव बिना चार गति में भटका लेकिन उसे संसार का सुख कोई शरण नहीं है। यह संसार भावना की बात चलती है, समझे ?

'संसार सर्वप्रकार से सार रहित है,...' देखो ! **'सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगारा।'** सुख तो आत्मा में आनन्द में है, संसार में कहीं सुख नहीं। **'इसमें सुख लेशमात्र भी नहीं है।'** लो ! थोड़ा सुख है या नहीं ?

मुमुक्षु :- ... बैठे हैं...

उत्तर :- बैठे हैं, दु:खी हैं। आकुलता है, देखो ! उसमें आकुलता है। धूल में सुख नहीं है, दु:ख है। आत्मा प्रभु अनाकुल आनन्द से भरा, उसकी सम्यग्दृष्टि, वही सुखरूप है। बाकी सब में संसार में कहीं सुख की गंध है नहीं। चक्रवर्ती दु:खी (है)। वह श्लोक आता है न ? 'नवि तुहि देवता देव लोए, नवि तुहि शेठ सेणावह्य; नवि तुहि पुढवी पय राखा...' आता है न ? पृथ्वी का पति चक्रवर्ती सुखी नहीं है। दु:खी.. दु:खी.. दु:खी.. राग और द्वेष विकार करते हैं, दु:खी है। राग-द्वेष बिना का आत्मा का स्वभाव सुखरूप है। ऐसी श्रद्धा करता नहीं और चार गति में संसार में दु:खी होकर भटकता है।

भावार्थ :- 'जीव की अशुद्ध पर्याय वह संसार है।' ? लो ! कल कोई पूछता था न ? संसार किसको कहना ? स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, मकान को संसार कहना ? ना। वह तो पर चीज है। संसार, आत्मा का दोष है। समझ में आया ? संसार कहाँ रहता होगा ? भैया ! समझ में आया ? संसार कहाँ रहता होगा ? मालूम नहीं। ये स्त्री, पुत्र, मकान, पैसा संसार है ? वे तो जड़ परपदार्थ हैं, उसमें संसार कहाँ से आया ? आहा..हा... ! मालूम नहीं, अभी संसार कहाँ रहता है, वह मालूम नहीं। संसार, भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द अन्दर शुद्ध आत्मा है,

शक्ति है, सत्त्व है-उसमें से हटकर पर मेरा, मैं उसका ऐसा मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष का भाव, उसको भगवान, संसार कहते हैं। देखो !

'जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है।' या लक्ष्मी संसार ? दुकान संसार ? भाई ! लोग कहते हैं न उसने संसार छोड़ा। क्या संसार छोड़ा ? स्त्री-पुत्र तो पर हैं, उसे छोड़ा तो क्या छोड़ा ? अन्दर में मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव की रुचि छोड़े तो संसार की रुचि छूटी। बाद में आसक्ति छूटे तो वीतरागता हो तो आसक्ति का त्याग हुआ, उसका नाम संसार का त्याग कहने में आता है। दुनिया से बात अलग है। समझ में आया ?

स्त्री, कुटुम्ब, शरीर संसार हो तो यह देह छूट जायेगा। उससे छूटे तो उसकी मुक्ति हो जायेगी। यह संसार हो तो (देह) छूटता है, मृत्युकाल में रहता नहीं, तो उसकी मुक्ति हो जाये, यदि यह संसार हो तो। यह संसार है ही नहीं। उसका संसार... मेरी शुद्ध स्वरूप शक्ति है, उसकी प्रतीति की खबर नहीं। यह शरीर मेरा, लक्ष्मी मेरी, कुटुम्ब मेरा, आबरु मेरी, पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह मेरे-ऐसा मिथ्यादृष्टिपना, वही संसार है। समझ में आया ? यह ऐसाकहाँ से निकाला ? हम तो ऐसा समझते थे कि, ये स्त्री, पुत्र संसार है। स्त्री, पुत्र, मकान, पैसे, इज्जत, दुकान चलती हो, पाँच-पचास आदमी काम करते हो, यह संसार है। तुम्हारा संसार वहाँ रहता होगा ? संसार तो तेरी भूल है। तेरी भूल बाहर में रहती है ? ये तो बाहर के पदार्थ हैं।

भगवान को भूलकर मिथ्याश्रद्धान-ज्ञान करता है, उसका नाम भगवान, संसार कहते हैं। आहा..हा...! भगवान आत्मा शुद्ध अखंडानन्द आनन्दकन्द, उसको भूलकर विकार और पर मेरा मानना और राग-द्वेष होना, उसका नाम भगवान, संसार कहते हैं। समझ में आया ? भैया ! आहा..हा...! यह संसार कहाँ (है) ? स्त्री-पुत्र उसके घर में रहे बेचारे, वे कहाँ तुम्हारे में घूस गये हैं ? वे तो बाहर पड़े हैं। पैसे भी बाहर पड़े हैं, पाँच-पाँच, दस-दस लाख के मकान किये हो, (वे भी) बाहर पड़े हैं। साथ में आते हैं ? भाई ! बंगले में बैठा हो तो बंगला यहाँ साथ में आया है ? आहा..हा...!

भाई ! तेरी चीज अंदर शुद्ध आनन्द प्रभु है आत्मा, उसको भूलकर ये शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पापभाव मेरा-ऐसी मान्यता मिथ्यात्व, वही तेरा संसार है। आहा..हा...! और मिथ्यात्व

के साथ राग-द्वेष होना, वह मंद संसार है; मिथ्यात्व तीव्र संसार है। समझ में आया ? क्या कहा ? संसार, आत्मा की पर्याय में-अवस्था में रहता है। भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति आत्मा है। स्वरूप शुद्ध चितानन्द की अनन्त गुण की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसकी रुचि छोड़कर पुण्य-पाप मेरा, ऐसी रुचि करना और परपदार्थ उसमें नहीं, उसे मेरा मानना, वही मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव संसाार है। भगवान उसको संसार कहते हैं। आहा..हा...! ऐसा कहाँ से निकला ? तुझे मालूम नहीं, इसलिये क्या दूसरो हो जाये ? और उसके साथ जो पुण्य-पाप का, राग-द्वेष का भाव है, वह संसार है, परन्तु मिथ्यात्व बड़ा संसार है और राग-द्वेष मंद संसार है। दोनों संसार है। दोनों का त्याग करके वीतरागता प्रगट करना, उसका नाम मोक्ष और संसार का अभाव है। समझ में आया ?

संसार। आया था न ? 'मोक्ष अधिकार' में है। इसमें है न ? 'मोक्ष अधिकार' में अन्त में है। मोक्ष...मोक्ष। प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव, बन्ध है। मिथ्यात्व का अभाव सम्यक् संवर, निर्जरा और मोक्ष है। प्रसिद्ध हो, ढिंढोरा पीटकर प्रसिद्ध हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव, बन्ध है, वही संसार है। अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप की श्रद्धा छोड़कर शरीर, वाणी मेरा, पुण्य-पाप मेरा, पुण्य-पाप का फल मेरा, बन्धन मेरा और शुभाशुभभाव मेरा-ऐसी मान्यता मिथ्यात्व वही संसार, आस्रव और बन्ध है। आस्रव, बन्ध ही संसार है। आहा..हा...! यह कहाँ से निकाला ? तुझे मालूम नहीं, इसलिये दूसरा निकाला ऐसा कहे ? जैसा है, वैसा वही है। समझ में आया ? देखो !

'मोक्ष अधिकार' में है। प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव और बन्ध है। कर्म-फर्म नहीं, और मिथ्यात्व का अभाव सम्यक् संवर, निर्जरा और मोक्ष है। समकित ही संवर, निर्जरा और मोक्ष है। आहा..हा...! अपना शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण... पूर्ण की प्रतीति, उसका ज्ञान और उसकी लीनता, वही सम्यग्दर्शन, संवर, निर्जरा और मोक्ष है। दो बात ही ली है। एक मिथ्यात्व, आस्रव, बन्ध। सम्यक् संवर, निर्जरा और मोक्ष। प्रगट हो, जाहिर हो, ढिंढोरा पीटकर हम कहते हैं, नगाड़े की चोट पर हम कहते हैं, कहते हैं या नहीं ? नगाड़े की चोट से कहते हैं, भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप के भाव को अपना मानना, उसका बन्धन अपना मानना और उसका फल संयोग अनुकूल-प्रतिकूल अपना मानना, बस ! वही

मिथ्यात्व और वही आस्रव और बन्ध है। आहा..हा...! समझ में आया ? समय कहाँ से मिले ? समय मिलता नहीं, आदमी ऐसा बोलते हैं। भाई ! समय पाप में गँवाया। अब (क्या) ? अब इस चिन्ता में। ये चला गया, ये चला गया लेकिन कहाँ गया ? उसके ठिकाने पड़े हैं। शरीर के ठिकाने शरीर है, पैसे के ठिकाने पैसे हैं, कीर्ति की जगह कीर्ति है। यहाँ आत्मा में कहाँ घूस गये हैं ? शरीर चलता नहीं, उसमें तुझे क्या ? वह तो कहते हैं।

शरीर जड़ है। जड़ का चलना, हिलना भगवान कहते हैं कि, जड़ की पर्याय से होता है। उसमें पर्याय-द्रव्य है। यह वस्तु परमाणु है। तो परमाणु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, भगवान कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में नयी-नयी अवस्था प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, पूर्व की अवस्था का अभाव होता है और ध्रुवपने कायम रहता है। उसका हिलना, चलना आत्मा से नहीं (होता)। मूढ अज्ञानी पाखंडी मानता है। जड़ की अवस्था मेरे से होती है, वही मिथ्यात्व बड़ा संसार है। समझ में आया ? जड़, जड़ है, क्या तेरी चीज है ? यह तो मिट्टी है, धूल है। धूल की अवस्था कैसी रहे, सरोग, निरोग ? -वह तो उसके आधीन है, आत्मा के आधीन है ?

मुमुक्षु :- उसका उपाय बतलाईए।

उत्तर :- ये क्या कहते हैं ? चले तो चलो, न चले तो न चलो। मुझे क्या है ? पर के साथ क्या है ? ऐसी अन्तर दृष्टि करना, वही समाधान और संतोष है। आहा..हा...! बैलगाड़ी चले। बैलगाड़ी चलती है न ? बैलगाड़ी के नीचे कुत्ता चले। कुत्ता जाने कि मेरे से गाड़ी चलती है। मूढ है। शरीर आदि तो गाड़ी है, उससे चलती है। तू है तो चलती है ? कुत्ते जैसा है।

मुमुक्षु :- .. गाड़ी चलती है..

उत्तर :- नहीं, चली नहीं। उसके कारण से चली है। तुम्हारे कारण से बिलकुल नहीं। इसका चलता है, मेरा नहीं चलता, उसकी जलन अन्दर में घूस गई है। किसका चले और किसका न चले ? मूल में समाधान करने आता नहीं। भाई ! सच बात है या नहीं ? आहा..हा...!

कहा था न ? एक साधु थे, श्वेताम्बर साधु थे। (संवत) १९८८ का चातुर्मास था न ? 'जामनगर'। वहाँ एक श्वेताम्बर साधु थे। बाद में गये थे। वहाँ एक पाठशाला है। एक साधु हो

गये थे। फिर हम वहाँ गये थे। बेचारे बहुत दु:खी थे। साठ साल की उम्र होगी। ऐसे.. ऐसे.. हुआ ही करे, चौबीस घंटे, तीन साल हो गये थे। फिर (हम) गये, (तो कहने लगे), अरे...! महाराज ! दु:खी (हैं)। (हमने कहा), क्या करोगे ? समाधान करो। देह की अवस्था है। आठ साल वैसे रहा। अन्त में लट हो गई। शरीर मुलायम था, सुन्दर था। देह की पर्याय का धर्म है। देह छूट गया। आठ साल तक ऐसे रहा। नीचे सोये घसाया ही करे। देह की स्थिति (है), बापू ! ये तुम्हे मालूम नहीं, भाई ! आत्मा का अधिकार नहीं है। माने नहीं क्या करे ? आहा..हा...! अरे..! तू जाननेवाला-देखनेवाला, उसका अभिमान करे कि, पहले मैंने चलाया था, अब चलता नहीं। दोनों भूल हैं। देह देह के कारण से रहे, देह के कारण से चले और देह, देह के कारण से रुक जाये। आहा..हा...! लेकिन वह माने नहीं। भ्रमणा.. भ्रमणा.. भ्रमणा.. भ्रमणा। यहाँ वही कहते हैं, समझ में आया ?

'जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है। ' देह मेरे से चला था, अब देह मेरे चलता नहीं- ऐसी तेरी मान्यता, तेरी श्रद्धा, तेरा मिथ्यात्व संसार है। आहा..हा...! शरीर तंदुरस्त हो, लट्ठ जैसा हो। धूल है, बापू ! लट गिरेगी, भाई ! यह शरीर मिट्टी है। यह रत्न नहीं है। रत्न हो तो भी धूल है। बापू ! तेरी अमर चीज तो अन्दर है। अमर चीज, अमर चीज चिदानन्दर मरे नहीं ऐसा भगवान आत्मा। ऐसी अमर चीज को पहिचान, बाकी सब मिथ्याभ्रम है। समझ में आया ?

'अज्ञान के कारण जीव चार गति में दु:ख भोगता है...' लो ! अपने स्वरूप के भान बिना परवस्तु मेरे से चली, ग्रही, टिकी, मैंने रक्षा की। अभी तक तो मैंने बहुत रक्षा की, अब नहीं चलती। मूढ है। रक्षा की थी ? वह तो उसके कारण से रही थी। अब हमारे हाथ की बात न रही, पहले हमारे हाथ की बात थी। तेरे हाथ में आत्मा है। आत्मा क्या पर का कर सकता है ? जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व। अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व। ऐसा आता है या नहीं ? अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है। जीव को अजीव मानना मिथ्यात्व है। अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को नहीं मानकर, मैंने शरीर को अब तक तो ठीक रखा था, हाँ ! कुटुम्ब को, दुकान को, (बराबर रखा था), मूढ है। वह तो परवस्तु है। तेरे से कहाँ रही थी ? चली जाती है तो उसके कारण से जाती है, तेरे कारण से जाती है ? समझ में आया ?

पागल का दृष्टान्त है न शास्त्र में ? एक पागल था, पागल। बाहर बैठा था। (उतने में) राजा

आया। रानी आयी। सब आये। पागल बैठा था। आये, शाम को चले गये। क्यों पूछे बिन जाते हैं ? परन्तु तेरे कारण से कहाँ आये हैं ? तुम पागल यहाँ बैठे हो। हम तो हमारे कारण से आये हैं। पागल बैठा था, पागल समझे ? दस बजे का टाईम था। राजा आया। हाथी पर जाते थे। दस बज गये थे। नदी में जल था तो आहार करने को रुक गये। रानी, हाथी, घोड़ा (सब थे)। पागल को लगता है, ये मेरा राजा, ये मेरी रानी। चार बजे चले। तो कहता है, क्यों चले जाते हो ? हम तेरे कारण से कहाँ आये हैं ?

इसीप्रकार यह पागल (है)। पूर्व के कारण से लक्ष्मी आयी, स्त्री आयी, मकान आया वह तो उसके कारण से आये हैं। नाश होता है तो कहता है कि, चले क्यों जाते हैं ? लेकिन तेरे कारण से कहाँ से आये हैं कि, न चले जाये ? पागल है, पागल। पागल के गाँव कोई अलग होते हैं ?

यहाँ तो कहते हैं कि, चार गति में भटकता है 'किन्तु कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता...' विशेष कहेंगे... (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❃

आत्माको सदा ही ऊर्ध्व अर्थात् मुख्य रखना चाहिए । चाहे जैसा प्रसंग आए तो भी द्रव्य-स्वभावको मुख्य रखना । शुभाशुभ-परिणाम भले ही आए पर नित्य द्रव्यस्वभावका ध्येय रखना । आत्माको मुख्य रखने पर जो दशा होती है वह निर्मल-दशा साधन कहलाती है ओर उसका साध्य केवलज्ञान करना है ओर उसका ध्येय पूर्ण आत्मा है । कषायकी मन्दता अथवा क्षयोपशम ज्ञानके विकासकी मुख्यता होगी तो दृष्टि संयोग पर जाएगी । आत्माकी ऊर्ध्वताकी रूचि और जिज्ञासा हो तो उसका प्रयास हुए बिना रहे ही नहीं । जिसको आत्मानुभवके पहले भी यथार्थ जिज्ञासा हो, उसीको अव्यक्तरूपसे आत्माकी ऊर्ध्वता है । यहाँ अभी आत्मा जाननेमें तो आया नहीं, पर उसकी ऊर्ध्वता अव्यक्त रूपसे रहती है, और वह अनुभवमें आए तब व्यक्त प्रकट ऊर्ध्वता होती है । (परमागमसार-३९९)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ११, गुरुवार
दि. ०३-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-५,६,७. प्रवचन नं. ४१

'दौलतरामजी' कृत पाँचवी ढाल है न ? संसार भावना। दो भावना (पूरी हई)। (कौन-सी) ? अनित्य और अशरण। आत्मा के अलावा सब पदार्थ अनित्य हैं, क्षणिक हैं, नाशवान हैं। अपना स्वरूप नित्य ध्रुव चिदानन्दस्वरूप है। ऐसी अन्त में स्वभाव सन्मुख ध्रुव नित्य की दृष्टि करके, परवस्तु की अनित्यता की भावना में वैराग्य करना चाहिए। समझ में आया ?

दूसरी अशरण (भावना)। अपने आत्मा को जगत में कोई शरण नहीं। शरीर, विकल्प आदि, रागादि कोई शरण नहीं, तो बाह्य तो शरण है ही नहीं। शरण तो अन्तर में आनन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसका ज्ञान करके, उसका आश्रय करना, वही आत्मा को शरण है। समझ में आया ? दूसरा कोई जगत में शरण है नहीं।

संसार भावना। भावार्थ :- **'जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है।'** अपनी पर्याय में-अवस्था में मिथ्या राग-द्वेष विकल्प विकार जो उठते हैं, वह विकार दशा ही संसार है। उसकी विचारणा करके अपना स्वरूप, संसारदशा विकार से, निर्विकार अपना निज स्वरूप आनन्द भिन्न है, ऐसा अंतर्मुख होकर एकाग्रता करना, वह संसार भावना का तात्पर्य है। समझ में आया ?

'अज्ञान के कारण जीव चार गति में दु:ख भोगता है...' अ..हो...! अपनी कींमत, अपनी निज चीज की कींमत किये बिना.. समझ में आया ? अपनी चीज क्या है निधि ? चैतन्य आनन्दकन्द अपने स्वरूप की अधिकता, विकार और पर से भिन्न (है), उसकी कींमत किये बिना चौरासी (के अवतार) में (भटक रहा है)। अपने स्वरूप का भान, निधि है उसके भान के अभाव से चार गति में भटकता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- कर्म के कारण...

उत्तर :– कर्म के कारण से नहीं। अभी कहते थे, अन्दर पीछे आता था। कर्म के कारण से नहीं। वह कहा न ? अपना शुद्ध आनन्द निज जाति भगवान आत्मा, जिसमें अन्तर में तो शान्ति, ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा और अनन्त अनन्त प्रभुता अन्तर में पड़ी है, (उसमें) एकाग्र होकर उछालना–निकालना चाहिए। समझ में आया ? अपने में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, प्रभुता आत्मपदार्थ में पड़ी है। उसके सन्मुख होकर, अन्तर में जो शक्ति पड़ी है, उसको वर्तमान में प्रगट करना (चाहिए)। वह नहीं प्रगट करते हैं तो स्वरूप के अज्ञान के कारण विकार प्रगट होता है। बस ! अपना ही कारण है, दूसरा कोई कारण है नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! लेकिन आत्मा क्या है, उसकी कोई खबर है नहीं। आत्मा अर्थात् कुछ नहीं। यहाँ कहते हैं कि, आत्मा अर्थात् सर्वस्व परमात्मा। समझ में आया ?

जिसमें अनन्त अनन्त सिद्धपद पड़ा है। समझ में आया ? किसमें ? आत्मा में। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. सिद्धपद जिसमें पड़ा है–ऐसा आत्मा (है)। संसार के सामने यह बात चलती है। यह संसार भावना है न ? ऐसा अपना अनन्त अनन्त सिद्धस्वरूप भगवान... एक सिद्ध नहीं, ऐसी अनन्त पर्याय। पर्याय की बात है न ? अनन्त सिद्ध की पर्याय, अनन्त निर्मल पर्याय, ऐसी अनन्त सिद्ध जिसकी खान में (है)। अमूल्य निधि भगवान आत्मा की कींमत किये बिना पर की कींमत की तो अपना अज्ञान हुआ। समझ में आया ? इस अज्ञान के कारण संसार गति में–चार गति में दुःख भोगता है। समझ में आया ? ओ..हो..हो... ! चार गति का दुःख सुना हो, विचार किया हो तो मालूम पड़े। समझ में आया ? उस दुःख की दशा, अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप के अज्ञान के कारण चोरासी (में भटकता है)। यहाँ तो चार गति ली है न ? मात्र नरकगति ऐसा नहीं। समझ में आया ? ओ..हो... ! नरक का दुःख सपने में आये तो मालूम पड़े कि, कितनी पीड़ा है। समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसा दुःख... भगवान आत्मा अपनी कींमत अथवा अपना ज्ञान अथवा अपना अधिक बडप्पन क्या है, अपना बडप्पन क्या है, मालूम नहीं। दूसरे को अधिकता दे देता है। पुण्य को, विकल्प को, राग को, पाप को, निमित्त को, संयोग को (अधिकता देता है)। बडप्पन समझते हो ? अधिकपना दे देते हैं। अपना स्वभाव परमानन्द, उसको छोड़कर दूसरे को अधिक महत्ता आश्चर्यकारी मान लेता है। अपनी चीज के अलावा पर को आश्चर्याकारी, विस्मय दृष्टि से

देखता है। पर को विस्मय दृष्टि से देखता है। अपना स्वरूप विस्मय दृष्टि से देखना चाहिए। समझ में आया ? विस्मय तो समझते हो न ? आश्चर्य दृष्टि से... ओ..हो...! ओ..हो...! ओ..हो..हो...! क्या है ? शरीर सुन्दर हो, कीर्ति ठीक हो तो ओ..हो...! ओ..हो...! (करे)। लेकिन क्या है ओ..हो... ? अज्ञानी अपने को आश्चर्यकारी दृष्टि से नहीं देखता और अपने अलावा विकार, परपदार्थ को आश्चर्यदृष्टि से, विस्मय दृष्टि से, प्रफुल्लित होने के दृष्टि से (देखता है)। ओ..हो...! पर में तो बहुत मजा है। ऐसे अज्ञानभाव से भाव करते हैं और चार गति स्वर्ग हो या नरक हो, चार गति में दु:ख भोगता है।

'(द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव) परावर्तन करता रहता है...' देखो ! अनन्त परपदार्थ का संयोग, असंख्य क्षेत्र में अनन्त बार, अनन्त काल, अनन्त भव और अनन्त भाव। जो अध्यवसाय असंख्य प्रकार के (हैं), उन एक-एक प्रकार में अनन्त बार परिभ्रमण किया है। समझ में आया ? अपने चैतन्यस्वरूप की विस्मय, अद्भुत दृष्टि किये बिना, परपदार्थ को अद्भुत, आश्चर्य, विस्मय दृष्टि से देखने से अपना ज्ञान खोया, खो गया। वह रह गया। ये चीज, ये चीज, ये चीज (है)। इस चीज में शुभभाव इतनी बार किये, अशुभभाव की बात तो क्या ! अशुभ अनन्तबार किया, अशुभ के असंख्य प्रकार। हिंसा, जूठ, क्रोध, मान के असंख्य प्रकार। एक-एक प्रकार अनन्त बार किये। और दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव के भी असंख्य प्रकार। यह एक-एक प्रकार भी अनन्त बार किये। समझ में आया ? आहा..हा...!

भगवान अनन्त आनन्द के कन्द की अन्तर विस्मय, आश्चर्यदृष्टि करके अन्तर को खोलना चाहिए। शक्ति का भंडार एकत्व चाबी से खोलकर, उसे नहीं खोलकर अज्ञान से विकार खोला-प्रगट किया। भैया ! आहा..हा...! कहते हैं कि, ऐसा कोई भाव नहीं। बन्धन का कारण (जो नहीं किया हो)। तीर्थंकर गोत्र का भाव आदि दूसरी (चीज है)। नौंवी ग्रैवेयक अनन्तबार गया। शुक्ललेश्या, एक बार नहीं परन्तु अनन्त बार ऐसी शुक्ललेश्या हुई है। समझ में ाया ? भैया ! शुक्ललेश्या, हाँ ! शुक्ल ध्यान नहीं। शुक्लध्यान दूसरी चीज है, वह मोक्षमार्ग में होती है। शुक्ललेश्या तो बन्धमार्ग में अनन्तबार हो गई। आहा..हा...! अरे...! समझ में आया ?

'किन्तु कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता;...' मिथ्यात्वभाव, अशरणभाव, संसारभाव को शान्त करने का उपाय, अपने ज्ञातास्वभाव की ज्ञानदृष्टि, ज्ञानदृष्टि (करनी वह) उसको शान्त

करने का उपाय है। समझ में आया ? वह कभी किया नहीं। अन्तर में शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. एक अंश भी शान्ति निकाले तो अनादि की शुभाशुभ ज्वाला से भटकता है उसे जला दे। समझ में आया ? परन्तु ऐसा कभी अनन्तकाल में अपनी चीज की कींमत किये बिना भटकता है।

'इसलिये वास्तव में संसारभाव सर्वप्रकार से साररहित है,...' संसारभाव सर्व प्रकार से साररहित है। आहा..हा...! समझ में आया ? **'उसमें किंचित्मात्र सुख नहीं है;...'** ओ..हो...! **'क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप नहीं है...'** सुख की कल्पना क्या ? ये पुण्य में, पाप में, फल में, शरीर में, स्त्री में सुख की कल्पना करता है तो सुख का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। ओ..हो..हो...! समझ में नहीं आया ?

इस संसार में सुख है, पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, कीर्ति में सुख है, मकान में सुख है, कपड़े ठीक पहने से, सुगन्ध लगाने से, उसमें सुख है ऐसी कल्पना करता है, वास्तव में वह सुख का स्वरूप है ही नहीं, वह तो दुःख का स्वरूप है। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ऐसा बनता है न ?

उत्तर :- क्या बनता है ? धूल में बनता है। भाई ! रोज बनता है। उसमें कल्पना की। होली जलती है। राग और द्वेष, राग और द्वेष। ओ..हो..हो..! समझ में आया ? बहुत साल पहले सपने में एक स्त्री को नरक में देखा था। परसों एक स्त्री को सपने में नरक में देखा। वह देखे तो मालूम पड़े क्या चीज है। समझ में आया ? आहा..हा...! पीड़ा... कहाँ से कहाँ आई ? ऐसी चीज देखी। स्त्री, वहाँ नग्न, वहाँ तो नग्न है न। नारकी में कुछ नहीं। दुःख.. दुःख.. दुःख... दुःख.. फिर क्या हुआ ? कोई कहे ऐसा हुआ। उसमें से याद आया। एक आदमी पानी का बड़ा घड़ा भरकर लाया (और) उसपर डाला। समझ में आया ? मैंने तो उसे अन्दर में लिया।

अनादि अज्ञानी विकार से जला हुआ जलता है। बहुत वर्ष पहले एक स्त्री आयी थी। कौन थी वह लक्ष्य में आ गई थी। यह कौन वह ख्याल में नहीं आया, वह कौन थी वह ख्याल में आयी थी। दुःख देखो तो देखा नहीं जाये। पहले तो पूडे जैसा देखा, भाई ! जैसे मधपुडा होता है न ? मधपुडा। ऐसे.. ऐसे.. होता था। ये क्या ? उसमें स्त्री का मुख और शरीर स्त्री का। और पीड़ा..

पीड़ा.. पीड़ा.. ऐसे देखे.. अरे... ! ये क्या ? समझ में आया ? बापू ! अनन्तबार ऐसे भव किये हैं। समझ में आया ? परसौं रात को (देखा)। समझ में आया ? यहाँ कहते हैं, यहाँ कुछ नरक का चलता होगा न ? भावना, विचारणा अन्दर से (चलती होगी)। गति का ख्याल आ गया। ओ..हो... ! उसको बुझाने का एक उपाय शान्ति है, दूसरा कोई उपाय है नहीं। समझ में आया ? क्या लिखा है ? देखो !

'क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है,...' लड्डु में सुख है, स्त्री में सुख है, इज्जत में सुख है, ऐसे बैठूं तो सुख, ऐसे देखूं तो सुख है। ये कल्पना जिसने की है, वैसा सुख कारण स्वरूप है नहीं। बराबर है ? भाई !

मुमुक्षु :- ... भाई बात तो ठीक लगती है, परन्तु...

उत्तर :- यहाँ दूसरी बात कहते हैं और तुम्हारे अन्दर खटकती है दूसरी। यहाँ तो कहते हैं, जिसमें कल्पना करते हैं, वह सुख का स्वरूप है नहीं। इतनी बात है। दुःख बाद में। समझ में आया ? आहा..हा... ! अरे... !

यहां तो कहते हैं, '**किन्तु वह परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला भाव है।**' संसार है न ? संसरण। जितनी विकल्प की शुभ-अशुभ जाल, सब दुःखमय है, संसार है। भगवान आत्मा। देखो ! वह कहते हैं। '**निज आत्मा ही सुखमय है...**' अब यहाँ लेना। भगवान आत्मा ओ..हो.. ! निज आत्मा आनन्दमय, जिसमें आनन्द पड़ा है। यह संसार तो जहाँ कल्पना करता है वहाँ-वहाँ सब दुःखरूप है। कल्पना जहाँ-जहाँ करता है, तहाँ-तहाँ वह सब दुःखरूप है। आप कहते हो वैसा नहीं है। आप तो दूसरे प्रकार से कहते हो, आप की बात अलग है, यह बात अलग है। यहाँ तो पर में कल्पना करता है कि, यहाँ सुख है, शरीर में ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है। यह कल्पना दुःखरूप है। पैर नहीं चलता है, इसलिये दुःखरूप है, ऐसे नही। समझ में आया ? भाई ! माप में फर्क है। गज में फर्क है।

यहाँ तो कहते हैं, अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप का लक्ष्य छोड़कर, जहाँ-जहाँ सुख की कल्पना (करता है), किसी भी चीज में आबरु में, कीर्ति में, शरीर में, स्त्री में, कुटुम्ब में, व्यापार में, धंधे में, अमलदार में, सोने में... समझ में आया ? जहाँ-जहाँ सुख कल्पना करता है, वह

सुख का स्वरूप है नहीं अर्थात् वह दुःख का स्वरूप है। यह शरीर चलता नहीं, इसलिये दुःख है–ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि, जहाँ–जहाँ.. समझ में आया ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :– ..

उत्तर :– धूल में भी सुखी नहीं है। कौन कहता है ?

मुमुक्षु :– .. सुखी है न ?

उत्तर :– ना, कौन कहता है सुखी है ? जितनी कल्पना करते हैं सब दुःखी हैं। कल्पना करता है कि, यहाँ.. यहाँ.. (सुख है), वह दुःखी है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

यहाँ तो क्या कहा ? '**जिस प्रकार कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप नहीं है...**' सुख का स्वरूप ऐसा माने कि, ऐसा ठीक है, ऐसा ठीक है। लड़का ठीक है, पैसा ठीक है, कमाते ठीक है, कीर्ति ठीक है, शरीर सुन्दर है, निरोगता है, हजम होता है, अच्छा हजम होता है, ऐसी कल्पना जहाँ–जहाँ करे, तहाँ–तहाँ वह सुख की स्थिति है ही नहीं, वह सुख का स्वरूप है ही नहीं। वह तो दुःख का स्वरूप है। भैया ! समझ में आता है ? कल्पनामात्र करता है। आहा..हा... ! पाँच हजार मिले, करो लापसी। लापसी को क्या कहते हैं ? कल्पना करता है कि, मुझे सुख है। वह सुख का स्वरूप है ही नहीं। समझ में आया ?

एक ही पुत्र हो, पच्चीस साल का जवान हो, ६५ साल की (खुद की) उम्र हो, पचास लाख की पूँजी हो, दो लाख खर्च करने की कल्पना करता है। ओ..हो.. ! आहा..हा... ! यह अन्तिम अवसर है, भाई ! ऐसा थोडी बार–बार आता है। मूढ है। तेरी कल्पना सुखरूप मानता है, वह सुखरूप है ही नहीं। आहा..हा... ! भगवान आत्मा, उस कल्पना से पार है, समझ में आया ? ऐसे अपने आत्मा की दृष्टि करना, उसमें आनन्द और सुख है, बाहर में सुख है नहीं। समझ में आया ?

'दौलतरामजी' 'छहढाला' में ऐसा कहते हैं। 'छहढाला' चलती है। समझ में आया ? यह आत्मा ही सुखमय है। यह आत्मा अन्दर पड़ा है न आत्मा ? वही आनन्दमय है, आनन्दमय है। सुखमय, सुखवाला नहीं, सुखमय ही है। कैसे बैठे ? यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय

आनन्दमय है। जैसे शक्कर मिठासमय है, वैसे आत्मा आनन्द है। उसके अलावा जितनी कल्पना करना वह सब दु:खरूप है, सुख की कल्ना मान रखी है। समझ में आया ? स्वर्ग में भी अनुकूलता है, इन्द्राणी की अनुकूलता (है), इज्जत की अनुकूलता (है)। समझ में आया ? देव जहाँ उत्पन्न होता है, विचार करे कि, देव क्यों नहीं आते ? लेकिन देव वहाँ घड़ी-दो घड़ी विचार करे उतनें में पचास-सौ साल चले जाये। ऐ..ई..। भाई ! समझ में आया ? (एक मुमुक्षु) स्वर्ग में गये। पुण्य इतने होते हैं, उसके फल में जहाँ देखे वहाँ (अनुकूलता दिखती है), वह विचार करते-करते एक घड़ी आये उतने में वहाँ के पचास-सौ साल चले जाये। उतने समय तक यहाँ आदमी रहे नहीं। सुख का विचार है न ? सुख की घड़ी बहुत थोड़े काल दिखती है। और दु:ख का काल बडी रात दिखती है। रात तो थोड़ी है, लेकिन बहुत दु:ख हो तो (बोले) आज तो रात बड़ी हो गई। रात बड़ी नहीं है, तेरा दु:ख है उस कारण से लगती है। वहाँ अनुकूलता इतनी देखे, थोड़ा-थोड़ा विचार करे तो (काल) चला जाये। यहाँ पूर्व का सम्बन्ध हो वह पूरा हो जाये।

भगवान आत्मा.. वह कल्पना करता है, हाँ ! कि, इसमें सुख है। देव में सुख है, ऐसी कल्पना करता है। सुख का स्वरूप ऐसा है नहीं। समझ में आया ? पाँच-पच्चीस लाख में सुख है, शरीर में सुख है, इज्जत में सुख है, वह कल्पना करता है। वह सुख का स्वरूप है ही नहीं। वह तो दु:ख की व्याख्या है। सुख तो अपने आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, उसकी अन्तर दृष्टि करने से सुख की प्राप्ति होती है। बाहर से कभी तीनकाल में सुख की प्राप्ति होती नहीं। समझ में आया ? आहा..हा...!

'उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं...' देखो ! क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा ध्रुव.. ध्रुव.. नित्य.. नित्य, उसके नित्य स्वभाव में तो संसार की गन्ध नहीं। पुण्य-पाप का विकल्प अथवा कल्पना उसमें है ही नहीं। अपना ध्रुव स्वभाव, नित्य स्वभाव, अनादि अनन्त स्वभाव, एकरूप स्वभाव, वस्तु.. वस्तु का ध्रुव स्वभाव, उसमें संसार की कल्पना की गन्ध नहीं। परमपवित्र धाम भगवान आत्मा है। संसार की कल्पना, उसकी अवस्था-पर्याय में करता है। ये सब दु:खरूप कल्पना है। समझ में आया ? स्वर्ग हो, नरक हो...

मुमुक्षु :- ... परन्तु कल्पना जाती नहीं उसका क्या ?

उत्तर :- लेकिन करता है कौन ? जो करे वह छोड़े। छोड़े कौन ? छोड़े समझते हैं ? छोड़ देते हैं। हाथ में पकड़ा हो उसे छोड़े। रात-दिन कल्पना, कल्पना, कल्पना, कल्पना (करता है)। ऐसा.. ऐसा.. ऐसा.. जैसे वह पूणी होती है न पूणी ? एक के बाद एक चलती रहती है। वैसे अज्ञानी, आत्मा आनन्द के भान बिना प्रभु आत्मा ध्रुव स्वभाव में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि बिना अनन्त कल्पना किये जाता है। मूढ (है)। स्वर्ग हो या नर्क हो, सेठ हो या रंक हो, सब कल्पना में दु:खी हो रहे हैं।

मुमुक्षु :- ... कल्पना चली नहीं जाती ?

उत्तर :- अपने आप ही चली जायेगी ? करे बिना मिल जाये ? छोड़े बिना चली जाये ? समझ में आया ? करता तो वह है। जैसे ध्रुव आत्मा है, वैसे ध्रुवरूप से हमेशा पर्याय में करता ही रहता है। करना.. करना.. करना.. करना.. करना.. विकार.. विकार.. विकार.. विकार.. विकार.. शुभभाव हो या अशुभभाव, दोनों विकार हैं। दोनों का फल पुण्य-पाप बन्ध है, दोनों का फल संयोग है। उसमें कहीं सुख है नहीं। भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ, तीर्थंकरदेव, जिनको एक समय में त्रिकाल ज्ञान था, उन परमेश्वर ने जैसा कहा, वैसा यहाँ कहने में आता है।

'ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके...' भगवान आत्मा विकार की कल्पना से पार भिन्न है, ऐसा अन्तर स्वरूपसन्मुख दृष्टि करके अपने स्वभाव की भावना करनी। 'सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता में वृद्धि करता है...' तो अन्दर में शान्ति की वृद्धि करता है। वीतरागता का अर्थ शान्ति। यह अशान्ति (है), बाहर की कल्पना मात्र अशान्ति (है)। और अन्तर स्वभाव में एकाग्र होकर अपने शुद्ध चैतन्य की एकाग्रता करते हैं तो उसमें से शान्ति की वृद्धि होती है और अशान्ति का नाश होता है। समझ में आया ? **'यह संसार भावना है।'**

४-एकत्व भावना

शुभ अशुभ करम फल जेते; भोगे जिय एक हि ते ते;
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के है भीरी ।।६।।

अन्वयार्थ :- (जेते) जितने (शुभ करमफल) शुभकर्म के फल और (अशुभ करमफल) अशुभकर्म के फल है (ते ते) वे सब (जिय) यह जीव (एक हि) अकेला ही (भोगे) भोगता है; (सुत) पुत्र (दारा) स्त्री (सीरी) साथ देनेवाले (न होय) नहीं होते। (सब) यह सब (स्वारथ के) अपने स्वार्थ के (भीरी) सगे (हैं) है।

भावार्थ :- जीव का सदा अपने स्वरूप से अपना एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिये वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है। - पर का कुछ नहीं कर सकता, इसलिये जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका फल (आकुलता) वह स्वयं अकेला ही भोगता है, उसमें अन्य कोई-स्त्री,पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब पर पदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र हैं, इसलिये वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी हैं ही नहीं; तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दु:खी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर पर के साथ कर्तृत्व-ममत्व का अधिकार माना है; वह अपनी भूल से ही अकेला दु:खी होता है।

संसार में और मोक्ष में यह जीव अकेला ही है-ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्ध आत्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व मानकर अपनी निश्चयपरिणति द्वारा शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है, यह 'एकत्व भावना' है।

एकत्व भावना। चौथी एकत्व भावना। गाथा छठवीं है न ?

शुभ अशुभ करम फल जेते; भोगे जिय एक हि ते ते;

सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के है भीरी॥६॥

यह तो हिन्दी सादी भाषा है, हिन्दी 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' तो बहुत सादी है। गागर में सागर भर दिया है। गागर में भर दे, ऐसा भर दिया है। 'दौलतरामजी', पहले के पंडित बहुत विद्वान और बहुत यथार्थ दृष्टिवाले थे। समझ में आया ? उसका अर्थ।

'जितने शुभकर्म के फल और अशुभकर्म के फल हैं, वे सब यह जीव अकेला ही भोगता है...' देखो ! एकत्व भावना। एकत्व है न ? अकेला भोगता है। कोई पृथक् पर प्राणी

उसका दु:ख भोगने में हिस्सा लेते नहीं। कौन ले ? जैसा शुभ-अशुभभाव, कर्म करे ऐसा कर्म, ऐसा संयोग मिले। अकेला दु:ख। स्त्री, कुटुम्ब सब इकट्ठे हों, देखने को लोग इकट्ठे हो जाये, परन्तु क्या उसके दु:ख मिटा सकते हैं ? दु:ख तो अपने आनन्द को भूलकर जो विकार उत्पन्न किया है, उसमें शुभाशुभ कर्म का फल भोगता है, अकेला भोगता है। उसमें किसी का सहारा नहीं।

'पुत्र, स्त्री, साथ देनेवाले नहीं होते।' क्या दे ? जन्म से एक क्षेत्र में रहनेवाला शरीर, जन्म से आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहनेवाला शरीर, वह भी साथ नहीं देता, वह तो जड़ है, मिट्टी-धूल है, तो दूर जो स्त्री, कुटुम्ब-परिवार है, वह तो क्षेत्र से दूर है। तेरे आत्मा के आनन्द को भूलकर जो दु:ख भोगता है, पूर्व का कर्म का फल (भोगता है) उसमें साथ होते नहीं, साथ देते नहीं। थोड़ा साथ देते होंगे या नहीं ? उसके लिये जितना कमाया, उसके लिये कमाया न ? पाप के लिये। इतना साथ देंगे या नहीं ? हमारे लिये इतना पाप किया (तो) लाओ (तुम्हारे दु:ख में) भाग लेते हैं। पाप खुद ने किया, फल पाया खुद ने। पर के कारण से क्या है ? पर तो भिन्न है। स्त्री, पुत्र परद्रव्य हैं। पर आत्मा है। उसका परिणाम वह भोगता है। इस आत्मा में उसका साथ कहाँ से आया ? समझ में आया ? अरे..! कभी विचार नहीं (किया)। यह मनुष्यपना मिला। खाना-पीना, भोग लेना, कमाना, धूल-पाँच-पचास लाख इकट्ठा हुआ, सब हो गया, मरकर जाये चार गति में। समझ में आया ?

यह आत्मा चीज क्या है ? आत्मा तो एकत्व है। यहाँ तो एकत्व (में) मात्र भोगने की बात की है। वास्तव में तो एकत्व विकार से भिन्न अपना स्वरूप स्वभाव से एकत्व है। समझ में आया ? पुण्य-पाप के विकल्प से, पर से, अपने स्वभाव से एकत्व है। अन्यत्व (भावना में) विभाव से पृथक् है, अन्यत्व है ऐसा बतायेंगे। यह तो व्यवहार से बात समझायी। इस जगत में अपना अकेला आत्मा जैसा शुभ-अशुभभाव करे, ऐसा शुभाशुभभाव का बन्ध पड़े, ऐसा शुभाशुभ संयोग मिले। उसको अकेला भोगता है। कोई साथ देता नहीं।

'यह सब अपने स्वार्थ के सगे हैं।' ये सब अपनी अनुकूलता देखे, तब तक रहे। अनुकूलता न लगे तो इसमें कुछ नहीं, चलो, चलो (करे)। मरने दो उसे। समझ में आया ? क्या करे ? कोई करे कैसे ? अपने स्वरूप के अभान से बन्ध किया, उस बन्ध का फल अकेला

भोगे। दूसरा करे क्या ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ये मूढ है न ! भान कहाँ है ? वह जानता है कि, मेरी स्त्री बहुत अच्छी है, दूसरे से ठीक है। मेरी स्त्री बहुत अच्छी, मेरा पुत्र बहुत अच्छा ऐसा मूढ अनादि से करता आया है। भान कहाँ है उसको कि मैं क्या हूँ और पर क्या है ?

'सीताजी' 'लक्ष्मण' को लेने गये। वहाँ तो बहुत प्रीति थी न ? 'लक्ष्मण' और 'सीता'। 'रावण' नरक में गये न ? 'रावण' और 'लक्ष्मण' नरक में है। 'सीताजी' देवलोक में हैं। सोहलवें स्वर्ग में है। अरे..रे...! 'लक्ष्मणजी' हमारी बहुत सेवा करते थे। 'रामचन्द्र', 'लक्ष्मण' और 'सीता' वनवास में गये थे। 'सीताजी' और 'राम' साथ में चलते थे। चलते-चलते रुक जाये वहाँ 'लक्ष्मणजी' जंगलमें से फूल-फल ले आये। भैया ! आप बैठिये। ऐसा कहते हैं, ऐसीसेवा करते हैं। नरक में गये हैं। वासुदेव थे, महापाप किया। अकेले (गये)। 'सीताजी' को लगा अरे...! ये नरक में (हैं)। वहाँ गये। शरीर को उठाया तो महादु:ख (पाया)। समझे ? अरे..! देव ! हमारे कर्म हम भोगते हैं, तुम चले जाओ। हम यहाँ से निकल नहीं सकते। क्या करे ? 'सीताजी' सोलहवे स्वर्ग में देव (हुए हैं)। वहाँ से गये। 'लक्ष्मणजी' को नरक की पीड़ा। ओ..हो...! शरीर को उठाया तो उठे नहीं, टुकड़ा हो जाये। पीड़ा.. पीड़ा.. पीड़ा.. 'लक्ष्मण' कहते हैं, हे देव ! तुम तुम्हारे स्थान में जाओ। हमारे कर्म हम अकेले भोगते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? 'रावण' भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। 'सीताजी' उनके गणधर होनेवाले हैं। वर्तमान में 'सीताजी' स्वर्ग में, 'रावण' नर्क में। ये परिणाम की विचित्रता। 'लक्ष्मण' भी अन्त में तीर्थंकर होनेवाले हैं। समझ में आया ? ओ..हो..हो...!

कहते हैं, अपना स्वरूप भूलकर जितना विकार हुआ, उस विकार का बन्ध हुआ, बन्ध के संयोग में अपने अकेले आत्मा ने भोगा। किसी का सहारा कुछ है नहीं। '**अपने स्वार्थ के सगे हैं।**' समझ में आया ? '**यह स्वार्थ के सगे हैं।**' वह भी स्वार्थ का सगा है और तू भी स्वार्थ का सगा है। तेरा स्वार्थ था, तब तक तूने किया, उसका स्वार्थ सधता है, तब तक वह करता है। सब अपने-अपने कारण से हैं।

'जीव का सदा अपने स्वरूप से अपना एकत्व...' देखो ! अपने स्वभाव से आत्मा एकत्व है। विकार और पर से तो आत्मा पृथक् ही है। अभी। कहाँ बैठे ? भगवान चैतन्यज्योत। **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।'** 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने कहा है न ? अरे.. ! जीवो ! तुम तुम्हारा स्वभाव, शुद्ध आनन्द, ज्ञानस्वभाव से एकत्व है औरपुण्य-पाप, शरीर से पृथक् है-ऐसी बात तुमको कहूँगा। आहा..हा... ! दिगम्बर सन्त 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज संवत ४९ में हुए। भगवान के पास गये और आकर कहते हैं, अहो.. ! जीवों ! **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।'** अपने निज वैभव से, अपने अन्तर निज बोध से मैं अपना एकत्व स्वभाव, परम शुद्ध स्वभाव से आत्मा एकत्व है और विकार, पुण्य-पाप, शरीर, कर्म से आत्मा पृथक् है, वही बताउँगा। वह कभी सुना नहीं। अनन्तकाल में वह बात तूने सुनी नहीं और ऐसा अनन्तकाल में एक समय भी तूने भेदज्ञान किया नहीं। भैया ! कैसा ध्यान करना ?

अपना शुद्ध स्वरूप, अपना आत्मा, अपना आत्मा, निज-अपना ज्ञान, दर्शन, अनन्त गुणस्वभाव से एकत्व है, अभेद है। अपने अनन्त गुण से आत्मा-गुणी अभेद है। समझ में आया ? और पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव, शरीर, कर्म से भगवान आत्मा पृथक् अर्थात् भिन्न है। ऐसी अन्तर में एकाग्रता करना उसका नाम शान्ति और धर्म है। आहा..हा... ! कभी भेदज्ञान किया नहीं। मैं पुण्य-पाप से भिन्न, मेरे स्वभाव से अभिन्न, शरीर से भिन्न, मेरे सम्यग्दर्शन से मैं अभिन्न (हूँ), ऐसा स्व-पर का विवेक कभी किया नहीं। समझ में आया ?

'जीव का सदा अपने स्वरूप से एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिये वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है;...' अपना अहित और हित अपने से होता है, पर से हित-अहित कभी होता नहीं। शरीर से नहीं, कर्म से नहीं, पर से हित-अहित कभी होता नहीं। अपने अभान से अहित और अपने भान से हित (होता है)। समझ में आया ? **'पर का कुछ नहीं कर सकता...'** पर का हित-अहित कर सकता नहीं। **'इसलिये जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका फल (आकुलता) वह स्वयं अकेला ही भोगता है,...'** यहाँ तो कहते हैं कि, शुभकर्म का फल भी आकुलता और अशुभभाव का फल भी आकुलता है। पुण्य करे तो भी उसके फल में पैसा-धूल मिले, स्वर्ग मिले तो भी वहाँ आकुलता है। सुख कहाँ धूल में है ? दो-पाँच-पच्चीस लाख मिले उसमें सुख है या नहीं ? कल्पना करता है, मूढ। सुख

वहाँ कहाँ से आया ? पैसे में सुख कहाँ ? वह तो जड़ है और पूर्व के शुभकर्म का फल है। उस पर लक्ष्य करता है, वह तो आकुलता है। समझ में आया ? अपना आनन्दमूर्ति भगवान, उसका कभी लक्ष्य किया नहीं तो उसे अकेली आकुलता ही भोगनी पड़ी।

मुमुक्षु :- आकुलता-आकुलता में फर्क है ?

उत्तर :- आकुलता आकुलता एक जाति की है, कोई तीव्र-मन्द हो उसमें क्या है ? वह भी अग्नि है। कोई ज्वाला अधिक जलती है, कोई थोड़ी जलती है।

'उसमें अन्य कोई-स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब पर पदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र है,...' वास्तव में तो भगवान आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि में पुण्य-पाप और शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब सब ज्ञान के ज्ञेय हैं, जानने की चीज है, अपनी चीज नहीं। समझ में आया ? एक सौ मकान हो, मकान, एक गली में.. गली कहते हैं ? क्या कहते हैं ? गली (में) सौ मकान है। देखनेवाला देखे कि सौ मकान है। लेकिन जहाँ उसका रहने का मकान है (उसे देखता है तो लगता है), यह मेरा। लेकिन कहाँ से आया तेरा ? वास्तव में तो सौ मकान हैं (उन्हें) आत्मा देखता है कि ये सौ हैं, बस ! मैं जाननेवाला हूँ। जाननेवाले को छोड़कर, यह मेरा (ऐसा एकत्व करता है)। लेकिन तेरा कहाँ से आया ? वह तो जानने की चीज आयी। जैसे ९९ मकान है, वैसा वह मकान है।

मुमुक्षु :- .. तिजोरी..

उत्तर :- तिजोरी किसके बाप की ? तिजोरी जड़ है, पैसा पर है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- .. नाम..

उत्तर :- नाम तो जड़ का नाम है, आत्मा का नाम कहाँ है ? वह तो परमाणु का अक्षर है, वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। ऐ..ई..! २२ मंजिल को बनानेवाला। वह तो जड़ है। तेरा कहाँ से आया ? वह ज्ञान जानता है। जैसे सारी दुनिया, 'मुम्बई' देखता है, ज्ञान में पूरा 'मुम्बई' दिखता है या नहीं ? वैसे 'मुम्बई' का वह मकान जिसमें रहता है, वह भी देखने की चीज हुई। मेरी कहाँ से आयी ?

मुमुक्षु :- वहाँ तो सोता है।

उत्तर :- सोता कहाँ है ? सो सकता नहीं। अपने क्षेत्र में है, परक्षेत्र में तो जाता नहीं। आहा..हा... ! ५० लड़के हो, ५० लड़के। देखे। उसका जहाँ देखे तो (लगे) यह मेरा। लेकिन मेरा कहाँ से आया ? वह तो ज्ञान में ज्ञेय है। उसका आत्मा और जड़ का शरीर। इसका कहाँ है ? आत्मा का है ? भाई ! कपड़ा देखे, उसके जैसा कपड़ा देखे। कपड़ा तो सौ, पचास पांचसौ पड़े हैं। ये कपड़ा मेरा। ये मेरी धोती, आया कहाँ से ? समझ में आया ? स्त्री की पहनने की साड़ी। ५० (साड़ी) हो। ये मेरी, ये मेरी।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- लेकिन है तो किसी की चीज है, अपनी तो है नहीं। है तो पर, मेरा कहाँ से आया ? ऐसे शरीर। सब का शरीर देखता है, वैसे यह शरीर देखता है। (दूसरे) शरीर, शरीर, शरीर है वैसा यह शरीर है। इसे देखता है, आत्मा देखता है कि यह है, यह है। उसमें यह शरीर मेरा आया कहाँ से ? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहाँ जाये ? अपने स्वरूप की दृष्टि करे और अपने में एकाग्रता हो, वह करना है, दूसरा क्या करना है ? कर क्या सकता है ? पर का क्या कर सकता है ? व्यापार-धंधे की क्रिया तो पर है, जड़ है। दुकान पर बैठकर दुकान की व्यवस्था चला सकता है ? नौकर-चाकर तो परपदार्थ है। कपड़े, गहने पर हैं। पर की अवस्था पर से होती है, क्या आत्मा से होती है ? बहुत सयाना आदमी हो, होशियार (हो तो) दुकान की लगाम हाथ में रखता है। हमारी लगाम (है)। धूल में नहीं है। लगाम का अर्थ तेरी ममता। परचीज कहाण तेरे में घूस गई है ? परचीज में तुम क्या कर सकते हो ? समझ में आया ? आहा..हा... ! **'सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र है,...'** उसका अर्थ आया, हाँ !

'इसलिये वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी है ही नहीं;...' स्त्री भी ज्ञान का (ज्ञेय है)। आत्मा ज्ञान है, वह ज्ञेय है-जानने योग्य है। जानने योग्य में से अधिकपना कहाँ से आया ?

दूसरा कहाँ से आया कि, यह मेरा ? वह तेरा भ्रम है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...! **'तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दु:खी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बूरा होना मानकर...'** पर के द्वारा अपना भला-बूरा मानकर। उसके द्वारा मेरा खराब हो गया, उसके द्वारा मेरा भला हुआ। वह तो राग-द्वेष हुआ। राग-द्वेष किया, दूसरा तो कुछ हुआ नहीं।

'पर के द्वारा अपना भला-बूरा होना मानकर पर के साथ कर्तृत्व-ममत्व का अधिकार माना है;...' मैं पर का अधिकारी करनेवाला और वह मेरा। मैं करनेवाला और वह मेरा। ऐसे कर्ता (और) ममता करता है, दूसरा तो कुछ है नहीं। आहा..हा...! **'वह अपनी भूल से अकेला दु:खी होता है।'** अपना स्वरूप ज्ञानस्वरूप भगवान, सच्चिदानन्द चैतन्य चमत्कार (हूँ)। चैतन्य चमत्कार सब चीज को जाने। कोई चीज को जाने बिना रहे नहीं। सब को जाने ऐसा स्वभाव (है), उसमें यह चीज मेरी, ऐसा कहाँ से लाया ? यहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ज्ञानी को ऐसी चीज दिखती है, उनको स्त्री भी होती है, अन्तर में जानते हैं कि, यह मेरी चीज है नहीं। बिलकुल मेरी चीज नहीं। मात्र थोड़ा आसक्ति का राग है तो लक्ष्य जाता है तो समझते हैं कि, यह राग भी पाप है। समझ में आया ?

संसार में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मी ९६-९६ हजार स्त्री के वृन्द में हो। (फिर भी जानते हैं कि), हमारा कोई नहीं। हमारा है वह हमारे पास है। हमसे दूर है, वह चीज हमारी नहीं और हम इस दूर चीज में कभी आये नहीं। आहा..हा...! इसका नाम सम्यग्दर्शन है। भैया ! आहा..हा...! ओ..हो..! आपके पास तो मोटर है। इसमें 'मोटर' शब्द आया था। लेकिन उन दिनों मोटर नहीं थी। इस ओर मोटरगाड़ी है, धूल में भी मोटरगाड़ी नहीं। पहले हाथी थे। हाथी, अश्व-घोड़ा। भगवान ! वह तो परद्रव्य है न ! प्रभु ! वह तो पर आत्मा है, शरीर जड़ है, उसमें तेरा कहाँ से आया ? तेरी छाप पड़ी है ? उसमें ट्रेडमार्ग है ? तेरी हो तो तुझ से दूर क्यों जाये ? तेरी हो तो तुझ से दूर न जाये। तेरा है वह तुझ से दूर नहीं है, वह आत्मा का आनन्द, ज्ञान आत्मा में है, वह तुझ से दूर नहीं। मालूम नहीं, मालूम नहीं।

'संसार में और मोक्ष में यह जीव अकेला ही है-ऐसा जानकर...' एकत्व (भावना) है न ? उस अपेक्षा से लेते हैं। **'सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्धात्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व**

मानकर...' अपने शुद्धात्मा के साथ ही सदैव एकत्व मानकर '**अपनी निश्चयपरिणति द्वारा...**' भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति मैं हूँ। पुण्य-पाप का विकल्प भी मेरा नहीं। होता है, आसक्ति है, दोष है। दोष मेरी निर्दोष दशा से भिन्न है। ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव की एकत्व परिणति-पर्याय के द्वारा '**शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है, यह एकत्व भावना है।**' उसका नाम भगवान एकत्व भावना कहते हैं।

५-अन्यत्व भावना

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ।।७।।

अन्वयार्थ :- (जिय-तन) जीव और शरीर (जल-पय ज्यों) पानी और दूध की भाँति (मेला) मिले हुए हैं (पं) तथापि (भेला) एकरूप (नहिं) नहीं है, (भिन्न-भिन्न) पृथक्-पृथक् हैं, (तो) तो फिर (प्रगट) जो बाह्य में प्रगटरूप से (जुदे) पृथक् दिखाई देते हैं ऐसे (धन) लक्ष्मी, (धामा) मकान, (सुत) पुत्र और (रामा) स्त्री आदि (मिलि) मिलकर (इक) (क्यों) कैसे (ह्वै) हो सकते हैं ?

भावार्थ :- जिसप्रकार दूध और पानी एक आकाश-क्षेत्र में मिले हुए हैं, परन्तु अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए-एकाकार दिखाई देते हैं, तथापि ये दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से) बिलकुल पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखाई देनेवाले ऐसे मोटरगाड़ी, धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते हैं ? अर्थात् स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है-इसप्रकार सर्व पदार्थों को अपने सि भिन्न जानकर, स्वसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह 'अन्यत्व भावना' है ।।७।।

अब अन्यत्व भावना।

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला;

तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा।।७।।

आहा..हा..! देखो ! चित्र भी है, हाँ ! चित्र में है देखो ! पानी और पय। **'जीव और शरीर पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं...'** पानी-जल और दूध। जल, जल (है)। दूध, दूध (है)। वैसे यह शरीर शरीर (है) और आत्मा आत्मा (है)। दोनों भिन्न चीज हैं। एक क्षेत्र में रहनेवाली हैं, परन्तु भिन्न हैं। जन्म के साथ उत्पन्न हुआ, आत्मा आया और साथ में शरीर आया वह भी चित्र है। कहते हैं कि, अपने से भिन्न चीज तो बिलकुल भिन्न ही है। आहा..हा...!

'जीव और शरीर (जल-पय ज्यों) पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं तथापि एकरूप नहीं है,...' समझे ? एकमेक नहीं हैं, एक नहीं है। **'(भिन्न-भिन्न) पृथक्-पृथक् हैं,...'** अन्यत्व भावना है, अन्यत्व। पहले एकत्व थी, यह अन्यत्व है। स्वभाव से एकत्व है, विभाव से पृथक् भिन्न है। समझ में आया ? **'तो फिर जो बाह्य में प्रगटरूप से भिन्न पृथक् दिखाई देते हैं...'** प्रगटरूप दिखाई देता है, ये स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, परिवार, धूल बाहर से दिखते हैं। जल और दूध की भाँति, यह (शरीर) भिन्न है। यह मिट्टी है, धूल-मिट्टी। भगवान अरूपी चैतन्यघन, आत्मा अरूपी ज्ञानघन, कन्द, अरूपी चैतन्यमूर्ति है। अरूपी स्फटिक चैतन्यरत्न। ये रूपी, जड़, मिट्टी, धूल (है)। दोनों एक जगह पर हैं, फिर भी भिन्न चीज हैं। प्रगट बाह्य में, प्रगट

दिखनेवाला (भिन्न है)।

‘लक्ष्मी, (धामा)...’ धाम.. धाम.. **‘मकान, पुत्र...’** देखो ! उसमें (दिखाया) है, हाँ ! देखो ! स्त्री और एक और पुत्र को खड़ा रखा है। धाम-मकान। समझे ? **‘मकान, पुत्र और (रामा)...’** रामा की रामा-स्त्री। स्त्री प्रगट-प्रत्यक्ष भिन्न है, तेरी कहाँ से आ गई ? क्या करें ? ये तो फकीर हो जाये तो ऐसा हो। क्या कहते हैं ? **‘स्त्री आदि मिलकर एक कैसे हो सकते हैं ?’** जब ये जल और दूध की भाँति शरीर और भगवान आत्मा दोनों भिन्न हैं, बिलकुल निराला, बिलकुल निराला। जैसे एक हीरा एक डिब्बी में रखा हो तो डिब्बी और हीरा भिन्न हैं। (वैसे) यह (शरीर) डिब्बी-धूल है। उसमें हीरा-भगवान चैतन्य पड़ा है, अरूपी भिन्न है। डिब्बी में जब डिब्बी और हीरा भिन्न है, तो बाहर की चीज तो भिन्न ही है। कोई कहता था, ऐसा तो फकीर हो जाये तो हो। फकीर ही है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

अन्यत्व है। आत्मा अपने स्वरूप से एकत्व है और उसके स्वभाव से अन्यत्व है, अन्य ही है। आत्मा से राग-द्वेष, शरीर, कर्म अन्य ही हैं। है ही अन्य। आहा..हा... ! मान्यता की खबर नहीं। श्रद्धा क्या है ? समझ में आया ? धर्म करो। क्या धर्म करे ? चीज क्या है समझे बिना क्या करना ? मैं आत्मा आत्मराम निजानन्द प्रभु अपने शुद्ध स्वभाव से एकत्व हूँ और विकार का भाव, पुण्य-पाप आदि मैं भिन्न हूँ। ऐसा अन्तर में निर्णय किये बिना स्वभाव की एकता कभी होती नहीं और एकता बिन कभी धर्म होता नहीं। समझ में आया ?

‘जिस प्रकार दूध और पानी आकाश-क्षेत्र में मिले हुऐ हैं...’ आकाश का एक क्षेत्र है न ? **‘परन्तु अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं...’** जल भिन्न है, दूध भिन्न है। **‘उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए-एकाकार दिखाई देते हैं, तथापि ये दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से...’** भिन्न हैं। क्योंकि अपना आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, शरीर का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे है नहीं। ये क्या ? अपना आत्मा, अपना द्रव्य अर्थात् वस्तु, गुण-पर्याय-शक्ति और अवस्था का पिंड भिन्न है। उसकी अवगाहन-चौड़ाई शरीर से भिन्न है। अपनी स्वदशा भिन्न है। स्व त्रिकाली शक्ति भिन्न है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा नहीं है। और

परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा उसमें नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

इस अँगूठी में यह अँगूली नहीं है। यह अँगूली पदार्थ है, उसका इतना क्षेत्र है। उसकी यह वर्तमान अवस्था है। उसकी इतनी शक्ति है। इस अँगूली में यह (अँगूठी) नहीं और (अँगूठी में अँगूली) नहीं। ऐसे आत्मा में देह नहीं और देह में आत्मा नहीं। कब ? अभी। एकमेक ऐसा मान रखा है, न !

ममुक्षु :- ऐसा विचार करने की आदत भी नहीं है।

उत्तर :- आदत नहीं है, अनादि की अज्ञान की आदत हो गई है। मनुष्यपने जन्म लिया, खाना-पीना, कमाना, भोग करना और मर जाना। जाओ, चौरासी में। आहा..हा... !

भाई ! यहाँ तो 'दौलतरामजी' 'छहढाला' (में) कहते हैं, तेरा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल पर से बिलकुल भिन्न है और उसका-परमाणु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (भिन्न है)। यह रजकण-परमाणु द्रव्य है। उसमें वर्ण, गन्ध गुण है। उसकी अवस्था है, उसकी चौड़ाई है, वह उसका क्षेत्र है। (दोनों) कभी एक नहीं होते। जब जीव और शरीर भी पृथक्-पृथक् है, **'तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखाई देनेवाले ऐसे मोटरगाड़ी...'** आपकी डाली है, लो ! ऐ..ई.. ! उसके लड़के के पास लाख रूपये की मोटर है। क्या कहते हैं मोटर को ? शेवरलेट। अपने को तो नाम भी नहीं आता। उस दिन सामने आया था न ? 'भिवंडी.. भिवंडी'। लाख रूपये की मोटर लेकर आया था। वहाँ दूसरा भी एक मोटर लेकर आया था। दो आदमी लाख रूपये की मोटर लेकर आये थे। एक कहे, मेरी गाड़ी में बैठिये, दूसरा कहे, मेरी गाड़ी में बैठिये। ये बैठ गये, सुन न ! आहा..हा... ! मोटरकार जड़ पर्याय है। धन धूल है, मकान धूल का ढिगढेर है।

'बाग (बगीचा) पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते हैं ? अर्थात् स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है-इसप्रकार सर्व पदार्थों को अपने से भिन्न जानकर...' भगवान आत्मा मैं वस्तु शुद्ध अनन्त गुण का पिंड हूँ-ऐसी दृष्टि स्वसन्मुख करके श्रद्धा-ज्ञान करना उसका नाम धर्म कहने में आता है। **'सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है...'** अन्तर में एकाग्र हो, पर से पृथक् करके तो शान्ति की वृद्धि होती है और अशान्ति का नाश होता है। इस भावना का यह फल है। (विशेष कहेंगे..) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

६-अशुचि भावना

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी ।।८।।

अन्वयार्थ :- जो (पल) मास (रुधिर) रक्त (राध) पीव और (मल) विष्टाकी (थैली) थैली है, (कीकस) हड्डी, (वसादितैं) चरबी आदिसे (मैली) अपवित्र है और जिसमें (घिनकारी) घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले (नव द्वार) नौ दरवाजे (वहैं) बहते हैं (अस) ऐसे (देह) शरीर में (यारी) प्रेम-राग (किमि) कसे (करै) किया जा सकता है ?

भावार्थ :- यह शरीर तो माँस, रक्त, पोव, विष्टा आदि की थैली है और वह हड्डियाँ चरबी आदी से भरा होने के कारण अपवित्र है; तथा नौ द्वारों से मैल बाहर निकलता है, ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है ? यह शरीर ऊपर से तो मक्खी के पंख समान पतली चमड़ी में मढा हुआ है, इसलिये बाहर से सुन्दर लगता है, किन्तु यदि उसकी भीतरी हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं; इसलिये उसमें ममत्व, अहंकार या राग करना व्यर्थ है।

यहाँ शरीर का मलिन बतलाने का आशय-भेदज्ञान द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान कराके, अविनाशी निज पवित्र पद में रुचि कराना है, किन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करवाने का आशय नहीं है। शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुद्धिमय है; और यह भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा अपनी पर्याय में शुचिता की (पवित्रता की) वृद्धि करता है, यह 'अशुचि भावना' है।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १२, शुक्रवार
दि. ०४-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-८,९,१०. प्रवचन नं. ४२

अशुचि भावना। पाँच भावना हो गयी। यह अधिकार क्या है ? जिसे आत्मदर्शन, श्रद्धा-ज्ञान हुआ है कि यह आत्मा अनन्त आनन्द के रसस्वरूप आत्मा है-ऐसा भान और श्रद्धा-ज्ञान हुआ है, वह ऐसी बारह भावनाएँ भाता है। समझ में आया ?

१. अनित्य भावना :- मैं तो नित्य आनन्द हूँ। ये शरीर आदि संयोग, ये सब क्षणिक, अनित्य-थोड़े काल रहनेवाले हैं। मेरा और इनका कोई सम्बन्ध नहीं है-ऐसी अनित्य भावना भाने से आत्मा शुद्ध नित्य ध्रुव तरफ सन्मुख होने से शुद्धि की वृद्धि होती है।

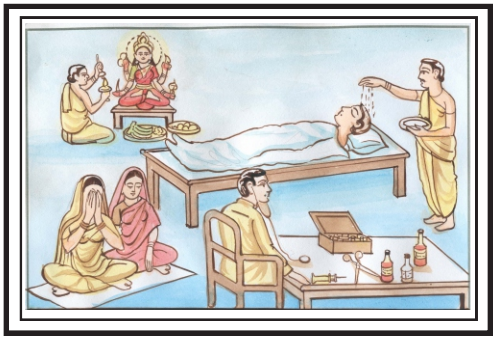

२. अशरण भावना :- मेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्य, वही मुझे शरण है; उसके अतिरिक्त कोई शरण (नहीं)। शुभ-अशुभराग भी शरण नहीं; स्त्री-पुत्र, परिवार, देहादि कोई शरण नहीं। इस प्रकार जिसने अन्तर में स्वभाव शुद्ध चैतन्यतत्त्व दृष्टि में, ज्ञान में लिया है, वह बारम्बार ऐसी भावना करता है। कहो, समझ में आया कुछ ?

३. संसार भावना :- तीसरी आ गयी न ? अनन्त बार संसार में भटका, परन्तु कोई इस आत्मा को शरण है नहीं। यह संसार कहा था न ? चार गति में दु:ख भरा है-ऐसा जाने। आत्मा के स्वरूप में आनन्द है। देखो ! यह शरीर से सुखी वह सुखी (सब बातें)। पूछते थे न कल ?

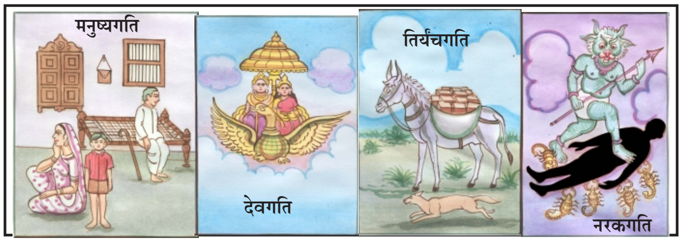

किसने कहा ? कल दो बार बोले, कहा, कोई मूढ जीव ने-आत्मा के शत्रु ने ऐसा लिखा लगता है। 'शरीर से सुखी, हव सुखी सब बातें'। समझ में आया ? आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, वही संसार में सुख का कारण और शरण है। चार गति अकेले दु:ख का ही कारण है। समझ में आया ? नरक की गति हो, मनुष्य की गति हो, स्वर्ग की गति हो, (तिर्चंय की गति हो); चारों ही गति दु:खरूप है। एक आत्मा में ही आनन्द है, अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। समझ में आया ? फिर कहा –

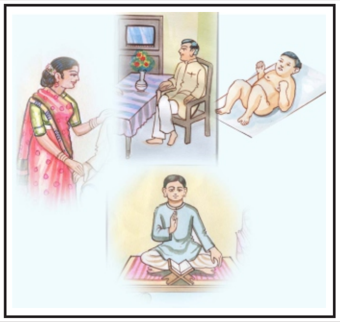

४. एकत्व भावना :- आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से एकत्व-अकेला है। एकत्व में कोई परचीज इसकेसाथ सम्बन्ध में नहीं है। आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दमूर्ति,, वही अपने स्वभाव से एकत्व है और पृथक्त्व (अर्थात्) पुण्य-पाप और रागादि, ये आत्मा से पृथक् है-ऐसा ज्ञानी-धर्मी अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि रखकर ऐसी भावना भाता है। समझ में आया ?

५. अन्यत्व भावना :- जैसे पानी और दूध भिन्न-भिन्न है, दोनों एक नहीं है। इसीतरह शरीर और आत्मा दोनों एक नहीं है; अन्यत्व भिन्न है। दूध, वह दूध है और पानी, वह पानी है। ऐसे ही आत्मा, आनन्दस्वरूप दूध के समान है (और) शरीरादि, यह जड़ पानी के समान है, दोनों अत्यन्त भिन्न चीजें हैं-ऐसी धर्मीजीव को बारम्बार अन्तर में भावना करना।

६. अशुचि भावना :- छठवीं आज आयी है। '**पल, रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली;...**' यह शरीर। यह शरीर कैसा है ? –उसकी भावना की बात करते हैं। शरीर से रहित भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की थैली है। यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की थैली है। यह शरीर मल–मूत्र की थैली है। आहा..हा...! शरीर को सुनाते हैं न यह ? किसे सुनाते हैं ? आत्मा को सुनाते हैं कि तू ऐसा है और शरीर ऐसा है–यह तू जान। शरीर को–जड़ को कहाँ भान है ? वह तो मिट्टी है–जड़ है।

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥८॥

पहले ही आया, यह तुमने लिखा है इसका।

अन्वयार्थ :– यह शरीर '**मांस, रक्त, पीव और विष्ठा की थैली है।**' और यह एक ऐसा संचा है कि चाहे जो चीज इसमें डालो कि विष्ठा उत्पन्न करावे–ऐसा यह संचा है। दुनिया में ऐसा दूसरा कोई संचा नहीं होगा। ठीक है ? चार शेर घी पिलाया हुआ मैसूर खाये, आठ घण्टे में विष्ठा हो–ऐसा यह एक संचा है। दूसरे में एकदम विष्ठा नहीं हो जाती। ऐसा यह शरीर '**मांस, रक्त, पीव और विष्ठा की थैली है।**'

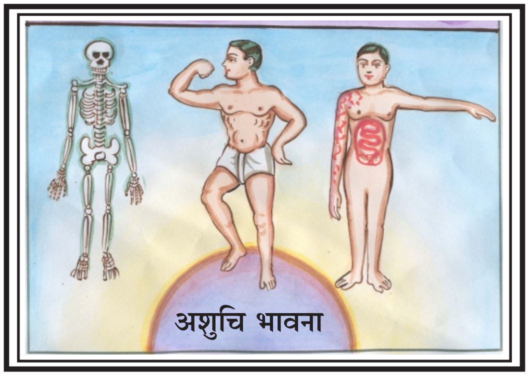

देखो ! यह चित्र दिया है न पहले ! देखो ! यह हड्डियाँ, अकेली हड्डियाँ, शरीर में अकेली यह हड्डियाँ देखो ! फिर ऊपर यह सब चरबी है। ऊपर चरबी भरी हुई है। अन्दर अकेली हड्डियाँ। पृथक् हड्डियाँ, उनमें चरबी के, मांस के पिण्ड भरे हैं। इसमें देखो ! अन्दर सब बताया है, कुछ अन्तड़िया और ऐसी अन्तड़िया और यह सब। भगवान आत्मा इस शरीर से अत्यन्त भिन्न अरूपी चैतन्य स्फटिकरत्न, यह चैतन्य स्फटिकरत्न अत्यन्त निराला है। कहो, समझ में आया कुछ ?

माँस, रक्त, पीव, यह विष्ठा की थैली और विष्ठा को उत्पन्न करनेवाला संचा। इसके लिये दुर्लभ कहा है ? कहते हैं कि यह धर्म समझने का यह निमित्तरूप कारण है। अब धर्म समझ तो इसे दुर्लभ कहा जाता है। (श्रीमद्‌जीने) नहीं कहा ? 'तो भी अरे भवचक्र का फेरा नहीं एक ही टला'–यह दुर्लभ कहा। ऐसा मनुष्यपना मिला और भव के चक्र का फेरा न मिटे तो तूने क्या किया ? समझ में आया ? कुछ आया अवश्य था.. कोई हिन्दी था, कोई घोड़ागाड़ी में आया था। कहो, इसमें समझ में आया ? अभी तो हिन्दी प्रतिदिन आते हैं।

हड्डियाँ देखो ! यह हड्डियाँ। अकेली हड्डियों का ढाँचा। यह चरबी निकाल दो तो अकेली हड्डियों का ढाँचा। ऐसे देखो, थूकने को खड़ा न रहे–ऐसा यह दिखाया है। देखो ! छिद्र, हड्डियों के छिद्र यह।

'हड्डी (वसादितैं) चरबी...' यह चरबी भरी है, ऊपर यह सब, यह चरबी है ऊपर, यह सब। अन्दर हड्डियाँ, यह चरबी और एक चमड़ी गन्ने के ऊपर की छाल जितनी यह चमड़ी ऊपर लपेटी गार की है। गार कहते हैं न ? वह लपेटी है। एक मक्खी के पैर जितनी पतली, पैर नहीं पंख। यह निकाल तो दो (कोई) थूकने को खड़ा न रहे–ऐसा यह शरीर है। अब, इस शरीर से सुखी तो सुखी सब बातें... मूढ है। मूढ है या नहीं ?

मुमुक्षु :– तो फिर सुखी किस प्रकार होता है ?

उत्तर :– सुखी तो आत्मा से सुखी, वह सुखी सब बातें–यह आयेगा। संवर (भावना) में आयेगा। देखो ! समझ में आया ? ओ..हो..! जिसकी नजर करते ही निहाल हो जाए–ऐसी निधि आत्मा, उसकी कीमत नहीं होती। जिसे याद करने से, जिसके स्मरण में स्वभाव याद आने पर स्वभाव की शान्ति प्राप्त होवे–ऐसा आत्मा है। ओ..हो..हो...! उसमें अनन्त शान्ति पड़ी है, अनन्त आनन्द पड़ा है, यह अकेले आनन्द की ही खान है। जिसे याद करने मात्र से विकार भूलकर स्वभाव याद आवे–ऐसी शान्ति का स्थल, उसे भूलकर इस देह को सुख का कारण (मानता है)। मूढ के गाँव कोई दूसरे बसते होंगे ?

मुमुक्षु :– नग्नपना वह अर्थात्...

उत्तर :– नग्न बाहर से या अन्दर से ?

मुमुक्षु :- आ जाएगा..

उत्तर :- आ जाएगा अपने आप। वही कहते हैं कि अन्दर के आनन्दकन्द के अनुभव की दृष्टि बिना, तेरे शरीर की अशुचिता का ज्ञान करानेवाला, जाने बिना अशुचि है-ऐसा जानेगा कौन ? अकेला नग्न होकर मर गया अनन्तबार। समझ में आया ? यह आयेगा। इसके बाद आस्रवभावना में यह बात आयेगी। शुभ-अशुभभाव अनन्तबार किये, अनन्तबार किये। यह आस्रवभाव है, यह आत्मभाव नहीं। आहा..हा... !

लोहे की खान खोदने की .. साथ में सोने की खान खोदने की नजर करने का भी इसे समय नहीं मिलता। इसीतरह यह माँस, हड्डी, चरबी से भरा हुआ तत्त्व (है)। यदि उन्हें अलग-अलग करो, एक तपेले में डालो इसके हाड़, एक में डालो इसकी आंत, एक में डालो इसका रक्त और एक में डालो इसका माँस, इसमें से (शरीरमें से) अलग करे (डालो), भाई ! और एक में यह ऊपर की उतरी हुई चमड़ी डालो.. आहा..हा... !

भगवान आत्मा ! एक ओर ऐसी नजर करे तो शान्ति, दूसरी ओर नजर करे तो आनन्द, तीसरी ओर नजर करे तो अनन्त बेहद वीर्य-ऐसा भगवान जिसके आत्मा में अपना स्वभाव है... समझ में आया ? ऐसा शुचि-पवित्रस्वरूप है। यह (शरीर) अशुचि है, यह अशुचि है, भगवान शुचि है। आता है न ७२ गाथा में ? 'समयसार' ७२ गाथा। अशुचि, जड़ और दु:खकारी, भगवान शुचि, सुखकारी और चेतन। आहा..हा..! ऐसा परन्तु ऐसा और ऐसी लगनी को लगन लगा दी और मानो कि यह देह ही मैं हूँ और मानों इसमें भिन्न तो कोई मैं हूँ ही नहीं; इसे ठीक तो मुझे ठीक.. दुश्मन को ठीक तो मुझे ठीक... यह नग्न तो आत्मा को लाभ।

वह मूढ नहीं कहता था ? वह राजा नहीं ? वह 'रतलाम' का। कुर्सी में कौन बैठे ? भगवान आत्मा अन्दर अरूपी है, अपने असंख्य प्रदेश में विराजमान है, वह किसी कुर्सी या शरीर के परमाणुओं का भी स्पर्श नहीं करता। आहा..हा... ! 'रतलाम' के दरबार को बुखार आये तो उसे ऐसा नहीं कहा जाता कि साहेब ! आपको बुखार आया है। आपके दुश्मन को बुखार आया है, वैद्य को बुलायेंगे ? सुना था न ? पहले कहा था। 'रतलाम', अभी तो छोटा राजा है, दस लाख.. दस लाख की आमदनी.. एकदम साधारण.. परन्तु वह ऐसे मान में चढ़ा है

कि उसे बुखार आवे (तो) डॉक्टर, दूसरे दीवान ऐसे नहीं कहते कि साहेब ! आपको बुखार आया है तो वैद्य को बुलायेंगे ? आपके दुश्मन को बुखार आया है तो वैद्य को बुलायेंगे ? आहा..हा.. ! बात उसकी सत्य है, परन्तु उसे वह पता नहीं है। यह चैतन्य और वह जड़ शरीर- दोनों शत्रु मित्र है। दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न है।

यह चैतन्य और यह अचेतन, यह आनन्द और वह दुःख का निमित्त। हड्डी, माँस से भरा हुआ (शरीर), भगवान अनन्त शान्ति से भरा हुआ, अत्यन्त विरुद्ध दो बात है। आहा..हा... ! परन्तु कौन भावना भाये ? जो शुचिस्वरूप भगवान पवित्र धाम आत्मा और चैतन्यमूर्ति और आनन्द का धाम-ऐसा जिसे अन्तर में, रुचि में, दृष्टि में, पोषाण में अन्दर जचा है.. समझ में आया ? जब-जब विकल्प से विचार करे, अहो.. ! यह आत्मा शुद्ध ज्ञानघन आनन्दस्वरूप अनन्त-अनन्त बेहत चैतन्यस्वभाव के अविनाभावी गुणों से भरा हुआ तत्त्व है। ऐसे तत्त्व में शुचिपना ही भरा हुआ है। इस तत्त्व (शरीर) में अकेली अशुचिता भरी हुई है। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

'हड्डी (वसादितै) चरबी इत्यादि से अपवित्र है और जिसमें घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले नौ दरवाजे...' नौ दरवाजोंमें से मैल झरता है। भगवान के असंख्य प्रदेशोंमें से आनन्द झरे-ऐसा आत्मा है। असंख्य प्रदेश का धाम, अनन्त गुण का स्थान, असंख्य प्रदेश में शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. के झरने झरे-ऐसा यह आत्मा और यह (शरीर) नव द्वारों से मैल झरे (-ऐसा), समझ में आया ? दो आंखे है न ? दो कान, नाक, एक नाक के दो छिद्र, एक मुँह और पेशाब या मल यह छिद्र-ऐसे नौ छिद्रों से मैल झरता है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी प्रभु, जिसके एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त अपरिमित अचिन्त्य अपरिमित शान्ति से भरपूर तत्त्व है । जिसकी नज़र करने से, जिसकी नज़र करते निहाल होवे। समझ में आया ? यह नज़र नहीं होती.. आहा..हा... ! ऐसी चीज को न देखकर उसकी भावना न करके, यह अकेला शरीर मेरा, उसे (अपना) करता है। (वह) मूढ है। यह अशुचि भावना करने में शरीर के प्रति द्वेष नहीं है। समझ में आया ? द्वेष के लिये नहीं; ज्ञान करने के लिये है कि मैं आत्मा आनन्द से भरपूर सत् पदार्थ हूँ। समझ में आया ? शरीर में **'नौं दरवाजे बहते हैं..'** समझ में आया ?

'ऐसे शरीर में प्रेम-राग कैसे किया जा सकता है ?' अरे..! यारी कैसे करता है ? देखो ! यह ग्रन्थकार कहते हैं, भाई ! यह शरीर मिट्टी का पिण्ड, वसा या चरबी का घर (है), उसमें तुझे प्रीति कैसे होती है ? कहो, भाई ! है इसमें ? लिखा है ? अरे..! भगवान आत्मा तू.. तेरे घर की बात करते केवली पूरी न कहे–ऐसी तेरी चीज और उसका तुझे प्रेम नहीं और इस धूल का प्रेम है, भाई ! तुझे किस रास्ते जाना है ? कुछ समझ में आया ? जहाँ बिच्छु और सर्प जहाँ पड़े हैं, उस रास्ते जाकर डंक खाना है तुझे ? क्या करना है ? आहा..हा...!

भगवान आत्मा, जिसमें एकाग्र होने में किसी का आधार–शरण आवश्यक नहीं; शरीर निरोगी हो, मन ठीक हो, वाणी ठीक हो, शरीर ऐसे बैठा हो–उसे किसी की आवश्यकता नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा, उसकी श्रद्धा के ज्ञान की भावना न करके, कहते हैं, अकेले शरीर में प्रेम करके पड़ा है, भाई ! वह प्रीति छोड़। क्यों प्रीति करता है ? ऐसा है न ?

भावार्थ :- 'यह शरीर तो माँस, रक्त, पीव, विष्ठा आदि की थैली है...' आहा..हा...! मानों माँस के टूकड़े दें, बटका भर ले, उसमें से क्या करे ? चूसे ? आहा..हा...! भाई ! यह तो हड्डी, माँस, विष्ठा चूसने जैसा है, कहते हैं। **'अपवित्र है तथा नौं द्वारों से मैल बाहर निकालता है-ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है ?'** भाई ! उसकी रुचि कैसे की जा सकती है ? समझ में आया ? और रुचि किये पीछे आसक्ति भी कैसे की जा सकती है ? समझ में आया ?

'यह शरीर ऊपर से तो मक्खी के पंख समान चमड़ी से मढ़ा हुआ है।' अकेली चमड़ी से शरीर को खड़ा रखे। ऐसा सुन्दर लगे... समझ में आया ? सोने के पत्ते नहीं आते ? क्या कहलाते हैं ? वर्क.. वर्क। हड्डिया खड़ी रखकर सोने का वर्क लगाया हो। यह थैली, हड्डियाँ निकालकर डाले हों और उस पर सोने का वर्क लगाया हो, समझ में आया ? ऐसे यह सोने का वर्क और चमड़ी लगाई है अन्दर में। अन्दर में तो अकेली हड्डियाँ, चमड़ी है, भाई ! अन्दर भगवान आत्मा अखण्ड आनन्द का कन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसकी दृष्टि करके उसकी भावना कर। इसमें है कुछ ? धूल भी नहीं कुछ। आहा..हा..! तो क्या होगा उसमें ? भाई ! आठ–आठ महिने तक ऐसे पैर टाँग कर नहीं पड़े थे ? धूल में भी सुख नहीं था। पैर टूटा तब आठ महिने

ऐसे (रहे थे), धूल में भी सुख नहीं है। आहा..हा... !

'उसकी भीतर की हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुयें भरी हैं; इसलिये उसमें ममत्व, अहंकार या राग करना व्यर्थ है।' काम तेरा कुछ सरे-ऐसा नहीं है, बापू ! आहा..हा.. ! ऐसा एक भगवान तू, तेरी बात करते नजराना मिले, आहा..हा... ! समझ में आया ? उसकी प्रीति से बात सुनने से भी निहाल हो-ऐसी यह चीज है। इसकी लगाई। यह शरीर अच्छा नहीं, हाँ ! इस शरीर के दुःख से दुःखी, हाँ ! और शरीर के सुख से सुखी.. मूढ.. कितनी मूढता रगड.. रगड.. रगड.. रगड.. (करनी है) ? अब उसके फलरूप से वापस इससे अनन्तगुने दुःखो में अवतार (लेगा)। फिर अनन्तगुने दुःखों में (जाएगा)। वे नरक के दुःख भगवान जाने और वह भोगे।

ऐसी चार गतियों के दुःख इसने भोगे हैं। पता नहीं है पता। वर्तमान देखा वहाँ हो गया.. इसे सुविधा और मुझे नहीं; इसे पैसा और मुझे नहीं; (इसे) निरोगता कूदता है, लोही से कूदे सांदडा जैसा और मेरा तो पैर भी ऊँचा नहीं होता। (एक मुमुक्षु कहता था)-यह सब निरोगी, पापी है और हम यह नहीं तो भी.. आहा..हा... ! विपरीत दृष्टि, अब किसे अच्छा कहना ? शरीर.. वहाँ से एकाकार होकर जायेगा नरक में, जाएगा निगोद में, कहीं वापस मनुष्य का पता अनन्तकाल में नहीं लगेगा। किसकी महिमा करता है तू ? है ?

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- हाँ, अरे..! हिरण को मारकर ऐसे उछले अंग्रेज। हमारे वहाँ है न ? 'चमारगाम'। हिरण को मारक उछलकर पड़ा वह। अपने वे... होते हैं न ? यह ऐसा हाथ डालकर, ऐसे हाथ डालकर पेन्ट में हाथ डालकर ऐसे उछला। 'चमारगाम' नाम है, अभी 'नबीरपुर' कर दिया है। 'पालेज' के पास है। आहा..हा... ! नरक का नमूना तो यहाँ से दिखता है या नहीं ? नमूना लेकर जाए नरक में। धर्म का नमूना यहाँ से शान्ति का वेदन करते हुए मोक्ष में चला जाए। वह नमूना लेकर जाता है। यो हीं मुफ्त में जाता है कोई ? समझ में आया ? आहा..हा.. !

'यहाँ शरीर को मलिन बतलाने का आशय भेदज्ञान द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान

कराके...' भिन्न बतलाना है। अशुचि करके द्वेष नहीं करना है। वह तो स्वतन्त्र पदार्थ जगत की चीज है। जगत के परमाणु यहाँ आकर... वे कोई आत्मा के नहीं है और आत्मा के कारण आये भी नहीं है। आत्मा के कारण आये भी नहीं है। वे उनकी योग्यता के कारण यह क्षेत्रांतर पर्याय पाकर परिणमित हो रहे हैं। समझ में आया ? आहा..!

'परन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव कराने का आशय नहीं है। शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और यह भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव...' सच्ची दृष्टि जीव, पहली मिथ्यादृष्टि है। शरीर से ठीक, वह ठीक-यह मिथ्यादृष्टि है। सच्ची दृष्टि जीव-भगवान आत्मा, राग और शरीर से निराला है-ऐसी जिसकी दृष्टि है-ऐसा धर्मी **'अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा..'** स्वभाव की सन्मुखता द्वारा **'अपनी पर्याय में शुचिता की (पवित्रता की) वृद्धि करता है, वह अशुचि भावना है।'**

अब आस्रव भावना। देखो !

७-आस्रव भावना

जो योगन की चपलाई है आस्रव भाई;
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे ॥९॥

अन्वयार्थ :- (भाई) हे भव्य जीव ! (योगन की) योगों की (जो) जो (चपलाई) चपलता है (तातै) उससे (आस्रव) आस्रव (ह्वै) होता है, और (आस्रव) वह आस्रव (घनेरे) अत्यन्त (दु:खकार) दु:खदायक है, इसलिये (बुधिवन्त) बुद्धिवान (तिन्हें) उसे (निरवेरे) दूर करें।

भावार्थ :- विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी दशा जीव में होती है, वह भाव आस्रव है; और उस समय नविनी कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्य आस्रव है। (उसमें जीव की अशुद्ध पर्यायें

निमित्तमात्र हैं)।

पुण्य और पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।

पुण्य:- दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि शुभराग सरागी जीव को होते हैं, वे अरूपी शुभभाव हैं, और वह भावपुण्य है। तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्यपुण्य है। उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।

पाप :- हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं, वह भावपाप है, और उस समय कर्मयोगय् पुद्‌गलोंका आगमन होना सो द्रव्यपाप है। (उसमें जीवकी अशुद्ध पर्यायें निमित्त हैं।)

परमार्थसे (वास्तवमें) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्माको अहितकर है, तथा वह आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। द्रव्यपुण्य-पाप तो परवस्तु हैं वे कही आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते-ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इसप्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है-उसे 'आस्रव भावना' कहते हैं।।९।।

जो योगन की चपलाई तातैं ह्वै आस्रव भाई;
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे।।९।।

देखो ! यह एक विशेषण दिया।

अन्वयार्थ :- 'हे भव्य जीव ! (योगन की चपलाई)...' इस आत्मा के प्रदेशों का कम्पन, वह नये आवरण आने का कारण है। उसमें जितने प्रमाण में कषाय के परिणाम (होते हैं); कम्पन है; वह तो परमाणु आने का कारण और उस कम्पन में जितने प्रमाण में शुभ-अशुभभाव की कषाय है, इस नये आस्रव का मूल कारण वह है, मूल कारण वह है। कम्पन है, वह परमाणुओं के आने का निमित्त है और उसमें जितना यहाँ कषायभाव है, उतने परमाणु में स्थिति और रस (-अनुभाग) पड़ता है। समझ में आया जैसे, नाव में छिद्र हो और पानी भरे,

वैसे आत्मा में जितने प्रमाण में शुभ-अशुभभाव का मैल-छिद्र पड़ा, उतने नये आवरण आते हैं। समझ में आया ?

'(योगों की) जो चंचलता है, उससे आस्रव होता है...' आस्रव अर्थात् एक तो परिणाम में स्वयं भाव आस्रव और नये रजकण आये, वह द्रव्य आस्रव। समझ में आया ? शुभ और अशुभ कषाय के भाव, वे भाव-आस्रव, भाव मलिन आस्रव (है), वे स्वरूप में नहीं और प्रगट हुए तथा उनके कारण नये रजकण आये, उनमें स्थिति रस आदि पड़े, वह द्रव्य-आस्रव है। समझ में आया ?

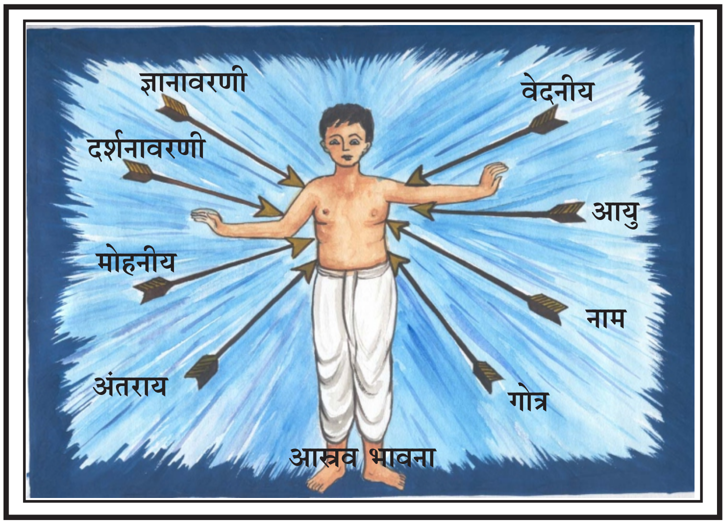

'आस्रव होता है और वह आस्रव अत्यन्त दुःखदायक है...' देखो ! ये शुभ और अशुभभाव दुःख के करनेवाले हैं। दोनों, दोनों कहा न ? देखो न ! शुभ और अशुभभाव.. भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप से विपरीत पुण्य-पाप के भाव, दोनों विकार-आस्रव यह प्रत्यक्ष वर्तमान दुःखरूप है और उसका बन्धन-रजकण, वे भी भविष्य में दुःख का निमित्त है। समझ में आया ? इसलिए **'(बुद्धिवंत) बुद्धिमान...'** मूढ का क्या कहना-ऐसा कहते हैं, भाई ! तेरा संसार में भटकने का अन्त लाना हो.. समझ में आया ? और मोक्ष की ओर तुझे आना हो (तो उसके लिये यह बात है)। ये शुभ-अशुभभाव दुःखदायक है। इनसे रहित भगवान शान्ति का कारण है।

'इसलिए बुद्धिमान उसे दूर करे।' शुभ-अशुभभाव को रोके, शुभ-अशुभभाव को रोके। किस प्रकार ? अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर इन भावों को रोके। समझ में आया ?

महान पदार्थ प्रभु ! सिद्ध का पिण्ड प्रभु आत्मा का आश्रय लेकर शुभ–अशुभभाव को रोके, दु:खदायक को रोके। कहो, कुछ समझ में आता है ? ए.. देवानुप्रिया ! इस शुभभाव को दु:ख का कारण कहा। नग्नपना–फग्नपना कहाँ गया ? यह तो पहले कहा था, उसके सामने यह (कहा)। नग्न हो जाओ अब.. क्या नग्न (हो) ? नग्न ही है सब, कौन नहीं ? शरीर की अवस्था नग्न कौन करे ? समझ में आया ? भगवान आत्मा इस शुभ–अशुभवृत्ति के वस्त्र रहित है। शुभ और अशुभराग की वृत्तिरहित भगवान है। ऐसे आत्मा की दृष्टि कर और ऐसे शुभाशुभभाव को रोक। समझ में आया ? '**निरवेरे**' अर्थात् रोके ऐसा।

भावार्थ :- 'विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपीदशा जीव में होती है...' वह जीव में होती है। दया, दान, व्रत का शुभभाव; हिंसा, जूठ का अशुभभाव, वह आत्मा की अवस्था में होता है। '**उसे भाव आस्रव कहते हैं...**' वह भाव आस्रव, वास्तव में तो वही आस्रव है। '**और उससमय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं स्वत:..**' स्वयं स्वत: कर्म का एक क्षेत्र में आना होता है, '**वह द्रव्य-आस्रव है।**' रजकण आते हैं, वह (द्रव्यास्रव है)। '**(और उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।)** ' शुभाशुभभाव (निमित्तमात्र है)। नये रजकणों का उनके उपादान के कारण आना और शुभाशुभभाव का उसमें निमित्तकारण होना। यह शुभाशुभभाव ही आत्मा को दु:खदायक है।

'**पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।**' समझ में आया ? '**योगन की चपलाई**' कहा न ? दोनों को रोको। शुभ–अशुभभाव अब इसमें ऐसी स्पष्ट बात तो लिखी है, फिर भी वह कहते हैं कि नहीं। ऐ..ई..! यह छहढाला का अर्थ 'सोनगढ़' ने किया है, उसमें नहीं, अमुक नहीं (–ऐसा कोई कहते हैं)। परन्तु यह क्या कहते हैं वह ? '**बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे, आस्रव दुखकार घनेरे, बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे।**' शुभ–अशुभभाव तो आस्रव है।

मुमुक्षु :– परम्परा...

उत्तर :– किसमें परम्परा ? धूल में ? परम्परा अर्थात् वर्तमान में नहीं, परन्तु भविष्य में इन्हें मिटायेगा, तब होगा–ऐसा परम्परा (का अर्थ है)। समझ में आया ? यह ऐसा कहते हैं। पाप के आस्रव परिणाम से परम्परा धर्म होता होगा ? आस्रव परिणाम परम्परा से अनर्थ का

कारण है–ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने 'बारह अनुप्रेक्षा'में तो लिखा है। विकार, विकार, वह विकार अर्थ का कारण होगा ? विकार अनर्थ का कारण है, लो ! समझ में आया ? शुभ-अशुभभाव दोनों अनर्थ का कारण है। बन्ध का कारण है। पुण्य और पाप दोनों (बन्ध का कारण है)। पुण्य सोने की बेड़ी, पाप लोहे की बेड़ी–लिखा है, हाँ ! उसमें, (समयसार) पुण्य–पाप अधिकार में (आता है न) ? उन्होंने लिखा है, इन्होंने भी लिखा है, उसमें उन्होंने लिखा, हाँ ! बुध पुरुषों ने पुण्य–पाप कार्यों को नहीं किया; आत्मा के अनुभव में चित्त लगाया। क्यों ? देखो ! शास्त्रकारों ने पाप को लोहे की बेड़ी, पुण्य को सोने की बेड़ी कहा है। –लिखा है, भाई ! इसमें है, दसवें श्लोक में है।

मुमुक्षु :– अन्तर (भेद) नहीं डाला ?

उत्तर :– क्या अन्तर पड़ा ? लोके का भाव बढ़ा, यहाँ तो कहते हैं, भाई ! यह भगवान आत्मा हलका और शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। उसमें जितने प्रमाण में शुभ और अशुभभाव हो, वह सब दु:खदायक और विकारी है। लाख बात की बात निश्चय एक, निश्चय उर आनो। इस बिना तेरा (भ्रमण का) अन्त तीन काल में नहीं आनेवाला है। समझ में आया ?

'पुण्य-दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि शुभभाव सरागी जीव को होते हैं, वे अरूपी अशुद्धभाव हैं... ' अविकारी दशा से उलटी अवस्था है, **'और वे भाव-पुण्य हैं तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वत: आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना), वह द्रव्य-पुण्य है। (उसमें जीव की अशुद्धपर्याय निमित्तमात्र है)।'** दोनों चीजे स्वतन्त्र हैं। आत्मा, शुभ–अशुभभाव करे, वह अशुद्ध परिणाम है, वह आस्रवभाव है। नवीन रजकणों को निमित्तमात्र कहलाते हैं।

इस प्रकार धर्मीजीव आस्रव की भावना, चिन्तवन बारम्बार करके शुद्ध आत्मा के सन्मुख का लक्ष्य रखकर शुद्धि बढ़ाता है। कहो, समझ में आया कुछ ? अरे..! जब हो, तब इसने बहाना ही ढूँढा है, छिटकने का बहाना–यहाँ से होगा, शुभभाव आया तो यह है। अब शुभभाव अनन्तबार किया, सुन न ! नौंवी ग्रैवेयक गया–शुभ के बिना गया होगा ? शुक्ललेश्या कैसी थी ? अनन्तबार नौंवी ग्रैवेयक गया, अनन्तबार दिगम्बर जैन साधु होकर नौंवी ग्रैवेयक गया।

समझ में आया ? शुभभाव, वह पुण्य है, आंशिक (भी) संवर-निर्जरा, धर्म-बर्म तीनका-तीनलोक में नहीं। भगवान वीतराग के मार्ग में उसे संवर नहीं कहते, शुभभाव को संवर नहीं (कहते)। समझ में आया ? यह तो पहले हमारे बहुत चर्चा चलती (थी)। 'ध्रांगध्रा' में (अमुक भाई) थे न ? कहाँ गये ? वे नहीं, भाई ? शुभभाव, वह संवर है-वह 'प्रश्न व्याकरण' में आता है। (संवत) १९७६ की साल में पहले गये तब (चर्चा) चलती थी। १९७६. 'प्रश्न व्याकरण' में ऐसा भाव आता है। शुभभाव संवर.. शुभभाव संवर.. शुभभाव संवर.. भाई ! शुभभाव संवर नहीं होता। समझ में आया ? (वे लोग) बहुत चर्चा (करते थे)।

(यहाँ पर) कहते हैं-'**पाप, हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं, वे भावपाप हैं और उस समय कर्मयोग्य पुद्‌गलों का आगमन होना...**' (नये कर्म आते हैं), '**वह द्रव्य-पाप है।**' रजकण। '**(उनमें जीव की)...**' भावपाप परिणाम, वे निमित्त हैं।

'**परमार्थ से (वास्तव में) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्मा को अहितकर है...**' लिखा है, देखो न ! '**आस्रव दुखकार घनेरे, बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे.. जो जोगन की चपलाई, तातैं हैं आस्रव भाई।**' इससे आस्रव है, भाई, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? हे भाई ! वह आस्रव है, ऐसा कहते हैं। '**आस्रव दुखकार घनेरे...**' यह आस्रव दुःखकार घनेरे। शास्त्र में दोनों दुःख परिणाम, दुःख का कारण कहा है। '**बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे।**' समझदार-आत्मा के ज्ञाता, इन शुभाशुभभावों को रोकते हैं और आत्मा के सन्मुख होते हैं, उन्हें संवर होता है। समझ में आया ?

'**तथा आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है।**' शुभ-अशुभभाव। आत्मा त्रिकाल आनन्दमूर्ति है। शुभाशुभभाव उसकी अशुद्ध अवस्था है। समझ में आया ? '**द्रव्य पुण्य-पाप तो परवस्तु है, वे कहीं आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते।**' -जड़कर्म कोई हित-अहित नहीं करता। '**ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से...**' भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अवलम्बन के आश्रय के एकाकार द्वारा '**जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है...**' शुद्धि की वृद्धि होती है। '**उसे आस्रव भावना कहते हैं।**' लो ! समझ में आया ?

आस्रव करने की भावना करनी ? या आस्रव दूर करने की भावना करनी ? ऐसा कहा यहाँ। पुण्य-पाप के भाव '**बुद्धिवंत तिन्हैं निरवेरे, दुखकार घनेरे**' (हैं), इसलिए-ऐसा कहा। चैतन्य ज्ञानानन्द मूर्ति को अन्तरदृष्टि में लेकर, शुभाशुभभाव दु:खदायक है, (उन्हें) निरवेरे-छोड़े या करे ? भावना भावे आस्रव की कि पुण्य होवे तो ठीक और पुण्य होवे तो ऐसा ठीक न ? समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है-पुण्य आस्रव हो तो ठीक। ज्ञानी उसे छोड़ना चाहता है। आहा..हा... ! दो भावना हुई, अब तीसरी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहाँ चढ़ावे ? धूल में ? यह कहते हैं-आत्मा, पुण्य-पाप के भाव रहित एकाग्रता करे, वह ऊँचे चढ़ता है, अन्य नीचे उतरता जाता है। आहा..हा.. ! नीचे अर्थात् चार गति। आत्मा के शुद्ध स्वभाव की गति अन्तर में एकाग्र हो वैसे ऊँचा चढ़ता जाता है। अपने स्वरूप से हटकर आते ही ऐसे नीचे पड़ता जाता है। आहा.. !

८-संवर भावना

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;

तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ।।१०।।

अन्वयार्थ :- (जिन) जिन्होंने (पुण्य) शुभभाव और (पाप) अशुभभाव (नहिं कीना) नहीं किये तथा मात्र (आतम) आत्मा के (अनुभव) अनुभव में (शुद्ध उपयोग में) (चित्त) ज्ञान को (दीना) लगाया है (तिन्ही) उन्होंने ही (आवत) आते हुइ (विधि) कर्मों को (रोके) रोका है और (संवर लहि) संवर प्राप्त करके (सुख) सुख का (अवलोके) साक्षात्कार किया है।

भावार्थ :- आस्रव का रोकना, सो संवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग दोनों बन्ध के कारण हैं-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह दोनों को बन्ध का कारण मानता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के

आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता करता है, उतने अंश में उसे संवर होता है, और वह क्रमश: शुद्धता में वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है। वह 'संवर भावना' है। ॥१०॥

अब, संवर भावना। देखो ! '**जिन पुण्य-पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना।**' लो ! यह तो देशी हिन्दी 'दौलतरामजी' की है। 'दौलतराम' (कृत) 'छहढाला' सादी देशी भाषा है।

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;

तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥

कितना शब्द रखा है, देखो ! ओ..हो..हो... ! साक्षात् करे संवर को-सुख को ऐसा।

अन्वयार्थ :- '**जिन्होंने शुभभाव और अशुभभाव नहीं किये...**' देखो ! जो सम्यग्दृष्टि आत्मा की शुद्ध पवित्र दृष्टि में शुभ-अशुभभाव करना छोड़कर '**और मात्र आत्मा के अनुभव में...**' देखो ! शुभ और अशुभ दोनो बन्ध के कारण हैं। आत्मसन्मुख दृष्टि, ज्ञान, शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण है। '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना...**' देखो ! वे पुण्य-पापभाव आत्मा नहीं। है या नहीं इसमें ? बहुत समा दिया है। जिसने भगवान आत्मा (को) इन पुण्य-पाप आस्रव के परिणाम से रहित जाना, देखा, माना है-ऐसे जीव ने पुण्य-पाप को करना छोड़कर आत्मा के अनुभव में चित्त दिया है। जिसने आत्मा की शुद्ध परिणति में चित्त दिया है। फिर परिणति उपयोग होवे तब शुद्धता होती है। समझ में आया ?

'**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना...**' उस योग की चपलाई के सामने यह लिया। '**आतम अनुभव चित्त दीना...**' भगवान आत्मा शान्त अनाकुल आनन्दस्वरूप को अनुसर कर अनुभव करना।

अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रस कूप,

अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप॥

अरे..! यह बात रूचे नहीं और शुभ-अशुभभाव रूचे, उसका (जन्म-मरण का) अन्त कहाँ से आये ? यहाँ तो जन्म-मरण रहित दशा न हो, उस दशा को दशा ही गिनने में नहीं आती। आहा..हा...! स्वर्ग मिले या नरक मिले या राजा हो या रंक हो, पाँच-पाँच लाख के अश्वघोड़े 'अमेरिका' के हो, बड़े अश्व और बैल होते हैं न ?

मुमुक्षु :- शरक के घोड़े ?

उत्तर :- हाँ, शर्त के घोड़े बड़े, बैल भी बड़े-बड़े लाख-लाख, सवा-सवा लाख के (होते हैं)। समझ में आया ? ये सब चार गति के स्थान दुःखरूप दुःखरूप हैं। शुभ-अशुभभाव करने का भाव जिसने छोड़ा है और भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध ज्ञानानन्द भगवान की जिसने भावना की है.. वह भावना कहो या अनुभव कहो या शुद्ध उपयोग कहो-उसमें जिसने अपना चित्त दिया है, उसने '**आते हुए (विधि) कर्मों को रोका है...**' वह कर्म को रोकता है, देखो ! शुभ-अशुभभाव, वह कर्मों के आने के कारण है और शुभाशुभभाव रहित आत्मा के भाव की शुद्धता की दशा, वह कर्म को रोकने का कारण है। इसमें है या नहीं ?

आत्मा के अनुभव में चित्त रखा है। ओ..हो...! समझ में आया ? शुद्ध स्वरूप अपना निज आनन्द महान परमेश्वरपद स्वयं का (है)। अरे..! स्वयं का परमेश्वरपद भूलकर और पामर-पुण्य-पाप के पामर पद में जिसकी प्रीति है, उसे चार गति में भटकने का फल है। समझ में आया ? अपने परमेश्वरपद को सँभालनेवाला, याद करनेवाला, उसमें चित्त देनेवाला, शुभाशुभभाव को नहीं करता। जितने प्रकार में शुद्धभाव की परिणति करता है, उतने प्रकार में उसे कर्म आते हुए रुक जाते हैं। उसे भगवान, संवर कहते हैं, उसे भगवान, संवर कहते हैं। यह तो हिन्दी भाषा (में) 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी को तो ऐसी ही बात होती है।

उत्तर :- ऐसी ही बात होवे न, दूसरी क्या बात होगी ? आ..हा...! 'दौलतरामजी' कहते हैं तो अपने घर की बात नहीं करते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा ने जो कहा है, (वह) 'छहढाला' में (कहते हैं)। और हिन्दी छहढाला। सादी हिन्दी भाषा है, १३ गाथायें (श्लोक) हैं। समझ में आया ? देखो न ! संवर की व्याख्या यह ! पुण्य और पाप, वे संवर नहीं है, वे

आस्रव है।

मुमुक्षु :- शुभयोग, संवर नहीं ?

उत्तर :- यह शुभयोग, पुण्य कहा न, उसे पुण्य कहा था। आस्रव कहा न। पुण्य कहो या शुभयोग कहो; पुण्यभाव-पुण्य कहो या शुभयोग कहो-दोनों एक ही है। भावपुण्य कहो या शुभयोग कहो, भाव पाप कहो या अशुभयोग कहो। द्रव्य पुण्य-पाप, वह रजकण जड़ की दशा और भाव पुण्य-पाप, वह आत्मा की अशुद्धदशा (है)। यह बात ऊपर आ गयी है-अरूपी अशुद्धभाव। अपना परमेश्वर पद ही अभी सुहावे नहीं, अपना परमेश्वर पद यदि अभी रूचे नहीं, उसे परमेश्वरपद प्राप्त करने का वीर्य कैसे स्फुरित हो ? जिसे पुण्य और पाप के भाव, जो पामरभाव रूचते हैं, उसे आत्म परमेश्वरपद कैसे रूचे ?

इस कारण यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं-पण्डित 'दौलतरामजी' हुए, समझे ? कि '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित्त दीना..**' यह आत्म-अनुभव किसे होगा ? यह आठवें-नौंवे की बात होगी ? यह तो पहले से बात करते हैं। समझ में आया ? '**तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके...**' देखो, भाषा ! वह धर्मीजीव अपने आत्मा में, अनुभव में चित्त देकर शुभाशुभभाव को रोकता है। वह, '**संवर प्राप्त करके सुख का साक्षात्कार किया है।**' सुख को अवलोकता है। वह अतीन्द्रिय आनन्द को देखता है। क्या कहा ? कि पुण्य-पाप के भाव दु:खरूप है। सामने दु:खकारी कहा था न ? सामने दु:खकारी कहा था न ? नौंवें में 'आस्रव दुखकार' तब संवर आनन्द को अवलोकता है, अर्थात् संवर में आनन्द होता है. उसे संवर कहते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द को (अवलोकता है)। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन-उसका साक्षात्कार होना-ऐसी दशा में जो सुख का आनन्द आवे, उस दशा को संवर कहा जाता है। समझ में आया ?

बाहर में इसे दूसरे की अपेक्षा अच्छा कहे न तो प्रसन्न हो जाए। यह पुण्य की अपेक्षा और स्वर्ग की अपेक्षा तू अच्छा है, इसमें प्रसन्न नहीं होता। ऊं..हूं..हूं.. (करता है)। दूसरे की अपेक्षा ऐसा कहे कि हाँ हो, तुं तो बहुत होशियार हो, ओ..हो... ! उसकी अपेक्षा तुम बहुत बुद्धिशाली। (इसे ऐसा लगता है कि) दूसरों की अपेक्षा अधिक तो सिद्ध किया। यहाँ कहते हैं कि... परन्तु

पुण्य-पाप के भाव और शरीर से तू पृथक् अच्छा है, (तो कहता है) नहीं, यह नहीं, भाई साहब ! देखो न भाई ! पिता के पास पैसा नहीं थे, तुमने इतनी उन्नति की, इकट्ठे किये, ऐसा किया, मकान बनाया.. समझे न ? बाहुबल से कमाया, बाहुबल से मकान बनाया, बाहुबल से कीर्ति प्राप्त की, और अब.. चले जाओ, मरकर जाओ अब नीचे। किसका किया ? धूल की तूने ? वहाँ इसे प्रसन्नता होती है, हाँ ! तुमने तो बहुत भाई ! वृक्ष लगाये हैं, आम रोपे हैं, बापा ! तुमने तो ओ..हो..हो... ! ऐसा कहते हैं। वह (एक भाई) कहते, गरासियाओ (दूसरे भाई से कहते), आम रोपे हैं। वह तो व्यक्ति अमीर व्यक्ति थे, परन्तु यह तो लोग... तो (ऐसा कहे), ओ..हो..हो... ! पैसे खर्च किये, यह किया, यह किया, यह किया, आम रोपे, बापा ! आम पकनेवाले अब। अरे.. ! भगवान ! यह प्रसन्न होता है। यहाँ तो कहते हैं कि.. तूने आम रोपे, आत्मा के पवित्रभाव की रूचि और दृष्टि कर, शुभाशुभभाव की रूचि छोड़। तूने आम रोपे वहाँ केवलज्ञान के कन्द के फल पकेंगे। (तो कहे), यह नहीं, यह नहीं।

निमित्त और शुभपरिणाम के बिना चले-ऐसा तेरा तत्त्व है। सुन न ! ऐसा स्वाधीन भगवान, जिसकी नज़र करने से विकार का नाश हो, जिसकी नज़र करने से निहाल दशा प्रगटे; जिसकी नज़र करने से स्वयं परमात्मा है-ऐसा प्रतीति में आये-ऐसा भगवान आत्मा, वह तुझे रूचता नहीं। यहाँ संवर अधिकार है, साक्षात्कार कर-ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? भाई ! सेठ ने बहुत किया होगा। संवर बहुत किया है, कहते हैं। भाई ! ऐसा कहते हैं, अभी तक संवर बहुत किया। वह संवर धूल में भी संवर नहीं था। मिथ्यात्वभाव था और मानता कि हमने संवर किया। ऐ.. भाई ! इस भाई ने बहुत सामायिक की थी। आहा..हा... !

भाई ! प्रभु को एक ओर रखकर तू बाते करे; यह प्रभु स्वयं बिराजता हो और उसके दुश्मन हो, उनके साथ मेल करे, यह प्रभु किस प्रकार प्रसन्न होगा ? समझ में आया ? आहा..हा... ! भगवान परमेश्वर बिराजमान है न ! आनन्दकन्दवाला तेरा (स्वरूप), उसके सन्मुख न देखकर अकेले विकार के साथ प्रेम करके पड़ा है, (तो) यह प्रभु प्रसन्न होकर किस प्रकार प्रगट होगा ? समझ में आया ?

यहाँ तो अद्भूत भाषा रखी है ! सख को अवलोके। भाषा अलग है, देखा ? वह दुःख को अवलोकता था-शुभ-अशुभभाव, वह दुःख को अवलोकता था। वह, दुःख है-ऐसा जानता

नहीं था, परन्तु दु:ख पर उसकी नज़र थी। अज्ञानी की अनादि से शुभ और अशुभभाव में-दु:ख में नज़र थी। यह आत्मा दु:ख और आस्रवरहित वस्तु है-ऐसी जहाँ नज़र करने पर उस संवरभाव में आत्मा आनन्दरूप से अवलोके और उसकी पर्याय में आनन्द का अवलोकन का वेदन हो, उसे भगवान संवर कहते हैं। आहा..हा... ! कहो, भाई ! साक्षात्कार किया.. समझ में आया ? '**संवर लहि सुख अवलोके...**' इसमें कोई शब्दार्थ नहीं। सुख प्राप्त किया, बस ! इतना ही अर्थ किया है। संवर में आनन्द की अनुभूति होती है-इतना कहा है। संवर में आनन्द की अनुभूति। इसमें क्या किया है ? साक्षात्कार किया है। ठीक किया है। यह पहले रखा। संवर-सुख का साक्षात्कार किया है। अपने लिखा है। उसमें से लिखा है, मूल उसमें से बनाया है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- जोरदार है।

उत्तर :- जोरदार है। ऐसा स्वरूप ही है-ऐसा कहते हैं। जो अनन्तकाल से शुभ-अशुभभाव की भावना भाने से अकेले दु:ख का ही इसने वेदन देखा है। उस शुभ-अशुभभाव की भावना छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की भावना करने से जो सुख का अवलोकन होने पर, वर्तमान दशा में भी सुख प्रगट होने पर उस सुख का अवलोकन अर्थात् साक्षात्कार करता है। जो सुख शक्ति में पड़ा था.. समझ में आया ? जो सुख शक्ति में था, उसे एकाग्रता करके साक्षात् पर्याय में सुख को प्रगट करता है, उसे संवर कहा जाता है। और वह संवर मुक्ति का उपाय है। ऐसी भावना भाता है। लो ! (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १३, शनिवार
दि. ०५-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१०-११, प्रवचन नं. ४३

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। उसमें पाँचवी ढाल चलती है। दसवीं गाथा, संवर भावना आठवीं है। देखो ! संवर भावना किसको कहते हैं ? कि, **'आस्रव को रोकना, सो संवर है।'** भावार्थ है, भावार्थ। आस्रव क्या (है) ?**'सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं।'** पहले तो अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप का अभेदस्वभाव की दृष्टि अनुभव में करके मिथ्यात्व का आस्रव रुकता है। समझ में आया ? देखो ! चित्र में ढाल ली है न, ढाल ! ढाल। ढाल होती है न ? ढाल। शस्त्र को रोकने की ढाल होती है न ? भैया ! ऐसे क्या ? आत्मा शरीर, कर्म, पुण्य-पाप के भाव से रहित और अपने शुद्ध आनंदादि अनन्त गुण सहित, ऐसा अपना शुद्धस्वरूप एकरूप आनन्दरूप (है) उसका, अन्तर में एकाकार होकर अनुभव की दृष्टि करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वही मिथ्यारूपी आस्रव रोकने की ढाल है। समझ में आया ? ढाल.. ढाल। इसका नाम भी 'छहढाला' है न ?'छहढाला'। ढाल।

मिथ्याश्रद्धा... जो आत्मा पूर्ण अनन्त शुद्ध आनन्दकन्द है, उसको एक समय के अंश जितना मानना अर्थात् उसको पुण्य-पाप का विकारवाला मानना और उसको शरीर, कर्म सहित ही आत्मा मानना और शरीर, कर्म आदि परपदार्थ की क्रिया करनेवाला मानना, वह मिथ्यात्व आस्रव है।

मुमुक्षु :- जैन को सब होय ?

उत्तर :- जैन किसको कहना ? संप्रदाय में जन्म लिया तो जैन हो गये ? भगवान आत्मा जो अपना पूर्ण स्वरूप शुद्ध स्वरूप (है), उसकी अनादि से दृष्टि छूटकर, परपदार्थ (जो) अपने से भिन्न हैं, उसका कर्ता मानता है। कर्ता मानता है तो अपने को और पर को एक माने

बिना पर का कर्ता मान सकता नहीं। बराबर है ?

अपने अलावा परपदार्थ शरीर, वाणी, कर्म आदि जड़ अथवा अन्य जीव, उसका कार्य मैं कर सकता हूँ और मैं उस के कार्य कारण हूँ, ऐसा माननेवाला परद्रव्य को ही (अपने साथ) एकरूप मानता है। पर से पृथक् वह मानता नहीं। उसका नाम मिथ्यात्वभाव है।

दूसरा, शुभ और अशुभभाव जो पुण्य-पाप विकारभाव है, यह मलिन, विकृत, उपाधि विभाव है, उसका भी करनेवाला (हूँ)-ऐसा माननेवाला उस विकार को ही अपने स्वभाव में अपनाता है और अपना मानता है, उसका नाम मिथ्यादर्शन आस्रव है। भाई ! कौन अभी कोई आया था न ? आप के साथवाला कोई था। कोई आया था, कहता था कि, हम लोग सब मिलकर भाषण करते हैं। कोई कहता था। अभी आये थे न ? सुनकर उसे लगा कि, यह करने जैसा लगता है, यहाँ रहने जैसा है। सुनकर ऐसा हो गया। ऐसा बोले थे बेचारे। हम तो भाषण करे। फिर मैंने आपका नाम दिया। आहा..हा... ! अरे.. ! भाषण कौन करे ? यह जड़ की पर्याय (है)। दूसरे को कौन सुधार सके ? वह पर की पर्याय (है)।

यहाँ तो कहते हैं कि, अपने में पुण्य-पाप का भाव जो शुभ-अशुभ है, वह अपने स्वरूप में नहीं, तो उसका कर्ता हो तो उसकी दृष्टि विकार पर ही है और विकार पर दृष्टि होने से निर्विकारी भगवान शुद्ध चिदानंद (का) उसकी दृष्टि में अनादर है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। अनन्तकाल में उसने क्या आत्मा, क्या विकार और क्या पर ?-उसका कभी भेदज्ञान किया नहीं और भेदज्ञान ही संवर है। संवर है न ? देखो !

'भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान, धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तू मान।' भेदज्ञान क्या (है) ? कि, आत्मा, शुभ-अशुभभाव कृत्रिम क्षणिक से भी भिन्न है और परद्रव्य से तो त्रिकाल भिन्न है ही और अपने स्वरूप में वर्तमान में अल्प ज्ञान, दर्शन, वीर्य का जो (अल्प) विकास दिखता है, वह एक समय की अवस्था है, वह पूर्ण आत्मा नहीं। उस अवस्था की दृष्टि छोड़कर, शुभाशुभभाव की प्रीति-रूचि छोड़कर, पर की रूचि छोड़कर अपने अखंड ज्ञायकस्वभाव में अन्तर्मुख में अंतर्दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। मिथ्यादर्शन रोकने को यह ढाल है। समझ में आया ? (उन्होंने) महासत्ता का प्रश्न किया था। महा भगवान

आत्मा... !

जिन पुण्य-पाप नहिं किना, आतम अनुभव चित दीना;
तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके।।१०।।

इतने शब्द (हैं)। 'दौलतरामजी' ने एक पंक्ति में, गागर में सागर भर दिया है। '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना,...**' दूसरी बात तो कहाँ रही ? यहाँ तो 'कीना' पर वजन है। पर का करना तो कहाँ रहा ? लेकिन शुभ और अशुभभाव भी मेरी चीज नहीं। उसको भी दृष्टि में से छोड़कर '**आतम अनुभव चित दीना...**' भाई ! यहाँ 'कीना' शब्द है न ? उस पर पूरा वजन है।

'**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना...**' जिसने भगवान आत्मा पर अन्तर चिंतवन की एकाग्रता द्वारा, शुभाशुभभाव का कर्ता न हुआ और पुण्य-पाप से जिसने लक्ष्य छोड़ दिया। '**आतम अनुभव चित दीना;...**' आत्मा भगवान अनाकुल आनन्द का भंडार भरा है। महाआनन्द का लाभ ऐसा जो मोक्ष, उसका कारण जो मोक्षमार्ग, उसका कारण जो आत्मद्रव्य। महाआनन्द का लाभ जो मोक्ष.. समझ में आया ? मोक्ष की व्याख्या यह (है)। वह पहले आ गया है। महाआनन्द में। महाआनन्द का लाभ। अपनी पर्याय में अतीन्द्रिय महाआनन्द का लाभ (होना), वह मोक्ष (है)। उसका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो अपूर्ण, अपूर्ण अल्प आनन्दरूप (है); सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अल्प आनन्दरूप, वह महाआनन्दरूप का कारण मोक्ष का मार्ग (है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण द्रव्यस्वभाव (है)। समझ में आया ?

द्रव्य अर्थात् वस्तु। एक समय में सच्चिदानन्द पूर्ण शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनन्द आदि एकरूप वस्तु द्रव्य, जिसको 'नियमसार' में कारणपरमात्मा कहा। यहाँ उसको द्रव्य कहा, ध्रुव कहा। यह ध्रुव, मोक्षमार्ग की पर्याय का कारण (है), मोक्षमार्ग की पर्याय मोक्ष का कारण (है)। मोक्ष का कारण मोक्षमार्ग की पर्याय और मोक्षमार्ग की पर्याय का कारण द्रव्यस्वभाव (है)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अल्पता क्यों कहा ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन की अल्पता नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में अल्प आनन्द है। मोक्षमार्ग में अल्प आनन्द (है)। मार्ग है न ? कारण है न ? कार्य हुआ तो पूर्णानन्द हो गया। उसका आश्रय जो करना है, सम्यग्दर्शन का आश्रय है वह तो पूर्णानन्द आत्मद्रव्य है, परन्तु आनन्द की प्रतीति हुई, उसमें आनन्द आया, वह अल्प आनन्द आया है। पूर्ण आनन्द प्रगट हो जाये तो मोक्ष हो जाये। समझ में आया ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, '**आतम अनुभव चित दीना,...**' देखो ! भाषा कैसी है ! '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना,...**' शुभ-अशुभभाव, दूसरी बात तो कहाँ रही ? शरीर, कर्म, बाह्य पदार्थ का कार्य तो नहीं परन्तु शुभ-अशुभभाव भी नहीं किया, उसने आतम अनुभव चित्त दिया। आत्मा अखंड ज्ञायकमूर्ति है, उसमें उसका मन लगा। क्या हुआ ? 'अनुभव' शब्द का अर्थ शुद्धउपयोग है। शुभ-अशुभभाव है न ? पुण्य और पाप शुभ-अशुभभाव है, आस्रव है। उसको रोककर अर्थात् उस ओर का लक्ष्य और कर्तापने की बुद्धि छोड़कर, भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आत्मतत्त्व है उसमें चित्त लगाया तो शुद्ध उपयोग में आत्मा का भान हुआ कि, यह आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। ऐसा शुद्धभाव हुआ, उसके अशुद्धभाव रुकते हैं और उसके कर्म भी रुक जाते हैं। भाई ! यह तो बहुत संक्षिप्त शब्द में कहा है। गागर में सागर भर दिया है। ये 'छहढाला' तो बहुत चलती है या नहीं ? लेकिन अर्थ समझे नहीं।

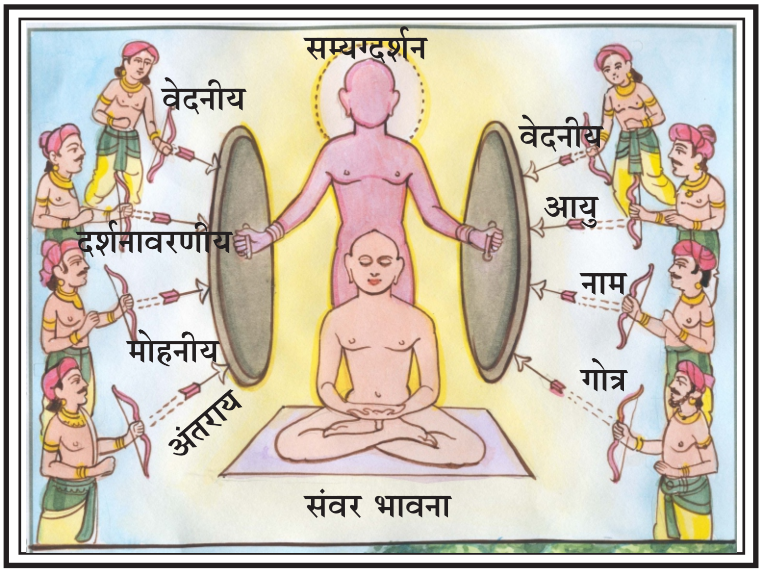

'आत्म अनुभव चित दीना; तिनही विधि आवत रोके,...' ढाल। **'विधि'** नाम आठ कर्म। उसमें दो तरफ ढाल ली है, देखो ! एक ओर चार कर्म और दूसरी ओर चार कर्म। एक घाति और अघाति। भगवान आत्मा अपने स्वभाव में शुद्धतारूपी दृष्टि और ज्ञान के कारण अन्तर में रुका तो उसको पुण्य-पाप का भाव आदि बन्ध आदि रुक जाते हैं। बाद में **'विधि आवत रोके'** वे रुक गये। **'संवर लहि सुख अवलोके।'** महा शब्द पड़ा है। भगवान आत्मा, जिसमें परम महाआनन्द है। अतीन्द्रिय, अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त अचिंत्य सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। सत् चिद् आनन्द, शाश्वत आनन्द, उसमें अन्तर एकाग्र होता (है)। कहते हैं कि, संवर क्या? कि, जिसमें संवर लहि सुख (का) साक्षात्कार करे। आनन्द का साक्षात्कार करे। आहा..हा...! है ?

'संवर लहि सुख अवलोके।' देखो ! अपने 'साक्षात्' का अर्थ किया है। हिन्दी में भी वही अर्थ है। जो अनादिकाल का शुभ-अशुभभाव और परवस्तु का कर्ता ऐसा जो मिथ्यात्वभाव (होता था), वह दु:ख का वेदन करनेवाला था। दु:ख का वेदन करनेवाला था। भैया ! समझे ? पुण्य-पाप का भाव मैंने किया, ऐसे विकार को निर्विकार स्वभाव में एकत्व (न) करके कर्ता होता था तो वहाँ भ्रमणा मिथ्यात्व उत्पन्न होता था। परन्तु मिथ्याभाव में अकेला दु:ख था। समझ में आया ? इस दु:ख का नाश (किया)। अपना स्वरूप पुण्य-पाप के विकल्प से (रहित है)। कर्म, शरीर से तो रहित है ही, क्यों ? कर्म, शरीर तो आत्मा की एक समय की पर्याय में भी उसकी मौजूदगी नहीं है। कर्म, शरीर की अजीव की, आत्मा की एक समय की पर्याय में भी मौजूदगी नहीं है। समझ में आया ? परन्तु अपनी पर्याय में शुभ और अशुभ जो विकार की मौजूदगी एक समय में है,... समझ में आया ? एक समय में शुभ और अशुभ, दया, दान, काम, क्रोध का शुभाशुभभाव, आत्मा की पर्याय अर्थात् अवस्था में मौजूदगी-अस्ति है, उसकी भी रूचि छोड़कर, ज्ञायक चिदानन्द पूर्ण द्रव्यस्वभाव में चित्त लगाया तो मिथ्यात्व का नाश होकर अर्थात् दु:ख का नाश होकर अर्थात् आत्मा के सुख का साक्षात्कार-अवलोकन हुआ। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- गागर में सागर निकला।

उत्तर :- सागर में से थोड़ा निकला। पूरा सागर नहीं निकला।

मुमुक्षु :- दु:ख दिखता नहीं।

उत्तर :- हर्ष सन्निपातिया को दु:ख का भान नहीं है तो कैसे दिखे ? हर्ष सन्नेपातिया समझते हो ? भैया ! वात, पित्त और कफ रोग नहीं होता ? सन्निपात। त्रिदोष। त्रिदोष होता है न ? वात, पित्त, कफ का रोग। वक्र होता है तो वह हँसता है। क्या सुखी है ? नहीं। ए.. देवानुप्रिया। सन्निपातवाला हँसता है। यह सन्निपात है। मिथ्यात्व, अव्रत और कषाय। अथवा मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय अर्थात् अचारित्र। ये तीन का उसे रोग लगा है। जैसे वात, पित्त और कफ सन्निपात त्रिदोष के कारण दु:खी है, फिर भी हँसता है। ऐसे अज्ञानी अनादि से अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द की दृष्टि से विपरीत दृष्टि, अपने स्वरूप के ज्ञान से विपरीत ज्ञान, अपने स्वरूप से विपरीत राग-द्वेष का आचरण, इन तीनों का उसको त्रिदोष लगा है। बराबर है ? इस त्रिदोष के कारण उसे पूर्ण दु:ख है (लेकिन) भान नहीं। मैं दु:खी हूँ, या नहीं, मालूम नहीं। भाई ! ये दु:ख नहीं लगता ? ए.. देवानुप्रिया।

मुमुक्षु :- एक बार वे बहुत रोते थे।

उत्तर :- कब रोते थे ? कुछ था ? स्त्री मर गई तब ? क्या था ? उस दिन ? होगा। ठीक से याद नहीं है। सुख में रोना आता है, क्यों ? दु:ख है लेकिन भान नहीं। कहा न ? मजबूत शरीर (हो), ३२ साल का युवान और वात, पित्त, कफ रोग ने ऐसा घेरा, ऐसा घिराया (कि), लोग देखे कि, अभी एक घंटे में देह छूट जायेगा। वह हँसता है। वह सुख है ? मानता है। कल्पना में, अज्ञान में मानता है; दु:ख है। हँसता है, वह दु:ख है।

ऐसे भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और लीनता छोड़कर मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष के आचरण में रुककर (सुखी मानता है)। वह है दु:खी पूरा, लेकन अज्ञानी अज्ञान में सुख मानता है। सुख है ही नहीं। भाई ! कैसे होगा यह ?

मुमुक्षु :- दु:ख मालूम क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर :- कहा न, पागल हो गया है तो कहाँ से मालूम पड़े ? सन्निपात हो गया। त्रिदोष में

भान नहीं, कुछ भान नहीं। ओ..हो..हो...! एक शुभराग उठना, वह भी उन्माद, दुःख है। आहा..हा...! 'समाधिशतक' में 'पूज्यपादस्वामी' कहते हैं, उपदेश का एक शुभराग उठना (वह उन्माद है)। आहा..हा...! कहते हैं, भैया ! समझे ? वह राग है या नहीं ? राग है, वह उन्माद है। भगवान आत्मा वीतराग अनाकुल आनन्दकन्द प्रभु है, उससे, शुभराग भी आनन्द से विपरीत है। विपरीत है तो शुभराग भी दुःखरूप है। अशुभराग तो दुःखरूप है ही परन्तु शुभराग है न ! अपना स्वरूप अनाकुल आनन्द, वीतरागकन्द (है), उसमें से हटकर शुभ-अशुभ दोनों भाव दुःखरूप है। समझ में आया ? परन्तु अज्ञानी को सुख क्या चीज है, अन्तर में उसे मिलान करने की ताकत नहीं है तो वह दुःख को ही सुख मानता है। आहा..! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, '**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित्त दीना;**' भगवान आत्मा शुभाशुभभाव से भी रहित, ऐसे आत्मा में जिसने चित्त दिया, उसने आनेवाले कर्म को रोका। रोका का अर्थ-आते थे और रोका-ऐसा नहीं। भाषा तो ऐसी है, देखो ! '**तिनही विधि आवत रोके**' समझ में आया ? अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप, उसमें दृष्टि, ज्ञान लगाया तो कर्म आते थे उसे रोके, उसका अर्थ क्या ? कि, उसको कर्म आते नहीं, आनेवाले थे ही नहीं। (आनेवाले) थे ही नहीं। वह तो जब विकार करता हो उसको निमित्त में आनेवाला था। यहाँ विकार नहीं किया तो कर्म आनेवाला है ही नहीं। परन्तु आनेवाल पूर्व में आया था, उस अपेक्षा से वर्तमान में रोका-ऐसा कहने में आता है। आहा..हा...! कठिन बात है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पूर्व में जो आये थे..

उत्तर :- पूर्व में जो आये थे, वे कर्म पड़े हैं, पड़े हैं, बस इतना।

मुमुक्षु :- किसको रोका ?

उत्तर :- कहा न, किसी को रोका नहीं, लेकिन रोका क्यों कहा ? कि, अपना स्वभाव में दृष्टि और ज्ञान दिया तो पहले जो नहीं दिया था और (कर्म) आया था, ऐसे (कर्म) वर्तमान में नहीं आया, उसको रोका ऐसा कहने में आया है। समझ में थोड़ा सूक्ष्म पडेगा। फिर से, फिर से (लेते हैं)।

यहाँ तो नये रजकण है न ? पहले मिथ्यात्व था, तब तो मिथ्यादर्शन के रजकण आते थे। समझ में आया ? राग-द्वेष था तो चारित्रमोह का रजकण आता था, बस उतना। अब यहाँ सम्यग्दर्शन हुआ तो कर्म को रोका उसका अर्थ क्या ? कर्म आनेवाले ही नहीं थे। आया और रोका कहा वह तो शब्द-कथन है। पूर्व का आया था, वह अभी आया नहीं, क्योंकि यहाँ आत्मा की दृष्टि, अनुभव हुई तो कर्म का आना उस समय में हुआ ही नहीं। हुआ नहीं उसको रोका-ऐसा कहने में आता है। आहा..हा... ! सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु :- कर्म का उदय आया..

उत्तर :- उदय आया नहीं, उसकी बात नहीं। उदय की बात कौन कहता है ? यहाँ उदय की बात नहीं है। नहीं, नहीं। तुम पकड़ नहीं सके। उदय की बात है, वह जड़ की बात है।

यहाँ तो आत्मा पहले जब मिथ्यात्वभाव करता था और राग-द्वेष करता था, तब कर्म आता था। कर्म रजकण उसके कारण से, हाँ ! कर्म, कर्म के कारण से आता था। बस इतना। वह पड़ा इतना। अब जब आत्मा ने अपने स्वरूप में चित्त दिया तो कर्म आनेवाला था ही नहीं। आनेवाला है और रोका है-ऐसा नहीं है। वह तो शब्द ऐसा बताया है। थोड़ी सूक्ष्म बात (है)। समझ में आया ?

आत्मा-अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द की मूर्ति (है), उसको भूलकर पुण्य-पाप का कर्ता मिथ्यात्वभाव में होता है तो नया कर्म उस समय आनेवाला था, उसकी योग्यता से आया। बस, इतना। अब जब अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट किया, अपने में चित्त दिया तो शुभाशुभभाव हुआ ही नहीं। अपने स्वरूप में चित्त दिया तो मिथ्यात्वभाव हुआ नहीं। मिथ्यात्वभाव हुआ नहीं तो मिथ्यात्वभाव से जो नया कर्म आनेवाला था, वह भी आया नहीं। बस, आया नहीं, उसको रोका ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? भाई ! पूर्व के कर्म की बात नहीं है। यहाँ तो अभी नया कर्म नहीं आया। नया कर्म आनेवाला था और नहीं आया, यह तो वह तो एक शब्द की रचना है।

अपने शुद्ध स्वरूप का मानना नहीं था और मैं विकार हूँ, पुण्य-पाप हूँ, शरीर हूँ-ऐसा विकारी अंश के अस्तित्व में और पर के अस्तित्व की मौजूदगी में अपना स्वरूप माना था तो

मिथ्या भ्रांति थी। उस भ्रांति के निमित्त.. भ्रांति निमित्त और नया दर्शनमोह आना उसके उपादानकारण से, कर्म के उपादान कारण से कर्म आया, उसको मिथ्यात्व निमित्त कहा। समझ में आया ? जब आत्मा ने अपने में चित्त दिया तो मिथ्यात्व का तो नाश हुआ। मिथ्यात्व का नाश हुआ तो मिथ्यात्व का रजकण जो पहले आता था, वह अभी आया। बहुत सूक्ष्म बात है। शास्त्र की रचना, समझावे कैसे ?

अपने स्वरूप में चित्त दिया तो विकार हुआ नहीं, विकार हुआ नहीं तो नया आवरण जो आनेवाला था, वह आया ही नहीं। आया नहीं अर्थात् आनेवाला था ही नहीं। आहा..हा...! अरे..! भगवान ! समझ में आया ? यहाँ सम्यक् अन्तर दृष्टि हुई तो उस समय मिथ्यात्व का रजकण आनेवाला था ? मिथ्यात्वभाव है नहीं तो कहाँ से आनेवाला था ? समझ में आया ? थोड़ी सूक्ष्म बात (है)। शास्त्र की रचना ऐसी है कि, अपने स्वरूप की दृष्टि, चित्त लगाया तो उस समय मिथ्याभ्रांति तो है नहीं। भ्रांति है नहीं तो भ्रांति जिसमें निमित्त पडती थी, ऐसा कर्म जो पहले आता था, वह आया नहीं; आनेवाला था ही नहीं। इन लोगों को विषय नया लगे, यहाँ तो बहुत बात चल गई है।

मुमुक्षु :– आने में तो भ्रांति निमित्त थी।

उत्तर :– भ्रांति निमित्त थी।

मुमुक्षु :– न आने में भाव निमित्त है ?

उत्तर :– निमित्त अर्थात् आनेवाला था ही नहीं, उसका नाम निमित्त। आनेवाला कौन था ? आनेवाला हो तो यहाँ विकार हो। समझ में आया ? विकार नहीं हुआ तो आनेवाला था ही नहीं। सूक्ष्म बात है। तात्त्विक बात ऐसी चीज है। अपने उपादान में जब भ्रांति थी कि, मैं राग हूँ, पुण्य कर्ता हूँ, शुभ आस्रव का कर्ता हूँ, तब वह भ्रांति मिथ्यात्व है। तब तो दर्शनमोह कर्म आता था। उसके कारण, हाँ ! जड़ के कारण (आता था)। उसमें भ्रांति निमित्त पड़ती थी, बस, इतना। अब जब भ्रांति छूट गई तो रजकण आनेवाला था ही नहीं। समझ में आया ? पूर्व का पड़ा है, वह तो नाश हो जायेगा। वह तो निर्जरा में कहेंगे। यह तो संवर की बात है न ? यह तो संवर की बात है। पूर्व का पड़ा है वह तो शुद्धता की वृद्धि के कारण नाश होगा, परन्तु यहाँ नया आनेवाला था और

रोका ऐसा नहीं है। ऐ..ई..। कठिन बात है, भाई !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कौन रोके ? ये कर्म आते थे, उसे रोक दो, ऐसा है ? उसका अर्थ यह है कि, अपने शुद्ध स्वरूप में जहाँ चित्त दिया तो भ्रांति हुई नहीं तो कर्म आनेवाला था ही नहीं। उसको कर्म रोका ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? तत्त्व तत्त्व बहुत (सूक्ष्म है)। वह दृष्टान्त देते हैं न ? जैसे तालाब है या नहीं ? उसमें छिद्र है। नाव लो, नाव। नाव में छिद्र है तो पानी आता था। छिद्र (बन्द किया) तो (पानी) रुक गया। पानी आता था और रोका है, ऐसा ? बस, यहाँ बन्द किया तो पानी आता ही नहीं। पानी आनेवाला है ही नहीं, आनेवाला है ही नहीं। छिद्र बन्द किया तो पानी आनेवाला है ही नहीं। ऐसे यहाँ राग-द्वेष रुका तो रजकण आनेवाला है ही नहीं। आहा..हा..! दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं। भूल करता था तो भूल निमित्त (है) और नय रजकण उपादान से आता था, उसको निमित्त कहते हैं। भूल निकल गई, चित्त आत्मा में दिया, तो भूल नहीं है, तो आनेवाला रजकण जो पूर्व में आया था, वह तो पड़ा है, अभी नहीं है, नया आनेवाला नहीं है, उसको रोका-ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आता है ? वह तो रोकने का अर्थ किया।

अब यहाँ कहते हैं, '**संवर लहि सुख अवलोके।**' उसमें चौथे पद में बड़ा पद पड़ा है। देखो ! संवर। भगवान आत्मा अपने स्वरूप में चित्त लगाया तो शुभाशुभ परिणाम से चित्त हटाया। चित लगाया तो अन्तर में आत्मा में जो अतीन्द्रिय आनन्द है, उसको संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा अवलोकन हुआ (कि), यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द है। एक बात। और उसके साथ संवर हुआ तो वर्तमान में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ, उसका अवलोकन हुआ, शान्ति का वेदन हुआ, उसका नाम संवर कहते हैं। आहा..हा... !

फिर से, फिर से कहते हैं। थोड़ी थोड़ी सूक्ष्म बात है। अनन्तकाल से मूल तत्त्व की बात सुनी नहीं, सुनी नहीं। आहा..! समझ में आया ? भगवान आत्मा.. आत्मा अर्थात् क्या ? पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द.. शान्ति शब्द (का अर्थ) चारित्र। गुण, समझे ? गुण त्रिकाल। आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन... क्योंकि स्वभाव है ना ? स्वभाव में मर्यादा नहीं होती, मितता नहीं

होती, मित अर्थात् मर्यादा न हो, बेहद ज्ञान, बेहद दर्शन, बेहद आनन्द, बेहद शान्ति, बेहद वीर्य। बेहद प्रभुता। ऐसी एक-एक शक्ति में अनन्त शक्ति-सामर्थ्य (है), ऐसी अनन्त-अनन्त शक्ति का पिंड एक द्रव्य-वस्तु (है)। ऐसे द्रव्य में चित्त लगाया। समझ में आया ? तो कहते हैं कि, आत्मा का आनन्द जो है, उसका ज्ञान से अवलोकन हुआ और एकाग्र हुआ तो जैसा आनन्द है-ऐसा आनन्द पर्याय में भी वर्तमान में प्रत्यक्ष साक्षात्कार-वेदन हुआ। आहा..हा... !

साक्षात्कार क्यों कहा है ? अवलोके का अर्थ-जैसा दुःख का वेदन था वह वेदन करनेवाला तो साक्षात् वेदन करता था न ? मिथ्यात्व में, राग-द्वेष में, विकार में दुःख का वेदन करता था, वह दुःखी है। मिथ्यात्वभाव, राग-द्वेषभाव दुःख है तो वेदन करता था। भान नहीं था। समझ में आया ? यहाँ जहाँ आत्मा में शुभाशुभ परिणाम से, पर उपर से लक्ष्य हटाकर, अपने मूल शुद्ध स्वरूप पर चित्त दिया तो अन्तर में जो आनन्द है, उस आनन्द का अंश प्रगट वर्तमान हुआ, उसके द्वारा सारा आत्मा आनन्दमय है-ऐसा प्रतीति में लिया और वर्तमान अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन साक्षात् प्रगट है, उसका वेदन हुआ। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अशुभ से तो ठीक परन्तु शुभ से कैसे हटे ?

उत्तर :- शुभ और अशुभ दोनों एक है। छूटना क्या ? शुभ-अशुभ परदिशा, परलक्ष्य से उत्पन्न होता है। अपना लक्ष्य करने में दोनों परलक्ष्यवाला भाव उत्पन्न होता नहीं। शुभ-अशुभ दोनों भाव परलक्ष्य से उत्पन्न होते हैं, स्वलक्ष्य से नहीं। समझ में आया ? अरे.. ! भगवान !

मुमुक्षु :- साक्षात्कार का अर्थ क्या ?

उत्तर :- साक्षात्कार का अर्थ प्रत्यक्ष। आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन हुआ। जो आनन्द अन्दर शक्ति में था, आत्मा में अतीन्द्रिय महाआनन्द शक्ति में था, अप्रगट था, वहाँ चित्त दिया तो आनन्द का अंश प्रगट पर्याय में आया, उसका साक्षात्कार किया अर्थात् प्रत्यक्ष वेदन किया। वेदन प्रत्यक्ष किया। वेदन कोई करता है और यहाँ आनन्द प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं। प्रगट आनन्दमय सुधारस का स्वाद (आया)। संवर में सुधारस का स्वाद (आया)। यह तो अन्दर की

खोली हुई मर्म की बातें हैं। संवर चीज कोई ऐसी नहीं कि, ऐसे ही संवर हो गया। समझ में आया ?

... पुण्य-पाप के विकल्प का था। ऐसी वस्तु निर्विकल्प चैतन्य का वेदन हुआ-स्वाद आया। क्या (कहा) ? आत्मा के आनन्द का स्वाद आया। इस स्वाद को यहाँ प्रत्यक्ष कहने में आता है, उसको साक्षात्कार कहते हैं। समझे थोड़ा ? यह तो आत्मा की अलौकिक बात है, भैया ! अनन्त काल में उस ओर का प्रयत्न, प्रयोग कैसे करना, वह विधि सुनी ही नहीं। आहा..हा... ! सारा संसार विकार,.. उस विकार संसार से रूचि हटाकर प्रथम में, हाँ ! प्रथम। सारा संसार का अर्थ पुण्य-पापभाव से सारा संसार विकार है।

भगवान आत्मा शान्ति और आनन्द की शिला, आनन्द की-बर्फ की शिला (है)। उसमें जिसने चित्त दिया (तो) पुण्य-पाप का आस्रव जो दुःखरूप था, वह रुक गया, उत्पन्न नहीं हुआ। नया आवरण भी उस प्रकार का रुक गया। आत्मा में अतीन्द्रिय अनाकूल शान्ति का जो स्वभाव था, उसमें चित्त लगाया का अर्थ एकाग्र हुआ। एकाग्र हुआ तो विकार में एकाग्र था वह तो दुःख था। विकार से हटकर चित्त यहाँ लगाया तो आनन्द की पर्याय प्रगट हुई। समझ में आया ? उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? ढाल लिखा है, देखो न ! आठों कर्म (को ढाल से रोका है)।

'संवर लहि सुख अवलोके।' एक शब्द में तो बहुत (भाव) भरा है। गागर में सागर भर दिया है। पहले के पंडित ने बहुत अच्छी बात की है। अभी बहुत गड़बड़ हो गई। (इनको) तो मालूम है न। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव साक्षात् केवलज्ञानी ने कहा हुआ तत्त्व है। समझ में आया ? अनन्त तीर्थंकर चले गये, वर्तमान भगवान बिराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा 'सीमंधर' प्रभु आदि तीर्थंकर बिराजते हैं। समझ में आया ? जिनके ज्ञान के एक समय में अपनी पर्याय का पूर्ण अवलोगन में लोकालोक का अवलोकन हो गया। अपने एक समय के पूर्ण अवलोकन में... यहाँ आगे कहेंगे। समझे ? इसमें आगे कहते हैं न ? कहीं पर है। कैसे ध्यान रहे ? '... शिवमग कह्यो।' कहीं पर ऐसे शब्द है। मोक्षदशा का वर्णन है। छठ्ठी साल का तेरहवाँ श्लोक है।

निजमांहि लोक-अलोक गुण-परजाय प्रतिबिम्बित थये;

रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।

१३ वाँ श्लोक है, हिन्दी में १७५ पन्ना है। है ? भैया ! १३ गाथा में है। छठ्ठी ढाल का १३वाँ श्लोक। '**निजमांहि लोक-अलोक गुण-परजाय प्रतिबिम्बित थये;...**' समझ में आया ? आत्मा में लोक और अलोक प्रतिबिम्बित हो गये। अपनी एक समय की पूर्ण पर्याय जहाँ प्रगट हुई (तो) उसमें लोकालोक प्रत्यक्ष हो गया। यहाँ देखते हैं (तो) सब देखते हैं। समझ में आया ?

निजमांहि लोक-अलोक गुण-परजाय प्रतिबिम्बित थये;

रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।

धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;

तिनही अनादि भ्रमण पंचप्रकार तजि वर सुख लिया।।१३।।

आहा..हा...। जिसने मनुष्यभव पाकर ऐसा आत्मानुभव करके केवलज्ञान पाया .. सादि अनन्त सिद्ध हो गये। उनकी दशा में लोकालोक ज्ञेय होते हैं। लोकालोक ऐसे जानना नहीं पड़ता। अपनी पर्याय में देखते हैं तो लोकालोक जानने में आ जाता है। समझ में आया ? भैया ! आहा..हा...! दिमाग में आ गया।

कहते हैं, देखो ! अब अपने भावार्थ लेते हैं। '**सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग दोनों बन्ध के कारण हैं-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं;...**' स्वभाव में जितनी एकाग्रता हुई उतना शुद्ध और मोक्ष का मार्ग, जितना शुभाशुभ परिणाम है, उतना बन्ध का मार्ग जानते हैं। उसको मोक्ष का मार्ग जानते नहीं। कर्मधारा और ज्ञानधारा। यहाँ संवर भेदज्ञान है न ? जितना चित्त शुद्ध में लगाया और दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धता हुई, वह ज्ञानधारा, वह मोक्षधारा (है)। जितना रागादि रहा वह कर्मधारा, बन्धधारा। एक समय में साधक को दो धारा होती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- समय एक ही ?

उत्तर :- समय एक ही है न। आत्मा में शुद्धता प्रगट हुई, इतनी निर्मल संवर, निर्जरा है और जितना राग है उतना बन्ध का कारण है। एक समय में दो है न ! दो न हो तो पूर्ण मोक्ष हो जाये या मिथ्यादृष्टि हो जाये। शुद्धता और अशुद्धता के समय में दो है। जितना आत्मा में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रगट की, इतनी शुद्धता (है) और जितना अभी राग रहा, मुनि को पँच महाव्रत आदि का विकल्प है, वह विकल्प राग है। विकल्प, राग है, वह अशुद्धता है, बन्ध का कारण है। साधक में कर्मधारा और ज्ञानधारा एक समय में दोनों चलती है। यहाँ साधक की बात चलती है न ? मोक्ष में तो पूर्ण हो गया। मोक्ष में तो (दो) है नहीं, एक ही पूर्णानन्द शुद्धधारा हो गई। सम्यग्दृष्टि तो साधक है न ?

सम्यग्दृष्टि, पाँचवे, छठ्ठे सब को दो धारा रहती है। समझ में आया ? यदि पूर्ण शुद्ध हो जाये तो मोक्ष हो जाये और पूर्ण अकेली अशुद्धता हो तो वह तो मिथ्यादृष्टि में है। समझ में आया ? अकेली अशुद्धता, पुण्य-पाप और मिथ्याभ्रांति अकेली अशुद्धता (है)। वह तो संसारी, मिथ्यादृष्टि है। अकेली पूर्ण शुद्धता मोक्ष है। जब साधक जीव को मोक्षमार्ग हुआ तो अपने चैतन्य में जितनी एकाग्रता-चित्त लगाया, इतनी शुद्धता है और बाकी रहा राग, इतनी अशुद्धता है। वह अशुद्धता, बन्ध का कारण है; शुद्धता, संवर-निर्जरा का कारण है।

मुमुक्षु :- मिथ्यात्व में दूसरी धारा का अंश..

उत्तर :- मिथ्यात्व में तो एक ही अशुद्ध धारा (है)। यहाँ तो एक ही है। मिथ्यात्व, अज्ञान है। अकेली अशुद्ध धारा है।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- मिथ्यात्व में कहाँ है, वह तो अकेला अज्ञान है। सम्यग्दर्शन में शुद्धधारा और अशुद्धधारा दोनों रहती है। मोक्ष में अकेली शुद्धता (है)। मिथ्यादृष्टि में क्या है ? पुण्य-पाप मेरा है-ऐसा मानता है, उसमें तो अकेली मिथ्यात्व-अशुद्ध धारा ही है। अकेला मिथ्यात्वभाव पड़ा है।

मुमुक्षु :- मन्द कषाय हो तो..

उत्तर :- नहीं, नहीं। मन्द कषा हो या तीव्र कषाय हो, सब कर्मचक्र है। सब मिथ्यात्वभाव, अकेला अशुद्धभाव है।

यहाँ तो कहते हैं, '**निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं;...**' अर्थात् साथ में होते हैं, ऐसा कहना है। भगवान आत्मा अपना चित्त जितना अन्तर शुद्ध में लगाया, दृष्टि, ज्ञान, स्थिरता (हुई) इतनी शुद्धता (है)। जितनी रागादि अस्थिरता बाकी है, इतनी अशुद्धता (है)। सम्यग्दृष्टि को या मुनि को भी दो धारा है। जितना राग है, इतना बन्ध का कारण है; जितनी स्वभाव की एकाग्रता का शुद्धता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। समझ में आया ?

दोनों बन्ध का कारण है। '**इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा..**' देखो ! स्वद्रव्य के (आलम्बन द्वारा अर्थात्) ज्ञानधारा। '**आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता करता है उतने अंश उसे संवर होता है...**' जितने अंश में आत्मद्रव्य में चित्त लगाया। एकाकार शुभाशुभ परिणाम से रहित (हुआ) इतना संवर है। '**और वह क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है। यह संवर भावना है।**' यह संवर भावना हुई। अब निर्जरा (भावना)। सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा भावना भाते हैं। मुनि भी निर्जरा आदि बारह भावना करते हैं।

मुमुक्षु :- संवर प्राप्त करता है और बाद में मोक्ष हो जाता है..

उत्तर :- हाँ, बाद में मोक्ष हो गया न। वह संवर अर्थात् पूर्ण शुद्धता। पूर्ण शुद्धता, पूर्ण चारित्र हो गया, ऐसे लेना। अपूर्ण नहीं रहा। वहाँ '**संवर लही सुख अवलोके।**' ऐसा है न ? उसका अर्थ पूर्ण कर दिया।

९- निर्जरा भावना

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;

तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै ।।११।।

अन्वयार्थ :- जो (निज काल) अपनी-अपनी स्थिति (पाय) पूर्ण होने पर (विधि) कर्म (झरना) खिर जाते हैं (तासौं) उससे (निज काज) जीव का धर्मरूपी कार्य (न सरना) नहीं होता; किन्तु (जो) (निर्जरा) (तप करि) आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा (कर्म) कर्मों का (खिपावै) नाश करती है (वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा है। (सोई) वह (शिवसुख) मोक्ष का सुख (दरसाव) दिखलाती है।

भावार्थ :- अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रतिसमय अज्ञानी को भी होता है; वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता। परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अर्थात् आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं, यह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कहलाती है। तद्नुसार शुद्धि की वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है, तब जीव शिवसुख (सुख की पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जो स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जो शुद्धि की वृद्धि करता है, वह 'निर्जरा भावना' है ।।११।।

'**निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;**' (एक मुमुक्षु) बोलते थे न ? 'निज कार्य न सरना'। ऐ..ई..! तेरापंथ में आता है न ? स्थानकवासी में तेरापंथी है न ? वह कहते हैं, मिथ्यादृष्टि में कुछ भी करे तो 'निज काज न सरना।' यहाँ 'निज काज न सरना' (आया है)।

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;

तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै।।११।।

उसको शब्दार्थ देखो ! '**निज काल पाय...**' अपनी-अपनी कर्म की स्थिति पाकर, जो '**पूर्ण होने पर कर्म खिर जाते हैं, उससे जीव का धर्मरूपी कार्य नहीं होता;...**' क्या कहते हैं ? क्या कहते हैं ? जो कोई अपना पूर्व कर्म बाँधा था, उस बँधे हुए का उदय आया, वह उदय

आया खिर जाता है। समझ में आया ? सविपाक। सविपाकनिर्जरा कहते हैं। क्या कहा ? पूर्व का जो कर्मबन्ध पड़ा है, उदय आकर पाक आया, वह खिर जाता है। देखो ! उसमें लिखा है। देखो ! पक कर खिर जाता है न ? ऐसा अन्दर में लिखा है। पूर्व का कर्म आया, वह खिर जाये, वह तो उसका उदय आया और खिर जाता है। उसमें आत्मा का कोई कार्य सिद्ध होता नहीं। उसमें अपना कुछ लाभ नहीं है। उसमें अपना कार्य नहीं होता। उसमें क्या कार्य हो ? पूर्व का कर्म उदय में आता है, वह खिर जाता है। वह तो प्रत्येक प्राणी को है। निरोग को भी है। एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि आदि सब को पूर्व का कर्म आता है, वह खिर जाता है, उसमें क्या ? आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता।

'**किन्तु (जो निर्जरा) (तप करि कर्म खिपावे)**...' तप की व्याख्या–स्वरूप का आनन्द अवलम्बन लेकर इच्छा की उत्पत्ति न हो, उसका नाम तप (है)। यहाँ तप अर्थात् '**प्रतपन इति तपः**' भगवान आत्मा अपनी शुद्ध दृष्टि लगाई है, बाद में विशेष शुद्धता में एकाकार होना,

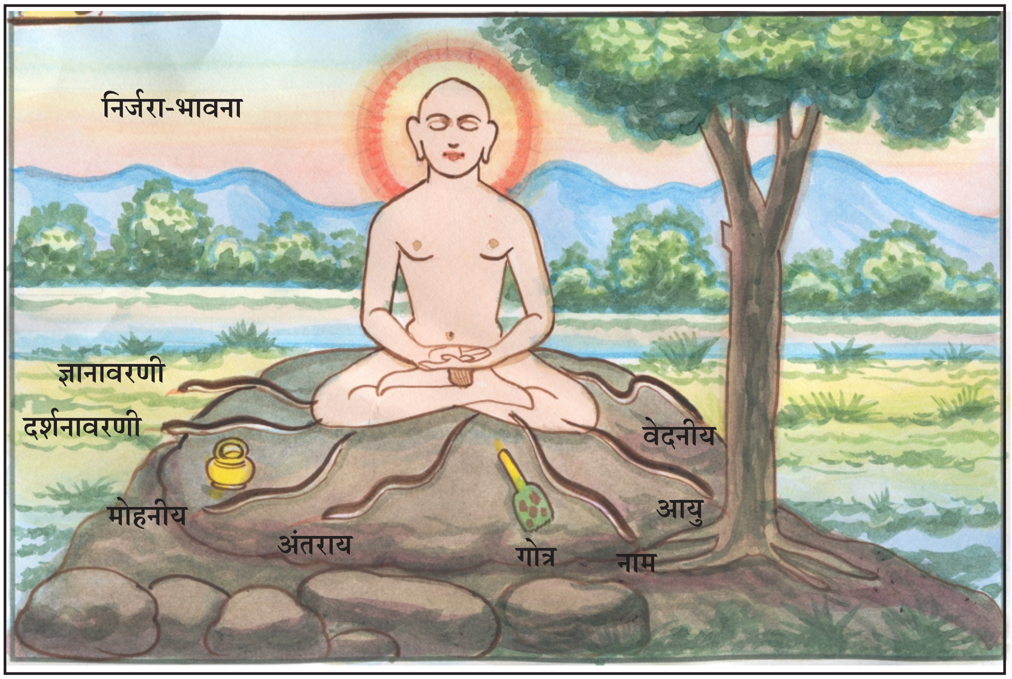

अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय में शोभित होना (शोभायमान दशा होना), प्रतपत इति। आत्मा उग्र निर्मल पर्याय से शोभित हो, उसका नाम भगवान यथार्थ तप कहते हैं। नीचे आयेगा। देखो ! समझ में आया ? 'प्रतपन इत पत'-ऐसा है। है न ? 'शुद्ध प्रतपन द्वारा कर्म खिर जाते हैं..' देखो ! अन्दर लिखा है। भावार्थ में लिखा है। '**आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं**...' भावार्थ में लिखा है। चौथी पंक्ति। और शब्दार्थ में यहाँ है, देखो ! '**आत्मा के शुद्ध प्रतन द्वारा**...' अकेला प्रतपन नहीं, कायक्लेश आदि नहीं। शुद्ध प्रतपन। भगवान आत्मा अनाकूल आनन्द की जो दृष्टि हुई है, उसमें उग्रता से लीन होकर, प्रयत्न-विशेषरूप से पुरुषार्थ की जागृति स्वभाव की ओर हुई है, उसका नाम तपस्या कहने में आता है। समझ में आया ? बाहर के जो (तप के) १२ प्रकार है, वह तो शुभभाव है। वह तो अनन्तबार किया, उसमें क्या है ? वह तो पूर्व का बन्ध पड़ा है, वह कर्म खपते हैं।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बाद तप लेते हैं न ? पहले संवर में लिया कि, दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ तो रोका। अब तप (लेते हैं)। तप का अर्थ क्या ? जो शुद्धता है, उसमें उग्रता (से) अन्तर में शुद्धता बढ़ी। जैसे सोने में-सुवर्ण में गेरु लगाकर... गेरु होता है न ? गेरु। लाल गेरु। सोने पर गेरु लगता है तो सोना शोभता है, ओपता है, शोभता है, प्रदीप्त होता है, चकचकाट होता है। सोने पर गेरु लगाने से। ऐसे भगवान आत्मा अपने शुद्ध (स्वरूप में) चित्त दिया था, उसमें विशेष एकाग्रतारूपी गेरु लगाया। विशेष शुद्धता में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रतपन अन्दर हुआ, वह आत्मा की पर्याय में महा उग्र शोभायमान दशा हुई, उसको तप कहते हैं। वह निर्जरा का कारण है। आहा..हा... !

चारित्र से भी तप की विशेष व्याख्या है या नहीं ? चारित्र है स्वरूप में लीनता। दर्शन में प्रतीति, ज्ञान के स्वज्ञेय का भान, चारित्र में लीनता। तप में भी उसकी विशेष उग्रता का नाम तप है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- 'महावीर' भगवान ने ऐसा तप किया था।

उत्तर :- ऐसा तप किया था। छह महिने ऐसा किया था, ऐसा नहीं। ऐसा तप भगवान ने अन्दर किया था। अन्दर में ध्यानाग्नि लगाई, ऐसी अग्नि प्रज्वलित (की), आनन्द को प्रज्वलित

करके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद में उग्र अनुभव करते थे, उसका नाम तप है। तब इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती थी। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के अनुभव में (इच्छा नहीं होती थी)। समझ में आया ? लोग कहते हैं कि, बाहर से आहार नहीं लिया, आहार नहीं खाया, वह तप है। ऐसा अनन्तबार किया, उसमें (क्या) आया ? वह तो बाहर की चीज है। परमाणु का आना और जाना, वह तो उसके कारण से है। इच्छा कदाचित् मन्द हुई हो तो वह पुण्य है।

मुमुक्षु :- हजारों बार जाता है तो भी कुछ नहीं होता।

उत्तर :- धर्म एक क्षण में होता है। आया ना ? '**मुनिव्रत धार अन्तबार ग्रिवक उपजायो।**' पहले आया न ? 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै नजि आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' आत्मज्ञान, त्रिगुप्ति में अन्दर रुक गया। मन से, वाणी से, देह से रुककर अन्दर में स्थिर हो गया, (उसमें) एक क्षण में जो शुद्धता प्रगट होती है (और) कर्म का नाश करते हैं। आहा..हा... ! अभी आत्मा की किंमत नहीं, इसलिये यह नहीं खाना, नहीं पीना वह तप, और उस तप से धर्म होगा (-ऐसा मानते हैं)।

मुमुक्षु :- आसान पड़ता है।

उत्तर :- आसान क्या ? राग आसान होता है।

यहाँ तो कहते हैं, '**आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा कर्मों का नाश करती है (यह अकाम अथवा सकाम निर्जर है)।**' अविपाक निर्जरा। अपने पुरुषार्थ (से) अनुभव करके आनन्द का अनुभव करके जो खिर जाते हैं, उसको अकाम निर्जरा न करके सकाम निर्जरा है और सविपाक नहीं परन्तु वह अविपाक है।

'**यह मोक्ष का सुख दिखलाती है।**' देखो ! संवर में भी लिया। '**संवर लहि सुख अवलोके।**' यहाँ '**शिवसुख दरसावै।**' (ऐसा कहा)। निर्जरा करते.. करते.. करते.. करते आनन्द की शुद्धता बढ़ जाये, अतीन्द्रिय आनन्द करते.. करते.. पूर्ण आनन्द हो जाये, उसका नाम मोक्ष (है)। आहा..हा... ! निर्जरा में सुख है, दु:ख नहीं, आनन्द है। उपवास करने से कष्ट दिखता है, वह तो आर्तध्यान है।

अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में जिसको मालूम नहीं कि इच्छा उत्पन्न

होता है कि नहीं, ऐसे आनन्द में लीन, अतीन्द्रिय में लीन हो जाना उसका नाम तप है। आहा..हा...! समझ में आया ? बाकी तो लंघन है। 'टोडरमलजी' में आया न ? निर्जरा करते-करते शिवसुख को दिखलाती है। वर्तमान में भी निर्जरा सुख दर्शाती है। निर्जरा में भी, जब संवर में सुख का भान है तो निर्जरा में भी सुख की विशेष वृद्धि का भान है। आहा..हा...! समझ में आया ? जब संवर में सुख का साक्षात्कार होता है, तो निर्जरा में विशेष शान्ति का, आनन्द का साक्षात्कार होता है, ऐसा कहते हैं। निर्जरा ऐसी नहीं है कि.. लेकिन तुझे आनन्द वृद्धि हुई या नहीं ? अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। शुद्ध उपयोग को निर्जरा कहा है। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, मोक्ष का सुख दर्शावे। (संवर में) अवलोके, यहाँ अधिक दिखाते हैं। संवर में जितना सुख है, उससे निर्जरा में विशेष आनन्द है। उसका नाम निर्जरा कहते हैं। ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि यथार्थपने भाते हैं। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❃

आहा हा ! आनन्दका नाथ परमात्म-स्वरूप आत्मा - यह महा गम्भीर वस्तु है । लोगोंको अपरिचितसा लगता है । जैसे अपरिचित देशमें जायें तो अपरिचितसा अपरिचितसा लगता है । पर बापू ! ये तो भगवानके देशकी बाते हैं, जो इन्हें रुचिसे सुने तो उसके निज-धरकी ही बातें हैं । अपरिचित कुछ नहीं, अपना ही है । अनन्त-अनन्त जन्म-मरणके नाशकी बातें हैं । इसके लिए अभ्यास चाहिए, निवृति चाहिए । लौकिक पढ़ाईमें भी दस-पन्द्रह वर्ष लगाते हैं, तो इसका भी थोड़ा समय निकाल कर अभ्यास करना चाहिए । यह वस्तु गम्भीर है । निश्चय किस प्रकार है, व्यवहार किस प्रकार है, आदि जानना चाहिए । ये तो सर्वज्ञकी जानी और कही हुई बातें हैं, इन्हें रूचिपूर्वक अन्तरमें उतर कर अनुभव करे - तो इसकी महीमा कैसी और कितनी है ! सो खयालमें आए । (परमागमसार-४१६)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १४, रविवार
दि. ०६-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-११, १२, १३. प्रवचन नं. ४४

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। पाँचवी ढाल की ११वीं गाथा है। इसमें सम्यग्दृष्टि, निर्जरा की भावना भाता है। निर्जरा किसे कहना ? और उस निर्जरा की यथार्थ किसे होती है ? जिसे आत्मा... तप से निर्जरा कही है न ? तप कब कहलाता है ? कि पहले आत्मा की राग और शरीर से भिन्न है-ऐसा अपने स्वरूप का शुद्ध सम्यग्ज्ञान हुआ हो; वह उसमें स्थिरता का प्रयत्न करे, उसे तप कहा जाता है। वह वास्तविक तप है। समझ में आया ?

तपना-प्रतपन होना-शोभिता होना। यह आत्मा.. जिसने पहले निजपद की संभाल की है.. समझ में आया ? मेरा स्वरूप.. वीतराग शुद्ध स्वरूप हूँ, पुण्य-पाप के राग रहित मेरी चीज अत्यन्त निर्मल, आनन्द है-ऐसा जहाँ सम्यग्ज्ञान और दर्शन प्रथम हुआ, उसे ऐसी निर्जरा होती है, उसे तप होता है। यहाँ इन्होंने 'तप' शब्द का प्रयोग किया है न ? '**तप करि जो कर्म खिपावै...**' उसे स्वभाव में पुरुषार्थ की उग्रता द्वारा कर्म खिरते हैं। कहो, समझ में आया ? कहते हैं कि कर्म तो अनादि से खिरते हैं। किस प्रकार (खिरते हैं) ? कि-

भावार्थ :- 'अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रत्येक समय अज्ञानी को भी होता है।' पूर्व में जो कर्म बंधे हुए हैं, उनके उदयकाल में, उनके उदय का समय आये, उस समय पाक होकर-उदय होकर तो खिर जाते हैं। यह तो अनादि से एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, निगोद, अभव्य और भव्य सबको (होता है)। समझ में आया ? यह तो सविपाकनिर्जरा कही जाती है। सविपाक अर्थात् कर्म का उदय होकर खिरना। इसमें कहीं आत्मा को लाभ नहीं है। समझ में आया ?

'वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...' चार बोल लिये। पहले 'तप ' शब्द है सही न ? पहले तो आत्मा उसकी

दृष्टि में, रूचि में पूरा परमानन्द जिसे पोषाया होता है, पोषाता है। पोषाता है अर्थात् ? अब आज तो सादी काठियावाड़ी भाषा हो गयी, कल तो हिन्दी थी न ? आत्मा शुद्ध जिसे पुण्य-पाप का पोषाण नहीं है, जिसे शरीरादिक की क्रिया का भी स्वामीपना नहीं है। एक सहज स्वरूप चैतन्य पूर्ण आनन्द का कन्द आत्मा है, उसका जिसे अन्तर में स्वामीपना, दृष्टिपना प्रगट हुआ है... भाई ! उसे सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है। आहा..हा... ! उस सम्यग्ज्ञानी को स्वभाव में उग्र पुरुषार्थ होता है, उसे निर्जरा कहा जाता है।

शुद्धि कि वृद्धि को निर्जरा कहते हैं अथवा शुद्धोपयोग को निर्जरा कहते हैं अथवा अशुद्धता के नाश को निर्जरा कहते हैं अथवा अशुद्धता का निमित्त मिटा, इसलिए कर्म का जितना मिटना होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहा जाता है। समझ में आया ? निर्जरा के बहुत प्रकार किये। यहाँ भावनिर्जरा की बात है। जिसे विश्वास में पूरा भगवान आत्मा आया है। आहा.. ! समझ में आया ? जिसका भरोसा पुण्य और पाप के भावमें से और शरीर की क्रियामें से उड़ गया है। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दकन्द अनाकुल प्रभु है-ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान, भान होकर भरोसा-प्रतीति उत्पन्न हुई है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, और सम्यग्ज्ञान-वह आत्मा जिसने जाना कि यह आत्मा पवित्र शुद्ध है-ऐसा जो ज्ञान, और उसके साथ स्वरूप में स्थिरता का अंश जो रमणता, रमणता-लीनता (होती है), उसे चारित्र कहते हैं और उस सहित की शुद्धि की वृद्धि को तप कहते हैं। अद्भुत व्याख्या ! समझ में आया कुछ ?

यहाँ 'तप' शब्द है न ? '**निज काल विधि झरना, तासौं निज काज न सरना...**' समझ में आया ? यह शब्द तेरापंथी में भी आता है। (एक मुमुक्षु) बारम्बार कहता है। '**निज काज न सरना...**' उसका। उसके बदले कहता है कि मिथ्यादृष्टि की क्रिया अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक गया। दया, दान आदि (किये), फिर भी कुछ कार्य नहीं हुआ। फिर किसी समय ऐसा कहता है कि जितने दया, दान आदि के भाव, पर को निभाने आदि के; जो निर्दोष हो वह भगवान की आज्ञा में, ऐसा वह कहता है। दो का अनादि का विरोध है। उसके उसी वचन में विरोध है-ऐसा (एक मुमुक्षु) निकालता था। वहाँ गाँव में बहुत तेरापंथी है न ! यह '**निज कारज न सरना...**' वह शब्द उनमें पड़ा है।

अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। दया, दान, शुभभाव, करुणा, कोमलता बहुत की, परन्तु

वह शुभभाव (थे)। उसमें कहीं निज काज नहीं हुआ। समझ में आया ? वह तो अकामनिर्जरा अथवा सविपाकनिर्रा–फल देकर खिरा, उसका नाम यह सविपाक या अकाम है। सकाम और सविपाक निर्जरा इसे नहीं हुई। समझ में आया ? अविपाक और सविपाक, यह कोई जैन में पड़े हुए को भी पता नहीं पड़ता। जो वीतराग की मूल ईकाई (है, उसका भी पता नहीं पड़ता)।

आत्मा अन्तर के आत्मा के भान बिना शुभभाव आदि के परिणाम से सहज पूर्वकर्म का उदय आकर खिर जाए अथवा शुभभाव में कोई पाप के रजकण खिरे, वह कोई सच्ची निर्जरा नहीं है। वह वस्तुस्थिति नहीं है, यह तो अनन्तबार ऐसा हो गया है, जिसे सविपाकनिर्जरा अथवा अकामनिर्जरा कहते हैं। यहाँ तो धर्मी को जो निर्जरा होती है, आत्मा के ज्ञानानन्द शुद्ध (स्वरूप) का भान होकर शुद्धि की वृद्धि बढ़े, अशुद्धता घटे, कर्म खिरे और भव घटे–ऐसी दशा को निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया ?

कहते हैं कि '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...**' प्रतपन–तपना। उग्र पुरुषार्थ से अन्तर आनन्द के घोलन में, अतीन्द्रिय आनन्द के घोलन में–जहाँ अकेला आनन्द तरवरे.. समझ में आया ? जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की लज्जत का उग्र स्वाद आये, उसे भगवान शुद्धि की वृद्धि अथवा शुद्धोपयोग अथवा निर्जरा कहते हैं। कहो, भाई !

मुमुक्षु :– सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है।

उत्तर :– उसे ही होती है। वह बात तो कही जाती है। यह कहाँ रहते हैं ? भान में कहते हैं। आज वापस सवेरे पुकार करते आये नहीं थे ? मेरे पाप का उदय होगा कि यह रोग आया ? लो ! यह लगाया सीधा ? माना है न कि मुझे आया; हुआ शरीर में और (मानता है कि) मुझे आया। ह कहना किसे ?

मुमुक्षु :– शरीर किसका ?

उत्तर :– शरीर जड़ का।

मुमुक्षु :– अभी ?

उत्तर :– अभी। अभी (नहीं) तो किसका है यह, आत्मा है यह ? यह तो मिट्टी है। समझ

में आया ?

मुमुक्षु :- यह भाई का नहीं ?

उत्तर :- इनका आत्मा है। इनका यह भाषा कही जाती है। शरीर भी कब इसका था ? और आत्मा का नाम कब था ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- यह मेरा है-ऐसा कहता हूँ, इसलिये दु:ख होता है।

उत्तर :- कहता हूँ, इसलिए नहीं, मानता है इसलिए। यह मान रहा है। वह एक काठी था न ? सुना था ? उस काठी को दायें पैर में फोड़ा हुआ, फोड़ा। काठी था। फोड़ा.. फोड़ा... फिर दूसरा भाई बारम्बार पट्टी बाँधे नाई.. नाई.. नाई होता है न ? नाई पट्टी बाँधे और छोड़े, फिर बाँधे, परन्तु ऊ.. ऊ.. करे ऊ.. ऊ.. करे, करते.. करते.. करते.. करते.. करते.. महीने-दो महीने में मिट गया। मिट गया और वापस ठीक हो गया तो भी थोड़ी पट्टी बाँध रखे, फिर तो जहाँ पट्टी खोले। वहाँ ऊं.. ऊं.. करे; मिट गया तो भी। फिर एक बार नाई ने पट्टी खोलकर (बायें) पैर मैं बाँधी, वह पट्टी जहाँ खोले, वहाँ ऊ.. ऊ.. करे, परन्तु क्या है ? कहाँ बाँधी है यह ?

मुमुक्षु :- ऊ.. ऊ... करने की आदत पड़ गयी है ?

उत्तर :- उसे आदत पड़ गयी है। भाई ! वह ऊ.. ऊ.. करने लगा। मिट गया, नाई को पता है कि यह मिट गया है, अब इसे कुछ है नहीं, फिर भी वह पट्टी बाँदे तब ऊ.. ऊ... करता है। फिर वह पट्टी खोलकर दूसरे पैर में-सही पैर में बाँधी, वहाँ जहाँ खोले तो ऊ.. ऊ.. (करे)। परन्तु किस पैर में है यह ? वह फोड़ा तो यहाँ रहा, (वह तो) मिट गया है; यहाँ क्यों शोर मचाता है तू ? हैं... ! किसने बाँधी ? परन्तु बाँधी चाहे जिसने, परन्तु दोष निकाले उसका, किसने बाँधा यह ? परन्तु बाँधा, तुझे अक्ल नहीं यह फोड़ा यहाँ है और तू शोर यहाँ से मचाता है। ऐसे शरीर में फोड़ा और शोर मचाये आत्मा-ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? मानता है न ! जड़ की दशा जड़ में वर्तती है, वह आत्मा को स्पर्शती भी नहीं और आत्मा में वर्तती भी नहीं।

मुमुक्षु :- मैं शरीर से भिन्न हूँ-ऐसा भासित ही नहीं हुआ।

उत्तर :- भासित नहीं हुआ, यह तो ठीक, परन्तु ऐसा है। न भासित हो तो भी शरीर की

अवस्था चैतनय में आयी ही नहीं। न माने तो भी शरीर की अवस्था आत्मा में आयी ही नहीं। आयी ही नहीं और माने के मुझे यह हुई है-यह तो मूढ की चीख-पुकार है। भाई ! आज सवेरे पुकारकरके आये वापिस, ऐ..ई..! मेरे पाप का उदय ? लो ठीक। इन सबके पुण्य का उदय है।

यहाँ कहते हैं, जिसने ऐसी शरीर की दशा को 'मेरी' मानी है, उसे तो मिथ्यादृष्टिपने में आत्मा का जरा भी लाभ नहीं है। शरीर तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह भी विकार है, वह मैं नहीं। समझ में आया ? क्योंकि भगवान उसे आस्रव कहते हैं। जैसे शरीर अजीव है, कर्म अजीव है, वाणी अजीव है, ऐसे ही पुण्य और पाप के भाव आस्रव है; अत: आत्मा, आस्रव और अजीव नहीं है। आत्मा, आस्रव और अजीव नहीं है, तब है क्या ? वह आनन्द और चैतन्य की मूर्ति, वह आत्मा है। आ..हा...! समझ में आया ? ऐसा चैतन्य और आनन्द.. यहाँ तो ज्ञान और आनन्द-दो वस्तु अधिक लेनी है। समझ में आया ?

ज्ञान और आनन्द-यह आत्मा का स्वरूप है। ऐसा जहाँ अन्तर में अपनेपन का अन्तर भरोसा भाव (हुआ कि) भगवान आत्मा मैं हूँ.. ऐसा आया कि उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसकी प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं, फिर उसमें स्थिरता हो, उसे चारित्र कहते हैं और फिर उग्र पुरुषार्थ द्वारा आनन्द की विशेष उज्जवलता बढ़े, उसे तप कहा जाता है। समझ में आया ? बहुत व्याख्या में अन्तर (है)। यह तो वर्षीतप करे, वहाँ (मानता है कि) उपवास हो गया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, धूल में भी नहीं, वहाँ उपवास कहाँ था वहाँ ? आत्मा के अन्दर में शुद्धता प्रगटे, वह तपस्या है। वैसा लंघन तो अनन्तबार किया। वह तो कहा न ऊपर ? '**निज काज न सरना...**' अनन्तबार ऐसे... क्या बारह-बारह महीने के उपवास किये, नौंवे ग्रैवेयक गया तब। पहला है-देखो ! '**निज काल पाप विधि झरना, तासौं निज काज न सरना।**' है भाई ! ये सब भाई वहाँ सुनने में ये थे वहाँ... तुम सब एक साथ के थे या नहीं वहाँ ? कि, हाँ उपवास करे, उसे निर्जरा होती है। परन्तु उपवास किसका ? रोटियाँ नहीं आयी, उसमें आत्मा को उपवास कहाँ से हो गया ? ये रोटियाँ तो जड़ है और उसमें कदाचित् राग की मन्दता शुभ की हो तो वह पुण्य है। वहाँ धर्म कहाँ से आया ?

धर्म तो पुण्य और पाप के रागरहित, देह की क्रिया के लक्ष्य बिना अकेले चैतन्य के पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से दृष्टि-ज्ञान और स्थिरता हो, उसे धर्म कहा जाता है। समझ में आया ? लक्ष्य अर्थात् ध्येय से। आहा..हा...! उसे कर्म की निर्जरा होती है अथवा अशुद्धता टलती है और शुद्धता बढ़ती है, उसे सच्ची निर्जरा कहा जाता है।

मुमुक्षु :- भगवान ने यह किया था।

उत्तर :- यह किया था, भगवान ने वह किया नहीं था।

मुमुक्षु :- मासखमण किया था..

उत्तर :- मासखमण की व्याख्या ही मिथ्या है। उन्होंने यह किया था। फिर इतने महीने तक आहार आने का योग नहीं था। लोगों ने यह देखा। अन्तर में यह देखा। अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द में अन्तर लवलीन होने से छह-छह महीने तक आहार लेने की इच्छा ही नहीं आयी, इसका नाम अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि, इसका नाम तप है। ऐसा तप भगवान ने किया था।

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- वे ऐसा मानते थे और जानते थे। अज्ञानी वे रोटियाँ नहीं खाते-ऐसा मानता है। समझ में आया ? दोनों के देखने की दृष्टि में फर्क है।

'वह अविपाक...' देखो ! भगवान आत्मा के अन्तर जहाँ शुद्धता भरी है, उसमें दृष्टि न पड़े तो शुद्धता की वृद्धि होगी कैसे ? समझ में आया ? पुण्य-पाप के भाव में शुद्धता पड़ी है ? आहार-पानी जाने-आने में शुद्धता पड़ी है ? शुद्धता तो अन्दर पड़ी है। भगवान चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प वीतराग स्वरूप से भरपूर है। उसमें दृष्टि पड़ने पर, उसका ज्ञान होने पर उसमें उग्रता के पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता टलती है और कर्म की निर्जरा शुद्धोपयोग से होती है-ऐसा कहा जाता है। आहा..हा...!

बहुत फेरफार हो गया है न। इस बारह महीने में एक वर्षीतप किया, जाओ ! हो गया (धर्म)। पाँच हजार-दस हजार (खर्च कर डाले)। गृहस्थ मनुष्य होवे ते एक वर्षीतप में (एक) लाख खर्च कर डाले। हो गया धर्म का उद्यापन। धूल में भी नहीं धर्म, सुन न अब। तेरे

लाख क्या करोड़ खर्च कर डाल ने.. राग मन्द होवे तो कदाचित् शुभभाव पुण्य बाँधे। समझ में आया ? धर्म-बरम नहीं, निर्जरा-निर्जरा नहीं।

यहाँ कहते हैं कि अपने आत्मा के प्रतपन द्वारा कर्मों का अथवा अशुद्धता का खिर जाना, वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कही जाती है। समझ में आया ? '**इस प्रकार शुद्धि की वृद्धि होते होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है..**' सब पूरा खिर जाता है, ऐसा। '**तब जीव शिवसुख (सुख की पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है।**' पाठ में है न ? '**सोई शिवसुख दरसावै...**' वह तो निर्जरा में भी आनन्द-सुख दर्शाता है। निर्जरा में भी आत्मा के अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का दर्शन होता है और पूर्ण होने पर मोक्ष हो जाता है-ऐसा कहना है। निर्जरा में भी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन प्रत्यक्ष विशेष हो, तब उसे निर्जरा कहते हैं। आहा..हा...! शिवसुख दर्शावे अर्थात् वहाँ मोक्ष के सुख का अंश दिखता है। निर्जरा में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का वेदन (आता है)। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उसके स्वाद का वेदन (होता है), उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- यह तो आस्रव को निर्जरा कहता है।

उत्तर :- आस्रव को निर्जरा माने, (वह) मिथ्यात्व का पोषण करता है और मानता है कि हम धर्म करते हैं। वस्तु का पता कहाँ है ? समझ में आया ? (श्रोताओं से) इस ओर थोड़ी जगह है, थोड़ा ऐसा नजदीक आना, बाहर थोड़े बैठे हैं; लड़के बाहर हैं, वे अन्दर आ जाओ। क्या कहा ?

जब आत्मा में निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होती है, तब आनन्द की वृद्धि का दर्शन अन्दर में विशेष होता है। आहा..हा...! अतीन्द्रिय आनन्द (विशेष आये), उसे भगवान तपस्या कहते हैं, बाकी सब को तो लंघन कहते हैं।

मुमुक्षु :- तो फिर वर्षीतप करने का हेतु क्या ?

उत्तर :- वह तो यह सब अज्ञान में, जगत में मान मिले और कुछ धर्म होगा-ऐसी मान्यता, मान्यता। वहाँ धर्म था कब ? दुनिया के लोग महिमा करे, घर में स्त्री हो, कुछ अन्य हो, विधवा हो, पैसा हो घर में.. हो पचास हजार खर्च करे। पति की उम्र बड़ी हो गयी है, स्वयं छोटी हो और उसमें उपवास करे तो फिर प्रसन्न करे, पाँच हजार खर्च करके, दस हजार खर्च करके-लहर करे।

समझ में आया ?

मुमुक्षु :– रूढ़ि अनुसार उपदेश..

उत्तर :– यह तो अनादि की रूढ़ि का उपदेश है, सत्य नहीं।

आत्मा के अन्तर सन्मुख के भान बिना जितना क्रियाकाण्ड का मन्दराग होता है, उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पुण्य बाँधे, पुण्यभाव होवे, बाँधे, बन्धन प्राप्त करे। उसमें से स्वर्गादिक में (जाए)। यह तो अभी ऐसा पुण्य कहाँ करता है ? यह तो मान और सम्मान रूचे और मर जाए.. बहुत पुण्य होवे तो स्वर्ग में जाए, वहाँ से मरकर पशु होवे, पशु होकर नरक में जाए। उसमें दूसरा कुछ है नहीं। समझ में आया ? कठिन बात है, भाई !

अनन्तकाल.. यहाँ कहा न ? '**निजकाल पाप विधि झरना...**' यह तो '**निज काज न सरना...**' वह तो उसके उदयकाल में खिर गया। उसमें आत्मा को कोई लाभ है नहीं। '**तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै।**' लो। '**ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन द्वारा...**' अन्तर में स्वद्रव्य का अवलम्बन लेकर, अन्तर्मुख होकर और '**शुद्धि की वृद्धि करता है वह निर्जरा भावना है ।**' उसे शुद्धि बढ़ती है। निर्जरा की भावना करने से, शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता करने से शुद्धता बढ़े, उसे निर्जरा कहते हैं। यह नौंवी (भावना) कही।

१०-लोक भावना

किनहू न करो न धरै को, षड्द्रव्यमय न हरै को;

सो लोकमांहि बिन समता, दु:ख सहै जीव नित भ्रमता ।।१२।।

अन्वयार्थ :- इस लोक को (किनहू) किसीने (न करौ) बनाया नहीं है, (को) किसीने (न धरै) टिका नहीं रखा है, (को) कोप (न हरे) नाश नहीं कर सकता; (और यह लोक) (षड्द्रव्यमयी) छह प्रकार के द्रव्यस्वरूप है-छह द्रव्यों से परिपूर्ण है (सो) ऐसे (लोकमांहि) लोक में (बिन समता) वीतरागी समता बिना (नित) सदैव (भ्रमता) भटकता हुआ (जीव) जीव (दुख सह) दु:ख सहन करता है।

भावार्थ :- ब्रह्मा आदि किसीने इस लो को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसीने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसीसे यह नष्ट नहीं होता; किंतु यह छह द्रव्यमय लोक स्वयं से अनादि अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप से स्थित रहकर निरन्तर अपनी नई-नई पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है; यह छह द्रव्यस्वरूप लोक, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ, मेरा शाश्वत चैतन्य-लोक ही मेरा स्वरूप है-ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वोन्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव-वीतरागता बढाने का अभ्यास करता है, यह 'लोक भावना' है ।।१२।।

दसवीं लोक भावना। सम्यग्दृष्टि जगत के तत्त्वों का विचार करके लोकभावना भाता है।

किनहू न करो न धरै को, षड्द्रव्यमयी न हरै को;
सो लोकमांहि बिन समता, दु:ख सहै जीव नित भ्रमता ।।१२।।

देखो ! यहाँ (इस) शब्द (पर) विशेष (वजन) है। बिन समता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान को समता कहा जाता है।

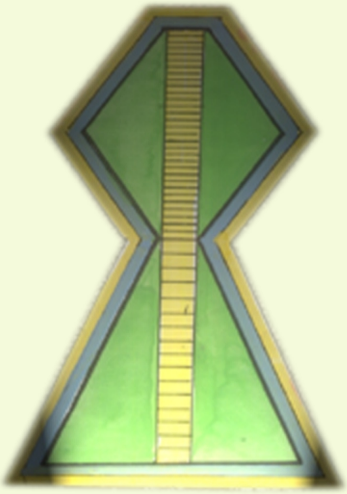

लोक भावना

यह लोक चौदह ब्रह्मान्ड है। चौदह ब्रह्माण्ड खड़े पुरुष के आकार सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान तीर्थंकर ने देखा है। लोक-ऐसे (कमर के ऊपर) हाथ रखकर मनुष्य खड़ा हो, उसका घेरा आवे ऐसा लोक की दिखावट है। चौदह राजू-ब्रह्माण्ड की। ऊर्ध्व में मोक्ष और स्वर्ग है, मध्य में मनुष्य और पशु है, अधो में नारकी है। ऐसा लोक **'किसी ने बनाया नहीं है।'** वह बनाया नहीं है। उसका कोई कर्ता नहीं है। वह अनादि वस्तु है। समझ में आया ? सर्वज्ञ के ज्ञान में (ऐसा

आया है)। अनादि से अनन्त सर्वज्ञ होते आये हैं। उन विज्ञानियों ने छहद्रव्य ऐसे के ऐसे अनादि से लोक देखा है। ऐसा का ऐसा लोक है। किसी ने बनाया नहीं। उसका कोई कर्ता नहीं। कोई ब्रह्मा उसका कर्ता है (-ऐसा नहीं)। क्या होगा ? भाई ! (कोई) कर्ता नहीं।

'किसी ने टिका नहीं रखा है...' कहते हैं न, नाग और क्या शेषनाग टिकाता है, विष्णु टिकाता है-सब गप बात है, मिथ्या है। अनादि-अनन्त छह द्रव्यों का लोक ऐसा का ऐसा अनादि से भरा है। अनादि से छह द्रव्य हैं। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणुओं अनादि से ऐसे हैं। उनका आकार चौदह ब्रह्माण्ड में पुरुष प्रमाण है, उसे किसीने किया नहीं है। ईश्वर-बिश्वर कोई कर्ता नहीं है, विष्णु उसे टिका रखनेवाला नहीं है। समझ में आया ?

'कोई नाश नहीं कर सकता...' कहते हैं न, महादेव नाश करता है। कोई नाश नहीं करता, ऐसा का ऐसा अनादि है। लो !**'षट्द्रव्यमयी-छह द्रव्य स्वरूप है-छह द्रव्यों से भरा है।'** जगत के अन्दर छह द्रव्य है। आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय में छह द्रव्यों की श्रदधा करने की, जानने की ताकत है। समझ में आया ? यह आत्मा, उसके अनन्त गुण, उसका एक ज्ञानगुण, उसकी एक समय की एक पर्याय, उसमें छह द्रव्य है-ऐसा जानने की एक समय की पर्याय की पूर्णता है-ऐसा माना। पूरा द्रव्य तो अभी एक ओर रह गया। समझ में आया ? एक समय की पर्याय की ताकत इतनी है कि छह द्रव्य ऐसे के ऐसे हैं; छह द्रव्य अनादि-अनन्त किसी ने किये नहीं है, किसी ने टिकाये नहीं है, किसी से उनका अभाव व्यय नहीं होता है। (-ऐसा जाने) समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ऐसा होने पर भी...

उत्तर :- फिर भी भान नहीं होता। वह कहते हैं न, अभी कहते हैं। 'बिन समता'। सम्यग्ज्ञान बिना 'बिन समता' शब्द इसमें पड़ा है, देखो ! अर्थात् वीतरागी समता के बिना, वीतरागी अर्थात् अन्तर दृष्टि-चैतन्य में ज्ञाता-दृष्टा हूँ। ज्ञाता-दृष्टा के भान बिना इसने चौरासी के अवतार अनन्तबार किये हैं। समझ में आया ? ओ..हो..हो... !

'षट् द्रव्यमयी लोक में वीतरागी समता बिना...' इस समता का अर्थ ही यह है-वीतरागी दृष्टि। सम्पूर्ण आत्मा शुद्ध परमानन्द, वह षट्द्रव्य को और अपने को जानने-देखने के ही

स्वभाववाला है। किसी का-पर का करनेवाला नहीं और अपने राग का भी करनेवाला नहीं-ऐसा उसका स्वरूप है। दूसरे, आत्मा के अलावा जो छह है-अनन्त आत्मायें और सब, उनका भी कर्ता नहीं और आत्मा में होते राग का भी कर्ता नहीं-ऐसी कर्ता बिना की जो ज्ञाता की समता, ऐसे ज्ञाता-दृष्टा के भान बिना चौरासी लाख के अवतार में अनन्तबार कोई स्थान जन्म और मरण के बिना बाकी नहीं रहा। चोरासी के अवतार में एक-एक स्थान में अनन्तबार अवतरित हुआ। समझ में आया ? समझे ? भाई ! यह पहले ऐसा नहीं, ऐसा तो पूर्व मनुष्यपने में अनन्तबार हो गया है।

मुमुक्षु :- अज्ञानता में समझ में नहीं आता न ।

उत्तर :- समझना है या नहीं ? उस अज्ञानता को मिटाने के लिए यह कहा जाता है या रखने के लिए कहा जाता है ? समझ में आया ? आहा..हा... ! यह नरक की वेदन, यह नरक की वेदना... यहाँ पाप करके नरक में गया, उसकी वेदना, यह अनुभव उसको भगवान जानते हैं। उस वेदना में आत्मा का भान कर सकता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? उसमें अन्दर में पड़ा और वेदना इतनी, सब बाँधे हुए और मार.. मार.. सिर पर ... ओ..हो.. ! यही स्थिति होगी ऐसी की ऐसी, यह क्या ? उसमें अन्दर स्मृति आ जाती है। अहो.. ! हमें ज्ञानियों ने कहा था कि तुम तो आत्मा हो और शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता हो। ऐसी अन्दर स्मृति आने पर (गुलांट मारता है)। अकेली पीड़ा वह अभी यदि मनुष्य देखे तो देख सके नहीं-इतनी पीड़ा। उसकी एक अग्नि की चिंगारी यहाँ इतना लाओ तो आसपास के अनेक योजन के मनुष्य उसे स्पर्शे बिना मर जाए-इतना आताप लगे। वहाँ यह असंख्य अरब वर्ष रहा। ऐसे अनन्तबार, एक बार नहीं, ऐसा अनन्तबार (हुआ)। इस आत्मा के सम्यग्दर्शन के भान बिना.. और ऐसे स्थल में भी अन्दर ऐसी गुलांट खाता है। ओ..हो... ! यह पीड़ा किसे ? कहाँ ? यह क्या है ? ऐस चैतन्य को अन्तर में देखने पर स्वरूप का भान (होकर) ऐसी पीड़ा के फल में आनन्द का भान हो जाता है। आतमा ऐसा उग्र पुरुषार्थ पीड़ा के स्थल में भी करता है। समझ में आया ? यहाँ कहाँ थी पीड़ा ? धूल में भी नहीं अब।

कहते हैं, आत्मा की दृष्टि के बिना.. मैं ज्ञायक चैतन्य, जगत का जानने-देखनेवाला हूँ; राग का भी करनेवाला नहीं, शुभराग का कर्ता भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि कर्ता माने, उसने विकारस्वरूप ही आत्मा को माना है। मैं ज्ञान हूँ, स्वसंवेदन से ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ। '**स्वानुभूत्या चकासते**' मेरे

अन्तर की अनुभव की क्रिया से मेरी प्रसिद्धि होती है, राग और शरीर की क्रिया से नहीं–ऐसा स्व का भान नरक में भी करता है, स्वर्ग में भी करता है। समझ में आया ? परन्तु भान बिना इसने **'वीतरागी समता के बिना...'** भाषा कैसी रखी है इन्होंने ? वीतरागी दृष्टि, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी शान्ति अर्थात् आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान और आत्मशान्ति के बिना **'हंमेशा भटकता हुआ जीव दुःख सहन करता है।'** देखो ! यहाँ तो स्वर्ग में भी दुःख सहन करता है–ऐसा कहा है। जीव हंमेशा दुःख सहन करता है। इसका अर्थ क्या हुआ ? सेठपने में, राजा में और स्वर्ग में दुःख ही है–ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :– स्वर्ग में क्या दुःख होगा ?

उत्तर :– दुःख है, यह कहते हैं। उसे उस शरीर में ... है, वह दुःख है। वह दुःख किसने कहा ? अन्दर आकुलता की होली सुलगती है, वह दुःखी है। वह आकुलता, स्वर्ग में भी आकुलता करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? दूसरी भाषा में कहें तो आत्मा की दृष्टि बिना सब पंच महाव्रत के परिणाम पालन किये, वह दुःख को पालन किया था, दुःखी है–ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! भाई ! आहा.. ! देखो ! **'हंमेशा भटकता हुआ जीव, दुःख सहन करता है।'** उसका अर्थ क्या हुआ ? समझ में आया ? अपने उसमें आया नहीं था ?

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥५॥

यह ज्ञान, दूसरा आयेगा अब। समझ में आया ? दूसरा आयेगा। बोधिदुर्लभ में–सम्यग्ज्ञान बिना, वह सम्यग्ज्ञान बिना (कहेंगे) समझ में आया ? 'पै सम्यग्ज्ञान न लाद्यौ...' वह तो पहले आ गया। समझ में आया ? उसका अर्थ कि आत्मा अन्तःस्वरूप के सम्यग्दर्शन–ज्ञान के भान बिना जितना इसने किया और (उसके) फल में गया, वह सब इसे दुःखरूप का ही वेदन था। अव्रत के परिणाम में था तो भी दुःखी और आत्मा के भान बिना व्रत के शुभपरिणाम में था तो भी दुःखी था, क्योंकि शुभभाव, वह आकुलता और दुःख है। इसने अनन्तकाल में दुःख ही भोगा है। भाई ! आहा..हा... ! देखो न ! क्या कहा ?

'बिना समता दुःख सहै जीव नित भ्रमता...' कि नित्य भ्रम में कोई नरक या पशु ही दो

रखे हैं ? मनुष्य, देव.. अनन्तबार त्यागी हुआ, मुनि हुआ–आत्मा के भान बिना। इस आत्मा के भान बिना, सम्यग्दर्शन–ज्ञान बिना जितने महीने–महीने के अपवास किये, महाव्रत के परिणाम किये–वे सब दु:खरूप परिणाम थे। है इसमें ? देखो ! भाई ! सेठी भी दु:खी है–यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आकुलता करते हैं, इसलिए (दु:खी है)। भाई ! अब यह (जीव) कल्पना करे कि मैं दु:खी हूँ और यह सुखी है।

मुमुक्षु :– कहाँ दु:ख है ?

उत्तर :– पैसेवाले–निरोगी सुखी। यहाँ तो कहते हैं कि महाव्रत के धरनेवाले भी दु:खी हैं, तुझे भान नहीं है, सुन न ! आत्मा के ज्ञान बिना अकेले महाव्रत के परिणाम, वह तो शुभराग है। यह राग है, वह दु:ख है, वह दु:खी है। तेरी दृष्टि और देखने में फर्क है। समझ में आया ? मेरे थोड़ा–सा दु:ख, उसे सुख, उसे अच्छा है, उसे अच्छा है। यहाँ तो कहते हैं कि निरोग शरीर, इतना निरोग कि जिसमें रोग पूर्व में आया नहीं, अभी है नहीं और आने की तैयारी नहीं–इतना निरोगी शरीर... और जिसके पंच महाव्रत के शुभपरिणाम–अहिंसा, सत्य, दत्त, (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भाव (पालन करता है), परन्तु मिथ्यादृष्टि है–आत्मा का भान नहीं है, इसलिए वह दु:खी है–ऐसा तू देख–यहाँ तो यह कहते हैं। ठीक ?

'जीव दु:ख सहन करता है।' देखो न ! यह तो गागर में सागर भर दिया है। 'छहाढाला' हिन्दी है, सारी हिन्दी। दिगम्बर में तो बहुत–सों को कंठस्थ होती है, परन्तु अर्थ नहीं समझते। **'लोकमांहि बिन समता...'** एक भगवान आत्मा, जो आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि समता, सम्यग्दर्शन अर्थात् वह समता–सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान वह समता–स्वभाव है। चारित्र भी वह समभाव है। ऐसे आत्मा का सम्यग्दर्शन–ज्ञान और शान्ति बिना इसने अनन्त (भवों में) जितना किया, जिसके फल में स्वर्ग आदि में गया, बड़ा सेठ हुआ–वह सब दु:खी ही थे, दु:ख ही भोगे हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– स्थायी दु:ख नहीं।

उत्तर :– कायम है–ऐसा यहाँ कहते हैं। इसे भान कहाँ है ? सदा विकार की वृत्तियाँ खड़ी होती है, यही इसे दु:ख है। कायम–चौबीस घण्टे निरन्तर.. आहा..हा...! समझ में आया ?

भगवान आत्मा निर्विकारी सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय लिये बिना अनादिकाल से जितना परद्रव्य के आश्रय से शुभाशुभभाव करता है, वह सब अकेला निरन्तर चौबीस घण्टे इसे दुःख ही है।

मुमुक्षु :- आश्वासन देनेवाला होगा न कोई ?

उत्तर :- अब आश्वासन देनेवाला भी मूढ है। उसे भान कब है ? दोनों समान-समान है।

मुमुक्षु :- तो सुखी को ढूँढना पड़ेगा न ।

उत्तर :- सुखी सम्यग्दृष्टि। 'एक सुखिया जगत में सन्त, दुरीजन दुखिया रे...' सुखिया जगत में सन्त-सम्यग्दृष्टि सुखी है। समझ में आया ? जिसे आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान का अन्तर भान होकर आनन्द का आंशिक आनन्द वेदन आया, वह एक सुखी (है)। बाकी सब दुःखी है। हजारों रानियाँ छोड़कर साधु हुआ हो, परन्तु सम्यग्ज्ञान-भान बिना वह दुःखी, दुःखी और दुःखी है। आहा..हा...! समझ में आया ? नज़र की फर्क की बात है, भाई ! यह तो चौबीस घण्टे अखण्ड धारा से.. आत्मा के आनन्द की जो धारा है, उसका जहाँ भान नहीं, वह अखण्डधारा से पुण्य-पाप के विकार से आकुलता और दुःख को ही भोगता है, उसे एक समय भी शान्ति है ही नहीं। ठीक है ? आहा..हा...! क्या कहा इसमें ? इसमें समझ में आया या नहीं ?

मुमुक्षु :- ध्यान में बैठे तो शान्ति होती है न ?

उत्तर :- ध्यान किसे कहना ? अन्दर राग में राग का विकल्प करता हो तो अकेला वह ध्यान दुःखरूप है, आर्तध्यान है, वह दुःखी है। आहा..हा...! कहो भाई ! चौबीस घण्टे ? निश्चिन्त ऐसा सोता है न ! श्रीखण्ड, पुरी खाये और अरबी के भुजिये (खाता हो), कहते हैं कि वहाँ सुखी या दुःखी ? वह दुःखी है। अकेला दुःखी, पूर्ण दुःखी है। भाई ! कैसे होगा ? पैसेवाले को पीछे करता होगा ? यहाँ तो महाव्रतवाले को पीछे नहीं करते, फिर दूसरे कहाँ रहे ? आहा..हा...! व्रत और अव्रत के दोनों परिणाम विकार है। भगवान आत्मा निर्विकारी स्वरूप है। उसकी अन्तरदृष्टि बिना निरन्तर शुभ और अशुभभाव का करनेवाला, वह दुःखी..दुःखी.. एकान्त दुःखी है। समझ में आया ? यह नज़र कठिन।

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- ये सुख-दु:ख टिकते नहीं, संयोग टिकते नहीं-ऐसा कहते हैं यह; परन्तु अन्दर कल्पना की धारा तो कायम चलती है। उसका भान कब था इसे ? समझ में आया ? 'कर्म ने.. घड़ीया आता है न ? दमयन्ती में आता है। आता है न, सब सुना है, पढा था, बहुत अधिक था न ? 'सुख-दु:ख मन में न आणिये, घट साथे रे घड़िया'-यह तो बाहर के संयोग की बात करते हैं; परन्तु जिसे आत्मा का पता नहीं, आत्मा आनन्दमूर्ति है, अकेला आनन्द का सागर है-ऐसी जहाँ अन्तरदृष्टि नहीं, वे सब जीव-एक साहूकार, गरीब, रंक, नारकी, चींटी, कौआ, कंथवा, हाथी और स्वर्ग का देव और मनुष्य, आत्मज्ञान रहित पंच महाव्रत धरनेवाला द्रव्यलिंगी साधु-एक ही धारा से दु:खी.. दु:खी.. और दु:खी है। आहा..! समझ में आया ? यह सब तो दु:खी (सिद्ध किये)। ये अकेला दु:खी नहीं, बहुतों को दु:खी सिद्ध किया। आहा..हा...!

यहाँ तो देखो न, क्या कहा ? '**सो लोक मांहि बिन समता, दु:ख सहे जीव नित भ्रमता.. नित भ्रमता**' इसे किसी भी अवतार में जरा भी सुख का अंश नहीं है, क्योंकि इसने सुखस्वरूप भगवान आत्मा की नज़र नहीं की है। नज़र किये बिनावाले बंध गये मिथ्यात्वभाव में, उसके शुभ और अशुभभाव में भी दु:खी है। कहो, ठीक है ? यह भगवान ऐसा कहते हैं। परमेश्वर तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक समय में तीन काल का ज्ञान था, वे परमेश्वर, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा फरमाते थे।

भाई ! भगवान आनन्द का सागर है न प्रभु ! तेरी शान्ति समाप्त न हो ऐसी शान्ति है। ऐसे शान्तिस्वरूप भगवान की सन्मुखता के पक्ष में चढ़े बिना जितने पर पहलू से खड़े हैं, वे शुभभाव करते हों, अशुभभाव करते हों, त्यागी दिखते हों, भोगी दिखते हों-वे सब दु:खी.. दु:खी.. चौबीसों घण्टे दु:खी हैं। भाई ! कैसा होगा यह ? परन्तु कैसे किस प्रकार मापना ? मापना कहा न ? कि सुखस्वरूप अर्थात् निर्विकारी भगवान आत्मा।

सुखस्वरूप अर्थात् भगवान आत्मा। वह नरक में स्थित सम्यग्दृष्टि जीव भी सुख भोगता है। समझ में आया ? वह सम्यग्दृष्टि नरक में स्थित (तो भी) आत्मा का सुख भोगता है और मनुष्यपने में हजारों लोग ऐसे वन में आदर करते हो, त्यागी दिखे, पंच महाव्रत धारी दिखे...

समझ में आया ? परन्तु जिसकी दृष्टि राग और विकल्प पर पड़ी है और चैतन्य पर नहीं है, वह दु:खी.. वर्तमान दु:खी है, (सम्यग्दृष्टि) नारकी वर्तमान सुखी है। आहा..हा..! भाई ! माप किस प्रकार करना ? भाई ! स्व के पक्ष में नहीं चढ़े, व सब जीव पर के पड़खे खड़े हैं। असंख्य अशुभभाव और असंख्य शुभभाव, उन किसी भी भाव में खड़े हैं, वे सब दु:ख का ही वेदन करते हैं। निरन्तर चौबीस घण्टे नहीं परन्तु अनादि जबतक सम्यक् प्राप्त न करे.. समझ में आया ? आत्मा की दृष्टि न करे, तब तक निरन्तर निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक (तक) मिथ्यादृष्टि गया, निरन्तर दु:खी है। कहो, भाई ! यह अद्भुत बात कहते हैं।

राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. ॐ. ॐ.. ॐ.. ॐ... ॐ... ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ... कहते हैं कि यह महावीर.. महावीर करे, वह राग है, वह दु:खी है। राग रहित चीज आत्मा की दृष्टि किये बिना वह दु:खी है। कहो, भाई ! अद्भुत व्याख्या, भाई ! यह कहते हैं, रविवार को होली नहीं सुलगाई जाती। हुतासनी है न ? क्या कहलाता है ? हुतासनी न ? आज कितने ही हुतासनी नहीं जलाते। रविवार है सही न, वहम पडता है। रविवार को होली नहीं जलाते। यह तो अनादि से सुलगता है, कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु जिसकी अन्तर खान में अनाकुल आनन्द का महासागर भरा है। ऐसे आत्मा की अन्तरसन्मुख की दृष्टि किये बिना, जितने प्राणी भोगी, त्यागी, रोगी, निरोगी, स्वर्गीय, नरकीय, सेठाई और भिखारी–सब चौबीसों घण्टे दु:खी.. दु:खी.. और दु:खी हैं। ठीक है ?

बात में यह बात है, पूरे लोक का वर्णन है न ? भाई ! इस लोक के अन्दर छह द्रव्य भरे हैं। तेरे स्वरूप के भान बिना तुझे किसी स्थान में, किसी काल में, स्वरूप के भान बिना के भाव में कहीं सुख नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा...! कहो ! बात तो जँचे ऐसी है या नहीं यह ? **'भटकता हुआ जीव दु:ख सहन करता है।'**

भावार्थ :- 'ब्रह्मा आदि किसीने इस लोक को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसी ने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नहीं होता, किन्तु यह

छहद्रव्यमय लोक स्वयं से ही अनादि अनन्त है। छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप में स्थित रहकर निरन्तर अपनी नयी-नयी पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते हैं।' देखो ! प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अनन्त गुण की अवस्था से प्रति समय उत्पन्न होता है। उसे दूसरा द्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरा कर्ता नहीं है; ऐसे ही दूसरा द्रव्य भी इसकी पर्याय को उत्पन्न नहीं करता।

जितने द्रव्य अनन्त हैं, उनकी प्रति समय की अवस्था वह द्रव्य स्वयं उत्पन्न करता है। उस उत्पन्न करनेवाले द्रव्य को कोई कर्ता नहीं है। समझ में आया ? इस द्रव्य को दूसरा द्रव्य कर्ता नहीं और इस द्रव्य की पर्याय में दूसरा कर्ता नहीं। ईश्वर कर्ता नहीं-ऐसा मानना और फिर कहे कि यह दूसरा द्रव्य इसका कर्ता है, यह तो वही का वही हुआ। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! क्या हो ? नयी-नयी पर्यायें प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक रजकण में, प्रत्येक आत्मा में, अनन्त में... अनन्त परमाणु में प्रत्येक में जितने अनन्त गुण हैं, उतनी ही एक समय में नयी अवस्था की उत्पत्ति का स्वकाल उसे होता ही है। वह स्वयं के कारण उत्पन्न होती है और स्वयं के कारण पूर्व की अवस्था से व्यय होता है और ध्रुवपना कायम रखती है।

'एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है।' जैसे छह द्रव्यों में-लोक में ईश्वर का अधिकार नहीं है कि ईश्वर करे; वैसे एक वस्तु में, उसकी पर्याय में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है। आहा..हा... ! दूसरे का भला-बूरा कर सके-ऐसा दूसरे द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अधिकार नहीं है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो अपनी भावना की श्रद्धा में देखता है। यह बात हो गयी है। यह संसारी-जीव के लिये है, हाँ ! भगवान के लिये नहीं। यह तो भक्ति है या नहीं ? भव के भय का वेदन करनेवाले... भगवान आत्मा के इस भव का भेदन करनेवाले... भगवान आत्मा के इस भव का भेदन करनेवाले.. हाँ ! भगवान नहीं, भगवान तो.. रात्रि में बात हुई थी न ? वहाँ तो मानते है और श्रद्धा है वहाँ ! श्रद्धा का विषय है, भगवान की श्रद्धा का विषय है। व्यवहार सम्यक्त्व। वे भगवान कैसे ? भव के भय का (भेदन करनेवाले हैं) । वे उत्पाद करनेवाले द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है। समझ में आया ?

'यह छहद्रव्यस्वरूप लोक, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है....' मेरे आत्मा से अनन्त आत्मायें, ये देव-गुरु-शास्त्र भी इससे भिन्न है-ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! आहा..! स्त्री, पुत्र का आत्मा और उनके शरीर तो त्रिकाल अत्यन्त भिन्न है। कोई किसी की दशा को कोई कर नहीं सकता। **'मैं उनसे भिन्न हूँ। मेरा शाश्वत चैतन्यलोक ही मेरा स्वरूप है।'** चैतन्यस्ववरूप जो ध्रुव नित्य अनादि-अनन्त चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा, वह आत्मा का लोक है। वह अनादि है। उस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और उसका कभी नाश नहीं होता। भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु !**'ऐसा धर्मी जीव विचार करता है।'** लो ! समझ में आया ?

'और स्वसन्मुखता द्वारा...' परसन्मुखपने तो अनन्तबार किया, परन्तु वास्तविक निर्जरा भावना कब कहलाती है ? उनसे भिन्न हूँ-जगत के छह द्रव्य-अनन्त हैं, उनसे भिन्न हूँ और पृथक् की पृथक्ता की भावना में ऐसी भावना करे तो **'विषमता मिटाकर...'** समता कही थी न ? **'साम्यभाव-वीतरागता बढ़ाने का अभ्यास करता है, (वह लोक भावना है)।'** ऐसा। कहा था न ? 'बिन समता।'-बिन समता बिना किया और आत्मा स्थिर हो तो समता बढ़े। स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान बिना छहद्रव्य (स्वरूप) लोक में भटका है। उस स्वरूप की श्रद्धा की समता, ज्ञाता-दृष्टा, दूसरा कुछ करना नहीं, दूसरे का कर सकता नहीं। ऐसा अपना पुरुषार्थ ज्ञाता-दृष्टा है-ऐसा भान करके और समता प्रगट करे, उसे यह लोकभावना सच्ची फलित होती है। समझ में आया ?

लोक में मेरा कोई नहीं है। मेरा, मेरे पास है। शरीर में मेरा नहीं है, कर्म में मेरा नहीं है, शुभाशुभभाव में भी मेरा नहीं है, तो स्त्री-पुत्र तो कहीं दूर रह गये, वे तो क्षेत्र से (भी) प्रत्यक्ष दूर हैं, प्रगट दूर है। इस पानी और दूध की तरह एकमेक दिखायी दे, (जब) वे पृथक् हैं, तो जो क्षेत्र से पृथक् हैं, वे तो अत्यन्त पृथक् हैं। कहो, समझ में आया ?

मेरा चैतन्यस्वरूप लोक, वह मैं हूँ-ऐसा मानकरके, परद्रव्यों से भिन्न हूँ और अपने स्वभाव के सन्मुख होकर भावना करे और शुद्धि की वृद्धि होती है.. समझ में आया ? वीतरागता-वीतरागता अर्थात् सम्यग्दर्शन तो है, सम्यग्ज्ञान है। यह आत्मा (भाता है कि) कोई मेरा नहीं है, मैं उनका (नहीं हूँ)। इसी प्रकार एकाग्रता होने पर उसे शान्ति की वृद्धि होती है, अशान्ति मिटती जाती है। ज्ञानी को अभी थोड़ी अस्थिरता है न ? यह शान्ति की वृद्धि होती है, वैसे अशान्ति मिटती है। लो ! उसे लोकभावना कहा जाता है।

११-बोधिदुर्लभ भावना

अंतिम-ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;

पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ ।।१३।।

अन्वयार्थ :- (अंतिम) अंतिम-नववें (ग्रीवकलौंकी हद) ग्रैवेयक तकके (पद) पद (अनन्त विरियां) अनन्तबार (पायो) प्राप्त किये, तथापि (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (न लाधों) प्राप्त न हुआ; (दुर्लभ) ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान का (मुनि) मुनिराजोंने (निजमें) अपने आत्मा में (साधौ) धारण किया है।

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि जीव मंद कषाय के कारण अनेकबार ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्रपद को प्राप्त हुआ है, परन्तु उसने एकबार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना वह अपूर्व है; उसे तो स्वोन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होने पर विपिरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही होते हैं। पुण्य से, शुभराग से, जड़ कर्मादि से नहीं होते। इस जीव ने बाह्य संयोग, चारों गति के लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये हैं किन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नहीं समझा, इसलिये उसकी प्राप्ति अपूर्व है।

बोधि अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता; उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिंतवन करता है और अपनी बोधि और शुद्धि की वृद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है, यह 'बोधिदुर्लभ भावना' है । १३।।

अब, ग्यारहवी बोधिदुर्लभ भावना।

अंतिम-ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;

पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ।।१३।।

भाषा देखो ! मुनि क्यों लिये हैं ? वे तीन बोल साथ हैं न ? भाई ! बोधि है न बोधि ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन को बोधि कहना है न,

इसलिए मुनि लिये हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो गृहस्थाश्रम में भी होता है, परन्तु यहाँ बोधि में सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान, ज्ञान और साथ में स्थिरता-चारित्र तीनों एकता को बोधि कहा जाता है। 'बोहिलांभ' नहीं आता ? 'समाहिवरमुत्तम दिंतु बोहिलाभं' आता है। उसका अर्थ नहीं आता होगा। 'बोहिलाभं' लोगस्स में शब्द आया है या नहीं ?

'आसग्गबोहिलाभं' आरोग्य अर्थात् शरीर की निरोगता, यह मांगे। धूल में उसकी बात नहीं है। आरोग्य अर्थात् रागरहित मेरी निरोग अवस्था की मुझे प्राप्ति होओ। आत्मा आरोग्य-पुण्य-पाप का रोग है, उससे रहित मेरी दशा मुझे प्राप्त होओ-इसका नाम आरोग्य। धूल (शरीर) की आरोग्यता क्या है ? यह तो कहा, शरीर का रोगी भी राग से दु:खी है, शरीर से निरोगी भी राग से दु:खी है। वह तो दु:खी है। 'आसग्ग बोहिलाभं' मुझे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ होओ; दूसरा लाभ सम्यग्दृष्टि नहीं मांगता। धर्मी तो बोधि का लाभ चाहता है। यह बोधि धर्म की भावना की व्याख्या हुई। (विशेष कहेंगे)....

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

जो निर्मल भावका पिण्ड है ऐसे चैतन्यकी जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे दया-दान आदिके रागकी व उनके फलकी महिमा नहीं होती । जिन्हें दया-दान आदिके रागकी व उसके अनुकूल फलकी महिमा है, उन्हें सुख समूह-आनन्दकन्दरुप आत्माकी महिमा नहीं आती । जिनको व्यवहार रत्नत्रयके शुभ-रागकी, देवःशास्त्र-गुरुकी अन्तरमें महिमा वर्तती है; उनको "निमित्तका जिसमें अभाव है - रागका जिसमें अभाव है -" ऐसे स्वभाव-भावकी महीमा नहीं है; जिससे उन्हें पर्यायमें अनन्द नहीं आता। जिनको शुभ-भावसे लेकर बाहरमें कुछ भी अधकता, आश्चर्य और महिमा (लगती) है - उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता ।

(परमागमसार-४२५)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन कृष्ण १, सोमवार
दि. ०७-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१३. प्रवचन नं. ४५

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। 'छहढाला' में पाँचवी ढाल चलती है, पाँचवी की १३वीं गाथा है। देखो ! बोधिदुर्लभ भावना। बारह भावना का अधिकार है। बारह भावना, सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप के लक्ष्य से शुद्धि की वृद्धि के लिये (भाता है)। बारह भावनायें माता के समान कही गयी है। इन भावनाओं को सम्यग्दृष्टि अन्तर में स्वभाव के साधन द्वारा भाता है। समझ में आया ? यह बात कहते हैं। देखो !

अंतिम-ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ।।१३।।

क्या कहते हैं ? **अन्वयार्थ :- 'अन्तिम नववैं ग्रैवेयक तक...'** अनन्तबार आत्मा उत्पन्न हुआ है। अनन्तकाल में अनन्त भव करते हुए नरक के तो अनन्त भव किये, पशु के अनन्त किये, मनुष्य के अनन्त किये और स्वर्ग के भी अनन्त किये। कहाँ तक ? अन्तिम ग्रैवेयक–नौवां ग्रैवेयक होता है। जो पुरुषाकार यह चौदह ब्रह्माण्ड है, वह ग्रीवा स्थान है, यहाँ आगे नव देव के ग्रीवेक–पासड़ा है, वहाँ भी अनन्तबार आत्मा के सम्यग्दर्शन–ज्ञान बिना, शुभ क्रियाकाण्ड करके अनन्तबार स्वर्ग को प्राप्त हुआ। नरक में और पशु में गया तो पाप किया था, मनुष्य में और स्वर्ग में गया, वहाँ पुण्य (किया था)। उसमें भी

बोधिदुर्लभ-भावना

नौवें ग्रैवेयक गया, तब तो अनन्तबार जैनपना व्यवहार से प्राप्त करके दिगम्बर साधु होकर **'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो...'** यह पहले आ गया है। चौथी ढाल में पाँचवी गाथा आ गयी है। यह पाँचवी ढाल चलती है। मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ- इतने अनन्तबार भव प्रत्येक जीवने किये, परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना उसे जन्म-मरण का अन्त कभी नहीं आया। कहो, समझ में आया ?

'अन्तिम ग्रीवक लौं की हद,... ' हद। नौवें ग्रैवेयक तक (गया)। नरक में अनन्तबार, पशु में अनन्तबार, उस-उस स्वर्ग में अनन्तबार (गया), उस नौवें ग्रैवेयक में अनन्तबार उत्पन्न हुआ। कैसे भाव होंगे इसके ? पापभाव होंगे ? पुण्यभाव, बहुत पुण्यभाव, बहुत शुभभाव (किये)। दया के, दान के, व्रत के, ब्रह्मचर्य के, नग्नपना-दिगम्बरपना, अट्ठाईश मूलगुण (पालन किये), बहुत शुभभाव, शुक्ललेश्या (थी)। जिसकी चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे-ऐसी तो उसकी शुक्ललेश्या की क्षमा होती है। समझ में आया ? शुक्ललेश्या।

यह आत्मा, इस शुभ-अशुभराग रहित चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द है। उसका एक समय भी इसने ज्ञान नहीं किया। उस ज्ञान के बिना अनन्त जन्म-मरण (किये)। स्वर्ग में जाकर वापस गिरा, मनुष्य हुआ, पशु हुआ और वापस नरक में गया और निगोद में भी अनन्तबार (गया)। नौवें ग्रैवेयक जाकर वापस निगोद में अनन्तबार गया। सत्य होगा ? ऐसे शुभभाव किये। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, महाव्रत, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण अनन्तबार किये, तब उसके फलरूप में स्वर्ग में (गया)। यह पहला पद है। **'अन्तिम ग्रीवक लौ की हद...'** हद अर्थात् मर्यादा। **'पायो अनन्त बिरियापद..'** अनन्त बार यह पद पाया। पर **'सम्यग्ज्ञान न लाधौ।'** एक सम्यग्ज्ञान, इस शुभ क्रियाकाण्ड से कुछ प्राप्त नहीं होता। आहा..! समझ में आया ? शुक्ललेश्या। कृष्ण, नील, कापोत-ये तीन तो पाप लेश्या है। पीत, पद्म, शुक्ल-ये तीन पुण्य लेश्या है। ऐसी शुक्ललेश्या भी अनन्तबार की और स्वर्ग को प्राप्त हुआ, परन्तु उस शुक्ललेश्या के द्वारा भी आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं-**'सम्यग्ज्ञान न लाधौ,...'** अनन्तबार पद पाया, तथापि सम्यग्ज्ञान नहीं पाया। सम्यग्ज्ञान अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप, ज्ञायकभाव, ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान। शास्त्रज्ञान नहीं, रागादि का ज्ञान नहीं, परपदार्थ का ज्ञान नहीं... परपदार्थ की कला तो अनन्तबार पाया, परन्तु यह

आत्मा चैतन्यज्योत सूर्य है-ऐसा अन्तर में एक क्षण भी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं की। समझ में आया ?

'सम्यग्ज्ञान न लाधौ...' वहाँ चौथी ढाल में ऐसा कहा था। **'मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'** चौथी ढाल की पाँचवी गाथा में था। चौथी ढाल की पाँचवी गाथा है, देखो ! समझ में आया ? पृष्ठ ८३, ८३ है, हमारे गुजराती में इसमें ८३ पृष्ठ है, हाँ ! चौथी ढाल का पाँचवा श्लोक। कदाचित् तुम्हारे में पाँचवा होगा। यहाँ पाँचवा है, देखो !

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे;
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते॥५॥

आत्मा के सम्यग्दर्शन और अनुभव के ज्ञान बिना करोड़ों भव में, करोड़ों वर्षों में, करोड़ो दीक्षा में, करोड़ों तप करे, करोड़ वर्ष तक (करे), तो भी जो कर्म नहीं खिरते, वे ज्ञानी के छिन में... आत्मा अन्तरस्वरूप में ज्ञानानन्द में गुप्त होकर, विकार-पुण्य-पापभाव की रूचि छोड़कर चैतन्य महान प्रभु परमात्मा अपना निज-अपना स्वरूप का ज्ञान करके क्षण में ज्ञानी कर्म को खिपाता है। कहो, समझ में आया कुछ ? यह लिया, देखो !

मुनिव्रत धार अनंत वार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान विना, सुख लेश न पायौ॥५॥

यहाँ भी ग्रीवक लिया है। यहाँ सम्यग्ज्ञान लिया है, वहाँ आत्मज्ञान लिया है। यह तो एक की एक बात है। **'मुनिव्रत धार अनन्तबार...'** मुनिपना-दिगम्बर नग्नमुनि, अट्ठाईस मूलगुण पालन करनेवाला अनन्तबार हुआ। समझ में आया ? एक क्षण भी चिदानन्द आत्मा, राग की क्रिया से रहित, देह की क्रिया से रहित अकेला चैतन्य प्रभु आत्मा शुद्ध है, उसकी अन्तरदृष्टि-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन नहीं किया। कहो, भाई ! यह गाथा अभी तुम्हारे ठीक आयी है। गाथा यहाँ मौके से आयी है। इसके पहले भी सब उसमें-चौथी ढाल में बहुत था। समझ में आया ?

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण;
इह परमामृत जन्मजरामृतिरोग निवारण॥४॥

चौथी ढाल में चौथा (श्लोक) है न ? '**ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण...**' वह ज्ञान कौन-सा ? आत्मा.. आत्मा चिदानन्द प्रभु शुद्ध आनन्दकन्द ज्ञायक है। भाई ! तुम्हारे पिताजी को ज्ञायक का बहुत था। तब ज्ञायक कहा था न ? ज्ञायक। ज्ञायक, बस। ऐसा बोले थे। पता है ? अन्त में ऐसा बोले थे। अन्त में, इसलिए तब वहाँ था। मैंने कहा था ज्ञायक, बस ज्ञायक, बस। आत्मा चैतन्य, ज्ञायकमूर्ति है। उसमें पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उत्पन्न हो, वह सब विकार है। वह आत्मा के हित के लिये बेकार है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य, चैतन्य को डली है। जैसे सफेदाई से भरी हुई खड़ी, क्षारपन से भरे हुए नमक की डली, मीठास से भरी हुई शक्कर, कड़वेपन से भरी हुई अफीम (है); वैसे ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ भगवान है। आहा.. ! समझ में आया ? उसके स्वसन्मुख का ज्ञान एक समयमात्र भी नहीं किया। इस क्रियाकाण्ड में रुक गया और यह मुझे धर्म और यह मेरा कार्य-यह मेरा कर्तव्य। (-ऐसा मान लिया)। समझ में आया ?

कहते हैं-'**पै सम्यग्ज्ञान न लाधौ...**' ऐसे भाव अनन्तबार किये। क्यों ? '**दुर्लभ निज में मुनि साधो।**' भाषा देखो ! क्या कहते हैं ? मुनि ने आत्मा के साधन द्वारा अन्तर (में) सम्यग्ज्ञान साधा है। -ऐसा कहते हैं। दुर्लभ-ऐसा जो सम्यग्ज्ञान अनन्त काल में प्राप्त नहीं हुआ, वह '**निज में मुनि साधो।**' उसे आत्मा के स्वभाव द्वारा आत्मा को साधा। अर्थ में ऐसा है। '**मुनिराजों ने अपने आत्मा में धारण किया है।**' साधा है-ऐसा। स्वरूप का साधन, वह सम्यग्ज्ञान आत्मा द्वारा साधा-ऐसा कहते हैं। ऐसा कहकर क्या कहते हैं ? कि शुभ आदि राग की मन्दता, जो कषाय की मन्दता अनन्तबार हुई, उसके द्वारा आत्मसाधना सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ। समझ में आया ? यहाँ मुनि क्यों लिये हैं ? कि बोधि है और बोधि में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्ण प्राप्ति है, उसका मुनियों ने अपने आत्मा द्वारा साधन किया है, निज में साधा है। इस राग से, व्यवहार से, विकल्प से, निमित्त से साधन साधता नहीं है-ऐसा कहते हैं।

मुनि की बात तीन की एक.. है न ? दर्शन, ज्ञान और चारित्र... परन्तु सम्यग्ज्ञान एक शब्द लेने से, वह ज्ञान भी आत्मा द्वारा, शुद्ध चैतन्यस्वरूप द्वारा वह स्वयं कर्ता और अपने शुद्ध स्वभाव द्वारा वह सम्यग्ज्ञान साधा है और साधा जा सकता है। कहो, भाई ! इसमें समझ में आया ?

यह देह की क्रिया जड़ की... यह परिणाम हिंसा, जूठ, चोरी, विषय-भोग, वह पाप; यह दया, दान, व्रत, तप की क्रिया का भाव वह शुभराग-पुण्य, उससे आत्मज्ञान और यह धर्म नहीं सधता। आहा..हा... ! यह तो सादी हिन्दी भाषा है। 'दौलतरामजी' कृत है। 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। दौसो वर्ष पहले दिगम्बर पण्डित महातत्त्वदृष्टिवन्त (हो गये हैं)। उन्होंने कहा कि सन्त और अनन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ परमेश्वर जो अनन्त हुए, अनन्त 'कुन्दकुन्दाचार्य' आदि महा दिगम्बर मुनि, महा धर्म के स्तम्भ-धर्म के स्तम्भ... समझ में आया ? समझ में आता है ? उन मुनियों ने भी ऐसा कहा और ऐसा साधा कि निज में '**दुर्लभ निज में मुनि साधौ।**' दुर्लभ कहकर क्या कहा ? कि अनन्त बार राग की, कषाय की मन्दता द्वारा वह प्राप्ति नहीं होती-ऐसा वह दुर्लभ है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! राग की, कषाय की मन्दता के शुभयोग द्वारा वह प्राप्त नहीं हुआ-ऐसा वह दुर्लभ है। आहा..हा... ! परन्तु उस शुभराग की मन्दता के भाव को भी उल्लंघ कर-छोड़कर, धर्मी जीव-'**निज में मुनि साधौ।**' यह सम्यग्ज्ञान, दर्शन-चारित्र आत्मा के अन्तर स्वरूप में साधन किया। अन्तर स्वरूप द्वारा साधन किया और अन्तर स्वरूप में साधा। है उसमें ? देखो ! कहाँ है ? है या नहीं ? भैया ! उसमें है या नहीं ? क्या है ? '**पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ।**'

अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक गया, तब निज का साधन नहीं किया था-ऐसा हुआ न ? उसने पर साधन (किया)। उसका अनादि लक्ष्य पर.. पर... पर.. पर.. पर.. यह करुँ.. यह करुँ.. यह करुँ.. व्रत पालूं... भक्ति करुँ, पूजा करुँ, दान (दूँ)-ऐसे परलक्ष्यी शुभभाव परसन्मुखता में अनन्तबार किये, उसे निज सन्मुख की बात जहाँ आये, वहाँ उं.. हूँ (निषेध होकर) उसे एकदम उकताहट लगती है..यह क्या ? यह क्या ? अनन्तकाल में जिसका अभ्यास नहीं, इस कारण उसे (ऐसा लगता है कि) यह क्या ? यह ऐसा धर्म ? एक तो सुननेवाले को अनन्तकाल में यह बात सत्यपने की यथार्थरूप से सुनी नहीं, इसलिए सुनते ही उसे हैं। (हो जाता है)। ऐसे व्रत, तप से कोई धर्म नहीं होता ? परन्तु वह तो परसन्मुख की क्रिया का भाव है, सुन न ! समझ में आया ? सूक्ष्म बातें, भाई ! किसी दिन मुश्किल से सुनने में आती है न ? किसी दिन, भाई ! क्या कहा ?

यहाँ तो ढालकार-छहढालाकार 'दौलतरामजी' हैं। 'दोलतरामजी' कहते हैं कि निज की

दौलत के साधन के बिना, इस पर दौलत से साधन नहीं होता। समझ में आया ? ऐसा अनन्त सर्वज्ञों, अनन्त मुनियों–दिगम्बर सन्तों महामुनि हुए, उन्होंने इस प्रकार कहा है और इस प्रकार साधा है। दूसरी किसी क्रिया से आत्मा साधा जा सके या धर्म हो सके–ऐसा है नहीं। आहा.. ! (अज्ञानियों को) अन्दर ऐसा लगे अर..र..र.. ! यह तो व्यवहार का नाश हो जाता है। ऐ..ई... ! भाई ! सुन तो सही, बापू ! यह व्यवहार अभी किसे कहना तुझे पता नहीं है।

आत्मा अखण्डानन्द प्रभु ज्ञान का सागर, आनन्द का सागर परमात्मा (है), उसका अन्तरध्यान, अन्तर निर्विकल्प शान्ति और आनन्दस्वरूप हूँ–ऐसा ज्ञान और श्रद्धा हो, तब उसे जो कुछ शुभभाव–दया, दान, भक्ति का होवे, उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है। इसलिए पुण्य को व्यवहारधर्म कहते हैं, परन्तु निश्चयदृष्टि और धर्म होवे तो.. समझ में आया ? स्वसन्मुख में माहात्म्य है या नहीं ? पता नहीं ? कि अनादि से इस शरीर, वाणी और मन के ऊपर इसका लक्ष्य है; अधिक तो इसका लक्ष्य विकार पर जाता है, अन्दर परिणाम पर (जाता है)। शुभ और अशुभ, शुभ और अशुभ... यह भी विकार है। इससे आगे जाकर उसकी प्रगट अवस्था, प्रगट अवस्था–ज्ञान का उघाड़–क्षयोपशम, दर्शन का उघाड़, वीर्य का उघाड़। बस ! विकास, एक समय का विकास, बस ! इतना इसका स्वरूप (है–ऐसा) जानता है, ऐसा मानता है और इसका लक्ष्य ही वहाँ पर के ऊपर है, परन्तु यह ज्ञान के विकास का अंश है, वह त्रिकाल ज्ञातास्वरूप अन्दर गुप्त परमात्मा (है, उसका है)। गुप्त परमात्मा, गुप्त अर्थात् पर्याय में प्रगट नहीं, पर्याय में प्रगट नहीं, अप्रगट गुप्त पूरा तत्त्व चैतन्यरस... समझ में आया ? क्या कहा ?

'श्रीमद्' का वाक्य (आता है)–गुप्त चमत्कार सृष्टि को पता नहीं है, सृष्टि के लक्ष्य में, गुप्त चमत्कार है, उसका पता नहीं है। 'श्रीमद्'ने एक वाक्य लिखा है–गुप्त चमत्कार। एक सैकेण्ड के असंख्यभाग में वर्तमान विकास–उघाड़ एक अंश, दया, दान के परिणाम विकार; कर्म, शरीर आदि अजीव इनसे रहित अन्दर अनन्त गुण का पिण्ड जो गुप्त चमत्कार, जिसमें केवलज्ञान प्रगट हो, जिसमें से; जिसमें से अनन्त सिद्धदशा प्रगट हो–ऐसा गुप्त चमत्कार चैतन्य, सृष्टि के लक्ष्य में नहीं आता। समझ में आया ?

मुमुक्षु :– ..

उत्तर :- गुप्त, गुप्त अन्दर है न ? ऐ..ई..! गुप्त अर्थात् पर्याय में प्रगट नहीं। यह स्पष्टीकरण हो गया। पर्याय में प्रगट नहीं। कल रात्रि में कहा था न ? अव्यक्त। पर्याय-अवस्था है, अवस्था है उतना प्रगट है और अवस्था बिना का पूरा तत्त्व, वह अप्रगट है, ध्रुव.. ध्रुव। समझ में आया ?

वस्तु है, पूरी चीज एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में; वर्तमान दशा का भाव तो एक समय का है। राग है, वह विकार है; निमित्त है, वह परवस्तु है। अब इन तीन में प्रगटपना उसे ऐसे लगता है। यह उघाड़ है, वह मैं; राग, वह मैं, और यह संयोग, वह मैं परन्तु उसके पीछे अन्दर एक समय का जो विकार का अंश है, उसके पीछे पूर्ण अंशी पूर्णानन्द का नाथ चिदानन्द द्रव्य पड़ा है। उस द्रव्य के सन्मुख दृष्टि किये बिना इसे तीन काल में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना इसके जन्म-मरण का कभी अन्त नहीं आता; मर जाए क्रियाकाण्ड करके। समझ में आया ? यह तो कहा, नौवें ग्रैवेयक तक गया अर्थात् ? कितना किया ? बारह-बारह महीने के अवास, बारह-बारह महीने। दूसरे देवलोक की इन्द्राणी विचलित करने आवे तो भी डिगे नहीं-ऐसा जिसका ब्रह्मचर्य ! परन्तु वह सब शुभराग। समझ में आया ?

अन्तर स्वरूप '**दुर्लभ निज में...**' 'निज में' शब्द पड़ा है न ? यह राग कोई निज नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम निजस्वरूप नहीं है। देह, वाणी, जड़, यह तो जड़स्वरूप है और एक समय का विकार उघाड़ है, वह एक समय की पर्याय एक अंश है, वह व्यवहार आत्मा है। समझ में आया ? पूरा तत्त्व निज भगवान ज्ञानानन्द का धाम चैतन्य सत्ता भगवान पूर्ण स्वरूप में साधन करना चाहीए, वह साधन किया नहीं। धर्मी जीव ने '**निज में मुनि साधो।**' आत्मज्ञान किया, आत्मदर्शन किया, आत्मशान्ति, चारित्र किया। किस में से ? निज में से। अन्तरमें से सम्यग्दर्शन और ज्ञान-चारित्र का साधन किया है। बाहर के साधन द्वारा वह साधन नहीं हो सकता। समझ में आया ? देखो न ! यह 'छहढाला' तो बहुत-सौं को कंठस्थ है न, भाई ! चलती है या नहीं ? सम्प्रदाय में बहुत चलती है। इसके अर्थ का भी पता नहीं होता।

'**मुनिराजों ने (निज में) अपने आत्मा में धारण किया।**' लो !

भावार्थ :- 'मिथ्यादृष्टि जीव (अनादि का) मन्दकषाय के कारण...' राग की मन्दता की। दया, दान, व्रत, कषाय, ब्रह्मचर्य पालन किया तो **'अनेकबार ग्रैवेयक तक पैदा...'** हुआ। अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक गर्दन के साधन पर जहाँ स्वर्ग है, (वहाँ) अनन्तबार उत्पन्न हुआ। **'अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ है...'** अहम् इन्द्रि। नौवें ग्रैवेयक को देव सब अहमिन्द्र, ऋद्धि से, सिद्धि से लगभग सब समान-ऐसे अहमिन्द्र पद को अनन्तबार प्राप्त हुए (परन्तु) सम्यग्दर्शन के बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आया।

'परन्तु उसने एकबार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया...' एक समय भी.. समझ में आया ? **'क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना, वह अपूर्व है...'** सम्यग्ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का पठन, वह नहीं। शास्त्र का पठन और दुनिया को कहना, समझना, वह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहा..हा...! दूसरों को समझाने का विकल्प-राग उत्पन्न हो, वह कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं है। समझ में आया ? अपूर्व सम्यग्ज्ञान-पूर्व में अनन्त भव में एक सैकेण्ड भी प्राप्त नहीं किया। पूर्व में किया, वह तो तब तक वह अपूर्व नहीं। सम्यग्ज्ञान एक समय भी अपूर्वरूप से अनन्तकाल में प्राप्त करना कठिन है। इसे प्राप्त करने की दरकार नहीं की है। आत्मा को पकड़ने की दरकार ही नहीं की है।

यह आत्मा क्या चीज है ? भगवान ! जिसमें से सिद्धपद निकले, जिसमें से अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आनन्द की दशा (प्रगट हो), अतीन्द्रिय आनन्द की खान.. आहा..हा...! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की खान, अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण-ऐसे अनन्त पूर्ण... पूर्ण आनन्द की खान, यह आत्मा है। भगवान जाने.. इसके सन्मुख होने की इसने दरकार ही (नहीं की है)। समझ में आया ? धर्म के बहाने भी त्यागी हुआ, वहाँ भी राग की मन्दता में रुककर धर्म मान बैठा, परन्तु राग की मन्दता के अतिरिक्त अविकारी भगवान आत्मस्वभाव का ज्ञान अपूर्व है।

'इसीलिए उसे तो स्वसन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।' राग की मन्दता द्वारा या कषाय की बहुत हीनता करे, नरम स्वभाव करे, उससे वह प्राप्त हो-ऐसा नहीं है। अनन्त पुरुषार्थ (चाहिए)। अपना आत्मा प्रभुत्वगुण से भरपूर है, आत्मा परमेश्वरताके गुण से भरपूर है। आत्मा एक-एक गुण से परमेश्वर। ज्ञानगुण से परमेश्वर, दर्शनगुण से परमेश्वर, आनन्दगुण से परमेश्वर, शान्तिगुण से परमेश्वर, स्वच्छतागुण से परमेश्वर,

प्रभुतागुण से परमेश्वर, कर्तागुण से परमेश्वर, कार्यगुण से परमेश्वर... साधनगुण से परमेश्वर। आत्मा अपने साधनगुण से परमेश्वर है। आहा..हा... ! इस राग की साधन इसे आवश्यकता नहीं है–ऐसा यह परमेश्वर है। आहा.. ! साधनगुण से परमेश्वर, दान देने और लेने के (–संप्रदान) गुण से परमेश्वर, यह अपने आधार से प्रगट करे–ऐसा यह परमेश्वर.. आहा..हा... ! ऐसा परम ईश्वर प्रभु एक–एक गुण से परमेश्वर–ऐसे अनन्त गुण का प्रभु ऐसा आत्मा, उसमें अन्तर्मुख होकर आत्मा द्वारा सम्यग्दर्शन और ज्ञान का साधन होता है। निमित्त द्वारा, राग द्वारा, स्मरण द्वारा भी वह साधन नहीं होता। आहा..हा... ! कहो, भाई ! यह तो अब बहिनों को गुजराती समझ में आये ऐसा है या नहीं ? आहा..हा... !

'और ऐसा होने पर विपरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।' अनादि से जो मान्यता कि राग और मन्दता का व्यवहार होवे तो धर्म होता है–ऐसा मिथ्यात्वभाव, मिथ्या अभिप्राय, मिथ्यादृष्टिपना, इस स्वसन्मुखता के अन्तर के साधन द्वारा, उस परसन्मुख से हुई राग की मान्यता (कि) इससे लाभ (होगा), इस मान्यता का नाश होता है।

मुमुक्षु :– ..

उत्तर :– एक समय में।

मुमुक्षु :– राग का भी परमेश्वर है।

उत्तर :– राग का नहीं, राग का नहीं। अनन्त गुण का परमेश्वर है। ज्ञान अनन्तगुण... ज्ञान में अनन्त स्वभाव है, उसका परमेश्वर है; राग का नहीं, विकार का नहीं। समझ में आया ? सहजात्म चिदानन्द स्वामी, उसमें एक शक्ति है–आत्मा में एक शक्ति है–स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति। सैंतालीस शक्तियों का वर्णन है न ? पढ़ी है न ? 'आत्मप्रसिद्धि' 'आत्मप्रसिद्धि' आती है न ? उसमें सैंतालीस शक्तियाँ है। स्वास्वामीसम्बन्धशक्ति। आत्मा में एक स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति नाम का परमेश्वर गुण है। परमेश्वर गुण। स्वस्वामी सम्बन्ध (अर्थात्) अपने आनन्दस्वरूप स्व का स्वामी–ऐसा उसमें स्वभाव है। राग, विकार और पर का स्वामी, वह गुण आत्मा में तीन काल में है नहीं। समझ में आया ? है न ? यह तो गुजराती है, परन्तु है न इसमें ? देखो ! अन्तिम ४७वाँ बोल है, सैंतालीस। देखो ! क्या कहते हैं ?

'**स्वभावमात्र स्व-स्वामीत्वयमयी सम्बन्धशक्ति। (अपना भाव, अपना स्व और स्वयं उसका स्वामी..)**' ऐसी शक्ति आत्मा में है, अनादि-अनन्त है। कैसा गुण ? कि भगवान आत्मा शुद्ध अनन्त गुण का स्व और उसका वह स्वामी-ऐसा उसमें गुण है। पुण्य-पाप के परिणाम का स्वामी अथवा पुण्य-पाप उसका स्व और उनका वह स्वामी-(ऐसा) उसके गुण में नहीं है, उसकी शक्ति में नहीं है, उसके स्वभाव में नहीं है। एक समय की पर्याय राग की, विकार को उत्पन्न करके स्वयं स्वामी होता है, वह मिथ्यादृष्टि, विकार का स्वामी होता है। समझ में आया ?

यहाँ तो स्व... पुण्य-पाप का भाव नहीं; शरीर, वाणी नहीं; स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये, धूल। ये इसका स्व नहीं। इसका स्व ज्ञायक, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, विभुता, प्रभुता आदि, वह अपना स्व अनन्त गुण-उसका यह स्वामी, उनका यह भगवान स्वामी है-ऐसा इसमें गुण है, परन्तु पुण्य-पाप का स्वामी और शरीर, कर्म का स्वामी और स्त्री-पुत्र व देश का स्वामी, वह तो मिथ्यादृष्टि, मिथ्याबुद्धि से मानता है, भाई ! आहा..हा... ! यह स्व-स्वामी सम्बन्ध आत्मा के स्वभाव के साथ है। एक विकल्प उत्पन्न हो, जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधे, वह भाव भी आत्मा का स्व और (आत्मा उसका) स्वामी, यह उसके गुण में नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सैंतालीस शक्तियाँ हैं। '**आत्मप्रसिद्धि**' बाहर (प्रकाशित) हो गयी है। अभी दूसरी शक्तियाँ (शक्तियों के प्रवचन) उतारी है, नये व्याख्यान रेकोर्डिंग हुए हैं अन्दर अभी। बाहर आये तब सही। समझ में आया ?

भगवान आत्मा '**निज में...**' है न ? अपने में अनन्त-अनन्त स्व-स्वामीसम्बन्ध नाम का गुण है। स्व-स्वामीसम्बन्ध-यदि आत्मा को सम्बन्ध होवे तो अपने शुद्ध स्वभाव के साथ आत्मा को सम्बन्ध है। आत्मा उसका स्वामी है और शुद्ध स्वभाव पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण प्रभुता-यह आत्मा का स्व। स्व अर्थात् धन, धन-स्वधन, उसका आत्मा स्वामी है। ऐसा गुण अनादिकाल से अनन्तकाल उसमें रहा हुआ है। ऐसे गुण को अन्दर स्पर्श किये बिना... समझ में आया ? सूक्ष्म, अद्भूत, भाई !

मुमुक्षु :- इस भावना में क्या निकालते हैं ?

उत्तर :– इस भावना में निकालते हैं, आनन्द। निजस्वरूप में अनन्त गुण का स्वामी (हूँ)। निज में–मुझ में, मेरे में शुद्ध पूर्ण आनन्द और ज्ञान, वह मुझ में है। ऐसे स्वरूप के अन्तर साधन द्वारा स्वरूप को साधता है। भावना करके उस शुद्धि की वृद्धि करताहै। समझ में आया ? यह भावना वह करता है। अहो..! यह वस्तु शान्ति और आनन्द का ज्ञान और भान अपूर्व है–ऐसे प्राप्त है, वह भी भावना करता है। भावना करने से शुद्धि की वृद्धि होकर अशुद्धता टलती है। इस भावना का फल शुद्धि है। समझ में आया ?

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही होते हैं।' यह शीर्षक में **'निज में'** कहा वह। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र–ये आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होते हैं; राग, निमित्त या पर के आश्रय से नहीं होते। 'पुण्य हो, शुभराग से, जड़ कर्मादि नहीं होते।' ऐसा वह स्वरूप नहीं है–ऐसा लेना। समझ में आया ? आहा..हा...! परन्तु इसे अन्तर का माहात्म्य नहीं आया, बाहर का माहात्म्य (आता है)।

हीरा और माणिक देखे तो आ..हा..! आहा..! उसमें से फिर शरीर सुन्दर हो तो आहा...! उसमें स्त्री सुन्दर होवे रूपवान तो.. आहा...! उसमें फिर लड़का अच्छा रूपवान होवे तो आहा..! परन्तु तू कहाँ.. आहा..! (करता है) ? क्या दिखता है ? पर है–ऐसा दिखता है। इसकी एक समय की पर्याय में अन्दर में वे आ कहाँ गये हैं ? आये हैं अन्दर ? किसका आहा..! हुआ तुझे ? और बहुत आगे जाए तो इसे पाप के परिणाम करे तो मजा आता है। आहा..! ऐसा बढ़कर आगे दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव करे, बस ! हो गया जाओ। अज्ञानी का तो आहा..! विकार में और पर में समा गया। समझ में आया ?

यहाँ तो आत्मा भगवान में, अपना निज परमेश्वरपद, पूर्ण, उस निज पद के आश्रय से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र अन्तर्मुख से साधे जा सकते हैं, बहिर्मुखत के किसी साधन द्वारा उन्हें साधा नहीं जा सकता–ऐसा उसका स्वरूप ही है। यह तो उसका स्वरूप ही है। समझ में आया ?

'इस जीव ने बाहर के संयोग...' देखो ! यह बाहर के संयोग। यह **'चारों गति के लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये हैं...'** अनन्तबार प्राप्त किये हैं। अरबोंपति अनन्तबार हुआ, चार गतियों में अनन्तबार गया, बाहर के अनुकूल–प्रतिकूल संयोग अनन्तबार प्राप्त किये–यह

नयी बात नहीं है। यहाँ तो जहाँ जरा-सी प्रतिकूलता आये, वहाँ चिल्लाता है। अनन्तबार प्रतिकूलता आयी और अहमिन्द्र जैसी अनुकूलता भी अनन्तबार आयी। आहा..! समझ में आया ? अरे..! जहाँ सिद्ध भगवान बिराजते हैं, वहाँ भी निगोदरूप से अनन्तबार गया। ठीक है ? सिद्ध भगवान बिराजते हैं न ? वहाँ भी निगोदरूप से अनन्तबार अवतार हुए, सिद्ध के पेट में।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- देखे कहाँ ? धूल। स्थान में उत्पन्न हो आया है। इसे भान कब था वहाँ ? आहा..हा...! परन्तु इसने इस निजपद पर दृष्टि नहीं की।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- धूल में भी हवा नहीं आती कुछ। कैसे जँचे ? केवलज्ञानी भगवान होते हैं, समुद्घात होता है न ? क्या (कहा) ? केवलज्ञानी परमात्मा होते हैं न ? तब उन्हें समुद्घात होता है। अन्त में मोक्ष जाने पर वेदनीय, नाम जरा आयुष्य से अधिक रह गया होवे तो कम करने के लिये एकदम समुद्घात.. पूरे लोक में प्रदेश करते हैं, फैलते हैं; वे प्रदेश सातवें नरक में रवरव नरक है, वहाँ भी उस समय पड़े होते हैं। है दु:ख उन्हें ? नजदीक है न समीप में ? इसी तरह उनका (परमात्मा के प्रदेशों का) सुख उन्हें-नारकियों को है ? भाई ! क्या कहा ? ऐसे आत्मा है न ? जब केवल(ज्ञान) प्राप्त करते हैं, फिर पूरे लोक प्रमाण समुद्घात होता है, तब उनके प्रदेश आत्मा के असंख्य प्रदेश फैलकर सातवें नरक में पूरे लोकप्रमाण फैलते हैं। एक, दो समय वहाँ रहते हैं। उस समय सातवें नरक के नारकियों में केवलज्ञानी के प्रदेश का आत्मा है। उन केवलज्ञानी को अनन्त आनन्द का अनुभव है, साथ में रहे नारकी को अनन्त दु:ख का अनुभव है। इस अनन्त दु:ख का अनुभव केवली को नहीं और केवली के अनन्त सुख का (अनुभव नारकी को नहीं)। है एक क्षेत्र में एकसाथ.. समझ में आया ? सातवां नरक.. नारकी का बिल है न ? भगवान का समुद्घात वहाँ (भी) होता है, वहाँ प्रदेश हैं। वे अपने आनन्द का अनुभव करते हैं। वे ही वहाँ नारकी उसी क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि अनन्त अनन्तानुबन्धी दु:ख का अनुभव करते हैं। समीप क्षेत्र से क्या लाभ है ? समझ में आया ? अपने समीप क्षेत्र में जाए तो लाभ होता है। आहा..हा...!

कहते हैं, अरे..! '**लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये...**' स्वर्ग भी अनन्त बार प्राप्त किया, सेठपना भी अनन्तबार प्राप्त किया, अरबोंपति-एक-एक दिन में अरबों की आमदनी अनन्तबार हुई। धूल में, उसमें आत्मा को क्या मिला ? आत्मा को मिला दु:ख, ममता। यह मुझे मिला-ऐसी ममता (मिली)। दु:खी... दु:खी.. दु:खी (हुआ)। कहते हैं, '**परन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूपस्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नहीं समझता...**' शास्त्र को धारण किया, पढ़ा परन्तु इस भगवान को (इसने नहीं जाना)। आठ-आठ वर्ष की बालिका भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त करती है। मेढ़क इतने, वह भी सम्यग्ज्ञान पाता है। भगवान के समवसरण में जाता है और ऐसे सुनता है ओ..हो..हो..! जैसे झटपट बिलजी ऊपर से उतरे और तांबे के सरिये में नीचे उतर जाए (ऐसे) यह सुने कि तू अनन्तगुण का पिण्ड प्रभु शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द है, तेरा स्वरूप राग से निराला है, तू मेरे जैसा परमेश्वर है-इस प्रकार जहाँ भगवान की वाणी सुने, वहाँ एकदम उतरा, झपट करके अन्दर, एकदम उतरे अन्दर। एक मेढ़क होवे या आठ वर्ष की कन्या होवे, समकित पा जाती है। लो! परन्तु निज स्वरूप से पाते हैं, पर से नहीं पाते। यह भगवान का सुना, इसलिये प्राप्त हुआ ऐसा नहीं है। वहाँ से लक्ष्य छोड़ दिया और अन्तर में गया, प्रवेश किया। दरबार-चैतन्य का दरबार आत्मा में है। अनन्त गुण का दरबार भगवान, उस दरबार में अन्दर सभा में प्रवेश किया। उस निज स्वरूप से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साधा जा सकता है, बाकी कोई उसका साधन हैनहीं।

मुमुक्षु :- बिजली ऐसी इच्छा..

उत्तर :- ऐसी बिजली यहाँ जोरवाली है आत्मा में। दृष्टान्त बिजली का दिया। ऐसा बिजली का चमत्कार जोरदार है, वीर्य को ऐसे अन्दर में प्रस्फुटिक किया, ... एकदम शीघ्रता करके। इस आत्मा के स्वभाव के साधन द्वारा ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उस सम्यग्ज्ञान में ही जन्म-मरण का अन्त है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार से जन्म-मरण का अन्त नहीं आता है।

'**इसलिए उसकी प्राप्ति अपूर्व है, लौकिक कोई भी पद अपूर्व नहीं है।**' यहाँ जरा पाँच हजार का वेतन हो और कुछ धूल हो वहाँ तो आहा..हा..हा...! ऐसा हो जाता है, लो !

मुमुक्षु :- संध्या का बल..

उत्तर :- संध्या का बल क्या ? हाँ, हाँ, ठीक ? पैर नीचे नहीं रहते, उस समय फिर ऊंचा चलता है। पैसा बहुत बढ़े न कि ऐसे ऐसे धम.. धम.. धम.. धम.. (चलता है)। दु:ख में ऊँचा चलता है। चौबीस घण्टे दु:ख है। भगवान आत्मा के अन्तर ज्ञान के सुख बिना जितना यह शुभ और अशुभभाव में रुकता है, चौबीस घण्टे उस दु:ख का वेदन निरन्तर है। कहो, ठीक है ? चौबीस घण्टे। भाई ! चौबीस घण्टे ?

मुमुक्षु :- सो जाए तब ?

उत्तर :- सो जाए तब, सोता है, किस में सोता है ? विकारभाव में पड़ा है और सोता है। आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्परहित स्वस्वरूप के ज्ञान का भान, वह सुख है। इसके बिना जितने परसन्मुखता से शुभाशुभभाव अनन्तबार, असंख्य शुभ और असंख्य अशुभ, एक-एक अनन्तबार, एक-एक (प्रत्येक) अनन्तबार किये, (वह) सब दु:ख है। समझ में आया ? यह एक अपूर्व है, जिसमें सुख है।

भगवान आत्मा ! उसकी श्रद्धा तो करे, उसके वीर्य को अन्तर में झुकाने जैसा है-ऐसा तो निर्णय करे। बाहर में वीर्य झुकाने से तेरा कभी भला नही हुआ। समझ में आया ? वह झुकाव बदले। वलण, वलण कहते हैं या क्या कहते हैं तुम्हारे ? झुकाव। झुकाव, झुकाना। इस पानी का बहाव दूसरे किनारे है, इसकी अपेक्षा इस किनारे लो-ऐसा कहते हैं। यह बहिने नदी से पानी भरती हैं न ! बड़ी नदी होवे तो दूसरे किनारे पानी (होवे तो बोले) अर..र..र.. ! कितनी (दूर) भरने जाना पड़ता है, बापा ! 'कालुभार' जैसी नदी है, बड़ी नदी, समुद्र जैसी। उस किनारे पानी (होवे और वहाँ) जाए तो इस ओर की बहिने शोर मचाती है। अरे.. ! वहाँ भरने जाना। इस किनारे पानी होवे तो एकदम ऊपर बहेड़ा (चरी) भरकर आवे, लो ! ऐसे तेरे आत्मा का प्रवाह विकार और पुण्य-पाप में गया, उस दूसरे किनारे तेरा प्रवाह दु:खदायक है। समझ में आया ?

कहते हैं, इस ओर प्रवाह झुका, भाई ! पहले कहा था न ? '**लाख बात की बात निश्चय उर आणो-**' नहीं आया था ? पहले आया था। लाख बात की बात। यह स्वयं कहते हैं। कौन ? '**लाख बात की बात निश्चय उर आणो-**' है न ? कितने में आया है ? ऐ..ई.. ! लाख बात की बात। उसमें ही था या नहीं ? चौथी ढाल की नौवीं (गाथा) देखो ! '**पुण्य-पाप फलमाहि हरख**

बिलखों मत भाई;...' यह 'छहढाला' स्वयं कहते हैं।

पुण्य-पाप फलमांहि हरख बिलखौं मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरी सकल जगदंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।९।।

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप प्रभु की रुचि कर, उसके सन्मुख जा और विकार से विमुख हो। – यह तेरे सुख का कर्तव्य है। समझ में आया ? इस सुख के आचरण का यह भाव है; बाकी सब दु:ख के आचरण के भाव है। स्वयं कहते हैं, देखो ! 'दौलतरामजी' आहा..हा.. ! एक ही बात। इसमें भी अर्थ नहीं समझते और विरोध करते हैं, लो ! नहीं, इसका अर्थ सही नहीं, सही नहीं... परन्तु यह सही नहीं, तब सही क्या है ? अब लाओ न। भगवान आत्मा, अनन्त गुण की खान (है), उस ओर झुकना, यही सही है, दूसरा फिर सही क्या था ? समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं कि लौकिक पद तो अनन्तबार प्राप्त हुए, परन्तु आत्मपद एक सैकेण्ड भी प्राप्त नहीं हुआ। एक सैकेण्ड भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त होवे तो इसके जन्म-मरण का अन्त आ जाए; और शुभभाव अनन्तबार किये (तो भी) एक भव कम नहीं हुआ। परन्तु उसमें कम कहाँ से हो ? साधन है वह ? शुभभाव अनन्तबार किया, (परन्तु) एक भव कम नहीं हुआ और शुभभाव रहित आत्मा (का) एक समय का ज्ञान सम्यक् चैतन्य भान होने पर अनन्त भव गल गये। समझ में आया ? ऐसी सम्यग्ज्ञान में अथवा निज स्वरूप के साधन में ताकत है, दूसरे में वह ताकत नहीं है।

'**बोधि अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करनी चाहिए।**' तीन बोल है न एक साथ ? उस बोधि की व्याख्या। '**सम्यग्दृष्टि जीव स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करता है...**' चिन्तवन शब्द से आत्मा की ओर की एकाग्रता। जो आत्मा शुद्धस्वभाव दृष्टि में रुचि में आया है, उसके ओर की एकाग्रता को भावना कहते हैं। '**और अपनी बोधि की वृद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है, यह बोधिदुर्लभभावना है।**' इसका नाम बोधिदुर्लभ भावना है।

कहो, इसमें कहीं पैसा दुर्लभ है-ऐसा नहीं आया। यह इन्द्रपद, यह ग्रैवेयक पद दुर्लभ है-ऐसा नहीं आया, यह पुण्यपरिणाम दुर्लभ है-ऐसा नहीं आया, यह पुण्यभाव दुर्लभ है-ऐसा नहीं आया, आहा..! यह पुण्य और पाप तथा पुण्य-पाप का बन्धन और बन्धन के फल से रहित आत्मा का ज्ञान करना ही दुर्लभ और अपूर्व है। इसे दुर्लभ कहा है, लो ! समझ में आया ?

एक व्याख्या आती है न ? 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' में, भाई ! बाह्य संयोग प्राप्त होना सुलभ है, क्योंकि अनन्तबार प्राप्त हुए। बाह्य सामग्री-स्वर्ग, पैसा, राज आदि मिलना, वह सरल है, क्योंकि अनन्तबार हुए हैं; एक आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। समझ में आया ?

दूसरे प्रकार से कहने पर बात गुलाँट खाती है कि भाई ! यह पुण्य-पाप और पैसा आदि,यह पैसा आदि मिलना, वह दुर्लभ है; क्योंकि तेरे पुरुषार्थ से नहीं मिलते; वे तो पुण्य होवे तो मिलते हैं, इसलिए दुर्लभ है। तुझसे प्राप्त नहीं होते। फिर से, भाई ! यह पैसा और राजपाट दुर्लभ है। क्यों ? दुर्लभ अर्थात् तुझसे उनकी प्राप्ति नहीं होती, वे तो पूर्व का पुण्य होवे तो प्राप्त होते हैं; इसलिए इस अपेक्षा से दुर्लभ कहे हैं। दुर्लभ अर्थात् दु:ख से भी तू पुरुषार्थ से प्राप्त कर सके-ऐसे वे पैसा और लक्ष्मी नहीं है। आहा..हा..! यह दुर्लभ कहा, फिर आत्मा को सुलभ कहा। बात गुलाँट खाती है। आत्मा सुलभ है। क्यों ? कि जिसमें पर के साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। ठीक !

दो बातें की है-'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' है। एक तो दुर्लभ आत्मा का स्वभाव, क्योंकि अनन्त काल से प्राप्त नहीं किया। सम्यग्दर्शन, अनुभवदृष्टि अनन्तकाल से (प्राप्त नहीं किया), इसलिए दुर्लभ कहा और यह लक्ष्मी आदि प्राप्त होना सुलभ है। यह दुर्लभ तो (लक्ष्मी आदि) सुलभ। अब बदला-यह दुर्लभ, वह सुलभ। क्यों ? ये चीजें दुर्लभ हैं, क्योंकि तेरे पुरुषार्थ से प्राप्त होवे-ऐसी नहीं है। ठीक है ? लाख प्रयत्न करे, मर जाए तो भी मिलने को है, वही मिलेगी; तेरे पुरुषार्थ से नहीं मिलेगी; इसलिए दुर्लभ अर्थात् तेरे प्राप्त हो-ऐसी नहीं है। भाई ! भगवान आत्मा सुलभ है। क्यों ? कि जिसे शरीर, वाणी, मन की भी आवश्यकता नहीं है और जिसे पुण्य-पाप के राग की भी आवश्यकता नहीं है; पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं, स्व-स्व के आश्रय की आवश्यकता (है तो) स्व तो स्वयं है, इसलिए अपना दर्शन-ज्ञान, वह अपने आश्रय से होता है,

इसलिए वह सुलभ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह प्रेम इसे स्वयं को होवे, तब लगे न ! कहो, इसमें समझ में आया ? आहा..हा..! 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' (में) ऐसी बात ली है। इस प्रकार दो उलट-पुलट। बापू ! आत्मा की दृष्टि और अनुभव करने में कोई लक्ष्मी की हानि होती है इसमें ? शरीर घिसावट होती है ? शरीर का बल उसमें काम करता है ? पर की उसमें आवश्यकता पड़ती है ? वहाँ पर का आश्रय लेने का कोई काम है ? समझ में आया ? आहा..!

अपना स्वभाव, एक नज़र करते ही नजराना मिले-ऐसी चीज है। जिसकी नज़र करने से निधान प्रगट हो, वह तो स्वाधीन तुझे सुलभ है। समझ में आया ? परन्तु दुर्लभ मानकर बैठा है। यह दुर्लभ कहा, वह तो अनन्तकाल में प्राप्त नहीं हुआ-इस अपेक्षा से कहा है। समझ में आया ? परन्तु अपना निजपद है, उसमें कहीं पैसे की जरुरत पड़ती है ? कि इतने पैसे हों और दान-बान दूँ तो मुझे आत्मलाभ होगा। भाई ! उसमें कुछ आवश्यकता पड़ती है या नहीं ? ठीक कहते हैं, बापा ! यह तेरा पद तो तेरे लिये सरल और सुलभ है, कि उसमें तुझे बाहर के किसी भी आधार या अवलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं है। मन की जरूरत नहीं है, वाणी की जरूरत नहीं है तो फिर शरीर और अमुक की कहाँ जरूरत थी ? ऐसा भगवान आत्मा...

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- इसे दृष्टि, रुचि, प्रविष्ट नहीं होती, रुचता नहीं। यह बाहर का रुच गया है। रुचि, पुण्य-पाप में ऐसा प्रेम लगा है कि यदि इनसे हट जाऊँगा न तो मुझे हाय ! हाय ! डूब जाएगा। और इस पुण्य-पाप के फलमें से जरा कुछ कम हो, एक तम्बू बड़ा होता है न ? ऊँची होती है न ? ऐसे कील की हुई; और उसमें से एक कील ढीली पड़े तो चिल्लाता है। यह ढीली कैसे पड़ी ? उसमें पूरा तम्बू उड़े तो क्या होगा इसे ? इसी प्रकार बाहर की अनुकूलता में एक भी कुछ कभी, पोने सोलह आने होवे तो चिल्लाता है। मूढ की मूढता का कोई दूसरा अलग लेख होगा ? एक जरा ऐसा (आवे तो) ऊँ..ऊँ... (करे), क्या है परन्तु ? तम्बू है न ? वे अंग्रेज नहीं रहते ? अंग्रेज-युरोपियन उतरते हैं न ? बाहर जंगल में, कीले डाले गहरी, ऐसे खींचकर बाँधे।

पानी-बानी वर्ष गिरे तो ऐसी चली जाए-ऐसा ढाल होता है, ऐसे ढल पड़े। ढल पड़ जाए तो पानी अन्दर पड़े। एक पूरी कील न निकली हो, जरा-सी कील अन्दर कुछ ढीली पड़ी होवे (तो कहते हैं) ऐ..! ढील क्यों पड़ी वहाँ ?

इस प्रकार बाहर की धूल की सुविधा के अंश में एक जरा-सा फेरफार होवे (तो) बन्दर की तरह रोये। एक पत्ते का कंकर ऊपर से गिरे (और रोवे) ऐसे रोवे। अरे...! प्रभु ! परन्तु वह कोई साधन नहीं है, तुझमें नहीं है और तुझे रोकते नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि अन्तिम 'दुर्लभ' शब्द आया न ? आहा..हा...! भाई ! तेरा स्वरूप तो तेरे पास है न ! **'नजर ने आलसे रे, तें नयने न नीरख्या हरि, तारी नजरने आलसे रे नीरख्या न नयने हरि।'** हरि (अर्थात्) आत्मा। भगवान स्वयं ऐसी नजर पर में करके बैठा, वह पर में से पलक नहीं उठाता। कहते हैं कि एक बार तू ऐसे देख। एसे तो देख ! एक भगवान बिराजता है, महा परमात्मा। ... अच्छा मनुष्य आवे तो दूसरे के साथ बात करना छोड़ देता है, उसके साथ बात करता है, दूसरा छोड़ देता है। ... खाना-पीना छोड़ देता है। आओ.. आओ... आओ.. साहब आओ.. आओ.. करता है या नहीं ?

एक ग्राहक पचास-सौ (रूपये की) आमदनी करानेवाला देखे तो मानों कि यह (आमदनी करा देगा)। (दरबार आवे तो कहे), आओ.. आओ.. दरबार ! दूसरे ग्राहक पड़े रहे एक ओर। ... ऐसा तीन लोक का नाथ परमेश्वर, उसके साथ बात करना छोड़कर दूसरों के साथ बात करता है तू यह ? समझ में आया ? ऐसा तेरा परमेश्वरपद निज में पड़ा है। उसका साधन तेरे पास है। बाहर के साधन द्वारा तू स्वरूप का साधन लेना चाहता है, भाई ! नहीं मिलेगा। समझ में आया ? ऐसी बोधि-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति और तीनों का यथार्थ ज्ञान (करना)। उसकी प्राप्ति तुझे दुर्लभ कही गयी है, क्योंकि परसन्मुख से दृष्टि नहीं हटाता इसलिए। स्वसन्मुख करे तो यह बात स्वयं को सुलभ है। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

१२-धर्म भावना

जो भाव मोहतैं न्यारे, दग-ज्ञान-व्रतादिक सारे;
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे।।१४।।

अन्वयार्थ :- (मोह तैं) मोहसे (न्यारे) भिन्न, (सारे) साररूप अथवा निश्चय (जो) जो (दृग-ज्ञान-व्रतादिक) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय आदिक (भाव) भाव है (सो) वह (धर्म) कहलाता है। (जब) जब (जिय) जीव (धारै) उसे धारण करता है (तब ही) तभी वह (अचल सुख) अचल सुख-मोक्ष (निहारै) देखता है-प्राप्त करता है।

भावार्थ :- मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान; उससे रहित निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) ही साररूप धर्म है। व्यवहाररत्नत्रय, वह धर्म नहीं है-ऐसा बतलाने के लिये यहाँ गाथा में 'सारे' शब्द का प्रयोग किाय है। जब जीव निश्चय रत्नत्रयस्वरूप धर्म का स्वाश्रय द्वारा प्रगट करता है तभी वह स्थिर, अक्षयसुख-(मोक्ष) प्राप्त करता है। इसप्रकार चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वोन्मुखता द्वारा शुद्धि की वृद्धि बारम्बार करता है। वह 'धर्म भावना' है।।१४।।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ३, बुधवार
दि. ०९-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१४,१५. प्रवचन नं. ४६

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है, पाँचवी ढाल, उसकी बारहवीं भावना है, गाथा-१४। बोधिदुर्लभ भावना हो गयी। बारह भावना में यह अन्तिम भावना है। भावना अर्थात् क्या ? कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध है-ऐसी दृष्टि हुई हो, उस शुद्धता के चारित्रगुण की यह संवर की पर्यायें हैं। बारह भावना संवर है न संवर ! उसमें आती है-बारह भावना आती है न ?'तत्त्वार्थसूत्र' मे। यह संवर की शुद्धि की दशा है। आत्मा में सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध दृष्टि हुई है; पश्चात् यह भावना

भावे, तब अधिक शुद्धि होती है, इसलिये 'तत्त्वार्थसूत्र' में इन्हें संवर में रखा है न ? बारह भावना। ग्यारह हुई, बारहवीं है।

जो भाव मोहतैं न्यारे, दग-ज्ञान-व्रतादिक सारे;

सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे।।१४।।

देखो ! यह बारहवीं (भावना की) अन्तिम कड़ी। अन्वयार्थ :- '**मोह से (न्यारे)...**' इस शब्द में बात पड़ी है, देखो ! आत्मा में सम्यग्दर्शन हो, वह दर्शनमोह-मिथ्यात्वभाव से रहित होता है। और स्वरूप में चारित्र होता है, वह भी राग-द्वेष और अचारित्र से रहित होता है। समझ में आया ? '**जो भाव मोहतैं न्यारे...**' मोह शब्द से मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष परिणाम, इनसे जो भाव पृथक् है, उसे दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। समझ में आया ?

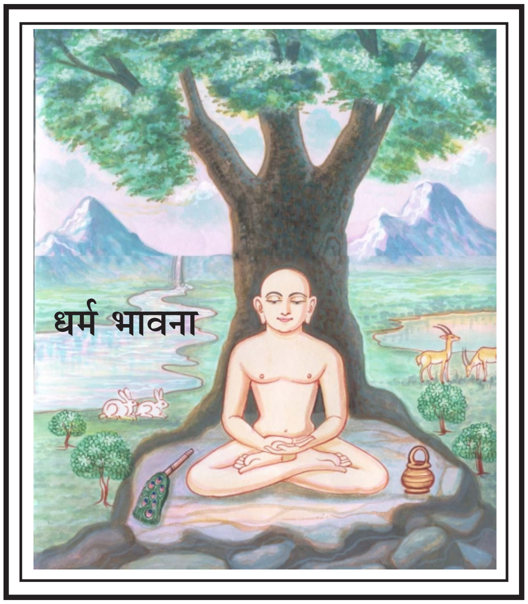

'**जो भाव मोहतैं न्यारे...**' आत्मा शुद्ध चैतन्य की अन्तर सावधानी से किया हुआ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-ये तीनों भाव '**जो भाव मोहतैं न्यारे...**' मोह से भिन्न हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह मोक्ष का मार्ग-वह भाव, मोह से पृथक् है। समझ में आया या नहीं ? यह बारह भावना तुमने कितनी बार रटी है ?

'**जो भाव मोहतै न्यारे...**' ऐसा है। जिसमें पर तरफ की सावधानी का भाव, मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष से रहित स्वरूप की तरफ दृष्टि की सावधानी और स्थिरता यह भाव, मोह से पृथक् है। समझ में आया ? '**दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे...**' उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जो मोह से भिन्न तत्त्वश्रद्धान, अतत्त्वश्रद्धान से भिन्न। भाव। तत्त्वश्रद्धानभाव, अतत्त्वश्रद्धान से भिन्न। तत्त्वज्ञान, अतत्त्वज्ञान से भिन्न और तत्त्व की व्रतधार स्थिरता, वह अस्थिरता से भिन्न।

उसमें क्या आया ? व्रत में-चारित्र में राग आया या नहीं ?

यहाँ तो धर्मभावना (कहते हैं)। धर्म तो उसे कहते हैं कि जिसमें मोह का अभाव हो, अर्थात् स्वरूप की सावधानी का भाव हो-ऐसा यहाँ बारहवीं भावना में कहते हैं। समझ में आया ? भगवान आत्मा, जो अनन्त शान्ति और आनन्द की खान, आत्मा खान, उस ओर के भाव को मोहरहित भाव कहते हैं। वह द्दग अर्थात् सम्यग्दर्शन (है)। देखो ! यहाँ निश्चय की बात है। मोह से न्यारा भाव अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, मोह से पृथक् ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान और व्रतादिक-मोह से न्यारे अर्थात् चारित्र-स्वरूप की रमणता, उसे यहाँ व्रतादिक कहा गया है। समझ में आया ?

मोह से पृथक् और स्वरूप से अभेद। समझ में आया ? मोहभाव से पृथक्, विकारीभाव से पृथक् और अविकारी स्वरूप आत्मा से अभेद-ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वे श्रेष्ठ हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं, वे ही भले हैं। कहो, समझ में आया ? वही साररूप मोक्षमार्ग है। जो 'नियमसार' (में) आया था न ? 'नियमसार'... 'नियमसार' में क्या आया था ? बस, लो ! देखो ! इस सेठ को याद रहता है। देखो ! 'नियमसार' आया था न ? नियम-निश्चय-मोक्षमार्ग और उसमें से सार अर्थात् विपरीतरहित। विपरीतरहित आया था या नहीं ? इन्होंने वह शब्द की शैली ली है। वह शब्द की शैली ली है, देखो न ! समझ में आया ? जो भाव, भगवान आत्मा की सावधानी से-स्वभाव की सावधानी से श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगट हुए, वे तीनों पर सावधानी के भाव से रहित हैं, मोह से रहित हैं। समझ में आया ? यह तो 'छहढाला' है। सादी भाषा में-हिन्दी में है। इसके अर्थ का भी पता नहीं पड़ता। क्या सत्य है-इसकी दरकार नहीं होती।

दृग-ज्ञान ये '**(सारे) साररूप अथवा निश्चय...**' अथवा वही मोक्ष का मार्ग यथार्थ सार है। समझ में आया ? '**दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय आदि भाव हैं...**' फिर क्षमा आदि, निश्चय समिति, निश्चय गुप्ति-ये सब मोहभाव से न्यारे (हैं)। 'व्रतादिक' शब्द पड़ा है न ? सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान-चारित्र आदि-आदि में जितनी वीतरागी पर्याय-राग आदि में जितनी वीतराग पर्याय-राग और विपरीत श्रद्धा रहित-अविपरीत पर्याय आत्मा में होती है और विपरीत पर्याय से रहित है... समझ में आया ? क्रोध से रहित क्षमा, मान से रहित निर्मानता, माया से

रहित सरलता, लोभ से रहित निर्लोभता–ये सब **'दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे...'** ये सब मोह की पर्याय से रहित, स्वरूप–सन्मुख की दशा–यह सार और निश्चय है। यह धर्म है, यह धर्म है। मोहभाव रहित दशा को धर्म कहते हैं। यह संक्षिप्त व्याख्या की है।

'सो धर्म जबै जिय धारै...' देखो ! इसमें भी विशिष्ठता की है। ऐसा धर्म जब जीव धारे, तब करता है–ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह कोई कर्म रोकते हैं कि ऐसा कोई रोकता नहीं है। **'सो धर्म...'** सम्यगर्शन–ज्ञान और चारित्र आदि शुद्धदशा, अशुद्ध मोह आदि से रहित, यह जब ऐसा धर्म **'जबै...'** अर्थात् जब **'जिय...'** अर्थात् जीव **'धारै...'** जब जीव धारण करे, तब धर्म होता है। 'धर्म' शब्द है तो अवश्य न ! धर्म शब्द है न उसमें से 'धारै' निकाला है। रचा है बहुत अच्छा। **'सो धर्म जबै जिय धारै...'** ऐसा धर्म जब आत्मा (धारै)। भाई ! यह तो हिन्दी भाषा है। मूल श्लोक, मूल श्लोक हिन्दी है ऐसा। और हिन्दी सादी है, अर्थ तो गुजराती होता है। मूल भाषा है, वह तो हिन्दी है और हिन्दी भी अत्यन्त सादी तथा सीधी भाषा है। समझ में आया ?

'जो भाव मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे; सो...' 'सो' ऐसा जो धर्म–सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, जो आत्मा के आश्रय से होता भाव, जो मोह से रहित हुई दशा, वह **'धर्म जबै जिय धारै...'** जब जीव धारण करे, धर्म को धारण करे, तब धर्मी होता है–ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? 'धारती इति धर्मः'। जो अधर्म धारता था, अनादि से करता था, उसमें से (उसके बदले) धर्म को धारण करे, तब वह धर्मी, धर्म को धारण करे, तब धर्मी कहलाता है। कहो, समझ में आया ?

'तब ही सुख अचल निहारे। जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै।' जब आत्मा, जब से भगवान आत्मा आनन्द और शान्ति का पिण्ड प्रभु ! उसके ओर की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति को धारे, तब से शान्ति को निहारे, आनन्द को निहारे। समझ में आया ? **'तब ही सुख अचल निहारै...'** तब वह आत्मा के आनन्द को, अचल आनन्द–आत्मा का अचल आनन्द, उसे तब से देखता है। समझ में आया ? मोक्ष देखे अथवा तब से मोक्ष की पर्याय, कारणरूप प्रगटकर मोक्ष ऐसा होता है, उसका भान होता है। कहो, समझ में आया ? एक लाईन में बहुत

सरस रखा है इसमें।

जब जीव, आत्मा के स्वभाव की शान्ति-श्रद्धा-ज्ञान को धारण करता है, तब उसे '**तब ही वह (अचल सुख) अचल सुख...**' अर्थात् वास्तविक शान्ति, नित्यानन्द का सुख, नित्य-आनंद-ऐसा सुख, उसे '**निहारै...**' अर्थात् देखता है और उस नित्य आनन्द को पाता है। क्रम-क्रम से यह भावना करते हुए पूर्ण आनन्द को पाता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

भावार्थ :- 'मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान, उससे रहित...' मोहरहित अर्थात् सब, रागादि रहित (भी आ गया)। '**निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) ही साररूप धर्म है।**' यह रत्नत्रय साररूप धर्म है। अपने 'नियमसार' में चलता है, उसके साथ मिलान खा गया, लो ! व्यवहार रत्नत्रय, वह वास्तव में साररूप नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय, वह शुभराग है, परन्तु वह मोहरहित भाव नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय-देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, पञ्च महाव्रत के परिणाम, शास्त्र का ज्ञान - उसमें शुभराग है, वह मोहरहित नहीं है; इसलिए उसे सार नहीं कहा जाता। कहो, समझ में आया इसमें ? '**व्यवहाररत्नत्रय, वह धर्म नहीं है...**' अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय, रागरूप है और इसलिए वह साररूप धर्म नहीं है, राग है।

'ऐसा बतलाने के लिए यहाँ गाथा में 'सारे' शब्द का प्रयोग किया है। जब जीव, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को स्व-आश्रय से प्रगट करता है...' जब जीव अपने निश्चय स्वभाव के आश्रय से, शुद्ध चैतन्य के आश्रय से अन्तर्मुख अवलम्बन करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रगट अर्थात् धारण करता है... कहो, समझ में आया ? '**तब ही वह स्थिर-अचल सुख को (मोक्ष को) प्राप्त करता है।**' संसार का सुख तो सब कल्पित नाशवान है। वह (आत्मिक) सुख तो अन्तर नित्यानन्दमें से प्रगट हुआ। नित्यानन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगट होने पर अन्तर आनन्द प्रगट हुआ, उसका फल भी पूर्ण अचल आनन्द प्राप्त है। व्यवहार में राग होता है, राग से पुण्य बँधे और स्वर्ग आदि मिलते हैं। अचल सुख का कारण अचल भगवान नित्यानन्द आत्मा नित्य आनन्द, उसमें स्थिरता करने से जो आनन्द प्रगट होता है, वह आनन्द, पूर्ण आनन्द का कारण है और वह वर्तमान में भी आनन्द का कारण है। समझ में आया ? पर में सुख कब

होगा इसमें ? इस शरीर में निरोगता होवे, अनुकूल होवे...

मुमुक्षु :– पहली निरोगता की यह बात..

उत्तर :– पहली निरोगता की की (है)। कहो, शरीर में निरोगता होवे, 'पहला सुख ते जाते नर्या'–नर्या अर्थात् निरोगता।

मुमुक्षु :– आत्मा की निरोगता।

उत्तर :– वे तो शरीर की कहते हैं। फिर 'दूसरा सुख उस घर में चार लड़के'–ऐसा कहते हैं न ? 'तीसरा सुख सुकुल की नारी, चौथा सुख इसकी कोठी में अनाज' – धूल में भी नहीं है। ये चारों ही दुःखरूप भाव हैं। इनमें सुख है नहीं, धूल में भी नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? लोगों ने गप्प बना दी। निरोगता, यह निरोगता धूल, धूल की है। इसमें आत्मा को क्या ? यह तो शरीर, मिट्टी है। शरीर निरोग होवो और अन्दर में पैसे–बैसे की कमी हो गयी होवे तो होली सुलगती है या नहीं ? तब निरोग शरीर क्या करेगा ? कहो।

मुमुक्षु :– परन्तु पैसे आये हाथ..

उत्तर :– परन्तु यही कहत हैं, परन्तु जाते हैं, तब इसे दुःख होता है या नहीं ? शरीर निरोग है या नहीं ? यदि निरोग (शरीर) सुख का कारण होवे तो उस समय अन्दर तो तेल रेड्यु (बहाया हो)। तेल रेड्युं समझते हैं ? एक व्यक्ति को दीक्षा दी, नाम दिया नहीं, उसे शिष्य नहीं किया। (संवत) १९७५ में भाई आये थे, चार व्यक्तियों ने दीक्षा ली थी, 'राणपुर', – फिर इसका एक व्यक्ति का नाम नहीं दिया, एक शिष्य का, तुम रहने दो एक का और बाद में.. तेल रेड़ते हैं–ऐसा कहते थे। ऐसे के ऐसे। मैंने कहा, भाई ! अब जिसे तीन हुए होंगे, वे कहे नहीं, तुझे तो यहाँ सब लड्डु उड़ते हैं और यह सब ऐसा होता है, मुझे जलता है अन्दर से... वेष में पड़ा हुआ। आहा..हा.. ! इस संसार में भी ऐसा होता है न ? उसे पैसे हुए और मुझे नहीं मिले; उसके अच्छे लड़के हुऐ और मुझे नहीं मिले; उसे निरोगता और मुझे नहीं मिले; उसकी लड़की अच्छी जगह विवाही और मेरी अच्छी जगह जाती नहीं.. ए.. जलन। होली। इस शरीर से भले निरोगता होवे।

मुमुक्षु :- चारों एकसाथ चाहिए न।

उत्तर :- धूल में भी नहीं। चारों होवे तो भी अनेक की जलन होती है, बापा ! बड़ा राजा होवे, उसे रानी मानती न हो.. बाहर में सब अनुकूलता दिखाई दे.. समझ में आया ? बह कड़क रानी के जमीदारनी, वह बनियो जैसी डरपोक न हो। ऐ..ई..! वह जमीदारनी हो सर्पिणी बड़ी, दरबारसिंह विचारकर बोलना, हम भी जमीदार हैं, हाँ ! ऐसा बोले। अन्दर से ऊँचा करे उसको, क्या करे ? कहाँ जाए ? यह सब हूए हैं और हमें तो सब नाम-ठाम का भी पता है। वे सब अन्दर जलते हैं। बाहर से देखो तो ऐसे कपड़े ऊँचे और ऐसा राज व मोटर और... परन्तु अन्दर पता होता है कि यह रानी.. घर जाए... वहाँ रानी को ऐसे जहाँ देखे (तो) हाय..! हाय ! यह मानती नहीं। दूसरे सब मानते हैं, परन्तु यह एक मानती नहीं। समझ में आया ? खुलेआम कहे, हमारा नाम लेना नहीं, हम भी जमीदार-जमीदारनी हैं, हाँ ! जमीदार की पुत्री (हैं), हाय.. हाय..! अन्दर होली सुलगती है, बाहर में धूल भी नहीं, व्यर्थ में मूढ मान बैठा है। आत्मा में सुख है यह कहते हैं, देखो न !

भगवान आत्मा आनन्द का पिण्ड है। अन्दर आनन्द के रत्न के लाल भरे हैं, अन्दर। आहा..हा..! लाल रत्न की गठरियाँ) कहते हैं कि भाई ! इस आत्मा की सन्मुख की दृष्टि कर, इसमें सुख है, इसका ज्ञान कर, इसमें आनन्द है, इसमें स्थिर हो, इसमें शान्ति है। समझ में आया ? बात इसे कैसे जमे ? रच दिया.. ऐसे भ्रमण.. भ्रमण.. भ्रमण.. बाहर में.. बाहर में.. चारों और सुलगा ही करता है। समझ में आया ?

'जब जीव, स्व आश्रय से निश्चय रत्नत्रयरूप धर्म को प्रगट करता है, तभी वह स्थिर-अक्षय सुख को (मोक्ष को) प्राप्त करता है। इस प्रकार चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, बारम्बार स्वसन्मुखता का अभ्यास करता है, वह धर्म भावना है।' बारम्बार.. स्वयं ही अन्तर भगवान बिराजमान है; अकेला आनन्द का रसकन्द आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द, जैसा सिद्ध को आनन्द है, वैसा ही आनन्द अन्दर पड़ा है। सिद्ध को एक समय की पर्याय का प्रगट आनन्द है। अन्दर में ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय का आनन्द एक आनन्दगुण में पड़ा है। वहाँ मोहरहित होकर दृष्टि करने का समय नहीं निकालता, फिर दु:खी होता है। दु:खी होता है स्वयं के कारण; मानता

है कि कर्म के कारण (दु:खी हूँ)। इस प्रतिकूलता के कारण, यह व्यवस्था नहीं है, (इसके) कारण (दु:खी हूँ)। मूढ बाहर का दोष निकालकर उसका ही दोष निकाला करता है। कहो, समझ में आया ?

धर्मभावना, वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग फरमाते हैं, भाई ! तेरा स्वभाव तेरे पास है न प्रभु ! उसकी तू एकाग्र होकर भावना कर, उसमें तुझे आनन्द है। लो ! यह चौदहवाँ बोल (काव्य) हुआ। अब पाँचवी ढाल की एक अन्तिम गाथा रही।

आत्मानुभवपूर्वक भावलिंगी मुनि का स्वरूप

सो धर्म मुनिनकरि धारिये, तिनकी करतूत उचरिये;
ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी।।१५।।

अन्वयार्थ :- (सो) ऐसा रत्नत्रय (धर्म) धर्म (मुनिनकरि) मुनियों द्वारा (धरिये) धारण किया जाता है, (तिनकी) उन मुनियों की (करतूत) क्रियाएँ (उचारिये) कही जाती है, (भवि प्रानी) हे भव्य जीवों। (ताको) उसे (सुनिये) सुनों और (अपनी) अपने आत्मा के (अनुभूति) अनुभव को (पिछानी) पहिचानो।

भावार्थ :- निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिंगी दिगम्बर जैन मुनि ही अंगीकार करते हैं-अन्य कोई नहीं। अब, आगे उन मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन किया जाता है। हे भव्यो ! उन मुनिवरों का चारित्र सुनो और अपने आत्मा का अनुभव करो।।१५।।

पाँचवी ढाल का सारांश

यह बारह भावनाएँ चारित्रगुण की आशंकि शुद्धपर्याये हैं; इसलिए वे सम्यग्दृष्टि जीव को ही हो सकती है। सम्यक् प्रकार से यह बारह प्रकार की भावनाएँ भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है; उन बारह भावनाओं का चिंतवन मुख्यरूप से तो वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिराज को ही होता है तथा गौणरूप से सम्यग्दृष्टि को होता है। जिसप्रकार पवन के लगने से अग्नि भभक उठती है, उसी प्रकार अन्तरंग परिणामों की शुद्धतासहित इन भावनाओं का

चिंतवन करने से समताभाव प्रगट होता है और उससे मोक्षसुख प्रगट होता है। स्वोन्मुखतापूर्वक इन भावनाओं से संसार, शरीर और भोगों के प्रति विशेष उपेक्षा होती है और आत्मा के परिणामों की निर्मलता बढती है। (इन बारह भावनाओं का स्वरूप विस्तार से जानना हो तो 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा', 'ज्ञानार्णव' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये)।

अनित्यादि चिंतवन द्वारा शरीरादि को बुरा जानकर, अहितकारी मानकर उनसे उदास होने का नाम अनुप्रेक्षा नहीं है, क्योंकि यह जिसप्रकार पहले किसी को मित्र मानता था तब उसके प्रति राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उसके प्रति उदासीन हो गया। उसीप्रकार पहले शरीरादि से राग था, किन्तु बाद में उनके अनित्यादि अवगुण देखकर उदासीन हो गया, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। किन्तु अपने तथा शरीरादि के यथावत् स्वरूप को जानकर, भ्रम का निवारण करके, उन्हें भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना-ऐसी यथार्थ उदासीनात के हेतु अनित्यादि आदि का यथार्थ चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. २२९, श्री टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

'आत्मा के अनुभवपूर्वक भावलिंगी मुनि का स्वरूप।' अब, मुनि का स्वरूप कहते हैं।

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये;
ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछ़ानी।।१५।।

गृहस्थाश्रमी धर्मी जीव को भी, आंशिक आत्मश्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता हुए होने पर भी, उसे मुनिपना अंगीकार करने की भावना होती है। समझ में आया ? कब मुनिपना अंगीकार करूँ ? कब मुनिपना (ग्रहण करूँ) ? पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण स्थिरता न हो सके, परन्तु भावना तो (होती है)। भावना शब्द से (आशय यह है कि) वही चिन्तवना, एकाग्रता, वह नहीं। कब मुनिपना (लूँ) ?'श्रीमद्' में नहीं आया ?

अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आयेगा ?
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रंन्थ जब ?

देखो ! मोतियों का लाखों का व्यापार था, गृहस्थाश्रम में थे, परन्तु (भावना भाते हैं कि),

कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब ?
सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर,
सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ?
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ?
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?

तीर्थंकर जैसे गृहस्थदशा में रहे होने पर भी, बारम्बार ऐसी भावना भाते थे। समझ में आया ? 'शान्तिनाथ', 'कुन्थुनाथ', 'अरनाथ'.. जिनके घर में छियानवैं-छियानवैं हजार पद्मिनी जैसी रानियाँ और जिनके घर छियानवै करोड़ सैनिक, छियानवैं करोड़ गाँव, अड़तालीस हजार पाटन, बहत्तर हजार नगर.. समझ में आया ? वे अन्तर की दृष्टि के आत्मा के ध्यान के आनन्द में यह भावना करते थे कि अरे... ! हम कब मुनि होंगे ? हम तीर्थंकर होकर आये हैं, हमें भी चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं है। हम तीर्थंकर हैं, विश्वास है कि इस भव में केवल (ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं), परन्तु यह चारित्र-स्वरूप की रमणता, दर्शन-ज्ञान सहित अन्तर की लीनता की जमावट बिना हमें भी मोक्ष नहीं होगा। कहो, समझ में आया ?

आता है न ? '**ध्रुव सिद्धि यरो...**' ऐ..ई.. ! आता है कहीं ? '**अष्टपाहुड़**' में आता है। जिन्हें सिद्धि-मुक्ति निश्चय है.. तीर्थंकर को तो उसी भव में 'ध्रुवसिद्धि'-मुक्ति निश्चित है, तथापि वे भावना (भाते हैं कि) अरे.. ! हम कब चारित्र ग्रहण करेंगे ? आहा..हा... ! हम अपने स्वरूप में कब रमेंगे ? झड़ी लगती है, जैसे मौसम में (सीजन में) व्यापारी को ममता की जड़ी लगती है। भाई ! दुकान जब लेनी होगी, झड़ी लगती होगी न दोनों व्यक्तियों को ? ओहो.. ! कहते हैं कि उस समय कितना मोह था, यह शक्कर देनी और क्या कहलाता है ? पाघड़ी देनी और अमुक देना औरदोनों जने फिरते थे, उस समय। ऐसे ही जैसे जगत को जो प्रिय चीज प्राप्त करने के लिए ममता की झड़ी लगी हो, वैसे धर्मी को प्रिय चारित्र है, उसकी एकाग्रता की झड़ी लगी होती है। समझ में आया ? आहा..हा... !

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूति उचररिये;

ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ।।१५।।

सम्यग्दर्शन–अपना अनुभव देख। तेरा स्वरूप देख, भाई ! वह सिद्धसमान प्रभु है, उसकी अनुभूति देख। अनुभूति को देखकर ऐसी भावना कर, मुनिपने की भावना कर। विशेष स्थिरता कैसे प्रगट हो–ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि जीव को गृहस्थाश्रम में भी होती है। समझ में आया ?

अन्वयार्थ :- '**(सो) ऐसा रत्नत्रयस्वरूप धर्म...**' उसके साथ सन्धि की है। पहले धर्म (कहा) था न ऊपर ? '**सो धर्म। ऐसा रत्नत्रयस्वरूप धर्म (मुनिनकरि) मुनियों द्वारा धारण किया जाता है।**' श्रावक इस पूर्ण धर्म को धारण नहीं कर सकता। पहले श्रावक की व्याख्या आ गयी है। मुनि के अतिरिक्त सर्व विपरीत (श्रावक) यह मुनि भी अन्तर में मुनिपना, हाँ ! अत्यन्त ऐसे धीमे.. धीमे.. कहीं प्रतिबद्ध नहीं कि मुझे यहाँ आधे घण्टे बोलना पड़ेगा–ऐसा प्रतिबद्ध नही ंकि यहाँ इतना शास्त्र लिखना पड़ेगा–ऐसा भी जिन्हें विकल्प में प्रतिबद्ध नहीं; अत्यन्त अप्रतिबद्ध (है)। समझ में आया ? अन्तर आनन्दस्वरूप में रमने को जो चारित्र धारण करते हैं, उनकी अन्तर की उग्रता के पुरुषार्थ में बहुत ही आगमनता, अतीन्द्रियता होती है। कहते हैं, ऐसा धर्म, मुनि धारण कर सकते हैं। गृहस्थदशा में श्रावक ऐसा धर्म धारण नहीं कर सकता है।

'**उन मुनियों की क्रियायें कही जाती है।**' उन मुनियों की आचरण की क्रियायें कही जाती है। '**हे भव्य जीवों ! उसे सुनो, और अपने आत्म के अनुभव को (पिछानो) पहिचानो।**' मूल तो इस तेरे आत्मा को पहिचान कि यह आत्मा पूर्ण आनन्द शुद्ध चैतन्य है, उसका अनुभव कर और फिर ऐसी चारित्र की भावना कर अथवा ऐसी चारित्र की व्याख्या की है, वह तू सुन कि चारित्र कैसा होता है। यह अन्तिम ढाल, अब छठवीं ढाल। '**अपनी अनुभूति पिछानी।**' अपने आत्मा का आनन्द अनुभव। इस आत्मा की अनुभूति–अनुभव इसे पहिचान।

अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे

भजना परिब्रह्म को दूजा कुछ न कहना रे।

पहिचानो, कहते हैं। ओ..हो..हो...! दुनिया की सिरपच्ची छोड़। व्यापार–धन्धे के विकल्प छोड़–ऐसा कहते हैं; और ऐसी मुनिदशा की भावना कर। इसके बिना–चारित्र के बिना

मुक्ति नहीं हैं और चारित्र तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान के बिना होती नहीं है। समझ में आया ?

भावार्थ :- '**निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिंगी दिगम्बर जैन मुनि ही अंगीकार करते हैं, अन्य कोई नहीं।**' जिन्हें बाहर में नग्नदशा हो गयी हो, अन्दर में जो तीन कषायरहित आत्माके वीतरागी आनन्द की उग्रता के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में पड़े हो... समझ में आया ? वे जंगल में होवे तो भी उस आनन्द में होते हैं, आनन्द में मस्त होते हैं। मुनि, जंगल में हों परन्तु जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन उग्र हो गया है, प्रचुर स्वसंवेदन (हुआ है)–ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' ('समयसार' की) पाँचवी गाथा में कहते हैं। मुनियों को प्रचुर आनन्द–स्वसंवेदन–स्व (अर्थात्) अपना, सं–प्रत्यक्ष वेदन.. प्रचुर स्वसंवेदन (हुआ है)। समकिती को स्वसंवेदन है; सम्यग्दृष्टि को स्व–अपना, सं–प्रत्यक्ष आनन्द का आंशिक वेदन है; मुनि को प्रचरु स्वसंवेदन है। समझ में आया ? आहा.. ! दुनिया देखे कि वे दु:खी हैं, भगवान कहते हैं कि ये आनन्द में हैं।

देखो ! यहाँ कहते हैं, आहा..हा... ! बाघिन खाती है, सिंहन–किसे खाये ? आनन्द को खाता है, यह आत्मा, अन्तर में आनन्द को लूटता है। अतीन्द्रिय आनन्द का सबड़का लेते हैं। सबड़का भाषा आती है तुम्हारे में ? सबड़का कढी–बढ़ी होती है न ऊँची कढी या दूधपाक, खीर (होवे, उसका) सबड़का (ले)। भाई कहते हैं, सबड़का भी कहते हैं। अपने समरूपता आती हो तो हमारे काठियावाड़ी सबडका भाषा है। समझ में आया ?

यह आत्मा आनन्द का सरोवर है। आहा..हा... ! जिसे तृषा लगी हो और फिर वह वहाँ मुँह डाले.. यह बकरी देखी ? (उसे) पानी की प्यास लगी थी। दो पैर नीचे हों और दो पैर पीछे, ठण्डा पानी का तालाब भरा हो और इसमें प्यास लगी हो तो एकदम पीवे। बकरी.. बकरी कहते हैं न, क्या कहते हैं ? बकरी ऐसे दो पैर नीचे रखे अर्थात् कि ऐसे मुँह घुमाना चाहिए न ? दो पैर पीछे। ऐसे पीवे तो मानो वह तो एकरस हो गयी हो। पीछे से कोई बाघ मारने, काटने आवे तो उसे पता नहीं रहता, उसे इतना रस होता है। उसकी आँखे भी वहाँ होती है, नज़र भी वहाँ होती है, सब पूरा सब (लक्ष्य वहाँ होता है)। पीछे से कोई खाने आवे, मारने आवे तो पता नहीं होता। अभी पकड़ेगा या नहीं तो भी पता नहीं होता।

इसी तरह (यहाँ) कहते हैं कि आत्मा में मुनि इतना आनन्द चूसते हैं, अन्दर में तालाब भरा है, ऐसे आत्मा आनन्द से भरा भगवान है, उसमें अन्तर की एकाग्रता में अकेला आनन्द चूसते हैं कि संयोग में परीषह या उपसर्ग का उन्हें पता नहीं पड़ता। समझ में आया ? इसका नाम मुनिपना है। मुनिपना कहीं ऐरागेरा नहीं है कि साधारण बात से प्राप्त हो जाए। समझ में आया ?

यह यहाँ कहते हैं, ऐसा धर्म तो भावलिंगी दिगम्बर मुनि धारण कर सकते हैं। ऐसा धर्म दूसरा गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वी भी, मुनि का जो धर्म है-ऐसा धारण नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टि को तो होगा ही किसका ? अन्यमति तो सब भले नग्न घूमे, परन्तु यह धर्म उन्हें नहीं हो सकता। वस्तु का भान नहीं है, दृष्टि नहीं है, मुझे अन्तर में कहाँ स्थिर होना है ? किस चीज में ? - उस चीज का पता नहीं है। वह चीज कैसी है, कितनी है-इसका पता नहीं है। अज्ञानी को तो चारित्र होता नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन का ध्येय जो पूर्ण आत्मा कितना है-उसका उसे पता नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा... !

यह '**निश्चयरत्नत्रय स्वरूप...**' भाई ! अब सब जिसे-तिसे जय महाराज (करे)। इन सब सेठ़ियों ने भी किया, बहुत मक्खन लगाया, परन्तु ये कहते हैं-हम जानते थे कि ये सब ऐसा करते है। आहा..हा... ! सम्यग्दर्शन के आनन्द के स्वाद के समक्ष विशेष आनन्द लेने को चारित्र अंगीकार करते हैं।

यह उसमें पाठ ऐसा है, उस 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में (कि) राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये.. ऐसा आता है न ? यह (एक विद्वान ने) इससे पहले कहा था, उस समय (संवत) १९९२ में, १९९२ के साल में आये थे न ? (एक विद्वान) और क्या कहलाते हैं दूसरे ? भाई ! अभी ये 'कलकत्तावाले' क्या कहलाते हैं ? भगत-ये दो आये थे, दो आये थे, (संवत) १९९२ के साल में आये थे। 'हीराभाई' के मकान में। तीस वर्ष हो गये। वे उस दिन कहते थे कि देखो ! मुनि तो राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये चारित्र ग्रहण करते हैं, इसलिए राग-द्वेष घटान के लिये चारित्र ग्रहण करना। यह शब्द 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आता है-राग-द्वेष की निवृत्ति हेतु.. परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि वीतरागता प्रगट करने के लिए चारित्र है। समझ में आया ? यह श्लोक उस दिन बोले थे। आहा..हा... !

गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शन-ज्ञान की वीतरागता का अंश आया होता है, चारित्र का अंश थोड़ा होता है परन्तु मुनिदशा के बिना ऐसा चारित्र... आहा..हा...! संयम चारित्र और उसकी यह मिठास की-आनन्द की उग्रता.. जो देव को नहीं है, इन्द्र को नहीं है, समकिती श्रावक को नहीं है और पाँचवे गुणस्थानवाले श्रावक को (नहीं है)। इतना आनन्द उन्हें बढ़ गया होता है। समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसे भावलिंगी मुनि यह चारित्र '**अंगीकार करते हैं, दूसरे नहीं।**' भार नहीं साधारण जीव का। '**आगे उन मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन किया जाता है। हे भव्यों ! उन मुनिवरों का चारित्र सुनो और अपने आत्मा का अनुभव करो।**' बढ़ाओ... सम्यग्दर्शन-ज्ञान करो और उससे भी बढ़ाओ-अनुभव करो।

पाँचवी ढाल का सारांश

'**यह बारह भावनायें चारित्रगुण की आंशिक शुद्धपर्याय है...**' चारित्र अर्थात् संवर है न ? संवर की भावना है न ? '**(इसलिये) वे सम्यग्दृष्टि जीव को ही हो सकती है...**' ऐसी भावनायें मिथ्यादृष्टि को नहीं होती। '**सम्यक् प्रकार से यह बारह प्रकार की भावनायें भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है; उन बारह भावनाओं का चिन्तवन मुख्यरूप से तो वीतराग दिगम्बर जैन मुनिराज को ही होता है...**' मुख्यरूप से.. श्रावक करता है '**और गौणरूप से सम्यग्दृष्टि को होता है।**' (यह सब) पहले कहा है, इसकी बात हो गयी है, पहले बात हो गयी है न ? बारह भावनायें भाते-भाते, जैसे अग्नि को फूँक मारे और अग्नि प्रज्वलित हो, वैसे आत्मा की अग्नि-एकाग्र शान्ति है, वह ऐसी भावना भावे तो वह शान्ति प्रगट होती है।

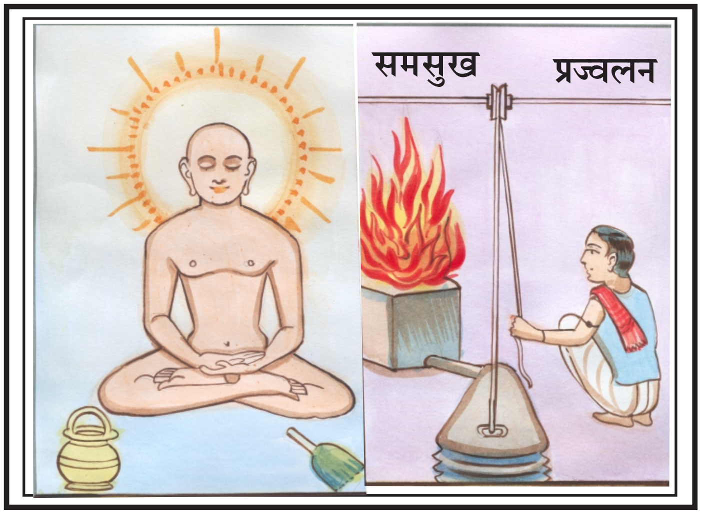

दृष्टान्त आया था न ? फोटो नहीं आया था ? क्या आया था फोटो ? दिखता है या नहीं वहाँ ? यह नहीं इसमें। उसमें है। भावना का नहीं आया था ? प्रज्वलित। चित्र में वहाँ १३९ पृष्ठ पर है, हिन्दी देखो। देखो। '**इन चिन्तत समसुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागे...**' यह दूसरी ही है। '**इन चिन्तत समसुख जागे...**' यह पाँचवी ढाल का दूसरा श्लोक है। '**जिमि ज्वलन पवन के लगे...**'

इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागे;

जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठाने।।२।।

देखो ! यह देखो ! यहाँ अग्नि है, उसमें देखो वह फूँक मारता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, यह फोटो है। है या नहीं ? ऐसे भगवान आत्मा जिसने अन्दर के शान्ति के आनन्द को अन्तर दृष्टि में लिया है, वह इन बारह भावनाओं की फूँक मारता है तो शान्ति प्रज्वलित - उग्र होती है- ऐसा कहते हैं। भूँगली नहीं मारते सोनी ? सोनी कहते हैं न ? उस भूँगली में से फू.. फू.. करते हैं न ? अग्नि को जलाने (के लिये) इसी प्रकार धर्मात्मा सोनी, अपना निर्मल सोना शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसे अन्दर दृष्टि-ज्ञान में लिया है। उसे जरा अशुद्धता थोड़ी है, उसे बारह भावना द्वारा शुद्धता को प्रगट करके अशुद्धता का नाश करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह आ गया, यह सब आ गया है। यह अधिक देखना होवे तो 'स्वामी कार्तिकेयनाप्रेक्षा' में से (देख-पढ़) लेना। लो ! 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की अनीति की बात थोड़ी ली है। यह पाँचवी ढाल पूरी हुई।

छठवीं ढाल

(हरिगीत छन्द)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य महाव्रत के लक्षण

षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू, बिना दीयो गहैं;
अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं।।१।।

अन्वयार्थ :- (षट्काय जीव) छह काय के जीवों को (न हननतैं) घात न करने के भाव से (सब विध) सर्व प्रकार की (दरवहिंसा) द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है और (रागादि भाव) राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों को (निवारतैं) दूर करने से (भावित हिंसा) भावहिंसा भी (न अवतरी) नहीं होती, (जिनके) उन मुनियों को (लेश) किंचित् (मृषा) झूठ (न) नहीं होती, (जल) पानी और (मृण) मिट्टी (हू) भी (बिना दियो) दिये बिना (न गहैं) ग्रहण नहीं करते; तथा (अठदशसहस) अठारह हजार (विध) प्रकार के (शील) शीलको-ब्रह्मचर्य को (धर) धारण करके (नित) सदा (चिद्ब्रह्ममें) चैतन्यस्वरूप आत्मा में (रमि रहैं) लीन रहते हैं।

भावार्थ :- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वरूप में निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना ही मुनिपना है। ऐसी भूमिका में निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान बारम्बार आता ही है। छठवें गुणस्थान के समय उन्हें पंच महाव्रत, नग्नता, समिति आदि अट्ठाईस मूलगुण के शुभभाव होते हैं, किन्तु उसे वे धर्म नहीं मानते; तथा उस काल भी उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति निरन्तर वर्तती ही है।

छह काय (पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर काय तथा एक त्रस काय) के जीवों का घात करना, सो द्रव्यहिंसा है और राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान इत्यादि भावों की उत्पत्ति होना, सो भावहिंसा है। वीतरागी मुनि (साधु) यह दो प्रकार की हिंसा नहीं करते, इसलिये उनको (१)

अहिंसा महाव्रत[१] होता है। स्थूल या सूक्ष्म-ऐसे दोनों प्रकार की झूठ वे नहीं बोलते, इसलिये उनको (२) सत्य महाव्रत होता है। अन्य किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु मिट्टी और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते, इसलिये उनको (३) अचौर्यमहाव्रत होता है। शील के आठरह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं और चैतन्यरूप आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं, इसलिये उनको (४) ब्रह्मचर्य (आत्म-स्थिरतारूप) महाव्रत होता है।।१।।

अब छठवीं ढाल, छठवीं ढाल। मुनिव्रत का-मुनिचारित्र का स्वरूप अन्त में कहते हैं। बहुत अच्छी बात की है। 'छहढाला' (पण्डित) 'दौलतरामजी' ने बहुत अच्छी संक्षिप्त में बहुत सरस (बनाई है)। गागर में सागर भर दिया है। (यह) बहुत-सौं को कण्ठस्थ होती है, परन्तु इसका भाव नहीं समझते। (ऐसे की ऐसे) रट लेते हैं। हमारे (इन्हें) ऐसा था न ? याद किया था, बस ! याद किया, जाओ।

मुमुक्षु :- छोटे बच्चों को पाठशाला में पढ़ाते हैं।

उत्तर :- हाँ, सब को पढ़ाते हैं परन्तु यह तो बड़े हैं न, यह तो पहले हैं। इनका दिगम्बर का जन्म है।

मुमुक्षु :- इन्हें सरल पड़ जाए न ?

उत्तर :- इसका कुछ नहीं। समझ में उसे सरल पड़े। पहले थोड़ा-बहुत हो तो सरल पड़े न-ऐसा कहते हैं।

हरिगीत छन्द, लो ! यह हरिगीत कहा है, यही अपना हरिगीत। '**अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यमहाव्रत के लक्षण...**' मुनि को ये पाँच महाव्रत होते हैं। मुनि अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, उसमें सम्यक्चारित्र-उग्ररूप से शान्ति का, आनन्द का प्रगटपना किया है, उन्हें ऐसे पँच महाव्रत के शुभ विकल्प (होते हैं)। इस विकल्प द्वारा उनका चारित्र कैसा है-ऐसा यहाँ बताना चाहते हैं।

---

१. यहाँ वाक्य बदलने से महाव्रतों के लक्षण बनते हैं। जैसे कि-दोनों प्रकार की हिंसा न करना सो अहिंसामहाव्रत है-इत्यादि।

समझ में आया ?

(हरिगीत छन्द)

षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू, बिना दीयो गहैं;
अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं।।१।।

आहा..हा...! '**चिद्ब्रह्म में नितरमि रहे...**' मुनि अर्थात्... आहा..हा..! समझ में आया ? देखो न !'श्रीमद्' ने 'अपूर्व अवसर' लिखा है। उसमें तो यह लिखा है न ?'बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो वह भी बाह्यान्तर निर्ग्रन्थपना है। चिद्ब्रह्म में यह आनन्द.. चिद् अर्थात् ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् आनन्द। इस चिद्ब्रह्म अर्थात् जो आनन्द में नित्य रमते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में चरना, रमना चारित्र है न ? चरना, चरना अर्थात् यह पशु चारा चरते हैं न ? बाहर जाए (तब) चरते हैं, कहते हैं न ? आत्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द की महा फलस भरी है, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, उसमें एकाग्र होकर चरते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द को चरते हैं, रमें.. रमें.. लीन.. लीन.. लीन.. लीन.. दूसरे देवलोक की इन्द्राणी आये, विचलित करे तो पता नहीं, इतना आनन्द है। आहा..हा...! ऐसे मुनियों को ऐसा पंच महाव्रत का भाव होता है-ऐसा कहते हैं। अन्तिम शब्द रखकर (-ऐसा कहते हैं)। समझ में आया ? (अभी) पहली मूल बात पड़ी रही और ऊपर की रह गयी। चावल (रह गये)।

मुमुक्षु :- चावल अर्थात् ?

उत्तर :- चावल अर्थात् ऐसे मानो यह अहिंसा पालते हैं, महाव्रत पालते हैं, परन्तु ये कहाँ चावल है। वह मूल बात रह गयी-अन्दर दर्शन-ज्ञान और शान्ति और आनन्द जो है। आहा..हा...! समझ में आया ?

अन्वयार्थ :- 'पाँचवी ढाल में कहा, उन मुनिराजों को (षट्काय जीव) छहकाय के जीवों का घात नहीं करने से...' लो ! छह काय के जीव। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस छह काय जीव हैं, हाँ ! जीव हैं वे। एक कण पृथ्वी में एक कण में असंख्य जीव हैं।

पानी की एक बूंद में असंख्य एकेन्द्रिय जीव हैं। पृथ्वी पानी, अग्नि.. अग्नि की एक चिंगारी में असंख्य जीव। वायु, वनस्पति, आहा..हा...! एक पत्ता (उसमें) असंख्य जीव हैं। आलू के टूकड़े में अनन्त जीव हैं। त्रस-दोइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय-इन छह काय की हिंसा (नहीं) करने के भाव से '**सर्व प्रकार द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है।**' उन्हें यह भाव नहीं होता। शब्द यहाँ है, हाँ ! देखा ?

'**न हननतैं, सब विध दरव हिंसा टरी.. जीव न हननतैं सब विध दरवहिंसा टरी...**' ऐसा। यह हनन-घात का भाव नहीं, इसलिए उन्हें द्रव्यहिंसा दूर हो गयी है। भाव (हिंसा) बाद में कहेंगे। '**षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी...**' एक एकेन्द्रिय का एक दाना या टूकड़ा भी.. हरी, काई होती है न ? नीम, नीम का इतना पत्ता, इतना टूकड़ा, हाँ ! उसमें असंख्य जीव हैं। उसके ऊपर पैर दे और पड़गाहे तो ले नहीं। पानी का बिन्दु उनके लिये बनाया होवे तो मर जाए तो भी पानी ले नहीं-ऐसा जिनके छह काय की दया का भाव होता है। समझ में आया ? परन्तु उस चिद्ब्रह्म (में) रमने की भूमिकासहित की (बात है)।

छह कायके जीव है। छह काय के मावतर (पीहर) है-ऐसा कहते हैं। आया है न ? छह काय का पीहर, छह काय के माँ-बाप। पीहर, पीहर। किसी प्राणी को मुझ से दुःख न होओ। एकेन्द्रिय भी अनन्त जीव एक इतने से टूकड़े में। पानी की एक बूँद में असंख्य जीव हैं। वह पाँच शेर, पाँच शेर, दस-दस शेर पानी साधुओं के लिये करे (और वे) लें (तो) उनके व्यवहार का भी ठीकाना नहीं है, (उसे निश्चय) वस्तु हो नहीं सकती। इससे पहली बात रखी-'**छह काय जीव न हननतैं...**' नाश करने का भाव जिन्हें नहीं होता। यहाँ (लोगों में) बाहर का रहा कि यह छह काय को नहीं मारता, छह काय को नहीं मारता; परन्तु छह काय को नहीं मारना.. यह भाव है, वह शुभभाव किसे व्रतरूप होता है ? जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और चिद्ब्रह्म में रमणतारूप आनन्द होता है, उस भूमिका में ऐसा भाव होता है। समझ में आया ? प्रत्येक जीव के प्रति उन्हें करुणाभाव है।

'**छह काय के जीवों का घात नहीं करने के भाव से समस्त प्रकार की द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है.. न हननतैं..**' उसमें से निकाला है। भावहिंसा बाद में कहेंगे। '**रागादिभाव निवारतैं...**' देखो ! रागादि भाव हैं, उन्हें टाला है, इसलिए '**हिंसा न भाविक अवतरी..**' इसमें

भावहिंसा नहीं होती। अवतरी अर्थात् उत्पन्न नहीं होती क्योंकि रागादि भाव मिटाये हैं-ऐसा कहा है न ? अन्दर से रागादि मिटाये हैं। राग है, वही भावहिंसा है। शुभ-अशुभराग है, वह भावहिंसा है। उस '**रागादिभाव निवारतैं...**' जिसने ऐसा भाव का अन्तर में अभाव किया है। आहा..हा...!

मुनि अर्थात् परमेश्वरपद। मुनि अर्थात् 'णमो लोए सव्व साहूणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं'-पाँच पद के साथ ऐसा जो चारित्र कहते हैं कि श्रावकों को सम्यग्दर्शनसहित उसकी भावना करनी और अपनी दशा को पहिचानना, कितनी अद्‌भुत दशा है। ऐसी दशा नहीं है, उसकी भावना करनी-ऐसा कहते हैं, हाँ ! पहले कहा था न ? पिछानना, अपनी अनुभूति पहिचानना।

कहते हैं, इन छह काय के जीवों का कोई भी एक कण-पृथ्वी का, पानी का, अग्नि का, वायु का, वनस्पति और त्रस-किसी जीव का घात नहीं करते, नव-नव कोटि से-ऐसा आया न ?'सब विध'-नव कोटि-मन, वचन, काया, करना, कराना और अनुमोदन - नव-नव कोटि से छह काय के जीव को घात नहीं करने का भाव उन्हें होता है-ऐसी जिन्हें दया प्रगट हुई है। ओ..हो..हो..! अन्दर इतनी वीतरागता है कि इससे विकल्प इतना (आता है कि) मुझसे छह काय के किसी प्राणी को दु:ख न होवे। उन्हें अनन्त जीवों की आस्था है न ? निगोद में अनन्त जीव हैं, काई में अनन्त जीव हैं, अनन्त जीव हैं। इस तरह नीम का फूल कहलाता है न फूल, (उसमें) अनन्त जीव हैं। ऐसा भाव (-जीव घात नहीं करने का भाव) आत्मा के आनन्द में रमनेवाले चारित्रवन्त सन्तों को यह पहला महाव्रत ऐसा होता है। उसमें से यह ले लेना। समझ में आया ?

'**रागादिभाव निवारतैं, हिंसा न भाविक अवतरी...**' अर्थात् हिंसा हुई नहीं, वह अहिंसा व्रत कहा जाता है-ऐसा लेना। यह बाद में लेगें, एक शब्द। उनने लिखा है, समझे न ? इसमें नहीं होगा। यहाँ कहते हैं-'**नोंध :- यहाँ वाक्य बदलने से अनुक्रम से महाव्रतों के लक्षण बनते हैं...**' नीचे हैं, इस तरफ है। वाक्य बदलने से अर्थात् क्या ? कि यह हुआ, नहीं घात करना-यह हुआ, इसलिए अहिंसा महाव्रत हुआ, ऐसा। छह काय के जीव किसी भी जीव को मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदना से घात नहीं करना; इसका नाम पहला अहिंसा

महाव्रत हुआ। ओ..हो..हो... ! कहो, मुनि को ऐसा भाव-व्यवहार होता है, नहीं होता-ऐसा नहीं। निश्चय अकेला होवे और ऐसा व्यवहार न होवे-ऐसा नहीं है। व्यवहार ऐसा होता है। समझ में आया ?

श्रावक के व्यवहार में अकेली त्रस की हिंसा का त्याग है या संकल्पी हिंसा का त्याग है। मुनि को आत्मा की इतनी आनन्ददशा में इतना एक जरा-सा विकल्प-छह काय के जीवों को न मारने का भाव होता है। सर्व सावद्ययोग का त्याग है-ऐसी दशा मुनि धारण कर सकते हैं। महाउग्र पुरुषार्थी, जिन्हें एकाध भव आदि में मुक्ति की तैयारी है-ऐसे जीव, चारित्र (अंगीकार करते हैं)। ऐसा चारित्र, हाँ ! यों लोगों ने कल्पना से माना हुआ बाहर का वह नहीं। भाई ! आहा..हा.. ! अन्दर में जहाँ राग का विकल्प मिट गया है, आत्मा में अहिंसा प्रगट हुई, देखो ! अन्दर में अहिंसा.. आहा..हा... ! उन्हें ऐसा जरा-सा राग छह काय को न मारना-घात न करना, वह होता है। वीतराग होकर वह भी मिट जाता है।

'**राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान**...' यह असत्य की बात कहते हैं। यह भावहिंसा की बात करते हैं।'**राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि भावों को दूर करने से**...' यह तो पहले में भावघात का आया था, यहाँ अन्तर का (लेते हैं)। '**(भावहिंसा) भावहिंसा भी (न अवतरी)**...' अर्थात् उत्पन्न नहीं होती। उत्पन्न नहीं होता-यहाँ तो ऐसा कहते हैं। '**न अवतरी**...' अन्तर में इतनी राग रहित भाव-अहिंसा दशा हुई है और इसलिए वह हिंसा का भाव वहाँ उत्पन्न होता ही नहीं। इसे पहला महाव्रत-अहिंसाव्रत कहा जाता है।

मुमुक्षु :- दोनों का है।

उत्तर :- हाँ, दोनों है न । द्रव्यहिंसा मिटी और भावहिंसा गयी तब, ऐसा।

'**उन मुनियों का जरा भी झूठ नहीं होता**...' जरा भी झूठ नहीं होता। प्राण जाए तो भी असत्य नहीं बोलते। नव-नव कोटि से-मन, वचन और काया तथा करना, कराना, अनुमोदना। वे तो वीतरागी मस्त मुनि जंगल में रहते हों, वनवास में, सिंह की तरह अन्दर आत्मा में गर्जते हैं। वह सिंह बाहर में गर्जता है, ये अन्दरमें गर्जते हैं। आनन्द में लवलीन... उन्हें जरा भी झूठ बोलने का मन, वचन और काया से, करना, कराना, अनुमोदन नहीं होता। यह दूसरा महाव्रत हो गया।

झूठ नहीं होती, इसलिए दूसरा महाव्रत, ऐसा।

'(जल) अर्थात् पानी और (मृण) अर्थात् मिट्टी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते...' अचित्त निर्दोष पानी और मिट्टी अचित, यह भी दिये बिना नहीं लेते। समझ में आया ? शरीर में से कफ निकला (हो), सुखी धूल होती है न ? अज्ञानियों ने मिट्टी डाली हो। पानी और मिट्टी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते-यह तीसरा अचौर्यमहाव्रत है, अचौर्यमहाव्रत।

'तथा (अठदशसहस) अठारह हजार प्रकार के शीर को-ब्रह्मचर्य को धारण करके...' अठारह हजार प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं। आहा..हा... ! अठदशसहस, लो ! हमेशा, यह ब्रह्मचर्य धारण करके नित्य **'(चिद्‌ब्रह्म) चैतन्य स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं।'** इस शुद्धोपयोग में अधिक मुख्य तो एकत्व है।

मुमुक्षु :- अठारह हजार ?

उत्तर :- ये सब ब्रह्मचर्य के प्रकार हैं, बहुत प्रकार हैं, भेद हैं। क्रोध से, मान से, माया, लोभ, मन्दराग.. पूर्ण ऊपर होता है। समझ में आया ? यह उसमें लिखा है-अठारह हजार.. शिलांग रस धारा नहीं आता ? ऐ..ई.. ! पाँचवे 'श्रवणसूत्र' में शब्द आता है। अर्थ का पता नहीं पड़ता, परन्तु इसे कण्ठस्थ कहाँ से (होवे) ? अठारहसहस शिलांगत धारा, अक्षय आया चरिता। यह पाँचवा 'श्रवणसूत्र' तुम्हें कण्ठस्थ नहीं, इन सबको बहुत-सों को कण्ठस्थ होता है। सम्प्रदाय में नहीं ? स्थानकवासी में आता है। स्थानकवासी मे कण्ठस्थ होता है। स्थानकवासी में बहुत-सों को कण्ठस्थ है। एक 'दरियापरी' के अतिरिक्त सब को कण्ठस्थ होगा। तुमने किया है या नहीं ? यह किया था, अब भूल गये होंगे। ब्रह्मचर्य के अठारह हजार प्रकार हैं। उन्हें धारण करके चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन रहे, उन्हें मुनि कहते हैं। ऐसी मुनिपने की भावना, सम्यग्दृष्टि को अनुभव बढाने के लिए बारम्बार ऐसी भावना करना। भावार्थ में विशेष कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❀

वीर संवत २४९२, फाल्गुन वद ४, गुरुवार
दि. १०-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-१-४. प्रवचन नं. ४७

'दौलतरामजी' पण्डित हुए हैं, दिगम्बर पण्डित (थे)। उन्होंने यह 'छहढाला' (बनाई है)। 'छहढाला' प्रचलित बहुत है, परन्तु उसके अर्थ में गम्भीरता बहुत है। छठवीं ढाला की पहली गाथा का भावार्थ। मुनिपना की बात करते हैं। मुनि कैसे होते हैं ?

मुमुक्षु :- पंचम काल के ?

उत्तर :- पंचम काल के मुनि। यहाँ तो पंचम काल के पण्डित हैं। पहले मुनि का ज्ञान कराते हैं। अन्तिम छठवीं ढाल है न ? पाँच ढाल तो चल गई। उसका भावार्थ है, देखो !

'निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वस्वरूप में निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना ही मुनिपना है।' मुनिपना की व्याख्या। आत्मा-अपना आत्मा निजानन्द स्वरूप, निज-अपना आनन्दस्वरूप (है)। ऐसे अन्तर में आनन्द में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रपूर्वक लीनता करना। अन्तर स्वरूप शुद्ध परमानन्दस्वरूप की प्रतीत, ज्ञान और रमणतापूर्वक अन्दर में लीनता करना। '**निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना।**' उसका नाम चारित्रवंत मुनि कहने में आता है। मुनिपना का ज्ञान करवाते हैं, यथार्थ क्या चीज है (उसका ज्ञान कराते हैं)।

'ऐसी भूमिका में निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान बारम्बार आता ही है।' मुनि को अन्तर आनन्द में रमते-रमते सप्तम गुणस्थान, अप्रमत्तदशा है वह बारम्बार आती है। वहाँ से हठे (और) छठवे गुणस्थान में आते हैं तो '**पंच महाव्रत, नग्नता...**' मुनि नग्न होते हैं। '**समिति आदि अट्ठाईस मूलगुण के शुभभाव होते हैं...**' उन्हें शुभभाव राग होता है, '**किन्तु उसे वे धर्म नहीं मानते;...**' परमार्थ धर्म नहीं समझते। समझ में आया ? धर्म नहीं समझते,

उसका अर्थ परमार्थ धर्म व्यवहार धर्म–शुभभाव आता है। अन्तर आनन्दस्वरूप में शुद्धोपयोग में बहुत काल रमते हैं, परन्तु उसमें रह न सके, (तब) छट्ठे गुणस्थान में ऐसा भाव आता है। वह शुभभाव है।

'उस काल में उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति निरन्तर वर्तती ही है।' अन्तर में राग और विकाररहित, शुद्ध भगवान की निर्मल परिणति की पर्याय–अवस्था तो निरन्तर रहती है। उसको भगवान के शास्त्र में मुनिपना कहने में आया है। वे **'छह काय के...'** जीवों की हिंसा नहीं करते। **'पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरकाय...'** वह त्रस, उसके घात की द्रव्यहिंसा (और) राग–द्वेष, काम, क्रोधादि भावहिंसा। इस भावहिंसा के त्यागी हैं। अन्तर में राग–द्वेष नहीं है, बाह्य में बाह्य की छह काय की हिंसा भी नहीं है।

'वीतरागी मुनि यह दो प्रकार की हिंसा नहीं करते...' अहिंसा महाव्रत का नाम अहिंसा। **'स्थूल और सूक्ष्म-ऐसे दोनों प्रकार की झूठ वे नहीं बोलते, इसलिए उनको (२) सत्य महाव्रत...'** कहने में आता है। **'अन्य किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु मिट्टी और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते, इसलिए...'** उसको अचौर्य महाव्रत कहने में आता है। **'शील के अठारह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं...'** चैतन्य भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय स्वरूप में लीन रहते हैं। इसलिए उनको ब्रह्मचर्य–आत्मस्थिरतारूप महाव्रत कहने में आता है। इतनी बात तो श्लोक में थी उसकी टीका थी।

'अब, परिग्रहत्याग महाव्रत, इर्यासमिति और भाषासमिति' की व्याख्या दूसरे बोल में कहते हैं। मुनि की व्याख्या करते हैं। मुनि का स्वरूप तो बताना चाहिए न (कि) क्या स्वरूप है ? श्रावक की बात हो गई, सम्यग्दर्शन की बात हुई, अब मुनि की व्याख्या में अच्छी बात आयेगी।

परिग्रहत्याग महाव्रत, ईर्यासमिति[१] और भाषासमिति

अंतर चतुर्दस भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलै
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।
जग-सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुघद सब संशय हरैं;
भ्रमरोग-हर जिनके वचन-मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं ॥२॥

अन्वयार्थ :- (वे वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि) (चतुर्दस भेद) चौदह प्रकार के (अन्तर) अन्तरंग तथा (दसधा) दस प्रकार के (बाहिर) बहिरंग (संग) परिग्रह से (टलै) रहित होते हैं। (परभाव) प्रमाद-असावधानी (तजि) छोड़कर (चौकर) चार हाथ (मही) जमीन (लखि) देखकर (ईर्या) इर्या (समिति तै) समिति से (चलै) चलते हैं, और (जिनके) जिन मुनिराजों के (मुखचन्द्र तैं) मुखरूपी चन्द्र से (जग सुहितकर) जगत का सच्चा हित करनेवाला तथा (सब अहितकर) सर्व अहित का नाश करनेवाला, (श्रुति सुखद) सुननेमें प्रिय लगे ऐसा (सब संशय) समस्त संशयों का (हरै) नाशक और (भ्रम रोगहर) मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला (वचन अमृत) वचनरूपी अमृत (झरैं) झरता है।

भावार्थ :- वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के बहिरंग परिग्रहों से रहिते होते हैं, इसलिए उनको (५) परिग्रहत्याग-महाव्रत होता है। दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प उठ वह (१) ईर्यासमिति है, तथा जिसप्रकार चन्द्र से अमृत झरता है उसी प्रकार के मुनि के मुखचन्द्र से जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाले, सुननें में सुखकर, सर्व प्रकार की शंकाओं का

१. अदत्त वस्तुओं का प्रमाद से ग्रहण करना ही चोरी कहलाती है; इसलिए प्रमाद न होने पर भी मुनिराज नदी तथा झरने आदि का प्रासुक हुआ जल, भस्म (राख) तथा अपने आप गिरे हुए सेमल के फल और तुम्बीफल आदि का ग्रहण कर सकते हैं–ऐसा 'श्लोकवार्तिकालंकार' का अभिमत है। (पृ. ४६३)

दूर करनेवाले और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोग का नाश करनेवाले ऐसे अमृतवचन निकलते हैं। इस प्रकार समितिरूप बोलने का विकल्प मुनि को उठता है। वह (२) भाषा समिति है।

-उपरोक्त भावार्थ में आये हुए वाक्यों का बदलने से क्रमश: परिग्रहत्याग महाव्रत तथा ईर्या समिति और भाषा समिति का लक्षण हो जायेगा।

प्रश्न :- सच्ची समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर :- परजीवों की रक्षा के हेतु यत्नाचार प्रवृत्ति को अज्ञानी जीव समिति मानते हैं; किन्तु हिंसा के परिणामों से तो पापबन्ध होता है। यदि रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण क्या सिद्ध होगा ?

तथा मुनि एषणासमिति में दोष को टालते हैं; वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रक्षा के हेतु ही समिति नहीं है। तो फिर समिति किसप्रकार होती है ? मुनि को किंचित् राग होने पर गमनादि क्रियाएँ होती हैं, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दु:खी करके अपना गमनादि प्रयोजन सिद्ध नहीं करते, इसलिये उनसे स्वयं दया का पालन होता है; - इस प्रकार सच्ची समिति है। ([१]मोक्षमार्ग प्रकाशक, (देहली) पृ. ३३५)।।२।।

दूसरी गाथा।

अंतर चतुर्दस भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलैं;
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।
जग-सुहितकर सब अहितकर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;
भ्रमरोग-हर जिनके वचन-मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं।।२।।

---

१ ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान;
प्रतिष्ठापना जुटक्रिया, पाँचों समिति विधान।

देखो ! भाषा समिति। भाषा समिति की व्याख्या। अलौकिक बात है। क्या कहते हैं ? देखो !

अन्वयार्थ :- शब्दार्थ :-'(वीतरागी) संत दिगम्बर जैन मुनि (चतुर्दश भेद) चौदह प्रकार के अन्तरंग तथा (दसधा) दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं।' उनको वस्त्र-पात्र होते नहीं, नग्न दशा होती है, अन्तर में आनन्द का भान होता है। अतीन्द्रिय तीन कषाय के अभाव से अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। बाहर में नग्नदशा, वस्त्र-पात्र का भी त्याग है।

'प्रमाद-असावधानी छोड़कर...' अब ईर्यासमिति कहते हैं न ? पहले पंच महाव्रत की व्याख्या की। ईर्या समिति। **'प्रमाद-असावधानी छोड़कर चार हाथ जमीन देखकर ईर्यासमिति से चलते हैं...'** चार हाथ प्रमाण देखकर कोई प्राणी को दुःख न हो, ऐसे आत्मा के आनन्दपूर्वक प्रमादरहित चलते हैं। उसका नाम ईर्यासमिति है।

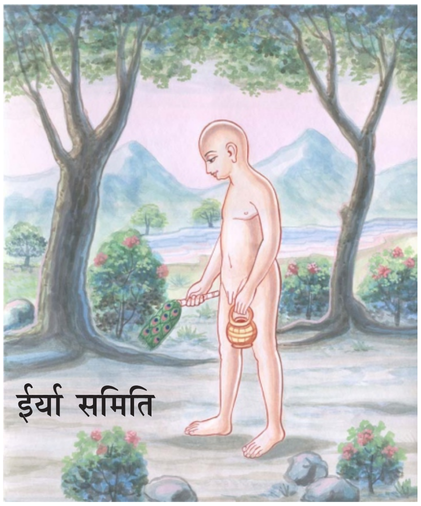
ईर्या समिति

अब भाषासमिति में विशेष अलौकिक बात है। देखो ! **'जिन मुनिराजों के मुखरूपी चन्द्र से... '** दिगम्बर संत आत्मज्ञानी आनन्द में लीने होनेवाले 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य' महा दिगम्बर मुनि हुए। देखो ! कौन लाया है यह ? 'कलकत्ता' ? अच्छा। हजार वर्ष पहले संवत ४९ में भरतक्षेत्र में दिगम्बर मुनि हुए। 'कुन्दकुन्दाचार्य' टाड़पत्र पर लिखते हैं। 'समयसार', 'प्रवचनसार' आदि लिखते हैं। भगवान के पास गये थे। महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' भगवान बिराजते हैं, वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से (आकर) शास्त्र बनाते हैं, देखो अन्दर ! आप को 'कलकत्ता ' ले जाना है ? कहो, समझ में आता है ?

मुनि तो अन्तर में आनन्द (में रहते हैं)। श्रावक भी उसको कहते हैं कि, जिसको अन्तर में शुद्धस्वभाव का अन्तर अनुभव होकर सम्यग्दर्शन हुआ हो और उसको देश-आंशिक त्याग

होता है। मुनि तो विशेष आत्मा के आनन्द में उग्र होते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव और सर्व विरति का भान उनको होता है। पंच महाव्रत की व्याख्या तो की। ईर्यासमिति कही, अब भाषासमिति में अलौकिक बात कहते हैं। सारे जैनदर्शन का सार भाषासमिति में समा देते हैं। समझ में आया ? कैसा है भाव ? भाषासमिति कैसे बोले तो बोले ?

'जिन मुनिराजों के मुखरूप चन्द्र से...' मानो अमृत झरता हो। कैसा अमृत ? भाषासमिति में कैसी प्ररूपणा होती है ? **'जगत का सच्चा हित करनेवाला...'** वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जो मार्ग कहा है, वह मार्ग मुनि, भाषासमिति में कहते हैं। कैसा ? **'जगत का सच्चा हित...'** **'सुहितकर'** शब्द पड़ा है न ? **'जग सुहितकर'** सुहितकर का अर्थ मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष का मार्ग अथवा मोक्ष। सुहित-जगत को ऐसा कहते हैं कि, हे प्राणियों ! तुम्हारा पूर्ण आनन्दरूपी मोक्ष, वह मोक्ष का मार्ग तुम प्रगट करो। वीतरागी दशा और वीतरागी दशा से प्राप्त पूर्णानन्द की प्राप्ति करो। ऐसा सुहितकर मार्ग मुनिओं वाणी में कहते हैं। कहो ! आहा..हा... ! भाषा देखो !

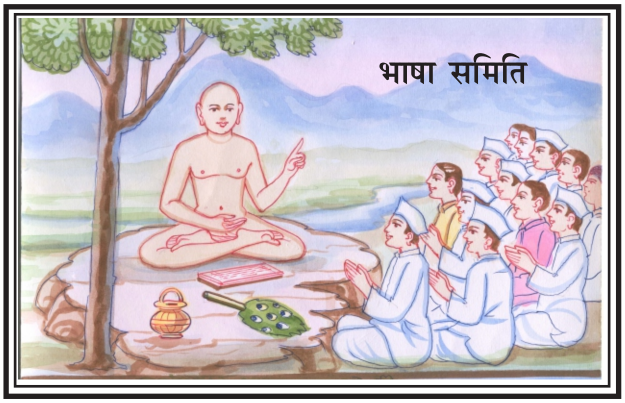

'जगत का सच्चा हित करनेवाला...' हित.. परमहित। अपना आत्मा शरीर, कर्म से रहित अन्दर है और शुभ-अशुभभाव, विकार से भी रहित है, ऐसे अपने आत्मा में दृष्टि लगाओ, ज्ञान करो और स्वरूप में लीन हो। मुनिओं वीतरागी भाषा में, समिति में हितकर उपदेश, उनके मुखरूपी चन्द्रमामें से सुहितकर-चन्द्र का अमृत झरता है। कहो, समझ में आया ? सुहितकर-सच्चा हित करनेवाला। **'तथा (सब अहितकर)...'** नास्ति कहते हैं। **'अहित का नाश करनेवाला...'** मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान मिथ्या राग-द्वेष का भाव, जो अहितकर है, (उसका नाश करनेवाला)।

मुमुक्षु :– गरीबी।

उत्तर :– गरीबी अहितकर नहीं है। समझ में आया ? क्या ? गरीब होना अहितकर नहीं है, वैसे तवंगर होना हितकर नहीं है। क्या कहते हैं ? पुस्तक है या नहीं ? जगत में कोई गरीब नहीं है। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। तवंगर भी कोई नहीं है। भाई !

मुमुक्षु :– तवंगर भी नहीं ?

उत्तर :– ना, ना। तवंगर नहीं है। पर्याय में रांक–भिखारी है। जो कोई पुण्य–पाप की इच्छा करते हैं और पुण्य के फल की इच्छा करते हैं, वह रांक है, भिखारी है। वह आया था, कल आया था या नहीं ? दीन.. दीन। 'दीन' शब्द कल आया था। उस दीनता को नाश करनेवाला उपदेश मुनि देते हैं। मुनि के मुखमें से, दिगम्बर मुनि संत आत्मज्ञानी–ध्यानी, जिनको अन्तर (में) छठ्ठा–सातवां गुणस्थान प्रगट हुआ है, जो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जो मार्ग कहा, ऐसा सुहितकर मार्ग का उपदेश देते हैं। भैया ! तेरा हित, अपना शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा, उसकी अन्तरदृष्टि करो, आत्मा का ज्ञान करो, आत्मा में लीन हो तो सुहित–पूर्ण मुक्ति तुझे होगी। ऐसा उपदेश मुनिराज भाषासमिति में ऐसी बात करते हैं। पाप करना, हिंसा करनी, झूठ बोलना, तेरी अवस्था ठीक होगी, लड़का होगा ऐसी बात मुनि के मुखमें से कभी होती नहीं। समझ में आया ?

अहितकर–अहित को करनेवाली। मिथ्याश्रद्धा आदि.. विस्तार तो बाद में करेंगे, पहले सामान्य बात करते हैं। अहित का करनेवाला–आत्मा के शुद्ध स्वभाव को छोड़कर, विकार को अपना मानना, परचीज को अपना मानना, वह मिथ्यात्वरूपी भाव महाअहितकर है। आ..हा..! अहितकर है, आत्मा को नुकसान करनेवाला है। उसको नाश करनेवाली भाषा कहते हैं। रखनेवाली नहीं (कहते)। आहा..हा...! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर जैसा मार्ग कहते हैं, ऐसा मार्ग उसके मुखमें से निकलना चाहिए। उसे भाषासमिति कहते हैं। अब उसका विस्तार करते हैं।

कैसे कहते हैं ? कि, **'सुनने में प्रिय लगे...'** श्रोता को आत्मा की बात प्रिय लगे। ऐसा आनन्दस्वरूप भगवान, तेरा स्वरूप तो परमानन्द है न ! समझ में आया ? भगवान ! तू तो परमानन्द है न ! तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है न ! तु तो शान्तरस का तो भगवान है

न ! ऐसी प्रिय भाषा जिन के मुखमें से भाषासमिति में आती है। समझ में आया ? '**सुनने में प्रिय लगे ऐसा...**'

'**(सब संशय) समस्त संशयों को...**' नाश करनेवाला। क्या मार्ग होगा ? कोई पुण्य-पाप, पुण्य से धर्म होगा ? पवित्रता से धर्म होगा ? या निमित्त से लाभ होगा ? या स्वभाव से लाभ होगा ?-ऐसा संशय जो होता है, इस संशय को नाश करनेवाली वाणी निकलती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- वाणी का प्रताप तो है न ?

उत्तर :- वाणी का प्रताप नहीं है, उसके भाव की योग्यता है कि वाणी में ऐसा निमित्त होता है, तब उसे समझ में आता है, तब संशय टालते हैं, ऐसा कहने में आता है।

ममुक्षु :- इसमें कहा है न ?

उत्तर :- कहा है न। नाश करनेवाली वाणी। जो समझता है, उसे संशय टालने में निमित्त होती है तो नाश करनेवाली वाणी कहने में आता है। ओ..हो...! भगवान ! सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव कहते हैं, ऐसा मुनिराज अन्दर में से एक ही बात कहते हैं कि, भैया ! सर्व वही कहते हैं, भैया ! तेरा सर्व परमेश्वर त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर प्रभु बिराजते हैं। समझ में आया ? उनके पास जाकर 'कुन्दकुन्दचार्यदेव' लाये, सब बात ऐसी ही कहते थे। ऐसी परम्परा (में) संतो ऐसी बात करते हैं।

संशय दूर करनेवाली। उसको संशय न रहे। क्या होगा ? मैं परद्रव्य का कर सकता हूँ या नहीं ? मैं परद्रव्य को सहायता करके भला-बूरा कर सकता हूँ ? और परद्रव्य मेरा कोई भला-बूरा कर सकता है या नहीं ? ऐसा संशय हो उसका छेद करते हैं कि, तुम परद्रव्य का कुछ कर सकते नहीं। परपदार्थ का कार्य तेरे अधिकार की बात नहीं और परपदार्थ से तेरे में कुछ होता है-ऐसा तुम भी नहीं। समझ में आया ? सब संशयों को दूर करनेवाली भाषा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है, ऐसा संशय रहे-ऐसी भाषा वीतराग संतों की होती नहीं। उपदेश ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

तेरा आत्मा वीतराग आनन्दस्वभाव से भरा है, उसकी तुम अन्तर वीतराग श्रद्धा, ज्ञान,

शान्ति करो तो तेरा कल्याण होगा और बीच में राग आता है, परन्तु उस राग से कल्याण नहीं होगा। राग से कल्याण होगा और स्वभाव के आश्रय से कल्याण होगा, ऐसे संशय को नाश करनेवाली वाणी निकलती है। (राग से कल्याण होगा)-ऐसा है नहीं। समझ में आया ? भाषा कैसी रखी है ! 'दौलतरामजी', 'दौलतरामजी' पण्डित। २०० वर्ष हुए न ? कितने हुए ? मालूम नहीं ? १३० ? अभी हुए ? ठीक ! भाषा तो बहुत अच्छी लिखी है। 'छहढाला' जैन पाठशाला में पढ़ाते हैं। बहुतों को मुख में कंठस्थ भी होती है। ऐसा-ऐसा लिखते हैं। अन्तिम गाथा में है। वैशाख सुद ३। बराबर है, अन्तिम गाथा में है। अन्त में है। बराबर है। १८९१ वैशाख सुद ३। (संवत) १८९१ में लिखी है। १३१ वर्ष लगभग हो गये। परन्तु भाषा कितनी आसान, सरल हिन्दी।

वीतराग का मार्ग कैसा है ? ऐसा सुहितकर, अहित का नाशकर, संशय का टालनेवाला और भ्रमरोग को मिटानेवाला। समझ में आया ? मुनि ऐसी वाणी कहते हैं। ऐसी वाणी से विपरीत मुनि (वाणी) कह सकते नहीं। देखो !'**सर्व अहित का नाश करनेवाला, सुनने में प्रिय समस्त संशयों...**' '**सब संशय**' शब्द पड़ा है न ? कोई संशय रहे नहीं। भगवान आत्मा तेरी वीतरागी चीज 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। सिद्ध समान आत्मा है। अन्दर स्वरूप की दृष्टि करो, उससे ही कल्याण होगा। दूसरे राग से और संयोग से तेरा कल्याण नहीं होगा। सब संशय को नाश करनेवाली मुनि भाषासमिति से अमृत झरता है। आहा..हा... ! देखो ! कितना डाला है ?

संशयनाशक '**और (भ्रम रोगहर) मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला...**' लो ! मुनिओं की भाषा तो भ्रमणा का नााश करनेवाली होती है। मिथ्या भ्रमणा-विपरीत अभिनिवेश। वहाँ लिखा है, देखो ! विपरीत अभिनिवेश जो है कि, राग से मेरा कल्याण होता है, संयोग से मुझे लाभ होता है, ऐसी विपरीत-मिथ्या अभिप्राय, ऐसे विपरीत मिथ्यात्व को नाश करनेवाली मुनियों की वाणी होती है। पहले तो मिथ्यात्व का रोग बड़ा (है)। देखो !'**(भ्रम रोगहर)**' भाई ! कौन-सा रोग है ? उसमें लिखा है, देखो ! भ्रमरोग।

मुमुक्षु :- ये सहन नहीं होता।

उत्तर :- सहन नहीं होता। लो, ठीक। अन्दर से वह आया। सहन नहीं होता है। बैठे हो,

कुछ है ? बिच्छुने काटा है ? क्या है ? खा-पीकर लठ होकर आते हैं। क्या है लेकिन ? मुफ्त की ममता.. ममता... ममता.. आहा..हा... ! मार डाला। भ्रमणा ने मार डाला, ऐसा कहते हैं। शरीर में रोग और उससे मुझे दु:ख होता है, भ्रमणा है। '**आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, सद्‌गुरु वैद्य सुजान, गुरु-आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।**' भाषा बोले, अन्दर में उसे बैठे नहीं। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बहुत पढ़ा था।

उत्तर :- बहुत पढ़ा था, लेकिन एक बात भी कहाँ अन्तर में उतारी है ? 'आत्मभ्रांति सम रोग नहीं'। देखो ! यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं न ? '**(भ्रम रोगहर)**' मुनिओं की वाणी, वीतराग की वाणी, शास्त्र की वाणी, ऐसी होती है कि, भ्रमरूपी रोग को नाश करनेवाली है। भ्रमणा अनादि से क्या लगी है ? आत्मभ्रांति।

मुमुक्षु :- पागल हो गया है..

उत्तर :- पागल हो गया है। हिन्दी भाषा पागल है। समझ में आया ?

अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप छोड़कर राग में आनन्द है, शरीर में आनन्द है, ऐसे मानना (वह) भ्रमणा का रोग लगा है। उसको मिथ्यात्वरूपी भ्रम रोग लगा है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! 'आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, सद्‌गुरु वैद्य सुजान।' जाननेवाले ज्ञानी वैद्य हैं। 'औषध विचार ध्यान, गुरु-आज्ञान सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' विचार कर, विचार कर, भाई ! एक बात भी बैठी नहीं।

आत्मा सुखी तो सुखी सर्व बाते, ऐसे है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति। कहा नहीं ? आया नहीं ? 'चिन्मुरति की धारी...' आता है या नहीं स्तवन में ? 'बाहिर नरककृत दु:ख भोगत, अन्तर सुख की गटागटी।' नारकी जीव में भी सम्यग्दर्शन-आत्मा का भान है; बाहर में दु:ख है और अन्दर में आनन्द है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? 'चिन्मुरति की...' आता है न ? 'रीति लगत मुझे अटपटी।' पहले सेठ आये थे न ? तो पहले वह गाया था। लेकिन मालूम नहीं था कि क्या है। नरक में नारकी को बाह्य दु:ख है, परन्तु सम्यग्दृष्टि है तो उसे आत्मा का भान है।

जैसे 'श्रेणिक' राजा। 'श्रेणिक' राजा अभी है न ? नरक में है या नहीं ? पहली नरक में है। पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में है। समझ में आया ?

चिन्मूरत दृगधारी की मोहि, रीति लगति है अटापटी;
बाहिर नारकिकृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।

आप को धूल में भी रोग नहीं है। उसको (-नारकी तो) शरीर में इतने रोग हैं, हजारों बिच्छु काटते हैं, बिच्छा का डंक। नहीं, 'बाहिर नारकि-कृत दुःख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी।' भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन में भ्रमणा का नाशकर जो सम्यग्दर्शन प्रगट किया (तो) आत्मा का आनन्द आया। अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भान हुआ, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। ऐसे सम्यग्दर्शन की बात भ्रमणा टालकर मुनियों दूसरे को समझाते हैं। समझ में आया ? देखो ! कितना लिखा है ! समझ में आया ? कौन है ? ये भी 'दौलत' है, लो ! भले दूसरे 'दौलत' (हो)। 'अन्तर सुखरस गटागटी'। समझे ?

सदन-निवासी तदपि उदासी, तातें आस्रव छटाछटी;
जे भवहेतु अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
संयम धरि न सके पै संयम, धारन की उर चटाचटी,
तास सुयश गुन की 'दौलत' के, लगी रहे नित रटारटी।

'दौलतरामजी' कहते हैं, दूसरे 'दौलतरामजी' हैं। बहुत अच्छा (लिखा है)। नरक में इतने-इतने दुःख हैं, तो मुनियों, यहाँ मनुष्य को ऐसा उपदेश देते हैं कि, अरे..! भैया ! तुम्हारे भाव में शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह भी दुःख है, आत्मा में आनन्द है। पर में सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, मिथ्यादर्शन-विपरीत शल्य है। आहा..हा...! कहो, कैसा उपदेश देते हैं ? देखो ! मुनिराज का उपदेश होता है। दुनिया को मस्का लगाये और अनुकूल (कहे), ऐसा नहीं। आहा..हा...!

'समस्त संशयों का नाशक...' संशय, विपरीत और अनध्यवसाय तीनों का हो गया। समझ में आया ? **'और मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला वचनरूपी अमृत झरता है।'**

भाषासमिति में जैनदर्शन की मूल भाषा समा दी है, लो ! समझ में आया ? संतों की भाषा होती है तो ऐसी होती है। भगवान ! तेरा स्वरूप हमारे जैसा है। तुमको राग होता है, वह द:ख है। शरीर, वाणी, पर तो जड़ है। उससे भिन्न हो। भ्रम टाल दे। मैं अल्पज्ञ हूँ, रागी हूँ (ऐसा) भ्रम टाल दे। मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं रागी हूँ, मैं कर्मसम्बन्ध शरीरवाला हूँ, इतना हूँ-ऐसा भ्रम छोड़ दे। तुम सर्वज्ञ पूर्णआनन्दमय हो।

मुमुक्षु :- भ्रमणा हुई है।

उत्तर :- किसकी बात चलती है ? भूरी चड़ी है, भूरी। भ्रमणा की अज्ञान की। समझ में आया ?

कहते हैं, '**मिथ्यात्वरूपी रोग...**' देखो ! भाषा की है, '**(भ्रम रोगहर)**' मिथ्यात्व का नाश हो ऐसी भाषा मुनि के मुखमें से आती है। समझ में आया ? देव-देवी मानो तो ऐसा होता है, पैसा मिलेगा, ऐसा होता है, ऐसा होता है-ऐसी भाषा मुनि के मुख से नहीं आती। आहा..हा..! भ्रमरोग, संशय और अनध्यवसाय। क्या होगा, कुछ मालूम नहीं पडता ? उन सब को नाश करनेवाली। भालीभाँति आत्मा समझ में आ सकता है। आत्मा किसी को पूछने जाने पड़ता नहीं। ऐसी नि:संशय बात मुनिओं के मुखमें से निकलीत है। भैया ! चैतन्यमूर्ति भिन्न प्रभु देह से भिन्न है, कर्म से भिन्न है, पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, पूर्णानन्दसे भरा है-ऐसी प्रतीत कर, श्रद्धा कर (तो) सम्यग्दर्शन होगा। मिथ्यात्व का नाश करनेवाली. संशय का नाश करनेवाली भाषा मुनियों के मुख से निकलती है।

देखो ! पहले यह कहा-मिथ्यात्व का नाश करनेवाली भाषा निकलती है। भ्रमरोग-संशय की ही पहली बात की। बाद में राग को कम करने की बाद में (करेंगे)। आया या नहीं उसमें ? यहाँ तो संशय, भ्रमरोग मिटाने और सुहित और अहित-सुहित को करनेवाली और अहित का नाश करनेवाली (है)। उसमें रागादि आ गया। रागादि भाव हैं, अहितकर हैं, आत्मा का स्वभावभाव हितकर है। वह बात समुच्चय आ गई। अन्त में मुख्यरूप से यहाँ जोर दिया। संशय और भ्रमणा को नाश करनेवाले वचन मुनि के मुखमें से निकलते हैं। ऐसा उपदेश श्रोता सुनते हैं, श्रोता के ख्याल में यह बात आनी चाहिए। भ्रमणा, पुण्य-पाप में सुख, पर में सुख सब भ्रम है,

मिथ्यात्व है। भगवान आत्मा में सुख है और धर्म है। धर्म में भी तेरे आत्मा में है। बाहर धर्म है नहीं ऐसी दृष्टि करो, ऐसा ज्ञान करो, ऐसी लीनता करो, ऐसे मिथ्यात्व का नाश का उपदेश देते हैं। ईर्या, भाषा और पंच महाव्रत–तीन की बात कही।

भावार्थ :- '**वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से रहीते होते हैं, इसलिए उनको (५) परिग्रहत्याग-महाव्रत होता है। दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प उठा वह (१) ईर्या समिति है। तथा जिसप्रकार चन्द्र से अमृत झरता है, उसीप्रकार मुनि के मुखचन्द्र के जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाला, सुनने में सुखकर, सर्व प्रकार की शंकाओं को दूर करनेवाले और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोग का नाश करनेवाले ऐसे अमृत-वचन निकलते हैं। इसप्रकार समितिरूप बोलने का विकल्प मुनि को उठता है वह (२) भाषा समिति है।** ' दूसरी समिति है। ऐसा विकल्प उठता है। समझ में आया ?

प्रश्न :- सच्ची समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर :- परजीवों की रक्षा के हेतु यत्नाचार प्रवृत्ति को अज्ञानी जीव समिति मानते हैं,...' ऐसा नहीं है। '**किन्तु हिंसा के परिणामों से तो पापबन्ध होता है। यदि रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण क्या सिद्ध होगा ?**' पर की रक्षा–नहीं मारने का भाव तो पुण्य है, समिति नहीं। पर को नहीं मारने का भाव, पुण्य है, मारने का भाव पाप है, समिति नहीं, समिति दूसरी चीज है। अन्तर में शुभाशुभराग से रहित शुद्ध अन्दर परिणति प्रगट करना उसका नाम यथार्थ समिति है। समझ में आया ?

'**तथा मुनि एषणा समिति में दोष को टालते हैं...**' 'टोडरमलजी' 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में (कहते हैं) उसका आधार दिया है। '**मुनि, ऐषणासमिति मे दोष को टालते हैं; वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है,...**' पर की रक्षा का प्रयोजन नहीं है। यहाँ विवाद करे। पर की रक्षा का प्रयोजन नहीं, आत्मा पर की रक्षा कर सकता नहीं। '**रक्षा के हेतु ही समिति नहीं है। तो फिर समिति किस प्रकार होती है ? मुनि को किंचित् राग होने पर...**' यह 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में 'टोडरमलजी' का लिखा हुआ है। '**समिति किसप्रकार होती है ?**' तो कहते हैं, थोड़े राग में

गमनादि क्रिया होती है। '**वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभआव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दु:खी करके अपना गमनादि प्रयोजन सिद्ध नहीं करते, इसलिये उनसे स्वयं दया का पालन होता है; इसप्रकार सच्ची समिति है।**' 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मिं लिखा है।

मुमुक्षु :- दया..

उत्तर :- दया अर्थात् र जीव को मारने का अभिप्राय नहीं है। सहज ही ऐसा हो जाता है।

एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापनसमिति

छयालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर अशनको;
लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन-पोषते तजि रसनको।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल-मूत्र श्लेष्म परिहरैं ।।३।।

अन्वयार्थ :- (वीतरागी मुनि) (सुकुल) उत्तम कुलवाले (श्रावकतनैं) श्रावक के घर और (रसनको) छहों रस अथवा एक-दो रसों को (तजि) छोड़कर (तन) शरीर को (नहि पोषते) पुष्ट न करते हुए-मात्र (तप) तप की बढ़ावन (हेतु) वृद्धि करने के हेतु से (आहार के) (छयालीस) छियालीस (दोष बिना) दोषों को दूर करके (आशनको) भोजन को (लै) ग्रहण करते हैं [१]। (शुचि) पवित्रता के (उपकरण) साधन कमण्डल को, (ज्ञान) ज्ञान के (उपकरण) साधन शास्त्र को, तथा (संयम) संयम के (उपकरण) साधन पींछी को (लखिकै) देखकर (गहैं) ग्रहण करते हैं (और) (लखिकैं) देखकर (धरैं) रखते हैं (और) (मूत्र) पेशाब (श्लेष्म) श्लेष्म (तन-मल) शरीर के मैल को (निर्जन्तु) जीवरहित (थान) स्थान (विलोकि) देखकर

---

१. आहारके दोषोंका विशेष वर्णन 'अनगार धर्मामृत' तथा 'मूलाचार' आदि शास्त्रोंमें देखें। उन दोषोंको टालनेके हेतु दिगम्बर साधुओंकों कभी महीनों तक भोजन न मिले तथापि मुनि किंचित् खेद नहीं करते; अनासक्त और निर्मोह-रहित सहज होते है। (कायर मनुष्यों-अज्ञानियोंको ऐसा मुनिव्रत कष्टदायक प्रतीत होता है, ज्ञानीको वह सुखमय लगता है।)

(परिहरैं) त्यागते हैं।

भावार्थ :- वीतरागी जैन मुनि-साधु उत्तम कुलवाले श्रावक के घर, आहार के छियालीस दोषों को टालकर तथा अमुक रसों का त्याग करके (अथवा स्वाद का राग न करके) शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखकर, मात्र तप की वृद्धि करने के लिये आहार ग्रहण करते हैं; इसलिये उनको (३) एषणासमिति होती है। पवित्रता के साधन कमण्डल को, ज्ञान के साधन शास्त्र को और संयम के साधन पींछी को-जीवों की विराधना बचाने के हेतु-देखभा कर रखते हैं तथा उठाते हैं; इसलिये उनको (४) आदान-निक्षेपण समिति होती है। मल-मूत्र-कफ आदि शरीर के मैल की जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं, इसलिये उनको (५) व्युत्सर्ग अर्थात् प्रतिष्ठापन समिति होती है ।।३।।

अब '**ऐषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापनसमिति...**' तीन की व्याख्या है। पाँच महाव्रत की व्याख्या हो गई, दो समिति की व्याख्या हो गई–ईर्या और भाषा (समिति)। (इस गाथा में) तीन समिति की व्याख्या (करेंगे)। इस छठवें अध्याय में मुनि की व्याख्या में भी कैसा उपदेश होता है, वह बात भी उसमें आ गई, बहुत अच्छी बात आ गई।

छयालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर अशनको;
लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन-पोषते तजि रसनको।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल-मूत्र श्लेष्म परिहरैं ।।३।।

देखो ! वीतरागी संत, अन्तर में आनन्द का भान है, ऐसी ऐषणासमिति (पालते) हैं। क्या (कहते हैं) ? '**(वीतरागी मुनि) उत्तम कुलवाले श्रावक के घर...**' देखो ! साधारण घर में जाते नहीं। उत्तम कुल, श्रावक धर्मात्मा हो, निर्दोष श्रद्धा–ज्ञान हो, उसे मार्ग की खबर हो, उसके घर से आहार लेते हैं–ऐसा कहते हैं। देखो ! पाठ में है न ? '**श्रावकतनें घर अशनको।**' उसे मालूम होता है, नहीं मालूम पड़े ऐसा है ? अभी तो कुछएक भंगी के घर, हरिजन के घर आहार लेते हैं न ? ऐसा नहीं होता। (एक साधु है न) ? मुहपत्ती बान्धे और हरिजन के वहाँ आहार ले।

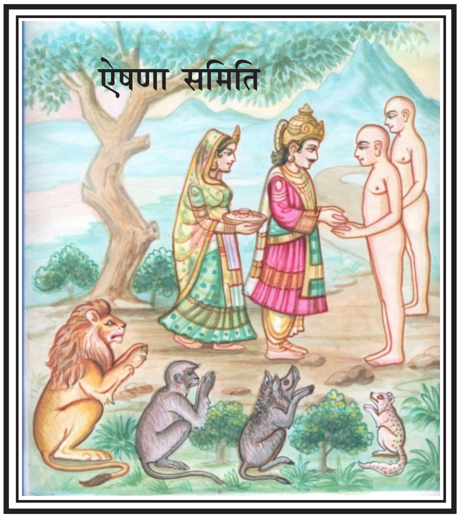

व्यवहार का भी ठिकाना नहीं। दिगम्बर मुनि संत आत्मज्ञानी-ध्यानी अपने शरीर के निर्वाह के लिये श्रावक के घर, उत्तम कुल हो वहाँ जाये। सुकुल है न ? सुकुल और श्रावक का घर, ऐसे लिया है न ? दोनों बात ली है। समझे न ? सुकुल और श्रावक के घर 'अशनको'।

'छहों रस अथवा एक-दो रसों को छोड़कर शरीर को पुष्ट न करते हुए-मात्र तप की वृद्धि करने के हेतु से...' तप अर्थआत् मुनपिना। **'छियालीस दोषों को दूर करके...'** उनके लिये चौका बनाया हो तो वे लेते नहीं। क्योंकि उनके लिये बनाया हो तो वह उद्देशिक है। मुनि भावलिंगी संत आत्मज्ञानी अन्तर में आनन्द में मस्त हैं, शरीर को निभाने के लिये ऐसा थोड़ा विकल्प आता है तो ऐसा निर्दोष आहार लेते हैं। (नीचे फूटनोट में लिखा है), 'अनगार धर्मामृत' (ग्रन्थ से) समझ लेना।

'पवित्रता के साधन कमंडल को,...' एक कमंडल ही मुनि को होता है। **'ज्ञान के साधन शास्त्र को तथा संयम के साधन पींछी को देखकर...'** देखकर। देखकर ले और देखकर छोड़े।

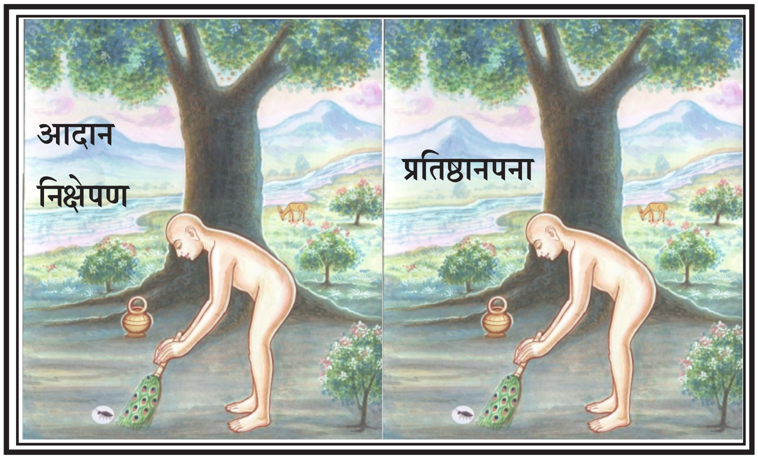

'देखकर रखते हैं। पेशाब, श्लेष्म...' नाक की लिट आदि हो न ? जीव-जंतु ना हो, न मरे वहाँ छोड़ते हैं। **'शरीर के मैल को जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं।'** जहाँ कोई प्राणी कि हिंसा न हो, वहाँ छोड़ते हैं। उसमें सब अर्थ आ गया है। भावार्थ आ गया।

मुनियों की तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियों पर विजय

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आतम ध्यावते;
तिन सुथिरमुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।
रसरूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;
तिन में न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ।।४।।

अन्वयार्थ :- (वीतरागी मुनि) (मन वच काय) मन-वचन-काया का (सम्यक् प्रकार) भलीभाँति-बराबर (निरोध) निरोध करके, जब (आतम) अपने आत्मा का (ध्यावते) ध्यान करते हैं तब (तिन) उन मुनियों की (सुरि) सुस्थिर-शांत (मुद्रा) मुद्रा (देखी) देखकर, उन्हें (उपल) पत्थर समझकर (मृगगण) हिरन अथवा चौपाये प्राणियों के समूह (खाज) अपनी खाज-खुजली को (खुजावते) खुजाते हैं। (जो) (शुभ) प्रिय और (असुहावने) अप्रिय (पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी) (रस) पाँच रस, (रूप) पाँच वर्ण (गंध) दो गंध, (फरस) आठ प्रकार के स्पर्श (अरु) और (शब्द) शब्द-तिनमें उन सब में (राग-विरोध) राग या द्वेष (न) मुनि को नहीं होते, (इसलिये वे मुनि) (पंचेन्द्रिय जयन) पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला अर्थात् जितेन्द्रिय (पद) पद (पावने) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :- इस गाथा में निश्चय गुप्ति का तथा भावलिंगी मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों में पाँच इन्द्रियों के वजिय के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

भावलिंगी मुनि जब उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर निर्विकल्परूप में स्वरूप में गुप्त होते हैं-वह निश्चयगुप्ति है। उस समय मन-वचन-काय की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शान्त और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर मृगों के *झुण्ड (पशु) खाज (खुजली) खुजाते हैं, तथापि वे मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं, उन

* इस सम्बन्ध में सुकुमाल मुनि का दृष्टान्त :– जब वे ध्यान में लीन थे, उस समय एक सियालिनी और उसके दो बच्चे, उनका आधा पैर खा गये थे, किन्तु वे अपने ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए। (संयोग से दु:ख होता ही नहीं, शरीरादि में ममत्व करे तो उस ममत्वभाव से ही दु:ख का अनुभव होता है–ऐसा समझना।)

भावलिंगी मुनियों को तीन गुप्तियाँ हैं।

प्रश्न :- गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :- मन-वचन-काया की बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पाप का चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव गुप्ति मानते हैं। उस समय मन में तो भक्ति आदिरूप अनेक प्रकार के शुभरागादि विकल्प उठते हैं; इसलिये प्रवृत्ति में तो गुप्तिपना हो नहीं सकता। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा में लीनता द्वारा) वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काया की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. २३५)

मुनि प्रिय (अनुकूल) पाँच इन्द्रियों के पाँच रस, पाँच रूप, दो गंध, आठ स्पर्श तथा शब्दरूप पाँच विषयों में राग नहीं करते और अप्रिय (प्रतिकूल) ऊपर कहे हुए पाँच विषयों में द्वेष नहीं करते। -इसप्रकार (५) पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण वे जितेन्द्रिय कहलता हैं ।।४।।

'मुनियों की तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियों पर विजय।'

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आत्म ध्यावते;
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।
रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;
तिन में न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ।।४।।

ओ..हो..हो..! '**वीतरागी मुनि)...**' मुनि को तीन कषाय का नाश होता है। महावैराग्य का पिण्ड है। अन्दर में चैतन्य की धून लगी हो। आत्मा का मोक्ष करने की एकमात्र धून अन्दर में लगी है। कमाने की धून लगती है लोगों को ? पागल होकर कमाने की (धून लगती है)। वैसे धर्मात्मा को अपने आत्मा की धून लगी है। पूर्णानन्द.. पूर्णानन्द.. पूर्णानन्द.. पूर्णानन्द कैसे प्राप्त करूँ ? ऐसी लीनता, तल्लीनता लगी है।

ऐसे मुनि '**मन-वचन-काया का भलीभाँति-बराबर निरोध करके...**' पाँच इन्द्रिय का

निरोध करते हैं। अट्ठाईस मूलगुण है न ? पाँच इन्द्रिय का निरोध। अतीन्द्रिय भगवान आत्मा में एकाकार होकर '**अपने आत्मा का ध्यान करते हैं**...' देखो ! समकिती श्रावक भी कभी-कभी अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। मुनि तो बारम्बार ध्यान करते हैं। सम्यग्दृष्टि, श्रावक भी कभी-कभी उपयोग शुद्ध करते हैं, ध्यान। मुनि तो बारम्बार अन्तर में (जाते हैं)। क्षण में विकल्प, राग उठता है (कि) उपदेश करुं, सुनुं इतना या आहार-पानी। क्षण में सप्तम (गुणस्थान में आते हैं)। आत्मा आनन्दमय ध्यान में लीन हो जाते हैं। यहाँ शरीर में रहे.. बाहर की चलने की क्रिया होती है फिर थोड़ी देर में स्थिर हो जाये। आहा..हा... ! क्षण में सप्तम आ जाता है।

ऐसे मुनि '**अपने आत्मा का ध्यान करते हैं**...' देखो ! आत्मा का ध्यान करते हैं, भगवान का ध्यान करते हैं, ऐसा यहाँ नहीं कहा। ए..ई.. ! पठा है न ? '**आतम ध्यावते**' मूल की बात है न ? '**आतम ध्यावते**'। भगवान का स्मरण करना तो विकल्प है, राग है। नवकार का स्मरण करना, वह भी शुभराग है, पुण्यबन्ध का कारण है-ऐसा कहते हैं, देखो ! मुनि (को) विकल्प है तो मन में स्मरण आदि आता है परन्तु जब अन्दर क्षण में (जाते हैं तो) आत्मा को ध्याते हैं। पाँच इन्द्रिय को रोधकर अखण्ड आनन्दकन्द का चिंतवन, शुद्ध स्वरूप सन्मुख होकर उपयोग लगाते हैं। उसका नाम आत्मध्यान (है)। उस ध्यान से बहुत कर्म की निर्जरा होती है।

कहते हैं, देखो ! चित्र दिये हैं। उसमें सब में दिये हैं, हाँ ! यह एक चित्र दिया है, देखो ! ध्यान में है न ? मृग आकर (अपने शरीर को) घिसता है। हिरन। '**उन मुनियों की सुस्थिर शान्त मुद्रा देखकर**...' ऐसे.. जाते हैं। शान्तरस में इतने लीन-लीन हैं, मानो पत्थर पडा हो !

मुमुक्षु :- ख्याल में आता ही होगा न ?

उत्तर :- नहीं, नहीं, ध्यान में ख्याल आता नहीं। बाहर विकल्प आ जाये तो ख्याल आ जाये। ध्यान लगाये तो ख्याल में भी नहीं आता। अतीन्द्रिय उपयोग लगा दिया, शुद्ध उपयोग (हुआ उस समय) समीप में ढोल पिटे तो मालूम नहीं पड़ता। ठीक ! उपयोग में जहाँ अन्दर में लीतना हुई, निर्विकल्प शुद्धउपयोग जम गया, (उस समय) नगाड़े बजे, बेंड बजे तो भी कुछ मालूम नहीं पड़ता। एक स्वज्ञेय में लीनता है न ? उसका नाम परमार्थ ध्यान कहते हैं। ख्याल आ जाये अलग बात है। बाहर आये विकल्प आया तो ख्याल आवे। उपयोग बाहर हो तो परिषह

का ख्याल न आवे ऐसा नहीं है। उपयोग अन्दर में से निकलकर आया।

'टोडरमलजी'ने लिया है, भाई ! आता है न ?'टोडरमलजी'.. परीषह का ज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं। ज्ञान होता है। देखो न ! मुनि ध्यान में हैं न ! उपयोग थोड़ा बाहर आये, विकल्प आये तो ख्याल आवे कि, कुछ है। ज्ञान होता है, लेकिन उस विकल्प के काल में। निर्विकल्प में तो ध्यान में हैं, कुछ मालूम नहीं। अकेला आत्मानन्द। आनन्द अनुभवता हूँ, इतना भेद भी नहीं है। आहा..हा..! ऐसी मुनि की दशा, पंच परमेष्ठी में उनको गिनने में आया है। उनको वीतरागी पंथ की बराबर खबर है और प्रगट दशा है।

'**मुनियों की सुस्थिर मुद्रा देखकर उन्हें पत्थर समझकर...**' देखो ! है न ? पत्थर। उपल.. उपल, '**(उपल)**' अर्थात् '**पत्थर समजकर हिरन अथवा चौपाये प्राणियों के...**' चार पैरवाले (प्राणी)। '**अपनी खाज-खुजली को खुजाते हैं।**' आहा..हा...! इतना आनन्द में ध्यान लगाया है। आनन्द में, हाँ ! मात्र विकल्प नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द में ऐसी धुन लग गई कि, खबर नहीं। ऐसे बैठे हैं, हिरन आकर (समझता है कि) कोई पत्थर पड़ा है। आहा..हा...! 'श्रीमद्जी' कहते हैं न ? 'अपूर्व अवसर' में नहीं आता ?

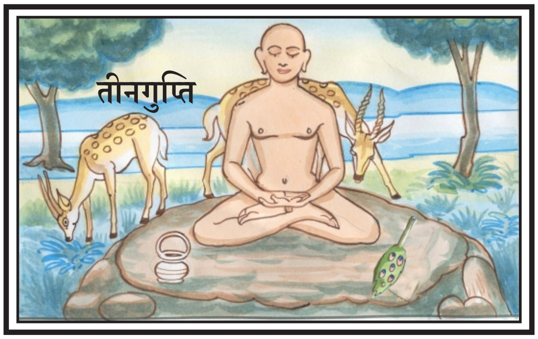

एकाकी विचरूँगा कब स्मशानमें
गिरि पर होगा वाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब।

देखो ! गृहस्थाश्रम में 'श्रीमद्जी' थे, 'अपूर्व अवसर' की गाथा लिखी। सात साल की उम्र में जातिस्मरण था। ३३ वर्ष में देह छूट गया। संवत १९५७। 'अपूर्व अवसर' बनाया। ऐसी भावना गृहस्थाश्रम में करते थे। समझ में आया ?

'**एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां।**' अरे..! मैं अकेला विचरुं और स्मशान में कब जाऊँ ? '**वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;...**' पर्वत में वाघ और सिंह का जहाँ समागम

(हो)। **'अडोल आसन...'** आसन अडोल लगा देते हैं। देखो ! यहाँ लिखा है न, पत्थर की भाँति। **'अडोल आसन, ने...'** मात्र अडोल आसन नहीं। **'मनमां नहीं क्षोभता,...'** क्षोभ नहीं। सिंह की गर्जना सुने तो (भी) क्षोभ नहीं। आहा..हा...! ऐसी भावना (भाते हैं)। अपने पहले बारह भावना आ गई। ऐसी भावना गृहस्थी सम्यग्दृष्टि भी संसार में रहते हैं, (फिर भी) भावना करते हैं। पूरे दिन मात्र पाप की भावना करते हैं, ऐसा नहीं। समझ में आया ?

ऐसी भावना (भाते हैं कि), ओ..हो...! कब मैं शान्ति का मार्ग ग्रहण करके चारित्र(वंत) मुनि होउं और मैं जंगल में रहकर **'परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।'** सिंह और वाघ आते हो (तो उन्हें देखकर ऐसा लगता है) हमारा शरीर हमें नहीं चाहिए, उसको चाहिए तो वह हमारा मित्र है। लो ! आहा..हा...! हमारे मित्र आते हैं। गृहस्थाश्रम में रहकर ऐसी भावना करते हैं। भावना न करे ? आहा..हा..! ऐसा अपूर्व अवसर, ऐसा अवसर कब प्रगट हो, ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को बारम्बार आती है। यह तो मुनि की व्याख्या है। पत्थर पड़ा है–ऐसे हो। आहा..हा...!

'अपनी खाज-खुजली को खुजाते हैं, प्रिय और (असुहावने) अप्रिय (पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी) पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ प्रकारे स्पर्श और शब्द...' अनुकूल–प्रतिकूल। सब में राग और द्वेष मुनि को नहीं होता। वीतराग.. वीतराग... वीतराग... **'पंच विषयमां राग-द्वेष विरहितता।'** आता है या नहीं ? **'पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो।'** अन्तर में दृष्टि तो हुई है। स्वरूप में एकाग्रता (करने हेतु), पंचविषय से रहित होकर कब प्रमाद छोड़कर मैं मेरे स्वरूप में रहूँगा, ऐसी भावना गृहस्थाश्रम में तीर्थंकर भी करते थे। तीर्थंकर गृहस्थाश्रम में थे, जबतक मुनि नहीं हुए तो ऐसी भावना करते थे। मुनि होने के बाद तो बहुत भावना साक्षात् होती थी। ओ..हो..! कर्तव्य तो इस आत्मा का शुद्ध वीतरागभाव करना है। यह कर्तव्य है, दूसरा कोई कर्तव्य आत्मा का है नहीं। समझ में आया ? आहा..हा..! **'(इसलिये वे मुनि) (पंचेन्द्रिय जयन)) पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला अर्थात् जितेन्द्रियपद प्राप्त करते हैं ।'** अन्तर जितेन्द्रिय पद (प्राप्त करते हैं)।

भावार्थ :- 'इस गाथा में निश्चय गुप्ति का तथा भावलिंगी मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों में पाँच इन्द्रियों की विजय के स्वरूप का वर्णन करते हैं। भावलिंगी मुनि...' जिसको आत्मा का

सम्यग्दर्शन, आनन्द का अनुभव हुआ है और स्वरूप में अन्तर वीतरागता प्रगट हुई है। **'उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर...'** उग्र पुरुषार्थ द्वारा। शुद्ध उपयोग में (रहते हैं)। जो पंच महाव्रतादि है, वह शुभराग उपयोग है। उससे हटकर अन्दर में शुद्ध उपयोग में उपयोग लगाकर **'निर्विकल्परूप से स्वरूप में गुप्त होते हैं...'** आहा..हा...! **'यह निश्चय गुप्ति है। उस समय मन-वचन-काया की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शान्त और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर मृगों के झुण्ड..'**

(फूटनोट में दिया है) **'इस सम्बन्ध में सुकुमाल मुनि का दृष्टान्त :-'** 'सुकुमाल' मुनि हैं न ? **'जब वे ध्यान में लीन थे, उस समय एक शियालिनी और उसके दो बच्चे उनका आधा पैरा खा गये थे,...'** देखो ! है न ? मुनि उपर ध्यान में बैठे हैं। शियालिनी और उसके दो बच्चे। ध्यान.. आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. दुःख नहीं, हाँ ! दुःख नहीं। उसका नाम अन्तर आनन्द (है)। अतीन्द्रिय आनन्द में इतने लीन हैं। जंगल में शियालिनी आई, आधा पैर खा गई।

'किन्तु वे अपने ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए। (संयोग से दुःख होता नहीं...)' लिखा है ? अन्दर लिखा है ? देखो ! मुफ्त में मूढ मानता है, ऐसा कहते हैं। मूढ मानता है। संयोग से दुःख है नहीं। शरीर में रोग, देखो ! **'शरीरादि में ममत्व करे तो उस ममत्वभाव से ही दुःख का अनुभव होता है-'** शरीर में रोग हो, निर्धनता हो, वह दुःख है ही नहीं।

मुमुक्षु :– पर हम मानते हैं न ?

उत्तर :– मूढ होकर मानता है कि, उसे दुःख है। मान्यता का दुःख है, क्या दुःख है ? देखो न ! संयोग से दुःख होता ही नहीं। शरीर प्रतिकूल हो, मिट्टी (है) उसमें क्या है ? यह तो मिट्टी जड़ है, धूल है। निर्धनपना बाहर है। स्त्री-कुटुम्ब न हो तो उसमें क्या ? वह दुःख है ? दुःख बिलकुल है ही नहीं। मूढ ऐसा मानता है कि, अरे.. ! मुझे ऐसा है। ऐसी उसकी मान्यता का उसको दुःख है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? और अनुकूल संयोग में सुख नहीं। अनुकूल संयोग मिले, पाँच इन्द्रिय के विषय मिले, पाँच-पच्चीस लाख पैसा है, धूल है, सुन्दर शरीर है, वह कहाँ सुख है ? वह तो धूल है-मिट्टी है। मूढ अज्ञानी 'मुझे ठीक है'-ऐसे मिथ्याभ्रम में पर में अनुकूलता में सुख की कल्पना करता है। मूढ है, भ्रम में पड़ा है, उसे आत्मा की श्रद्धा की खबर नहीं। समझ में

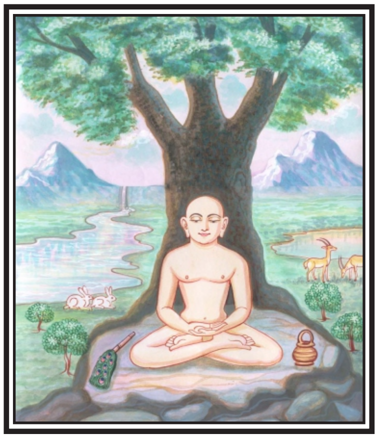

आया ? आहा..हा...! ऐसी बात कितनी बार आ जाती है। बहुत बार आ गई है न ?

देखो न ! मुनि जंगल में है। ध्यान में है, देखो ! सिंह बैठे हैं, उस ओर सिंह है। एक कोने में सिंह बैठा है। ऐसे शियाल की भाँति (बैठा है)। गीदड़ः गीदड़ः. गीदड़ कहते हैं न ? गीदड़ की भाति सिंह। आत्मा को क्या ? संयोग-वियोग (बाहर में होते हैं)। आत्मा में आनन्द है। प्रतिकूल संयोग दुःख नहीं। प्रतिकूल संयोग दुःख है, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है और अनुकूल संयोग सुख नहीं। मूढ मिथ्यादृष्टि मानता है कि अनुकूलता में मैं सुखी हूँ। दूसरा भी उसे कल्पे कि उसको बहुत अनुकूलता है, सुखी है। वह भी मूढ है, पागल है। समझ में आया ? भाई ! दूसरा सुखी कल्पे तो ? मूढ है। बाहर में सुख कहीँ से आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अनाकूल आनन्दकन्द आत्मा है, उसमें आनन्द है और उसकी विपरीत मान्यता करता है कि, ये मुझे सुख-दुःख है। कल्पना करता है उसमें दुःख है। बाहर में दुःख है ? समझ में आया ? सम्यक्त्वी पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख मानते हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। सम्यग्दृष्टि पाँच इन्द्रिय के विषय में दिखते हैं, ९६ हजार स्त्री में दिखे, सुख मानते नहीं। आहा..हा...! राग आता है, उसे दुःख मानता है, उपसर्ग मानते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव संसार के विषय में, इन्द्राणी (का) भोग इन्द्र को है और चक्रवर्ती को, तीर्थंकर को ९६ हजार पद्मणि जैसी स्त्रियाँ हैं। भोग में राग आता है (तो) महादुःख मानते हैं, दुःख मानते हैं। आहा..हा...! अरे..! यह उपसर्ग आया, उपसर्ग आया। मेरे आत्मा में आनन्द (है)। यह आसक्ति आयी (उसमें) रुचि में नहीं, सुखबुद्धि नहीं। सुखबुद्धि माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। समझ में आया ? आहा..हा..!

(फूटनोट में) थोड़ा लिखा है, **'(ममत्वभाव से दुःख का अनुभव होता है..)'** दुःख का अनुभव कोई शरीर के रोग के कारण नहीं। ममता.. ममता.. ममता.. अन्दर होली जलाये। ये मेरा, ये मेरा, ये मेरा.. भगवान आत्मा अपना है, उसकी तो खबर नहीं। सच्चिदानन्द स्वरूप

अनादिअनन्त आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है। सिद्ध समान आत्मा है, लो ! भान नहीं। ममता का दु:ख है। समझ में आया ?

'**मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं। उन भावलिंगी मुनियों को तीन गुप्तियाँ है।**' बाद में गुप्ति की व्याख्या 'टोडरमलजी' (द्वारा लिखी है न) ? (वह कहते हैं)। '**मन-वचन-काया की बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पाप का चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव गुप्ति मानते है। उस समय मन में तो भक्ति आदिरूप अनेक प्रकार के शुभरागादि विकल्प उठते हैं।**' शुभराग उठता है, वह गुप्ति नहीं। विकल्प उठे कि, मैं ऐसा चलूं, ऐसा न चलूं, वह तो राग है। गुप्ति तो आत्मा के आनन्द में लीन हो जाये। सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का नाथ, स्वामी आत्मा, उसमें लीन हो जाये, उसका नाम गुप्ति है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- वह सब अन्दर में एक है। निश्चय वीतरागता।

'**इसलिये प्रवृत्ति में तो गुप्तिपना हो नहीं सकता। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा में लीनता द्वारा) वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।**' यह 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में से लिया है। 'टोडरमलजी' 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के प्रणेता, उन्होंने यह कहा है। कहो, समझ में आया ?

'**मुनि प्रिय (अनुकूल) पाँच इन्द्रियों के पाँच रस,...**' अनुकूल पाँच रस, हाँ ! मोसंबी के मीठे रस में मीठास मानते नहीं। '**पाँच रूप...**' अनुकूल इन्द्राणी के रूप में सुख मानते नहीं। '**दो गन्ध...**' दुर्गन्ध, सुगन्ध। '**आठ स्पर्श...**' मुलायम (आदि) '**शब्दरूप पाँच विषयों में राग नहीं करते...**' लो ! अनुकूलता-प्रतिकूलता में (राग-द्वेष नहीं करते)। अनुकूलता में प्रेम नहीं, प्रतिकूलता में द्वेष नहीं। आत्मा में ऐसा वीतरागभाव प्रगट हो, उसका नाम यथार्थ गुप्ति कहने में आता है, उसको जितेन्द्रिय कहने में आता है। इन्द्रियाँ, इन्द्रिय के विषय, भावेन्द्रिय को (आत्मा में) एकाग्र होकर दृष्टि में से छोड़ दे, अन्तर में एकाग्र हो, उसको भगवान जितेन्द्रिय कहते हैं। समझ में आया ?

'अप्रिय (प्रतिकूल) ऊपर कहे हुए पाँच विषयों में द्वेष नहीं करते। -इस प्रकार पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं। ' पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण। पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण जितेन्द्रिय (कहलाते हैं)। जीतने का अर्थ अतीन्द्रिय (आत्मा में) गये तो पाँच इन्द्रिय जीती ऐसा कहने में आता है। कान में लकड़ी डाल दी और आँख ऐसे बन्द कर दी, ऐसे जीता, ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की पूरी गाँठ है, आत्मा भगवान है। उसमें अन्तर में निर्विकल्प आनन्द में लीन हो जाना, उसका नाम धर्म, उसका नाम गुप्ति और उसका यथार्थ प्रवृत्ति, निश्चय समिति में आता है। दुनिया से दूसरी बात है, भैया !

मुमुक्षु :- गन्ने का रस मीठा तो लगता होगा न ?

उत्तर :- मीठा जाने। लगे क्या ? तुम्हें यहाँ क्या लगता है ? शक्कर मीठी है, ऐसा जानने में आता है। मीठास आत्मा में घूस जाती है ? (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

निज वस्तु अखंड़-आनन्दकन्द चैतन्य है, - उसकी जिन्हें खबर नहीं, वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं । फिर चाहे, वे करोड़पति हों या बड़े राजा हों, पर अपनी चैतन्यलक्ष्मीका भान नहीं तो वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं । दुनियामें चतुराईसे पाँच-पच्चीस लाख कमाते हों, या लौकिकबुद्धिके खाँ बने घूमते हों: पर वे निज-प्रभुताके भान बिना, अपनी महानताके भान बिना नरकादिके अनन्त-अनन्त दुःख भोगेंगें - कि जिन दुःखोंका वर्णन करोड़ो जीभ द्वारा करोड़ो भव तक करें, तो भी न कर पायेंगें । निज प्रभुके भान बिना ऐसे अनन्त दुःख भोगने पडेंगे ।

(परमागमसार-४४२)

मुनियों के छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन ।।५।।

अन्वयार्थ :- (वीतरागी मुनि) (नित) सदा (समता) सामायिक (सम्हारैं) सम्हालकर करते हैं, 'थुति' स्तुति (उचारैं) बोलते हैं, (जिनदेव को) जिनेन्द्र भगवान की (वन्दन की) वन्दना करते हैं; (श्रुतिरति) स्वाध्याय में प्रेम (करैं) करते हैं, (प्रतिक्रम) प्रतिक्रमण (करैं) करते हैं, (तन) शरीर की (अहमेव को) ममता को (तजैं) छोड़ते हैं (जिनके) जिन मुनियों को (न्हौन) स्नान और (दंतधोवन) दाँतों को स्वच्छ करना (न) नहीं होता और (पिछली रयनिमें) रात्रि के पिछले भाग में (भूमांहि) धरती पर (एकासन) एक करवट (कछु) कुछ समय तक (शयन) शयन (करन) करते हैं।

भावार्थ :- वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की स्तुति, (३) जिनेन्द्र भगवान के वन्दना, (४) स्वाध्याय, (५) प्रतिक्रमण, (६) कायोत्सर्ग (शरीर के प्रति ममता का त्याग) करते हैं; इसलिये उनको छह आवश्यक होते हैं, और वे मुनि कभी भी (१) स्नान नहीं करते, (२) दाँतों की सफाई नहीं करते, (३) शरीर को ढँकने के लिये थोड़ा-सा भी वस्त्र नहीं रखते तथा (४) रात्रि के पिछले भाग में एक करवट से भूमि पर कुछ समय शयन करते हैं ।।५।।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ५, शुक्रवार
दि. ११-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-५,६,७. प्रवचन नं. ४८

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। छठवीं ढाल का ५वां श्लोक है, चार श्लोक हुए। मुनियों की व्याख्या है। मुनिपना (कहते हैं)। अन्तिम गाथा-अन्तिम ढाल है न ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान, श्रावक के देशव्रत की व्याख्या आ गयी है। अब, सकलव्रत की व्याख्या (कहते हैं)। और फिर स्वरूपाचरणचारित्र की व्याख्या कहेंगे।

मुनियों के छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन ॥५॥

ओ..हो..हो...! **अन्वयार्थ :- 'वीतरागी मुनि...'** सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सकलचारित्र से सहित हैं। उन्हें **'(हमेशा) सामायिक सम्हालकर करते हैं...'** समता का प्रयोग करते हैं। अन्तर वीतरागपने में कितने काल रह सकता हूँ-ऐसा सामायिक का प्रयोग करते हैं। समताभाव... यों तो मुनि को तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव है। सकलचारित्र आदि, पाँच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प होते हैं, उसमें एक सामायिक (का) प्रयोग करते हैं। शुद्ध चैतन्यमूर्ति अन्तर वीतरागपने के स्वभाव के निर्विकल्प ध्यान का प्रयोग करे। पहले सामायिक का विकल्प है। समझ में आया ? यहाँ मानो केवलज्ञान पाने की योग्यात हो गयी हो-ऐसी सामायिक। समता हमेशा प्रगट करते हैं।

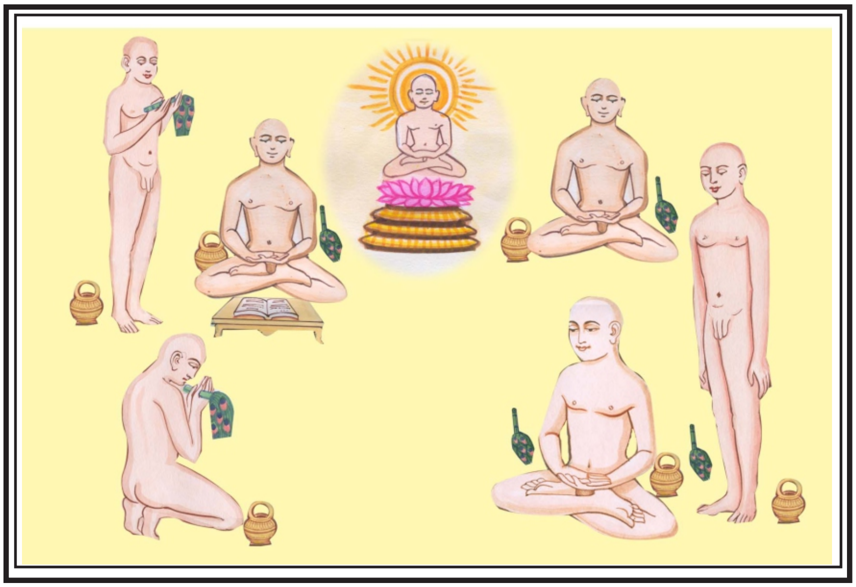

'स्तुति उचारैं...' जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं, वन्दन (करते हैं)। समझ में आया ? चौबीस तीर्थंकर आदि का स्तवन करते हैं, वन्दन करते हैं, गुरु को वन्दन करते हैं अथवा एकाध तीर्थंकर अलग पाड़कर वन्दन करे, उसे वन्दन कहते हैं। **'स्वाध्याय में प्रेम करते हैं...'** शास्त्र की स्वाध्याय करते हैं। दूसरी कोई विकथा, निन्दा नहीं होती। ध्यान और स्वाध्याय, ध्यान और स्वाध्याय। मुनि या तो अन्तर ध्यान में-आनन्द में लीन होते हैं, बाहर में आवे तो शास्त्र की स्वाध्याय (करते हैं)। चार अनुयोगोंमें से जो उन्हें योग्य लगे, उस प्रकार (करते हैं)। **'प्रेम करते हैं; प्रतिक्रमण करते हैं...'** अशुभादि भाव हुए हो, तो वपास हटने का प्रतिक्रमण करते हैं।

'शरीर की ममता को छोड़ते हैं...' काया। विसर्ग, विसर्ग, विसर्ग है। शरीर की ममता को.. विसर्ग आता है न ? सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान.. **'जिनमुनियों को...'** और जिन मुनियों को.. वे दिगम्बर सन्त ही होते हैं। अन्तर में तीन कषाय का नाश होता है, बाहर में नग्नदशा होती है। **'जिन्हें स्नान...'** नहीं होता, स्नान। नहाने का नहीं होता। ब्रह्मचारी है उसमें भी चारित्रवन्त हैं, सकलचारित्रव्रत हैं, उन्हें स्नान नहीं होता।

'दांत साफ करने का नहीं होता...' दाँत साफ नहीं करते। फिर भी ये 'बनारसीदासजी' तो उसमें कहते हैं, भाई कहा था न ? सुगन्ध। अदन्तधोवन की व्याख्या करते हैं। पृष्ठ-३०४ पर

है, साधु के अट्ठाईस मूलगुणों का नाम लिया है न उसमें ? ('समयसार नाटक' चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, छन्द-८०)

पंच महाव्रत पालै पंच समिति सँभाले;
पंच इन्द्रि जीति भयौ भोगी चित्त चैन कौ।
षट् आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै,
प्रासुक धर मैं एक आसन है सैनकौ।
मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै,
त्यागै दंतवन पै सुगंध स्वाद बैनकौ।

देखो ! ऐसी दशा प्रगटती है। कोई प्रश्न करता था न ? देखो ! यहाँ (कहते हैं) '**दन्त धोवन...**' नहीं करते। मुनि, दन्त धोवन नहीं करते तो भी वचन और श्वास में सुगन्ध निकले, इतनी पवित्रता बढ़ गयी है और पुण्य भी इतना बढ़ गया है। देखो ! स्नान करे नहीं, दाँत धोवे नहीं, फिर भी जिनके वचन और श्वास में सुगन्ध (होती है)। आवाज निकले तो सुगन्धवाली और श्वास भी निकले तो सुगन्ध्वाली-ऐसी मुनि की दशा (होती है)। भावलिंगी छठवें-सातवें गुणस्थान में बिराजमान हैं, उनकी ऐसी दशा हो जाती है, तब उन्हें भावलिंगी सन्त-मुनि कहा जाता है। समझ में आया ?

'**न दन्त धोवन, लेश अम्बर-आवरण...**' जिन्हें एक वस्त्र का टूकड़ा भी आवरण नहीं होता। वस्त्र ग्रहण का भाव हो, वहाँ मुनिपना नहीं हो सकता। भाई !

प्रश्न :- मूर्च्छारहितपने लेवे तो क्या बाधा है ?

उत्तर :- मूर्च्छारहित ले ही नहीं सकता। वस्त्र ग्रहण का भाव है, वह मूर्च्छा है, वह परिग्रह है। (कोई) कहता था न ? वस्त्र-ग्रहण का भाव ही ममता है। यह ममता हो, तब तक मुनिपना नहीं हो सकता है। मुनि की दशा, वही प्राकृतिक स्थिति है। वस्त्र रोकता नहीं, वस्त्र के प्रति का राग, वह राग है, तब तक उसे मुनिपने की दशा नहीं हो सकती-ऐसा कहते हैं।

एक व्यक्ति कहता था-ये बात ऐसीकरते हैं और फिर वापस कहते हैं-वस्त्र रोकता है।

एक व्यक्ति कहता था। (संवत) २००४ के साल में, ब्राह्मण। बात बहुत सूक्ष्म अच्छी करे, फिर कहते हैं (कि) वस्त्र होवे तो मुनिपना नहीं। तो क्या वस्त्र रोकता है कहीं ? श्वेताम्बर साधु था। यहाँ चातुर्मास में रहा था, विद्वान व्यक्ति। अन्दर कहे कि सौ की सौ प्रतिशत तुम्हारी बात सत्य है, एकदम, परन्तु अमल में कैसे लाना ? अर्थात् कि तुम कहते हो कि यहाँ छोड़कर रहो। यहाँ किसी का कुछ है नहीं। यहाँ तो मार्ग कहते हैं, कैसे तुम्हें करना, कैसे नहीं-हमारा किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं। वे बाहर ऐसा बोले-भाई ! ये कहते हैं कि एक विकल्प जरा-सा राग का इतना होवे तो पाप है अथवा बन्ध का कारण है; फिर कहते हैं कि वस्त्र रखे तो मुनिपना नहीं। जड़ वस्त्र रोकता है ? जड़ नहीं रोकता, परन्तु आत्मा में आनन्दभाव, तीन कषाय का जिसे नाश, अन्दर में प्रगट है-ऐसी दशा में इतनी समता और वीतरागता का आनन्द है कि उसे वस्त्र-ग्रहण की वृत्ति का विकल्प नहीं हो सकता। ऐसी ही उस भूमिका की दशा है। समझ में आया ?

'लेश अम्बर-आवरन...' नहीं होता। एक थोड़ा-सा टुकड़ा, लंगोटी जितना भी टूकड़ा (नहीं होता)। यह अकेले की बात नहीं है, अन्दर तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। समता, वीतरागता में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द में रमते हैं। दन्त धोवन नहीं करते फिर भी वाणी और श्वास में सुगन्ध निकलती है, सुगन्ध निकले-ऐसी जिनकी अन्तर दशा-मुनि की भावलिंगी की दशा हो गयी है उन्हें जैनशासन में मुनि और साधु कहा गया है, भाई !

मुमुक्षु :- वस्त्र आ पड़े तो क्या करना ?

उत्तर :- आ कहाँ से पड़े ? ऊपर से अपने आप आया होगा ? स्वयं ध्यान में हो और कोई ऊपर डाल दे तो वह अलग बात है।

मुमुक्षु :- श्रावक देते हैं।

उत्तर :- क्या देते हैं श्रावक ? मुफ्त में देते है वहाँ श्रावक ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- दे वे तो है ही कहाँ ? वह तो वस्तु ही कहाँ है ? मुनि को वस्त्र के उपकरण चलते हैं और उन्हें मुनि मानना, इसकी बात तो गृहीतमिथ्यात्व में जाती है, भाई ! अभी तक सब ऐसा

ही किया है। कहो, समझ में आया ? यह तो वीतराग का मार्ग है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने मुनिपने की छठवें गुणस्थान की दशा सकलचारित्रवन्त की ऐसी वर्णन की है और दस प्रकार है। कोई दूसरी उल्टी-सीधी आगे-पीछे कहे तो वह वस्तु को नहीं समझता है।

कहते हैं, '**लेश अंबर आवरण**' नहीं होता। '**शरीर को ढकने के लिए उनको जरा भी कपड़ा नहीं होता और (पिछली रयनि में) रात्रि में...**' देखो ! '**भूमाहिं पिछली रयनि में...**' भूमि में, पिछली रात्रि में कुछ-थोड़े समय '**(एकासन) एक करवट...**' थोड़ी निद्रा लेते हैं। देखो ! दशा, मुनिदशा अर्थात् क्या ? ओ..हो..हो... ! जिन्हें अन्दर में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आनन्द में प्रगट हुआ है, उन्हें एक रात्रि कि पिछले भाग में थोड़ी देर तक एक करवट अर्थात् एक ही आसन से जरा-सी थोड़ी निद्रा, एक थोड़ी सहज निद्रा आ जाती है। घड़ी, दो घड़ी की निद्रा नहीं; एक घड़ी निद्रा आवे तो मुनिपना रहता ही नहीं। समझ में आया ?

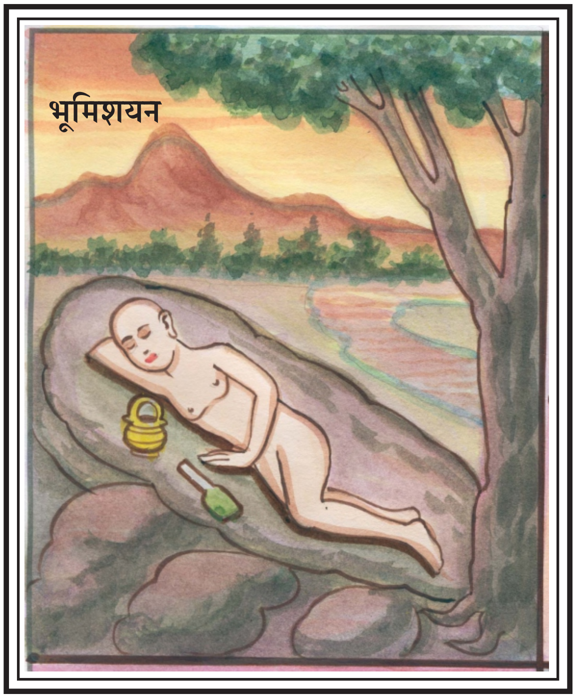

यहाँ तो अन्तिमदशा-अन्तिम कड़ी वर्णन की है न ? अन्तिम चारित्र का अधिकार है। (रात्रि के) पिछले भाग में '**एक करवट कुछ समय तक शयन करते हैं।**' ऐसी मुनि की भावलिंगी अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवसहित वीतरागदशा प्रगट हुई है। ऐसे सकलचारित्रवन्त को ऐसी स्थिति-दशा होती है। समझ में आया ? अन्दर लिखा है, वह आ गया है।

मुनियों के शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव

इक बार दिनमें लें आहार, खड़े अलप निज-पानमें'
कचलौंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्धावतारन असि-प्रहारनमें सदा समता धरन ॥६॥

अन्वयार्थ :- (वे वीतराग मुनि) (दिन में) (इकबार) एकबार (खड़े) खड़े रहकर और (निज-पानमें) अपने हाथमें रखकर (अल्प) थोड़ा-सा (अहार) आहार (लें) लेते हैं; (कचलौंच) केशलोंच (करत) करते हैं, निज ध्यान में अपने आत्मा के ध्यान में (लगे) तत्पर होकर (परिषह सौं) बाईस प्रकार के परिषहों से (न डरत) नहीं डरते; और (अरि मित्र) शत्रु या मित्र, (महल मसान) महल या स्मशान (कञ्चन काँच) सोना या काँच (निन्दन थुति करन) निन्दा या स्तुति करनेवाले, (अर्धावतारन) पूजा करनेवाले और (असि-प्रहारन) तलवार से प्रहार करनेवाले उन सब में (सदा) सदा (समता) समताभाव (धरन) धारण करते हैं।

भावार्थ :- (वे वीतरागी मुनि) (५) दिनमें एकबार (६) खड़े-खड़े अपने हाथमें रखकर थोड़ा आहार लेते हैं; (७) केश का लोंच करते हैं; आत्मध्यान में मग्न रहकर परिषहों से नहीं डरते अर्थात् बाईस प्रकार के परिषहों पर विजय प्राप्त करते हैं, शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, सुवर्ण-काँच, निन्दक और स्तुति करनेवाले, पूजा-भक्ति करनेवाले या तलवार आदि से प्रहार करनेवाले इन सब में समभाव (राग-द्वेष का अभाव) रखते हैं अर्थात् किसी पर राग-द्वेष नहीं करते।

प्रश्न :- सच्चा परिषह-जय किसे कहते हैं ?

उत्तर :- क्षुधा, तृषा, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन, प्रज्ञा और अज्ञान-यह बाईस प्रकार के परिषह हैं। भावलिंगी मुनि को प्रतिसमय तीन कषाय का

(अनन्तानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उतने अंश में उनका निरन्तर परिषह-जय होता है । क्षुधादिक लगने पर उसने नाश का उपाय न करना उसे (अज्ञानी जीव) परिषह-सहन करते हैं । वहाँ उपाय तो नहीं किया, किन्तु अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दु:खी हुआ तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ-किन्तु वह तो दु:ख-सुखरूप परिणाम हैं और वही आर्त-रौद्रध्यान है; ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो सकता है ?

प्रश्न :- तो फिर परिषह-जय किस प्रकार होता है ?

उत्तर :- तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो; दु:ख के कारण मिलने से दु:खी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उसका ज्ञाता ही रहे-वही सच्चा परिषहजय है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३३६) ।।६।।

अब छठवां श्लोक। '**मुनियोंके शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव।**'

इक बार दिनमें लें अहार, खड़े अलप निज-पानमैं;
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्धावरतारन असि-प्रहारमें सदा समता धरन।।६।।

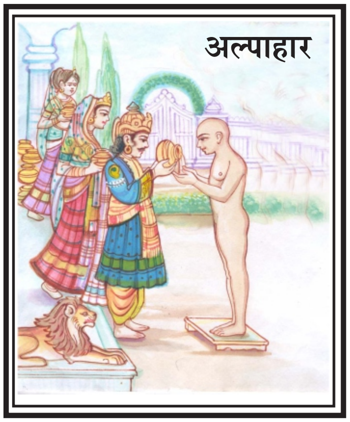

समझ में आया ? देखो ! यह मुनिपने की दशा। अन्वयार्थ :- '**(वे वीतरागी मुनि) दिन में क बार खड़े रहकर...**' दिन में एकबार खड़े (रहकर)... आहा..हा...! एक ही बार आहार। '**निज-पान में..**' अर्थात् अपने हाथ; पान अर्थात् हाथ। '**अपने हाथ में रखकर (अल्प) थोड़ा आहार लेते हैं...**' एक थोड़ा। मात्र शरीर के निर्वाह जितना, विकल्प आया इसलिए लेते हैं।

'केशलोंच करते हैं। (निज ध्यान में) अपने आत्मा के

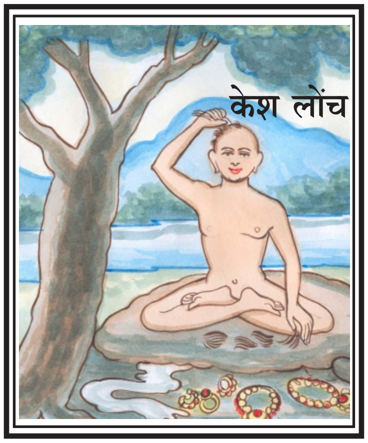

ध्यान में तत्पर होकर...' देखो ! भगवान आत्मा ! मुनियों को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बहुत आया होता है। सम्यग्दृष्टि जीव को भी.. परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हों, उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया होता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। श्रावक होवे उसे तो अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद है। आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द उसका आस्वाद; मुनि को तो अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वाद प्रचुर स्वसंवेदन है।

इस कारण कहते हैं – **'अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर...'** होते हैं। यहाँ क्या कहते हैं ? सकल-चारित्र की व्याख्या है न ? विकल्प है, तब महाव्रत आदि के परिणाम होते हैं। वापिस अत्यन्त छूटकर आत्म के ध्यान में आ जाते हैं। मुनि छठवे-सातवें गुणस्थान मे झूलते हैं। एक दिन में हजारों बार आनन्द में (आते हैं)। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। क्षण में आहार लेने का या बोलने का या सुनने का या पढ़ने का विकल्प उठता है, क्षण में अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत-सिद्ध समान आनन्द का अनुभव लें-ऐसी दशा को वीतराग शासन में मुनिपना कहा जाता है। ऐसी मुनिदशा की श्रद्धा न होवे और दूसरे प्रकार से माने तो उसकी श्रद्धा मिथ्या है।

इसलिए यहाँ वर्णन करते हैं – **'अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर होकर बाईस प्रकार के परीषहों से नहीं डरते हैं...'** डरे क्या ? जहाँ आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा के आनन्द की लहर पड़ती है; आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा के उत्कृष्ट आनन्द में तृप्त.. तृप्त (हैं)। आत्मा की शान्ति में तृप्त हैं। मुनि आत्मा की शान्ति में तृप्त हैं। उन्हें परिषह से डर नहीं होता; ज्ञाता-दृष्टारूप से जाने। इतना आनन्द अन्दर में (बढ़ गया है)। जिन्हें गणधर नमस्कार करें... मुनि अर्थात् जिन्हें गणधर नमस्कार करें। (वे) चौदहपूर्व-द्वादशांग की रचना अन्तमुहूर्त में करें, (तब उच्चारण करते हैं)-णमो लोए सव्व साहूणं। हे सन्त ! ऐसी जिसे अन्तर दशा हो-ऐसे भावलिंगी को गणधर भी पंच नमस्कार में स्मरण करके नमस्कार करते हैं। – ऐसी दशा मुनि की, वह तो परमेश्वर पद ! आहा..हा...! **'बाईस प्रकार के परिग्रह से नहीं डरते हैं...'** अब दो-दो बोल लेते हैं।

'शत्रु या मित्र...' दोनों में समता है। यह मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है-ऐसा उन्हें नहीं

होता। अनुकूल-उनकी सेवा करनेवाले मित्र के प्रति जिन्हें प्रेम नहीं और विरोध, निन्दा करनेवाले, मारनेवाले, प्रहार करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं-ऐसी वीतरागता अन्तर में प्रगट हुई होती है। '**महल या स्मशान...**' अब दो-दो बोल हैं, हाँ ! महल और स्मशान। वह कोई ऊँचा महल हो या स्मशान हो, दोनों समभाव है; दोनों में ज्ञाता-दृष्टारूप से मुनि को वीतरागभाव वर्तता है। स्मशान में ठीक नहीं, महल में ठीक है-ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता है। आहा..हा... !

'**सोना या काँच (कंचन-काँच)...**' सोना या काँच का टूकड़ा, दोनों समान हैं और कहीं हीरा की खान देखे तो मन में ऐसा नहीं होता कि लावो, कुछ श्रावक को बतला दूँ। समझ में आया ? आहा..हा... ! जिसे सब धूल समान है। हीरा की खान दिखे या काँच का टूकड़ा दिखे.. जहाँ समता-आत्मा का आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द के लहर में पड़े हैं, उस अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हैं। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

कितना होगा आनन्द ? यह सब तुम्हारे.. देखो ! उसमें... मैंने कहा, देखो !कैसा मजा करते हैं वे पैसेवाले हैं इसलिए न ? मैंने एक व्यक्ति से कहा-भक्ति में कहते थे न ? कहाँ गया ? वह लड़का था न ? देखो ! देखो ! यह सेठ, देखो ! यह कैसा मजा करता है। पैसे के कारण मजा करता होगा न ? देखो ! आवाज निकालता है। (तो उसने कहै)-नहीं, नहीं, पैसे के कारण नहीं, पैसे के कारण सुख नहीं-ऐसा कहता था। (अपने मुमुक्षु का) लड़का है न ? यहाँ बैठा था। मैंने कहा-यह देखो ! यह सेठ है, वहाँ से यहाँ बड़े-बड़े से आवाज आती है। यह पैसा लड़कों का है और उसके लिए यह सब होता होगा या नहीं ? मजा मानता होगा या नहीं ? उसने कहा-नहीं, नहीं, ऐसा नहीं।

सोना और कंचन दोनों में (समभाव है)। आत्मा की शान्ति जिन्हें-मुनि को अन्तर में वीतरागी दशा प्रगट हुई है। सम्यग्दृष्टि को वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है; श्रावक को वीतरागात की उग्रता थोड़ी बढ़ी है; मुनि को तो वीतरागता बहुत बढ़ गयी है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व टलकर अनन्तानुबन्धी टली, इसलिए वीतरागता का अंश सदा ही वर्तता है। आहा..हा... ! श्रावक भी सच्चा श्रावक, हाँ ! वाड़ा की बात नहीं है। सच्चे श्रावक को भी सन्यग्दर्शनसहित दो कषाय का अभाव (हुआ है); उसे वीतरागता के अंश की वृद्धि (हुई है)। चौथे गुणस्थानवाले सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा भी वीतरागता का अंश

श्रावक को बढ़ गया होता है, उसे श्रावक कहा जाता है, और मुनि को तो वीतरागता का अंश इतना बढ़ा है, तीन कषाय का अभाव (हुआ है)। एक संज्वलन की कषाय थोड़ा विकल्प रहा है।

(यहाँ) कहते हैं, इस काँच और सोना (दोनों मे) समता है। '**निन्दा करनेवाले या स्तुति करनेवाले...**' के प्रति समभाव है। मेरी निन्दा-स्तुति कौन करे ?- ऐसा मानते हैं। समझ में आया ? निन्दा और स्तुति करनेवाले के प्रति समभाव.. समभाव.. वीतरागता वर्तती है। '**(अर्धावतारन) पूजा करनेवाले या तलवार से प्रहार करनेवाले-इस सर्व में हमेशा समताभाव धारण करते हैं।**' आहा..हा...! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. कुछ खलबलाहट नहीं होती, सारा कोलाहल मिट गया है। मनि को वीतरागता प्रगटी है न ? तीन कषाय का नाश हुआ है। शान्त.. शान्त.. शान्त.. अन्दर स्थिर पिण्ड जैसे हो गये हैं-ऐसा चारित्र प्रगट हुआ है। कहते हैं... वे '**हमेशा समताभाव धारण करते हैं।**' लो ! यह स्पष्टीकरण आ गया। (भावार्थ में) जरा स्पष्टीकरण करते हैं। प्रश्न है न ?

'प्रश्न :- सच्चा परिषहजय किसे कहते हैं ?'

पहले भावार्थ तो आ गया। सच्चा परीषहजय। परीषह कहते हैं न ? परीषह, वीतरागमार्ग में परीषहजय किसे कहा जाता है ? - 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में यह स्पष्टीकरण किया है। परीषह (अर्थात्) बाहर से ऐसा सहन करे, वह नहीं।

'उत्तर :- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तुणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन,

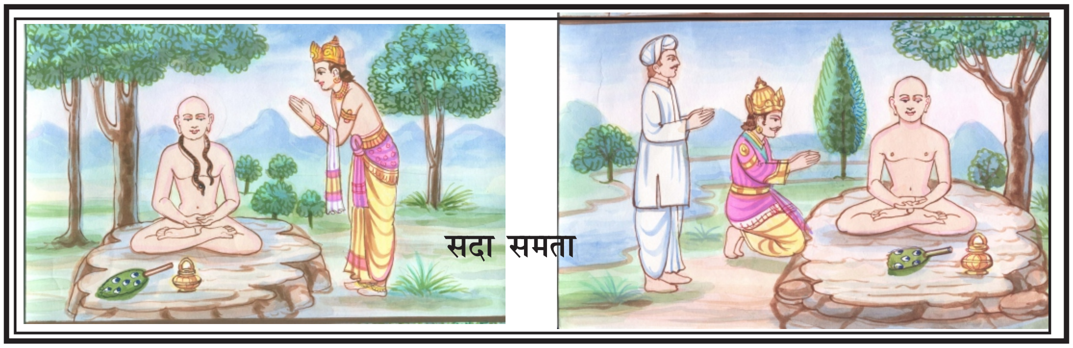

प्रज्ञा और अज्ञान-ये बाईस प्रकार के परीषह है। भावलिंगी मुनि को प्रत्येक समय तीन कषाय का (अनन्तानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती...' समझ में आया ? जहाँ प्रत्येक समय में तीन कषाय का अभाव है, वीतरागता की अन्तर दशा तो प्रगटी है। **'उतने अंश में उन्हें निरन्तर परीषहजय होता है।'** देखो ! जितने अंश में तीन कषाय का नाश होकर वीतरागता हुई उतना तो सदा परीषहजय होता है।

'तथा क्षुधादिक लगने पर उनके नाश का उपाय नहीं करना, उसे वह (अज्ञानी जीव) परीषह-सहन कहते हैं। अब उपाय तो नहीं किया...' यह 'टोडरमलजी' की बात है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' (में) कहते हैं। **'और अन्तरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दुःखी हुआ...'** क्षुधा लगी, उसमें अनिष्ट, अनिष्ट लगा, वह तो द्वेष हुआ **'तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ...'** आहार मिलने से अन्दर रति हुई, **'परन्तु वे तो दुःख-सुखरूप परिणाम हैं...'** वह कोई परीषहजय नहीं। दुःखरूप परिणाम **'और वही आर्त-रौद्रध्यान है...'** उसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान कहते हैं। **'ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो सकता है ?'** उस भाव से कोई संवर नहीं होता। क्षुधा अनिष्ट लगे और पेट में आहार पड़े ऐसे ऐसे हा..श.. (होता है)। एक व्यक्ति कहता था, आहार जब होता है न ? आहार के समय सातवां गुणस्थान आ जाता है... आहा..हा..! (–ऐसा कहता था)।

मुमुक्षु :– पेट में आ जाता है न, इसलिए शान्ति लगती है।

उत्तर :– परन्तु शान्ति किसकी ? वह तो रति है। आहार पड़ा, क्षुधा लगी थी तब अनिष्ट लगा था, वह कहीं परीषहजय नहीं और वह कोई शान्ति नहीं और आहार (पेट में) पड़ने से हा..श.. (हुई), प्यास बहुत लगी थी और मोसम्बी का पानी पड़े, वह तो रति हुई, वह परिषहजय नहीं है। समझ में आया ? ऐसा भाव...

प्रश्न :– **'तो फिर परीषहजय किस प्रकार होता है ?'**

'टोडरमलजी' कहते हैं कि,

'उत्तर :- तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो..' देखो ! इष्ट–

अनिष्ट। यह क्षुधा है, वह अनिष्ट है और आहार मिला, वह इष्ट है-दोनों मान्यतायें मिथ्यात्व है। प्रतिकूल पदार्थ अनिष्ट और अनुकूल पदार्थ इष्ट-यह मान्यता ही भ्रम, अज्ञान है। कहो, समझ में आया ? कोई पदार्थ प्रतिकूल-अनुकूल है नहीं। अनुकूल में प्रीति और प्रतिकूल में द्वेष-यह तो आर्तध्यान, रौद्रध्यान हुआ; इसमें परीषहजय नहीं है। यहाँ धर्म नहीं आया, उसमें धर्मध्यान नहीं आया। धर्मध्यान किस प्रकार ?

'तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो...' मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, ये पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। ज्ञेय हैं-जानने योग्य हैं, इष्ट-अनिष्ट नहीं है। भाई ! इष्ट-अनिष्ट होंगे या नहीं ? यह विच्छु अनिष्ट नहीं ? बिच्छु, ऐसा बड़ा जहरीला बिच्छु काटा हो.. ये सब पदार्थ जाननेयोग्य हैं; आत्मा जाननेवाला-ज्ञान है-इन दो के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है, इससे अतिरेक सम्बन्ध करके, विशेष सम्बन्ध करके ऐसा माने कि यह मुझे ठीक नहीं है-वह मिथ्याभ्रान्ति में उत्पन्न किया हुआ भाव है। समझ में आया ? आहा..हा... !

'तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, दुःख के कारण मिलने पर दुःखी न हो...' यह अनिष्ट सामग्री लाख-करोड़ होवे तो दुःख न हो-ऐसे समतापरिणाम हो, उसे परीषहजय कहते हैं। **'तथा सुख के कारण मिलने पर सुखी न हो...'** आहार-पानी अनुकूल मिले, ठण्डी हवा मिले, अच्छा गाँव और अच्छा रहने का स्थान, ठण्डी हवा और ऐसी प्यास लगीहो व पानी (मिले)-ऐसे कारण मिलने पर सुखी न हो। सुखी होवे तो राग हुआ वह तो। **'परन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहजय है।'** परीषहजय की यह व्याख्या है। समझ में आया ?' (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२३२)'

मुनियों के तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र

तप तपै द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा;
मुनि साथमें वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब;
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब ।।७।।

अन्वयार्थ :- (वे वीतरागी मुनि सदा) (द्वादश) बारह प्रकार के (तप तपै) तप करते हैं, (दश) दस प्रकार के (वृष) धर्म को (धरैं) धारण करते हैं और (रतनत्रय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का (सदा) सदा (सेवे) सेवन करते हैं। (मुनि साथ में) मुनियों के संघ में (वा) अथवा (एक) अकेले (विचरैं) विचरते हैं और (कदा) किसी भी समय (भवसुख) सांसारिक सुखों को (नहिं चहैं) इच्छा नहीं करते। (यों) इसप्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र (है) है; अब (स्वरूपाचरण) स्वरूपाचरण चारित्र सुनो। (जिस) जो स्वरूपाचरण चारित्र चारित्र (स्वरूप में रमणतारूप चारित्र) (होत) प्रगट होने से (आपनी) अपने आत्मा की (निधि) ज्ञानादिक सम्पत्ति (प्रगटै) प्रगट होती है, तथा (परकी) परवस्तुओं की ओर की (सब) सब प्रकार की (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति (मिटैं) मिट जाती है।

भावार्थ :- (१) भावलिंगी मुनिका शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना सो तप है। तथा हठरहित बारह प्रकार के तप के शुभविकल्प होते हैं, वह व्यवहार तप है। वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम सो धर्म है। भावलिंगी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है; वे मुनियों के संघमें अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करते। - इसप्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।

(२) अज्ञानी जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं; किन्तु मात्र बाह्य तप करने से निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिये उपचारसे तप को भी निर्जरा का कारण कहा है। यदि बाह्य दु:ख सहन करना ही निर्जरा का कारण हो, तब तो पशु आदि भी क्षुधा-तृषा सहन करते हैं।

प्रश्न :- वे तो पराधनतापूर्वक सहन करते हैं। जो स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवाासादि तप करे उसे तो निर्जरा होती है ना ?

उत्तर :- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे तो वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ या शुद्धरूप- जिसप्रकार जीव परिणमे-परिणमित होगा; उपवास के प्रमाण में यदि निर्जरा हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि सिद्ध हो, किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करने से भी, निर्जार कैसे सम्भव हो सकती है ? यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि- जैसे अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, तद्नुसार बन्ध निर्जरा है, तो उपवासादि

तप निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ?-वहाँ अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो, अनशनादि को तपकी संज्ञा किस प्रकार कही गई ?

उत्तर :- उन्हें बाह्य-तप कहा है; बाह्य का अर्थ यह है कि-बाह्य में दूसरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है, किन्तु स्वयं तो उसे अंतरंग-परिणाम होंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

(३) तथा अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्य-तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य-क्रिया है, उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिये प्रायश्चित आदि बाह्य-साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।

परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो उसका नाम अन्तरंग तप जानना; और वहाँ तो निर्जरा ही है, वहाँ बन्ध नहीं होता; तथा उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है, उनसे बन्ध है। इसप्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गई है - ऐसा जानना और इसलिये उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।

अधिक क्या कहें ? इतना समझ लेना कि - निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद निमित्त कि-निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य प्रकार के भेद निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; उन्हें व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना । इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिये उसे निर्जरा का - तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२३३, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

प्रश्न :- क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?

उत्तर :- बन्धादि के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता, किन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है । जिसप्रकार कोई राजादि के भय से अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है । तो फिर किस प्रकार

त्यागी होता है ? - कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं, किन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती और तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२२९, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे उसे सुनो-कि जिसके प्रगट होने से आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है, वह स्वरूपाचरण चारित्र है ।।७।।

अब, '**मुनियों का तप, धर्म...**' मुनियों का तप, मुनियों का धर्म। दश प्रकार का है न ? उसका '**विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र**' इनकी व्याख्या शुरु करते हैं।

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा;
मुनि साथमें वा एक विचरैं चहैं नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब;
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब।।७।।

यह सकलचारित्र लिया। पहले देशचारित्र था न ? यह सकलचारित्र लिया। अकेला स्वरूपाचरण में विकल्प साधन नहीं।

अन्वयार्थ :- '(वे वीतरागी मुनि हमेशा) बारह प्रकार के तप करते हैं...' हमेशा अनशन, उनोदर रसपरित्याग, कायक्लेश, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, सज्झाय, ध्यान, व्युत्सर्ग–ऐसे हमेशा बारह प्रकार के तप करते हैं, तो भी वीतरागता वर्तती है।

'दश प्रकार के धर्म को धारण करते हैं...' उत्तम क्षमा, उत्तम निर्मानता आदि हमेशा धारण करते हैं। वीतराग मुनि तो गुण के समूह अकेले गुण के पोटले ! आहा..! समझ में

आया ? श्रावक की दशा से भी मुनि कि दशा तो गुण की गठरी, गुण की गाँठ। अकेला आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अतीन्द्रिय वीतरागता वर्तती है, अतीन्द्रिय आनन्द की वीतरागता वर्तती है। उस मुनिपने में दश प्रकार का धर्म धारण करते हैं। क्षमा, शान्ति, निर्लोभता आदि। समझ में आया ?

'तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का हमेशा सेवन करते हैं...' मुनि, सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द की अनुभव में प्रतीति होकर सम्यग्दर्शन का हमेशा सेवन करते हैं, निरन्तर–ऐसा कहते हैं। कोई समय सम्यग्दर्शनरहित नहीं होता। समझ में आया ? मुनि उन्हें कहते हैं कि जिन्हें एक समयमात्र सम्यग्दर्शन–ज्ञान (बिना का नहीं होता)। सम्यग्दर्शन अर्थात् अखण्ड मुख्य आनन्दस्वरूप ध्रुव के आश्रय से हुई सम्यक् प्रतीति। उसे इस ध्रुव का ध्येय कभी एक क्षण भई नहीं छूटता। समझ में आया ?

इसी तरह सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान–आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का ज्ञान एक समय भी नहीं छूटता; और सम्यक्चारित्र (अर्थात्) स्वरूप में स्थिरता। मुनि को जो अरागी वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, वह एक समय भी नहीं छूटती। आहा..हा... ! समझ में आया ? नींद में भी थोड़ी जरा नींद होवे तो भी, उन्हें रत्नत्रय होता है; जागृत होवे तो भी होता है, चलते हो तो भी होता है। जंगल जाने की क्रिया (शौच क्रिया) में बैठे हो तो भी उन्हें रत्नत्रय निरन्तर (वर्तता है)। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र वीतरागी दशा वहाँ भी वर्तती है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

श्रावक को दो कषाय का नाश हुआ है और जितनी सम्यग्दर्शन आदि स्थिरता प्रगट हुई है, उतनी उसे भी सदा रहती है। उसे वह है। नींद में हो, भोग में हो, रोग में हो या व्यापार–धन्धे में बैठा दिखे तो भी श्रावक तो उसे कहते हैं, जिसे दो कषाय के अभाव की वीतरागता सदा ही वर्तती है। समझ में आया ? कहो, भाई !

लड़ाई में खड़ा हो तो सम्यग्दृष्टि को एक कषाय का अभाव और भ्रान्ति का नाश, स्वरूपआचरण की स्थिरता का अंश तो वहाँ सदा ही वर्तता है, लड़ाई में हो तो भी। समझ में आया ? उसे–श्रावक को समकिती कहते हैं। मुनि की दशा की तो बात क्या करनी अन्तिम, अलौकिक ! जिन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान लेने की तैयारी है।

वे '**सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का (सदा) सेवन करते हैं..**' है न सदा ? हमेशा। देखो !'**तप तपै द्वादश, धरैं वृष दश, धर्म दश, रत्नत्रय सेवैं सदा...**' आहा..हा...! रत्नत्रय, श्रावक को अभी चारित्र-सकलचारित्र नहीं, अर्थात् थोड़ा है। चौथे गुणस्थान में वे देशव्रत के विकल्प नहीं है, उसे स्वरूपाचरण का अंश सदा है। समझ में आया ? इन मुनि को तो सम्यग्दर्शन-आत्मा के अनुभव की प्रतीति, आत्मा का ज्ञान, आत्मा में तीन कषाय के अभाव की वीतरागता सदा-निरन्तर-चौबीसों घण्टे होती है। समझ में आया ?

धर्मरूप परिणमे हैं न ? धर्म उसे कहते हैं न ? आत्मा धर्मरूप परिणम गया है। आता है न ? भाई ! नहीं ?'प्रवचनसार'-(में) शुभपरिणमित शुभ; अशुभ से परिणमित अशुभ; और शुद्ध से परिणमित शुद्ध; धर्म से परिणमित धर्मी। धर्मी परिणम गया है। उसे अब ऐसा कुछ करना (-ऐसा) नहीं। उतनी तीन कषाय के नाश की वीतरागता आनन्द की अन्दर परिणमित हो गयी है, वह आत्मा ही धर्मरूप हो गया है। वह आत्मा है, सदा के लिये सदा धर्मरूप परिणमन चालू है। आहा..हा...! समझ में आया ?

रत्नत्रय का सदा सेवन करते हैं। बाकी तो यहाँ तप और यह सब लिया है। फिर मुनि रहते किस प्रकार है ? कहते हैं। यह तो मुनि का तप और धर्म कहा। अब विहार (कहतै हैं)-'**(मुनि साथ में) मुनियो के संघ में अथवा अकेले विचरते हैं...**' दो-चार साधु साथ रहें अथवा अकेले भी (रहे)। आत्मध्यान की मस्तीवाले स्वतन्त्र आत्मा के आनन्द को अनुभवते हुए अकेले भी रहते हैं।'**किसी भी समय (भवसुख) संसार के सुखों को नहीं चाहते।**' समझ में आया ?'**चहैं नहीं भवसुख कदा।**' आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द की लहर में रहते हैं। वे कभी (सांसारिक) सुख की इच्छा (नहीं करते कि) ऐसा होवे तो ठीक, यह होवे ते ठीक, गर्म-गर्म ताल होवे तो ठीक या गर्म-गर्म भुजिया खाते हों या नहीं ?

मुमुक्षु :- भुजिये तो गर्म-गर्म ही खाये जाते हैं।

उत्तर :- मुनि को इच्छा नहीं होती। आहा..हा..! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के आनन्द का अनुभव वेदते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव-भोजन हमेशा करते हैं। मुनि तो अतीन्द्रिय का भोजन करते हैं। पान-सुधारस का-अमृता का पानी पीते हैं, उन्हें ऐसे सुख की इच्छा नहीं

होती। स्वर्ग की इन्द्राणी डिगाने आवे तो भी नहीं डिगते। समझ में आया ?

वे '**संसार के सुखों को नहीं चाहते। इस प्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र है...**' लो ! पहले देशविरत कहा था और उसके बाद यह सकल संयम चारित्र कहा। मुनि के पाँच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि।

मुमुक्षु :- महानता हुई..

उत्तर :- महानता हुई तो जाने। महानता-इसका अर्थ है कि ज्ञान किया; पूर्व का याद आता है, वह अलग बात है। ज्ञान तो केवली को नहीं ? ज्ञान तो तीन काल-तीन लोक का होता है। ज्ञान में जाने की ओ..हो..हो.. ! दुनिया। गतकाल में ऐसा जानते और मानते, वह तो ज्ञान किया। समझ में आया ? ज्ञान तो केवली तीन काल का करते हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- यहाँ विकल्प होता है ?

उत्तर :- विकल्प नहीं, ज्ञान होता है-ऐसा कहता हूँ। ज्ञान में पहले की बात ज्ञात हो कि ऐसा पहले था, वह जाना है। उसमें जानने में क्या आया ? समझ में आया ? संसार के ये जितने भोग हैं, वे केवली जानते हैं या नहीं ? केवली को राग आता है ? ऐसे उन्हें एक साथ है, जितनी समता प्रगटी एकसाथ है-समता के साथ ज्ञाता-दृष्टापना साथ ही है। पूर्व का याद आवे, वह तो ज्ञान हुआ, उससे दु:ख हुआ-ऐसा है कुछ ? विकल्प भी है, विकल्प है तो याद (आया)-ऐसी भी कुछ नहीं। जानते हैं। गतकाल-भूतकाल जानते हैं। (यह) '**सकल संयम चारित्र है...**'

'**अब, स्वरूपाचरणचारित्र सुनो...**' लो ! उस स्वरूप में निर्विकल्प ध्यान में स्थिर हो जाए-उसकी बात की। सकलचारित्र में अट्ठाईस मूलगुण सहित की बात की। अब जहाँ विकल्प आदि साधन और अकेला स्वरूपाचरण (है, उसकी) बात करते हैं। स्वरूपाचरण तो इतना है, उसे भी विशेष स्वरूप आचरण स्थिरता से अब बात करते हैं।

'**स्वरूपाचरणचारित्र सुनो !**' देखा ! समझ में आया ? इस स्वरूपाचरण का अंश तो चौथे गुणस्थान से होता है। यह बात पहले हो गयी थी। उसमें था न ? 'जैनसिद्धांत प्रवेशिका'। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हो, उसे स्वरूपाचरणचारित्र (सहित) होने से अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है। इतना शुद्ध चैतन्य प्रभु दृष्टि में और स्थिरता के अंश में इतना वर्तता होता है। यहाँ

विशेष चारित्र की अपेक्षा विशेष है।

'जिस स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने पर (आपनी) अपने आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति...' खजाना.. ओ..हो..! स्वरूप में स्थिरता से (ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट हो गयी)। कोई इसमें से ऐसा लेते हैं कि देखो ! यह तो सकलचारित्र कहने के बाद अकेला स्वरूपचारित्र सातवें से (होता है)। यहाँ बात तो उत्कृष्ट की ऐसे कहना चाहते हैं, बात तो यह कहना चाहते हैं। समझ में आया ? क्योंकि सकलचारित्र और अट्ठाईस मूलगुणसहित का तीन कषाय का अभाव (हुआ), उतना चारित्र है, परन्तु विकल्प है, अभी उससे रहित अब स्थिरता बताना चाहते हैं; परन्तु इससे स्वरूपाचरणचरण सातवें में ही होता है और नीचे नहीं होता–ऐसा नहीं है। यह तो उत्कृष्ट चारित्र की अपेक्षा का स्वरूपाचरणचारित्र (कहते हैं)। छठवें गुणस्थान में मुनि को तीन कषाय के नाश जितना तो चारित्र स्वरूप आनन्द वीतराग है, परन्तु अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प हैं, उसका अभाव करके स्थिर होते हैं–उसकी बात अब लेना चाहते हैं।

अपनी आत्मा में ध्यान जहाँ लीन हुआ (तो) कहते हैं (कि), अकेला स्वरूप का आचरण अकेला। **'आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट होती है...'** अन्तर में अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द जो है, वह एकाकार ध्यान करने से प्रगट होते हैं। **'तथा परवस्तुओं की ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति मिट जाती है।'** लो ! विकल्प आदि सब मिट जाते हैं।

भावार्थ :- 'भावलिंगी मुनि का शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना, वह तप है...' यह तप की थोड़ी व्याख्या की। पहला 'तप' शब्द है न ? तप। पहला 'तप' शब्द है, देखो ! **'तप तपैं...'** मुनि ऐसा तप तपते हैं। **'हठ बिना बारह प्रकार के तप का शुभविकल्प होता है...'** अनशन, उनोदर आदि का विकल्प होता है। **'यह व्यवहारतप है।'** यह निश्चयतप तो आनन्द का तपना, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रगट होना, वह निश्चयतप है। बारह प्रकार के तप का विकल्प, वह व्यवहारतप पुण्यबन्ध का कारण है।

'वीतरागभावरूप उत्तम क्षमादि परिणाम, वह धर्म है।' दूसरी व्याख्या (की)। वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शन–ज्ञानसहित **'उत्तम क्षमादि परिणाम, वह धर्म है। भावलिंगी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है।'** अन्दर में। आहा..हा...! मुनि पंच

परमेश्वर अकेले धर्म होने ही नीकले। '**वे मुनियों के संघ के साथ अथवा अकेले विहार करते हैं। किसी भी समय संसार के सुख को नहीं चाहते हैं। इस प्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।**' अब, जरा 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की थोड़ी बात करते हैं।

'**(२) अज्ञानी जीव, अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं...**' अज्ञानी (ऐसा मानता है) – आहार–पानी छोड़ दिया, इसलिए अपने को तप हो गया।

मुमुक्षु :– ...

उत्तर :– वह भी तप नहीं है।

'**किन्तु मात्र बाह्य तप करने से तो निर्जरा होती नहीं है।**' ऐसा अनशन, उनोदर आदि का बाह्य से क्रियाकाण्ड (करने से) कुछ निर्जरा होती नहीं। '**शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है...**' देखो ! भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वभाव में, शुद्धस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता का शुद्ध आचरण करे, इस शुभविकल्परहित, पुण्य के विकल्परहित शुद्धस्वरूप को अन्तर तपे, वह शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है। '**इसलिए उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहा है।**' वह निमित्त साथ में है इसलिए। बारह प्रकार का तप निमित्त है न, उसे कहा, बाकी वास्तव में तो शुद्धोपयोग, निर्जरा का कारण है। '**यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जरा का कारण होवे तो पशु आदि भी भूख-प्यास सहन करते हैं।**' लो ! सहन करते हैं या नहीं ? तब कहते हैं कि...

'**प्रश्न :- वे तो पराधीनता से सहन करते हैं...**' हम तो यहाँ रोटियां मिलती है, और छोड़ देते हैं। '**परन्तु स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धि से उपवास आदि तप करे, उसे तो निर्जरा होती है ?**'– इस प्रकार प्रश्नकार का प्रश्न है।

'**उत्तर :- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे...**' यह 'पण्डित टोडरमलजी' की 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की व्याख्या है, हाँ ! '**वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ व शुद्धरूप जैसा परिणमें वैसा परिणमों।**' परिणाम पर बात है या बाहर की क्रिया पर (बात) है ? कहते हैं, उपवास करके बैठा और परिणाम अशुभ हो। परिणाम शुभ हो तो पुण्य बाँधे, अशुभ हो तो पाप बाँधे, शुद्धोपयोग होवे तो निर्जरा होती है। '**यदि उपवास के प्रमाण में निर्जरा होती हो, तब तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही ठहरे, परन्तु ऐसा तो होता नहीं, क्योंकि परिणाम दुष्ट**

होने पर उपवासादि करने पर भी निर्जरा होना कैसा सम्भव है ?' जिसके परिणाम खराब हैं और बाहर से मुँह से आहार-पानी पेट में नहीं पड़ा, इससे परिणाम से बन्ध होता है, उसे किसी क्रिया से बन्ध नहीं होता।

'यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि अशुभ-शुभ-शुद्धरूप उपयोग परिणमें, तद्नुसार बन्ध-निर्जरा है...' उसके मुँह से कहलवाया, भाई ! जैसे परिणाम करे, तद्नुसार बन्ध-निर्जरा (होते हैं)। शुभ-अशुभपरिणाम से बन्ध होता है और शुद्ध परिणाम से निर्जरा होती है। **'तो उपवासादि तप, निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ?'** तो उपवास और अनशन कारण नहीं रहा। **'वहाँ अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।'** कहो, निर्जरा का कारण क्या हुआ इसमें ? शुद्ध श्रद्धा-ज्ञानसहित के शुद्धपरिणाम, वह निर्जरा का कारण है। बाहर से अनशन, उनोदर, रसपरित्याग (रस) छोड़े, परन्तु परिणाम का ठिकाना न हो तो क्या शुद्ध, वह निर्जरा का कारण है।

'प्रश्न :- यदि ऐसा है तो अनशनादि को तप संज्ञा किस प्रकार कही गयी ?'

'उत्तर :- उन्हें बाह्य कहा है... ' वे तो बाह्यतप है। **'बाह्य का अर्थ यह है कि बाह्य में दूसरों का दिखायी दे कि यह तपस्वी है...'** महीने-महीने के उपवास करे और तपस्वी कहे, उसकी अपेक्षा एकबार स्वाध्याय, ध्यान में बैठे (वह) बहुत निर्जरा करे, उसे कोई तपस्वी कहते हैं ? कहो, समझ में आया ? स्वाध्याय, तप और ध्यान भी तप है, परन्तु लोग बाहर से मानते हैं, **'परन्तु स्वयं तो जैसा अन्तरंग परिणाम होगा, वैसा फल प्राप्त करेगा।'**

'(३) तथा अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूपक्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, उसे तो बाह्यतप जैसा ही जानना..' 'टोडरमलजी' के 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का यह स्पष्टीकरण (है)। **'जैसी अनशनादि बाह्य क्रिया है, वैसी यह भी बाह्य क्रिया है...'** वह भी बाह्य क्रिया है। कौन-सी ? प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, यह सब विकल्प है। **'इसलिए प्रायश्चित आदि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।'** प्रायश्चित आदि बाह्य (साधन) अन्तरंग तप नहीं है।

'परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम

अन्तरंग तप जानना...' अन्तरंग में आत्मा की दृष्टिपूर्वक, सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्ध चैतन्य के भान में जितने शुद्धता के वीतरागी परिणाम हो, उसे निर्जरा का कारण जानना, उसे अन्तरंग तप जानना। '**और वहाँ तो निर्जरा ही है...'** लो ! यह अन्तरंग शुद्धपरिणाम आत्मा के हो, वह निर्जरा (है)। '**बन्ध नहीं होता तथा उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है; तथा जितना शुभभाव है, उससे बन्ध है।'** थोड़ा शुभभाव-विकल्प साथ में होता है न ? वह शुभ, पुण्य का बन्ध है।

'**इस प्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गयी है-ऐसा जानना और इसलिए उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।'** लो ! उपचार तप कहो, व्यवहार तप कहो, आरोपित कहो। यथार्थ तो आत्मा शुद्ध ध्यान और दर्शन, ज्ञान, चारित्र से निर्मल वीतरागी परिणाम हो, वह निर्जरा है।

'**अधिक क्या कहें ?'** 'टोडरमलजी' कहते हैं। '**इतना ही समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है।'** जितने अंश में अन्तर में सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा की निर्विकल्प दृष्टिपूर्वक, आत्मा की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, शुद्ध चैतन्य की दृष्टिपूर्वक जितनी वीतरागपर्याय प्रगट हो, उतना धर्म भगवान ने कहा है, बाकी परिणाम शुभ हो, वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं है, निश्चयधर्म नहीं। इस निश्चयधर्म में शुभ को व्यवहारधर्म कहा जाता है।

'**तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं...'** देखो ! अनेक प्रकार के भेद-बारह प्रकार के (तप) आदि अनेक प्रकार, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से भेद, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; वे वास्तविक धर्म है नहीं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, ध्यान और स्वाध्याय, पर का विनय करे तो वह सब विकल्प है। वह तो निमित्त से बात की है। अन्दर में सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी वीतरागता प्रगट हो, उतनी को भगवान तप और धर्म कहते हैं।

'**उसे व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।'** देखो ! भेद निमित्त, उपचार और व्यवहार-इसमें चारों बोल आ गये। जितना कथन भेद से है, निमित्त से है-उस सब को उपचार कहा जाता है और व्यवहार कहा जाता है।

'इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता...' देखो ! भेद, 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' - निर्जरा की व्याख्या है न वह ? **'इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिए उसे निर्जरा का-तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।'** 'टोडरमलजी' (ने) 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' शास्त्रों का दोहन करके कहा है। अब कितने को ही यह 'टोडरमलजी' का (कथन) ठीक नहीं पड़ता। 'टोडरमलजी' ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में हजारों शास्त्रों का सार-दोहन करके लिखा है। महाप्रज्ञावाले, बहुत क्षयोपशम, बहुत क्षयोपशम ! समझ में आया ? यह बात करे तो (कहते हैं कि) नहीं, यह नहीं, नहीं, 'टोडरमलजी' का नहीं। 'टोडरमलजी' का नहीं अर्थात् भगवान का नहीं-ऐसा कह न। इन्होंने (तो) यह भगवान के अनुसार कहा है, इन्होंने घर का कुछ नहीं कहा है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पृष्ठ २३३ से २३६ में यह कहा गया है।

'प्रश्न :- क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?' समझ में आया ? क्रोध का त्याग, मान का त्याग, माया का त्याग, लोभ का त्याग और उत्तम क्षमा.. अस्ति नास्ति।

'उत्तर :- बन्धादि के भय से...' देखो ! बन्ध के भय से क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे। बन्ध के भय से, हाँ ! अरे.. ! बन्ध होगा। उसे कहीं क्षमा नहीं कहते, उसे धर्म नहीं कहा जाता। बन्धादि के भय से-राजा का भय, डर के मारे आदि, परिवार का भय। ऐसा करने से लोग मुझे क्रोधी कहेंगे-इत्यादि **'भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से...'** यह भय हुआ-द्वेष हुआ और पहला राग हुआ। **'स्वर्ग और मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता...'** समझ में आया ?

'परन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है।' अभिप्राय में कहाँ गया ? यह लोग मुझे ऐसा करेंगे, इसलिए अपने का क्रोध नहीं हो। लोग ऐसा कहेंगे मान नहीं दिखता। समझ में आया ? नहीं तो द्वेष होगा या अपने लाभ जाएगा। सेठ के साथ क्रोध करुँगा तो लाभ जाएगा-ऐसी इच्छा से और बन्ध के भय से क्रोध-मान नहीं करे, परन्तु क्रोध-मान करने का, श्रद्धा का अभिप्राय तो गया नहीं। **'जैसे कोई राजादि के भय से...'** देखो ! भय से आया न ? बन्धादि के भय से **'अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता...'** राजा का भय, परिवार का भय आदि और बड़प्पन-अपनी प्रतिष्ठा के लिये करे-ऐसा बड़ा कहलाता हूँ। ऐसा करुँगा तो बड़प्पन जाता रहेगा... बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से मेरी प्रतिष्ठा अच्छी है, वह

भ्रष्ट (नष्ट) हो जायेगी, इसलिए अपने को यह सेवन (नहीं), परस्त्री सेवन नहीं।

'प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता...' त्यागी कहाँ कहे ? अन्दर में अभिप्राय में सब पड़ा है। समझ में आया ? राजा के, सेठे के, परिवार के डर से करे–परस्त्री सेवन न करे; प्रतिष्ठा के लिये (यह) करे, इज्जत के लिए सेवन (न करे) इससे उसे **'त्यागी नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है।'** लो ! दुनिया के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ न करे और क्षमादि दिखे तो भी वह वास्तव में क्रोधादि का त्यागी नहीं है। आहा.. !

'तो फिर किस प्रकार त्यागी होता है ? कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर...' देखो ! **'क्रोधादि होते हैं...'** यह पदार्थ इष्ट है, यह पदार्थ अनिष्ट है। (–ऐसा) भासित होने पर क्रोध, मान होता है; अर्थात् इष्ट देखकर राग होता है, अनिष्ट देखकर द्वेष होता है। इस पदार्थ में मुझे द्वेष हुआ और इस पदार्थ से मुझे राग हुआ–यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ? **'पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। परन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास में...'** जगत में कोई पदार्थ इष्ट–अनिष्ट है ही नहीं, मैं ही पर में इष्ट–अनिष्ट कल्पता और मानता था। कोई चीज इष्ट–अनिष्ट है ही नहीं।

विच्छु अनिष्ट है और चन्दन अनुकूल है–ऐसा पदार्थ में नहीं है। पदार्थ में छाप लगी है ? रोग अनिष्ट है, निरोग इष्ट है–ऐसा है ? उसमें छाप लगी है ?.. पता है न ?.. हाथ निकाल दे। यहाँ से ऐसा कर डाले। समझ में आया ?.. हाथ पहले से ही निकाल दिया हो, कपड़ा वह पहना हाथ ... इसलिए कोई पकड़ने आवे तो पता नहीं पड़े कि यह चोर था। बाहर के कारण यह सब करता है। उसे इष्ट नहीं, वह रोग उसे उस समय अच्छा लगता है। वहाँ से दो कदम फिर और पहला सब करके वापस बदल डाले, पुलिस पकड़ने आवे तो, वह कहीं गया नहीं। कहाँ गया है ? क्योंकि दिखाव गरीब, भिखारी दिखे। मणिरत्न चोर गया हो और यहाँ आँख में डाल दिया। वह पहले से कटाकर अन्दर रखा हो। ऐसा चढ़ा दिया हो। अब पहले ऐसा होवे, उसमें पकड़ना किसे ? किसे ? यह हुआ है। 'मुम्बई' में यह सब (किस्से) हुए हैं।

'तत्त्वज्ञान के अभ्यास से...' मैं तो आत्मा ज्ञान हूँ। मेरी शान्ति मेरे पास है। जगत का

अनुकूल-प्रतिकूल कोई पदार्थ मुझे बाधक या अनुकूल है ही नहीं-ऐसी तत्त्वज्ञान की दृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि होवे तब कोई '**इष्ट-अनिष्ट भासित न हो...**' फिर उसे कोई चीज इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होती। '**तब स्वयं क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती...**' सहज क्रोध नहीं होता, मान नहीं होता, कपट नहीं होता, लोभ नहीं होता, '**तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं।**' धर्म होता है। यह तप और क्षमा की व्याख्या की। ऊपर था न ? '**तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश...**' ऐसा। समझ में आया ? लो ! यहाँ तक सकलचारित्र का वर्णन हुआ। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पृष्ठ-२३२ में से यह कथन है, हाँ ! यह यहाँ का कथन नहीं है। 'टोडरमलजी' का है। अब, यह सकलचारित्र हुआ। सम्यग्दर्शनसहित, अन्तर अनुभवसहित, अट्ठआईस मूलगुण आदि का वर्णन किया। तीन कषाय का अभाव हुआ, अब अन्दर स्थिरता की-सातवें गुणस्थान से स्वरूपाचरण के स्थिरता जमे। स्वरूपाचरण चारित्र की, चारित्रसहित की स्थिरता।

'**(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे, उसे सुनो...**' है न अन्दर ? '**जिस के प्रगट होने से अपने...**' यह प्रगट होने से-स्वरूप में स्थिरता (होने से)... तीन कषाय का अभाव तो था। अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प था। अब यह छोड़कर स्थिरता होने से '**अपने आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है, वह स्वरूपाचरणचारित्र है।**' यह व्याख्या अपने ८-९-१० की हो गयी है। समझ में आया ? ११ से कल चलेगा। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✲

ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली-ज्ञायकको पकड़े व उसकी पर्यायमें वीतरागता प्रगट होने पर भी पर्यायमें रूके नहीं; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली-ध्रुव पर ही टिकी है । धर्मदशा प्रकट हो - निर्मलपर्याय प्रकट हो - पर ज्ञानी इन पर्यायोंमें नहीं रूकता । (परमागमसार-४५४)

स्वरूपाचरण-चारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया।
निजमांहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

अन्वयार्थ :- (जिन) जो वीतरागी मुनिराज (परम) अत्यन्त (पैनी) तीक्ष्ण (सुबुधि) सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञानरूप (छैनी) *छैनी (डारि) पटककर (अन्तर) अन्तरंग में (भेदिया) भेद करके (निजभाव को) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (वरणादि) वर्ण, रस, गन्ध, तथा स्पर्शरूप द्रव्यकर्म से (अरु) और (रागादितैं) राग-द्वेषादिरूपी भावकर्म से (न्यारा किया) भिन्न करके (निजमांहि) अपने आत्मा में (निज के हेतु) अपने लिये (निजकर) अपने द्वारा (आप को) आत्मा को (आप) स्वयं अपने से (गह्यो) ग्रहण करते हैं तब (गुण) गुण, (गुणी) गुणी, (ज्ञाता) ज्ञाता, (ज्ञेय) ज्ञान का विषय और (ज्ञान मँझार) ज्ञान में-आत्मा में (कछु भेद न रह्यो) किंचित्मात्र भेद (विकल्प) नहीं रहता।

भावार्थ :- जब स्वरूपाचरण चारित्र का आचरण करते समय वीरागी मुनि-जिसप्रकार कोई पुरुष तीक्ष्ण छैनी द्वारा पत्थर आदि के दो भाग पृथक् कर देता है, उसी प्रकार-अपने अन्तरंग में भेदविज्ञानरूप छैनी द्वारा अपने आत्मा के स्वरूप को द्रव्यकर्म से तथा शरीरादिक नोकर्म से और राग-द्वेषादिरूप भावकर्मों से भिन्न करके अपने आत्मा में आत्मा के लिये, आत्मा को स्वयं जानते हैं तब उनके स्वानुभव में गुण, गुणी तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय-ऐसे कोई भेद नहीं रहते ॥८॥

---

* जिसप्रकार छैनी होले को काटकर दो टूकड़े कर देती है उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १, सोमवार

दि. २१-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-८. प्रवचन नं. ४९

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। छठी ढाल का आठवाँ श्लोक। देखो ! क्या कहते हैं ? जिस प्राणी ने अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि पहले की हो... पहले दर्शन-ज्ञान आ गया है। अपना स्वरूप शरीर, वाणी, मन से भिन्न है और पुण्य और पाप के राग से भी अपना स्वरूप बिलकुल भिन्न है। ऐसे अपना निज आनन्दस्वरूप की दृष्टि की हो। मैं शरीरादि परपदार्थ की क्रिया का करनेवाला नहीं, क्योंकि मेरे अस्तित्व में-मेरी मौजूदगी में वह तत्त्व नहीं। मेरी मौजूदगी में जो तत्त्व नहीं, उसका में करनेवाला, बदलानेवाला, मिटानेवाला या रक्षक मैं हो सकता नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, पहले ऐसे शुद्धस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करते हैं तो उसमें स्वरूपाचरण ध्यान कैसा होता है ? अर्थात् प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्ति के काल में क्या होता है ? और बाद में, सम्यग्दर्शन के बाद भी जब-जब अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं, तब कैसी दशा, किस प्रकार की होती है ? वह वर्णन करते हैं। भाषा समझते हो न ? आपकी हिन्दी है, यहाँ हिन्दी चलती है।

'**स्वरूपाचरण-चारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन।**' आठवीं गाथा। आत्मा एक सैकण्ड के असंख्य भाग में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द संपन्न (है)। उसमें शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या का शुभविकल्प जो उठता है, वह शुभभाव है, वह पुण्यबन्ध का कारण है; और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना ऐसा अशुभ उपयोग, अशुभ उपयोग, पापबन्ध का कारण है। दोनों उपयोग-शुभ और अशुभ को अशुद्ध उपयोग कहते हैं। दोनों उपयोग का अन्तर व्यापार-शुभ हो या अशुभ हो, दोनों अशुभ व्यापार है। भाई !

पहले उसे निर्णय करना पड़ेगा या नहीं ? कि, क्या चीज है ? कैसे प्राप्त होती है ? और अनन्त काल में क्यों प्राप्त हुआ नहीं ? अनन्त काल में उसने दृष्टि अपने शुद्ध एकान्त एकाकार

आनन्दस्वरूप पर की नहीं। श्रद्धा में भी लिया नहीं कि, मेरा स्वरूप निर्विकल्प आनन्द है, उसमें मैं एकाकार होऊँ तो मुझे धर्म होगा। ऐसी प्रथम श्रद्धा भी की नहीं। समझ में आया ? अनादिकाल से अशुभभाव करता है, उसमें मीठास आती है तो उसमें मुझे मजा आता है, वह तो मिथ्यात्वभाव (है)। दुःख में मजा मानना वह मिथ्यात्वभाव है, और शुभभाव आता है, वह भी दुःखरूप भाव है। भाई ! समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भाव होते हैं, परन्तु वह भाव शुभ आचरणरूप शुभभाव, पुण्यबन्ध का कारण, अशुद्ध उपयोगरूप उसे कहते हैं। अब, दो उपयोग के अलावा, आत्मा की शुद्धोपयोगदशा, का नाम भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर, धर्म कहते हैं। समझ में आया ? शुद्ध उपयोग। शुभ-अशुभ दो भाव अशुद्ध उपयोग (है)। उससे रहित शुद्ध चिदानन्द भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप की ओर दृष्टि लगाकर उसमें स्थिर होना, उसको यहाँ स्वरूपचारित्र-स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। यह चारित्र, यह चारित्र यथार्थ चारित्र है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन से लेकर यह स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। चारित्र का भाव, शुद्ध स्वरूपाचरण का भाव सम्यग्दृष्टि (होते समय) पहले से उत्पन्न होता है। मुनियों को भी सच्चा आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, अनुभव हुआ हो तो उनको भी शुद्ध उपयोग का आचरण, चारित्र में निर्विकल्प आनन्द का ध्यान होता है, उसको स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। उसको शुद्ध उपयोग कहते हैं। समझ में आया ?

यहाँ अब 'दौलतरामजी' छठवीं ढाल में स्वरूपाचरण (चारित्र का स्वरूप कहते हैं)। आत्मा शुद्धस्वरूप (है), उसका आचरण, समझ में आया ? स्वरूपाचरण शब्द पड़ा है न ? '**स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग)**'। सम्यग्दर्शन आत्मा के ज्ञान बिना पंच महाव्रत का परिणाम हो, अट्ठाईस मूलगुण का परिणाम हो, सब शुभ हैं, सब दुःखरूप हैं। समझ में आया ? आत्मा का अन्दर चैतन्य स्वभाव शुद्ध आनन्दकन्द स्वरूप अनादि अनन्त सर्वज्ञ परमेश्वर ने त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जिसे आत्मा कहा, वह आत्मा शरीर, वाणी तो नहीं, पुण्य-पाप भी आत्मा नहीं, एक समय की वर्तमान प्रगट अवस्था भी निश्चय आत्मा नहीं। एक समय का ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकासरूप भाव जितना भी निश्चय आत्मा नहीं, वह व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा अभूतार्थ है, सच्चा आत्मा नहीं। आहा..हा... ! कठिन बात, भाई ! क्या

बराबर ? इतना सूक्ष्म है, फिर भी बराबर ? बराबर है।

शरीर, वाणी जड़ (है), वह तो आत्मा नहीं। कर्म अन्दर है, वह आत्मा नहीं। शुभ-अशुभभाव आत्मा नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। ये शरीर, वाणी, कर्म तो जड़तत्त्व है। अब आत्मा रहा। उसमें दो भाग। एक वर्तमान ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकासरूप क्षयोपशम विकासभाव, वह तो व्यवहार आत्मा है, एक समय की पर्याय व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा का अर्थ क्या ? वह अभूतार्थ आत्मा है। त्रिकाल एकस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द आदि अनन्त गुण का पिंड, शुद्धस्वरूप ध्रुव, वह भूतार्थ आत्मा, सच्चा आत्मा (है)। उसका सच्चा स्वरूप भूतार्थ शुद्ध त्रिकाल, उसका नाम सच्चा स्वरूप है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! समझ में आया ? यह तो सादी हिन्दी भाषा है, इस में कोई ऐसी (कठिन) नहीं है, गुजरातीवाले कहे कि, हमें समझ में नहीं आती, वह बात बैठती नहीं। भाई ! इतनी सादी (है)। (ये मुमुक्षु) बोलते हैं-ऐसी हिन्दी हमको नहीं आती। ए..ई.. ! तुम्हारी भाषा हमको आती है ? यह तो सादी सरल गुजराती जैसी (है)।

भगवान आत्मा.. ! यहाँ तो सीधी बात, सरल बात है। आहा..हा... ! प्रभु ! तुझे आत्मा कहा, आत्मा कहा। वह आत्मा क्या चीज है ? आत्मा क्या चीज है ? आत्मा कौन है ? तो कहते हैं, शुद्धस्वरूप आचरण। यह स्वरूप की व्याख्या चलती है। स्वरूप तो एक सैकण्ड के असंख्य भाग में ध्रुव वस्तु, ध्रुव सामान्य अखंडानन्द ज्ञायक वह स्वरूप, वह वस्तु-वह निश्चय आत्मा, वह भूतार्थ चीज, अस्तिरूप चीज, त्रिकाली रहनेवाला भगवान-उसका नाम यहाँ स्वरूप कहने में आता है। भाई ! उस स्वरूप का आचरण। समझ में आया ?

ऐसा जो स्वरूप, उसमें आचरण-एकाकार होना, एकाग्र होना उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र (है)। उसका दूसरा अर्थ-शुद्ध उपयोग। उसका दूसरा अर्थ-स्वरूप का आचरणरूप पर्याय, उसको शुद्ध उपयोग कहा। यह शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण और धर्म है। भाई ! यहाँ तो दुनिया ने कहाँ का कहाँ मान रखा है। देह की क्रिया, शुभभाव ऐसा हुआ, पंच महाव्रत ऐसा (लिया), अरे... ! भगवान ! वह तो राग है। विकल्प है, देह तो जड़ है।

भगवान आत्मा... एक सैकण्ड के असंख्य भाग में वस्तु... वस्तु.. जिसमें अनन्त अनन्त

केवलज्ञान-जिसके गुण में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान पड़ा है। जिसके दर्शन में अनन्त अनन्त केवलदर्शन (है), अनन्त-अनन्त जिसके दर्शन में अन्दर पड़ा है, जिसके अन्दर में अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द पड़ा है। जिसके वीर्य में अनन्त-अनन्त वीर्य चतुष्ट प्रगट होता है, ऐसा अनन्त वीर्य जिसमें पड़ा है। जिसमें स्वच्छता की अनन्त पूर्ण पर्याय प्रगट हो, ऐसी स्वच्छता की अनन्त-अनन्त पर्याय जिसके स्वच्छता के गुण में पड़ी है। समझ में आया ? जिसके स्वरूप में-वस्तु में परमेश्वरता-प्रभुता, परमेश्वरता जो एक समय में परमेश्वरपना प्रगट होता है, एक समय में केवलदर्शन आदि परमेश्वरता (प्रगट होती है), ऐसी परमेश्वरता, अनन्त परमेश्वरता-एक प्रभुता नाम के गुण में अनन्त परमेश्वरता अन्दर पड़ी है। सेठिया ! समझ में आया ?

अर्थात् दूसरा बोल कहें तो आत्मा में एक स्वसंवेदन प्रकाश नाम का गुण है। आत्मा में एक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना-ऐसा अनादि अनन्त गुण है। इस गुण में आत्मा का, पुण्य-पाप के रागरहित, स्वरूप की शुद्ध उपयोग की रमणता-स्वसंवेदन होना, ऐसा-ऐसा स्वसंवेदन सादि आनन्त जो शान्ति का वेदन, अनन्त-अनन्त पर्याय में होता है, ऐसी अनन्त पर्याय एक प्रकाश नाम के गुण में अनन्त स्वसंवेदन पड़ा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा भगवान.. ये तो चार-पाँच बोल कहे, ऐसे तो अनन्त गुण हैं।

ऐसा अनन्त गुण का पिंड प्रभु, जिसको भूतार्थ आत्मा, अस्तिरूप आत्मा, सच्चा आत्मा, सत्य आत्मा प्रभु आत्मा, पूर्ण आत्मा का अन्दर आचरण करना, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र, शुद्धोपयोग है (वह) चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है। समझ में आया ? ऐसा अनुभव सम्यग्दृष्टि-चौथे गुणस्थान से जब पहला अनुभव सम्यग्दर्शन होता है, तब से होता है। बाद में कभी-कभी, लंबे काल के बाद स्वरूपाचरण का शुद्धोपयग का ध्यान चौथे गुणस्थान में बहुत लंबे काल में आता है। पंचम गुणस्थान में उसे थोड़े काल में और बहुत टिकना, उपयोग में बहुत टिकना (होता है) और थोड़े-थोड़े काल में आता है। मुनियों को तो, जिनको आत्मज्ञान और आत्मदर्शनसहित चारित्र प्रगट हुआ है, ऐसे मुनियों को तो बारम्बार, एक दिन में हजारों बार स्वरूपाचरण-शुद्धोपयोग आता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सच्चा मुनिपना.. सच्चा सम्यग्दर्शन और सच्चा श्रावकपना और सच्चा मुनिपना, तीनों में

सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरण शुद्धोपयोग कभी-कभी आता है। पंचम गुणस्थान (में) सच्चा श्रावक हो, उसको स्वरूपाचरणचारित्र का शुद्ध उपयोग बहुत अल्प काल में बहुत टिकता है। मुनि को तो प्रतिक्षण, भगवान जिसको सच्चे मुनि कहते हैं, ऐसे मुनि को तो स्वरूपाचरण उपयोग क्षण-क्षण में आता है। क्षण में अन्दर आनन्दकन्द में झूक जाये। दूसरे क्षण विकल्प उठे, तीसरे क्षण में शुद्ध उपयोग में रम जाये। ऐसा शुद्धोपयोग का आचरण चौथे, पाँचवे, छठवें और सातवें (गुणस्थान में) इसप्रकार का होता है। भाई ! आहा..हा... ! अब उसकी आठवीं गाथा, देखो !

'दौलतरामजी' कृता सादी हिन्दी भाषा में, प्रचलित हिन्दी भाषा (में) 'छहढाला' उसकी छठवीं ढाल का आठवां श्लोक है। उसके पहले शब्द का अर्थ किया।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया।
निजमांहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

पहले सातवीं गाथा में आ गया है। सातवें में आया था न ? उसमें से आता है। '**सुनिये स्वरूपाचरण अब**' उसकी अन्तिम पंक्ति। '**जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' है ? भैया ? आठवीं के पहले सातवीं (की) पंक्ति है। 'दौलतरामजी' पंडित थे, दिगम्बर पंडित (थे)। आत्मा के बहुत यथार्थ ज्ञानवाले थे। समझ में आया ?

कहते हैं कि, '**सुनिये स्वरूपाचरण अब। जिस होत प्रगटै अपनी निधि...**' भगवान आत्मा निधि, अनन्त आनन्द की निधि है। आहा..हा... ! अनन्त अनन्त स्वरूप सम्पदा का प्रभु भगवान आत्मा स्वामी है। इस धूल का (स्वामी) नहीं। यथार्थ में आत्मा पुण्य-पाप का भी स्वामी नहीं। पुण्य-पाप का भाव, समझे ? भाव का भी स्वामी नहीं। वह वस्तु विकार है। भगवान आत्मा एक सैकण्ड के असंख्य भाग में.. कहते हैं, अपने स्वरूप पर दृष्टि देने से शुद्ध आचरण में एकाकार होने से '**प्रगटै आपनी निधि...**' निधि तो है। पहले कहा ऐसा आत्मा

निधान है। समझ में आया ?

जैसे छोटी पीपर में चौसठ पहरी चरपराई तो भरी है। चरपराई, छोटी पीपर होती है न ? समझ में आया ? उस छोटी पीपर को चौसठ पहर घोंटे, है तो चौसठ पहरी चरपराई प्रगट होती है। कहाँ से आयी ? पत्थर को घोंटने से आयी ? पत्थर घिसने से आती हो तो कोयला, कंकर घिसने से आनी चाहिए। उसमें है, पीपर में चौसठ पहोरी (चरपराई है)। चौसठ समझे न ? सोलह आना। अब सोलह आने का एक रूपया हो गया। अभी तक तो चौसठ पैसा था न ? सोलह आना। अब तो सौ हो गये। ऐसी सोलह आनी पीपर में चरपराई पड़ी है, हरा रंग पड़ा है, मुलायमपना पड़ा है, ऐसी अनेक शक्तियाँ एक पीपर के दाने में शक्तिरूप निधान पड़ा है। उसको प्रगट करना, पर्याय में प्रगट करना, वह उसका कार्य है।

ऐसे भगवान आत्मा (में) एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द, ज्ञानादि निधि पड़ी है। जिसको एकाग्र होकर अपना कारण प्रभु, वस्तुस्वरूप जो ध्रुव है, उस स्वरूप में एकाग्र होकर शुद्ध उपयोग के आचरण द्वारा अन्तर की निधि को वर्तमान अवस्था में खोल देना, प्रगट करना, उसका नाम यहाँ शुद्ध उपयोग कहते हैं। आहा..हा...! वह गाथा ली है। 'छहढाला' है, आप के घर ? घर पर होगी। पैसे हैं तो पुस्तक तो होंगे ही। समझ में आया ? आहा..हा...!

'जिस होत प्रगटै आपनी निधि...' उसका अर्थ क्या किया ? कि, शरीर, वाणी प्रगटे वह कोई अपनी निधि नहीं है। पैसा-बैसा मिले, वह अपनी निधि नहीं। पुण्य-पाप का भाव प्रगट हुआ, वह अपनी निधि नहीं। अपनी निधि भगवान आत्मा अनन्त अनन्त अनन्त बेहद ज्ञान, जिसके स्वभाव की मर्यादा क्या ? जिसका स्वाभाविक ज्ञान, जिसका स्वाभाविक आनन्द, उसकी मर्यादा क्या ? बेहद आनन्द और बेहद अपरिमित ज्ञानादि आत्मा में पड़ा है, वह अपनी निधि है। अन्तर में एकाग्रता होने से वह निधि प्रगट होती है। इस कारण से प्रगटे। शुभभाव से या अशुभभाव से या देह की क्रिया से अपनी निधि कभी प्रगट होती नहीं। समझ में आया ? पहले श्रद्धा (में) तो निर्णय करे। श्रद्धा का पंथ (तो निश्चित करे कि), यही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग है नहीं। आहा..हा...!

कहते हैं कि, भगवान आत्मा, अपनी निधि अपने अन्तर में एकाग्रता होने से प्रगट होती है।

पुण्य के विकल्प से, निमित्त से, व्यवहार से अपने स्वरूप की निधि प्रगट नहीं होती, ऐसा यहाँ कह दिया, भाई ! व्यवहार से प्रगट नहीं होती, उसमें कह दिया ? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप आदि अथवा व्यवहाररत्नत्रय देव-गुरु की श्रद्धा, नौं तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा और शास्त्र का ज्ञान का व्यवहार आता है, परन्तु उस व्यवहार से अपनी निधि प्रगट होती है, ऐसा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या लिखा है ? देखो !

'दौलतरामजी' लिखते हैं, भैया ! है ? लिखते हैं या नहीं ? आप को तो बहुत कंठस्थ है। देखो ! '**जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' भाई ! पर की प्रवृत्ति का अर्थ-यह शुभरागादि है, वह परप्रवृत्ति है, अपना स्वरूप नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? अरे.. ! वस्तु कैसी है ? और कैसे प्राप्त हो ? उसके निर्णय का भी ठिकाना नहीं, उसको धर्म कहाँ से होता है ? भाई ! है न ? उनको पूरी कंठस्थ है। पूरी 'छहढाला' कंठस्थ है। उनके कहने पर यह पढ़ना शूरू किया है। उन्होंने बहुत पुस्तक दिये हैं। व्याख्यान हो गये हैं, उनकी ओर से छपवाना है। समझ में आया ? आहा..हा... !

भगवान भगवान.. आत्मा को कहते हैं, हे आत्मा ! तेरा स्वरूप आन्द शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, वह तो अन्तर की स्वसन्मुख की-स्वस्वभाव सन्मुखता की शुद्ध आचरणरूप, शुद्ध उपयोगरूप एकाग्रता द्वारा ही अपनी निधि प्रगट होती है। दूसरे कोई आचरण से अपने स्वरूप की निधि, शक्ति की व्यक्तता, सामर्थ्य की प्रगटता (नहीं होती)। तत्त्व का सत्त्व जो अन्दर स्वरूप है, उसका बाहर आना, वह अन्तर से एकाग्रता हुए बिना, कभी निधि बाहर प्रगट होती नहीं। कहो समझ में आता है या नहीं ? उसमें है या नहीं ? यह 'छहढाला' है 'छहढाला' ली है या नहीं ? ये तो सादी हिन्दी भाषा है। सातवीं का सुना ?

'**सुनिये**' ऐसा कहते हैं। 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सुनो ! क्या ? '**स्वरूपाचरन अब।**' क्या ? '**जिस होत...**' जिस स्वरूपाचरण के होनेपर, होते हुए '**प्रगटै आपनी निधि...**' क्या (कहा) ? '**मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' अस्ति-नास्ति की। अनेकान्त कर दिया। समझ में आया ? भगवान आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द की शक्ति का स्वामी पूर्णानन्द है, उस ओर की अन्तर एकाग्रता (करने से) निधि प्रगट होती है और विकल्प आदि परप्रवृत्ति है, वह उससे रुक जाती है, उससे रुक जाती है, रहती नहीं। स्वरूप की अन्तर एकाग्रता से निधि प्रगट होती है।

इससे शुभाशुभपरिणाम जो हैं, वह प्रवृत्ति रुक जाती है। आहा..हा..! यह मूल चीज है।

वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए, वाणी की ध्वनि निकली। सौ इन्द्र की उपस्थिति में दिव्यध्वनि समवसरण में निकली। अनन्त तीर्थंकर हुए, वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' भगवान बिराजमान हैं। बीस विहरमान बिराजमान हैं। 'धोरी धर्म प्रवर्तका।' हमारे पण्डितजी ने रखा है न ? 'धोरी' धर्म के बड़े धोरी। 'धर्म प्रवर्तका।' समवसरण स्तुति है न ? समवसरण स्तुति में है। समझ में आया ? ऐसे भगवान की वाणी में ऐसा आया है, अनन्त तीर्थंकरों की वाणी में ऐसा आया था, अनन्त तीर्थंकर हुए उसमें ऐसा आया।

'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सुनिये ! भगवान ऐसा कहते हैं, वह बात हम कहते हैं। अनन्त सन्तों अनन्तकाल से परमात्मा, संत वीतरागी मुनियों, केवलज्ञानियों, तीर्थंकरो, अरे..! सम्यग्दृष्टि भी यही बात अनादि से कहते आये हैं। **'मिटै पर की प्रवृत्ति...'** शुभराग (की) प्रवृत्ति पर की है, वह अपनी नहीं। आहा..हा...! 'निरखे ध्रुव की तारी'-ऐसा आता है, 'आनन्दघनजी' में आता है। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हुए हैं। 'आनन्दघनजी' हुए हैं। (वे कहते हैं), अन्तर में एकाग्र होते हैं तो 'निरखे ध्रुव की तारी' यह आत्मा ध्रुव है न ? वह तारे के समान है। उसको अन्तर एकाग्र हो तो निरखते हैं, ऐसा कहते हैं। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हुए हैं। मस्त अध्यात्म था, जंगल में रहते थे। बाद में संप्रदाय में छोड़ दिया। लेकिन दुनिया के साथ तो मेल होता नहीं, लेकिन कुछएक बात उन्होंने कही है। बाकी संपूर्ण यथार्थ बात दिगम्बर संतों, 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचंद्राचार्य' आदि संतों ने जो बात कही-ऐसी बात कहीं तीनकाल में और जगह नहीं। समझ में आया ? सनातन सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त वीतराग के पंथ में चलनेवाले महा दिगम्बर आत्मध्यानी-ज्ञानी मुनियों, 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य', 'समंतभद्राचार्य', 'पूज्यपादस्वमी', 'नेमिचंद्र सिद्धान्त - चक्रवर्ती' आदि महा धर्म के धोरी, धर्म वे स्तंभ, धर्म के बड़े स्तंभ, जिन्होंने धर्म क्या है उसे दुनिया को कहकर धर्म को टिकाये रखा है। समझ में आया ? वह बात यहाँ परम्परा से आयी, वह 'दौलतरामजी' कहते हैं।

अब, यहाँ कहा, देखो ! **'जिन परम पैनी...'** भाई ! देखो ! कोई कहते हैं कि, ऐसा शुद्ध

आचरण तो चौथे गुणस्थान में नहीं होता। वह तो आठवें गुणस्थान में होता है, ऐसा कहते हैं। वह बात को समझते नहीं। भाई ! तुझे मालूम नहीं, प्रभु ! पहले ही चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के काल में ऐसा स्वरूप 'समयसार' में वर्णन किया है, ऐसी ही स्वरूप 'समयसार' में वर्णन किया है, वह बात करते हैं। 'टोडरमलजी' ने भी उनकी चिठ्ठी में लिखा है, वही बात यहाँ लिखी है। 'टोडरमलजी' की चिठ्ठी है न ? 'रहस्यपूर्ण चिठ्ठी' में भी वही बात लिखी है। सविकल्पी, निर्विकल्प ध्यान करते समय क्या होता है ? तो कहते हैं कि, वह अनुभव चौथे गुणस्थान से होता है। ऐसा उसमें (लिखा है)। और 'समयसार' में वही बात पहले से ली है। परन्तु मुनि थे, मुनि की भूमिका से बात की है। बाकी प्रथम में प्रथम, भगवान आत्मा शुद्ध उपयोगरूप आचरण में ही सम्यग्दर्शन का भान होता है। आहा..हा... ! ये उसकी बात करते हैं।

'**जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;**' देखो ! अन्दर है, फोटो है ? अन्दर आत्मा, छैनी मारता है, छैनी। ऐसा चित्र बनाया है। भैया ! है उसके पास ? यहाँ है, देखो ! आठवाँ श्लोक है न ? किसका ? 'छहढाला'। यहाँ है। चित्र बनाया है। क्या ? '**जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अनत्र भेदिया;**' क्या कहते हैं ? भाई ! इसमें तो जिन अर्थात् यह लिखा है, परन्तु इसमें साधक जीव लिखा है। साधक ध्यान करते हैं तब, ऐसे लिखा है। देखो ! छठवीं ढाल, आठवीं गाथा। अन्दर लिखा है, समझे ?

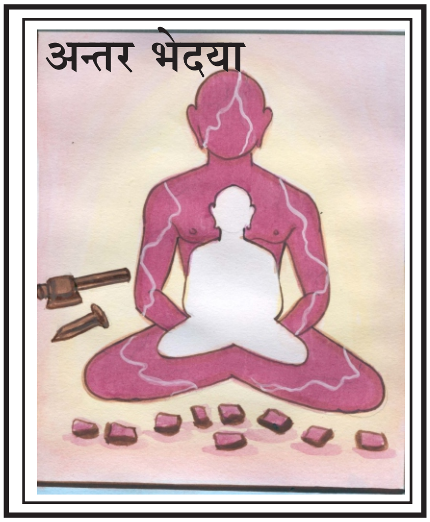

भावार्थ में लिखा है, 'जिस समय कोई साधक...' साधक शब्द सामान्य लिखा है। 'जिस समय कोई साधक ध्यान का अवलम्बन लेकर भेदज्ञान के द्वारा अनादिकाल से लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से अपने आत्मा को भिन्न समझ लेता है...' यहाँ सामान्य व्याख्या कर दी है। साधक अर्थात् सम्यग्दर्शन से लेकर सभी साधकजीव बारहवें गुणस्थान तक हैं। लेकिन नीचे धर्मध्यान की बात-अन्दर एकाग्र होते हैं, उसकी बात यहाँ मुख्यरूप से है।

'जो कोई साधक..' जिन की व्याख्या है न ? जिन

अर्थात् जो। मूल में तो जो है। 'जो कोई अत्यंत तीक्ष्ण सम्यग्ज्ञान, भेदज्ञानरूपी छैनी...' देखो ! अन्तर में छैनी मारते हैं। देखो ! अन्दर छैनी है। ये छैनी। बताते हैं। आत्मा चैतन्यरूप शुद्ध आनन्दकन्द (है) और पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, (उन दोनों के) बीच में भेदज्ञानरूपी छैनी मारते हैं। है उसमें ? भैया ! यह नहीं होगा। चित्र है ? नहीं। देखो ! पहले वह बात निश्चित तो करनी पडेगी या नहीं ? निश्चित किये बिना उसका उपयोग, उसका कार्य कैसे कर सकते हैं ?

कहते हैं, भगवान आत्मा, चिद्घन आत्मा देहदेवालय में प्रभु शुद्ध घन, आनन्दकन्द पड़ा है और पुण्य-पाप का राग.. देखो ! भेदज्ञानरूपी छैनी द्वारा पटककर... (फूटनोट में लिखा है), **'जिस प्रकार छैनी लोहे को काटकर दो टूकड़े कर देती है, उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है ।'** अन्दर एकाग्रता होकर, भेदज्ञान कहो, शुद्ध उपयोग कहो, स्वरूपाचरण कहो, स्वरूप की एकाग्रता कहो। पटटकर अन्तरंग में भेद करके... अन्तर में भेद किसके साथ (करना) ? वह कहेंगे। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को, निज भाव को-यह शब्द पड़ा है-निज भाव को। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूपी निज स्वभाव सत्त्वरूप भाव, जो तीनों काल नित्य रहता है, ऐसा निज आत्मा का भाव। ज्ञायक, दर्शन, आनन्द, शान्ति आदि त्रिकाल ज्ञायक निज भाव, ऐसा जो आत्मा, उसमें वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूप द्रव्यकर्म उससे अन्तर भेदज्ञान करते हैं। देखो यह क्रिया ! यह धार्मिक क्रिया। आहा..हा... !

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूपी द्रव्यकर्म-जड़कर्म और राग-द्वेषादि भावकर्म। शुभ-अशुभ विकल्प जो राग-द्वेष उठते हैं, उसमें तो छैनी मार दी। शरीर, वाणी, कर्म तो नहीं, शुभ-अशुभभाव मैं नहीं, मेरे निज भाव से वे भिन्न हैं। ऐसे निज भाव का अन्तर लक्ष्य करके, विभाव और जड़कर्म है, उसके अन्तर में, भेद में, भेदज्ञानरूपी छैनी मारी। समझ में आया ? राग-द्वेषादि भावकर्म से भिन्न करके, भिन्न करके। वर्णादि, रागादि यह 'समयसार' का श्लोक है।

'अमृतचंद्राचार्य' महाराज। भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर संत (हुए)। उनके बाद ११०० वर्ष बाद 'अमृतचंद्राचार्य' दिगम्बर वनवासी जंगल में रहनेवाले मुनि (हुए)। उन्होंने टीक बनाई। उनका श्लोक है। समझ में आया ? श्लोक है न ?

भाई ! उसका यह है। कौन-सा श्लोक है ? अजीव अधिकार। ३७वाँ श्लोक है। उसमें से लिया है, घर की बात नहीं की है। ३७ वाँ श्लोक है, देखो !'अमृतचंद्राचार्य' कहते हैं, देखो !

वर्णाद्या या रागमोहादया वा

भिन्ना भावा: सर्व एवास्य पुंस:

'पुंस:' अर्थात् आत्मा पुरुष। भगवान चिदानन्द प्रभु-पुरुष आत्मा। देखो ! '**वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक भाव कहे वे सब इस पुरुष से (आत्मा से) भिन्न है ते...**'

तेनैवान्तस्ततत्त्वत: पश्यतोऽमी

नो दृष्टा: स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।।३७।।

'**अंतर्दृष्टि द्वारा...**' भगवान आत्मा का अवलोकन करनेवाले जीव से, सम्यग्दृष्टि के अन्तर अवलोकन में '**ये सब दिखते नहीं...**' विकार, पुण्य-पाप, शरीर, अपना निज स्वरूप दिखते नहीं है। आहा..हा..! उसी श्लोक का अर्थ लिया है, भाई ! ३७ श्लोक, 'समयसार'। '**वर्णाद्या या रागमोहादया वा**' भिन्न है, अन्तर भेदकर। भिन्न है। न्यारा किया। भिन्न करके। अरे..! जगत की चीज। लापसी जैसी चीज.. लापसी कहते हैं ? क्या कहते हैं ? लापसी कहते हैं। लापसी बनाते हैं, नयी कन्या हो तो उसकी माँ कैसे बनाती है, वह ध्यान रखती है। गेहूँ की लापसी बनाते हैं। कैसे बनाती है वह ध्यान रखे। बाद में आटे में बेलन घुमाते हैं। आटे का गट्ठा नहीं बन जाये। कड़क न हो जाये इसलिये। नहीं तो आटा उपर से पके और अन्दर में सफेद रह जाये तो लापसी बराबर अच्छी होती नहीं। तो वह ठीक से ऐसे-ऐसे हिलाये। लड़की देखे कि माँ कैसे करती है ? समझ में आया ? ऐसे ही नहीं गरम होने देते। ऐसे ही करने लगे तो गट्ठे हो जाये और अन्दर आटा कच्चा रह जाये। ऐसे ठीक से हिलाये। ये तो लोग करे वह देखा है, हमने कुछ किया नहीं। लोग करते हैं, उसे देखा है, ऐसे करते हैं। ऐसे हिलाये कि कोई भी कच्चा भाग रह नहीं जाये, सब पक्का हो जाये। नहीं तो कच्चा रह जाये।

ऐसे भगवान आत्मा..! (माता) कैसे करती है तो लड़की ध्यान रखती है, वैसे संतोंने, ज्ञानियों ने जैसे किया और जेसा कहा, उसका ध्यान कर। उसमें एकाग्रता होती है तो ऐसी एकाग्रता होती है, उसका लक्ष्य करना चाहिए। उसका ज्ञान पहले उस प्रकार करना चाहिए।

आहा..हा... ! यहाँ ध्यान रखते हैं या नहीं ? ध्यान रखो।

मुमुक्षु :- वह तो सब एकान्त में होता है।

उत्तर :- कहते हैं कि, एकान्त में नहीं। हम कहते हैं कि, ऐसा हुआ है, ऐसा तुम को कहते हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। दूसरे का काम कौन-सी आँख से देखते हैं ? परन्तु यहाँ कैसे होता है, उसकी विधि क्या है ? वह विधि कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. !

कहते हैं, अपने को भिन्न करके। पहले श्रद्धा में तो लिया हो कि, शुभ-अशुभभाव मेरे आत्मा का लाभकर्ता नहीं। देहादि जड़ की क्रिया मेरे लाभ की कर्ता नहीं। मेरे लाभ की चीज तो मेरी चिदानन्द निधि है। उसमें एकाग्र होऊँ तो अन्तर में भेदज्ञान हुआ। भेदज्ञान सिद्धा। '**भेदविज्ञानत: सिद्ध: सिध्धा ये किल केचन।**' वह भी 'संवर अधिकार' का 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का श्लोक है। अभी तक जितने सिद्ध हुए...

भेदविज्ञानत: सिद्ध: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

अभी तक अनन्त संसार में जितने (जीव) मुक्त हुए, परमात्मा सिद्ध हुए (वे सब) भेदज्ञान से हुए हैं। पुण्य-पाप के भाव की क्रिया से अपना स्वरूप भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करते.. करते... करते... केवलज्ञान पाया है, सिद्ध हुए हैं। '**अस्यैभावतो बद्धा**' अभी तक निगोद से लेकर नौंवी ग्रैवेयक मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैन साधु होकर, 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' कहते हैं कि, द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु(ने) अपने स्वरूप और राग के बीच भेद किया नहीं, इस कारण से भेदज्ञान के अभाव से बँधा है। पर का भेद नहीं करके बँधा है और पर का भेद करने से बन्ध से छूट जाता है। एक ही उपाय है, दूसरा कोई है नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

ये 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज कहते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के बाद टीकाकार दिगम्बर संत हुए। (वे कहते हैं), अबतक जितनी संख्या में जीवों(ने) मुक्ति प्राप्त की, वे सब राग-पुण्य, दया, दान, शरीर की क्रिया भिन्न करते करते सम्यक् पाया, भिन्न करते-करते चारित्र पाया, भिन्न करते करते केवलज्ञान पाया; और जो कोई निगोद से लेकर जो जीव बँधे हैं, वहाँ

ऐसा नहीं कहा कि, कर्म के जोर से बँधा है। बहुत कर्म कठोर थे, इस कारण से बँधा है ? नहीं। आचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं है। राग, विकल्प और शरीर से भिन्न नहीं करता है, पर को एक मानता है, पर को एक मानता है, उस कारण से वह कर्म से बँधता है। आहा..हा...! समझ में आया ? दो सिद्धान्त कहे।

बन्धन और मुक्ति कैसे होती है ? बँधा तो पर से भिन्न किये बिना, पर को एकत्व मानकर अनादि से बँधा है। मुक्त हुए, वह राग और पर से भिन्न करके सब मुक्त हुए। सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक राग से, पर से भिन्न करते-करते, स्थिर होते-होते (मुक्त हुए)। पहले दृष्टि स्थिर हुई, बाद में स्थिर होते-होते पूर्ण स्थिर हो गये। पर से भिन्न करके केवलज्ञान को पाया है। उसमें क्या आया ? पहले कहा था वह। '**मिटै पर की प्रवृत्ति।**' राग बीच में आता है, उसके कारण से आगे बढ़ते हैं-ऐसा नहीं। राग से भी भिन्न करते.. करते.. करते.. करते... करते.. श्रेणी लगाकर केवलज्ञान पाया है। समझ में आया ?

कहते हैं, भिन्न करके, अपना स्वरूप पुण्य-पाप का भाव-रागादि और शरीरादि से, वर्ण आदि से भिन्न करके.. क्या कहते हैं ? अपने आत्मा में.. देखो ! अपने आत्मा में। देखो ! कर्ता-कर्म लगाते हैं, कारक लगाते हैं। अपने आत्मा में। अपने आत्मा का अर्थ शुद्ध चैतन्यमूर्ति-आपने आत्मा में। अपने लिये-संप्रदान आया न ? संप्रदान। अपने आत्मा में वह क्या ? अधिकरण, देखो ! '**निजमांहि..**' अपना शुद्धस्वरूप उसमें ही-यह आधार आया। राग का आधार नहीं, पुण्य का आधार नहीं, विकल्प का आधार नहीं। आहा..हा...!

'**निजमांहि निज के हेतु...**' (अर्थात्) अपने लिये। अपना भेद करके कोई दूसरे को देना है या पुण्यबन्ध हो जायेगा और बाद में स्वर्ग मिलेगा-ऐसा नहीं। अपने लिये, अपने लिये। भगवान शुद्धस्वरूप चैतन्य, पुण्य-पाप के राग से अन्तर में भिन्न करके, अपने आधार से, अपने में-राग में नहीं, अपने लिये, कोई पर के लिये थोड़ा बन्ध हो गया या पर का हित हो गया-ऐसा नहीं। आहा..हा...! भाई ! 'छहढाला' तो सबके हाथ में है लेकिन समझने की दरकार नहीं। उलटे रास्ते चढ़ जाये और माने कि हमें धर्म के रास्ते पर हैं। हमारा कल्याण हो जायेगा। जाना है पूर्व में और भागता है पश्चिम में। पूर्व की ओर जाना हो तो पश्चमि में जाये ? 'ढसा' है वहाँ,

'ढसा' आता है। 'भावनगर' नहीं आयेगा। एक ओर 'भावनगर' है और दूसरी ओर 'ढसा' है।

भगवान आत्मा निज भाव, शुद्धभाव सन्मुख अपने कारण से हो तो अपने निज भाव की प्राप्ति होती है। उससे विपरीत भाव जो रागादि है, उस ओर जायेगा तो मजदूरी होगी। समझ में आया ? अपने लिये। आ..हा... ! अपना काम करना है, भाई ! कोई दूसरे का काम नहीं है और दूसरे के लिये नहीं है। आहा..हा... ! कितनी धीरज, वीर्य में कितनी पर के ओर की विमुखता और उस वीर्य की स्वभाव सन्मुखता की सावधानी-ऐसा मार्ग है तो उसकी सीख तो पहले ले। डॉक्टरजी !

कहते हैं. अपने लिये, अपने द्वारा। देखो ! क्या कहते हैं ? करण लगाया, करण। कोई साधन होगा ? (कोई) कहता है कि, व्यवहार साधन तो है न ? नहीं। वह तो पहले अपना साधन किया हो तो राग को व्यवहार साधन का आरोप देते हैं। वह साधन नहीं है। भैया ! है या नहीं अन्दर ? देखो ! सब के पास पुस्तक तो है, देखो !

अपने द्वारा। अपना शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप के राग से अन्दर भेद करके, अपने में, अपने लिये, अपने द्वारा-आत्मा द्वारा-शुद्धस्वरूप द्वारा, राग द्वारा नहीं। विकल्प-शुभराग हो, उसके द्वारा नहीं, अपने द्वारा। कितना सिद्ध किया है ! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में, शुद्धउपयोग में प्राप्ति के काल में ऐसा होता है और बाद में भी जब-जब आत्मा का-शुद्ध उपयोग का ध्यान होता है (तब-तब) ऐसी स्थिति होती है, तबपर से भिन्न होता है, नहीं तो भिन्न होता नहीं। समझ में आया ?

अपने द्वारा इस आत्मा को। कर्म लिया न ? कर्म.. कर्म.. यह कार्य आया। आत्मा को-यह कार्य आया। अपना कार्य-आत्मा का कार्य। राग का नहीं, राग से नहीं, राग के आधार से नहीं, राग के कारण से नहीं। आहा..हा... ! अभी तो श्रद्धा में बैठे नहीं। उससे होता है, उससे होता है, उससे होता है-ऐसा माननेवाले की दृष्टि में तो मिथ्याभ्रम पड़ा है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने और सन्तों ने कहा मार्ग, उसी मार्ग की विधि 'छहढाला' में हिन्दी में गागर में सागर भर दिया है। समझ में आया ? अर्थ विचारना नहीं, शान्ति देखना नहीं..

अरे...! भगवान ! विवाद क्या करना उसमें ? अन्दर में विवाद का स्थान ही नहीं है। आहा..हा...!

आत्मा को-अपना कार्य पकड़ लिया। अन्तर में शुभाशुभराग से भिन्न आपको पकड़ लिया, आप को ग्रहण किया, आप को परिग्रह बनाया। आहा..! कल दोपहर को आया था न ? आत्मा को ही परिग्रह कहा। परिग्रह नाम पकड़ लिया-ये आत्मा ज्ञायकभाव। अपना अपने आत्मा को और स्वयं अपने से। अपने से, आत्मा से, राग से, पुण्य से, विकल्प से नहीं। आहा..हा...! (राग) हो, जब तक स्थिरता पूर्ण न हो तो हो, परन्तु वह साधन है और उससे आत्मा में स्थिरता होती है या शुद्ध उपयोग और आचरण, संवर, निर्जरा की वृद्धि होती है-ऐसा पर से, राग से है नहीं।

ऐसा अपने से ग्रहण करते हैं। अपने से अन्दर में ग्रहण करते हैं, एकाकार होते हैं, तब उसमें शुद्ध उपयोगरूपी आचरण प्रगट होता है। यह आचरण प्रगट हो, उसको शुद्ध उपयोग कहते हैं, उसको संवर और निर्जरा कहते हैं। समझ में आया ? उससे संवर, निर्जरा शुरू होती है। विशेष कहेंगे... (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

✽

भगवानकी वाणी श्रुत है-शास्त्र है । शास्त्र पौद्गलिक है जिससे वह ज्ञान नहीं, उपाधि है और इस श्रुतसे होने वाला ज्ञान - यह भी उपाधि है; क्योंकि श्रुतके लक्ष्यवाला वह ज्ञान पर-लक्ष्यीज्ञान है । पर-लक्ष्यीज्ञान स्वको नहीं जान सकता; अतः उसे भी श्रुतकी भांति उपाधि बतलाया है । जैसे सत्-शास्त्र सो ज्ञान नहीं, व्यर्थकी चीज है, उपाधि है, वैसे ही यह श्रुतसे हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, उपाधि है । आहा हा ! वीतरागकी क्या शैली है । परलक्ष्यी ज्ञानको भी श्रुत (शास्त्र) की भांति उपाधि कहते हैं । स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया द्वारा आत्मा अनुभूत होता है । भगवानकी वाणी द्वारा आत्मा अनुभूत नहीं होता । (परमागमसार-४६०)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल २, मंगलवार

दि. २२-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-८,९. प्रवचन नं. ५०

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' (है)। 'बुधजन' की 'छहढाला' थी, पहले 'बुधजन' ने 'छहढाला' बनाई थी, वह भी है, लेकिन उसका थोड़ा आधार लेकर 'दौलतरामजी' ने अपने से शास्त्र के न्याय से यह 'छहढाला' बनाई। उसकी छठवीं ढाला की आठवीं गाथा चलती है, आठवीं गाथा।

देखो ! वीतराग का मूल सन्देश यह है, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव का और सन्तों, 'सीमंधर' भगवान आदि तीर्थंकरों, मुनियों जो कोई आत्मध्यानी-ज्ञानी हो गये, उनका सन्देश-आदेश यह है कि, यह आत्मा... यहाँ स्वरूपाचरण चारित्र की बात चलती है। जिसको संवर, निर्जरा होती है और मोक्ष का उपाय जिसमें शुरू होता है, उसका क्या स्वरूप है, वह बात यहाँ स्वरूपाचरणचारित्र के कथन में करते हैं। समझ में आया ?

देह, वाणी, मन तो जड़ है, तो उसकी क्रिया या हिलने-चलने से या उसकी पर्याय से आत्मा को पुण्य-पाप और संवर, निर्जरा कभी होते नहीं। पर की पर्याय से पुण्य-पाप, संवर, निर्जरा होते नहीं। जड़ की पर्याय से क्या हो ? उसीप्रकार जड़कर्म से भी पुण्य-पाप और संवर, निर्जरा होते नहीं। अपनी पर्याय में जो शुभ और अशुभभाव विकार करते हैं, वह उपाधि-विभावभाव है, वह बन्ध का कारण है। उसका अभाव करने को स्वरूपदृष्टिपूर्वक स्वरूप का आचरण जो शुद्ध उपयोग है, वही मोक्ष का कारण अथवा संवर, निर्जरारूप है। अथवा यह शुद्ध उपयोग जो है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की-मोक्षमार्ग के जो तीन अवयव कहने में आते हैं, उन तीनों की एकता (उससे संवर, निर्जरा होते हैं)।

भगवान आत्मा एक समय में शुद्ध चैतन्य पिंड प्रभु (है), उसकी अन्तर में दृष्टि करके शुद्ध स्वरूप का अन्तर अनुभव करके, प्रतीत करना, उसका नाम मोक्षमार्ग का पहला तीन बोल-

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसका पहला अवयव सम्यग्दर्शन है। और आत्मा का अन्तर्मुख होकर ज्ञान करना वह मोक्षमार्ग का दूसरा-दुजा भाग अथवा दूसरा अवयव है और साथ में शुभ और अशुभ उपयोग अशुद्ध आचरण रहित स्वरूप में शुद्ध में एकाकार होकर स्वरूपाचरण करना, वह स्वरूपाचरण का शुद्ध उपयोगभाव है, वही संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! समझ में आया ? बीच में शुभभाव, निश्चय दृष्टि और अनुभव होनेपर भी, जब तक वीतरागभाव पूर्ण न हो, तब तक बीच में दया, दान, भक्ति, पूजा, प्रभावना, यात्रा (के) शुभभाव आये बिना रहते नहीं, परन्तु वह भाव पुण्यबन्ध का कारण है। अबन्धपरिणाम जो अबन्ध मोक्षमार्ग, वह तो आत्मा के अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान में शान्ति, एकाग्रता से होता है। पर के आश्रय से मोक्षमार्ग-स्वआश्रय(रूप) जो दशा (होती है), वह पर के आश्रय से होती नहीं। आहा..हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! जिसे आत्मा की शान्ति, स्वतंत्रता, सम्यग्दर्शन चाहिए उसकी बात है। अनादिकाल से नौंवे ग्रैवेयक तक गया परन्तु आत्मा चीज क्या है, उसका अन्तर में अनुभव क्या है ? उसका अनुभव उसने किया नहीं। अनुभव का अनुभव नहीं किया। आहा..हा... !

कहते हैं, पहले जब सम्यग्दर्शन होता है, तब शुद्ध उपयोग में होता है। सूक्ष्म बात है। चौथे गुणस्थान से जो मोक्षमार्ग का पहला भाग (है)। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नौं तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान शुभराग है, शुभ उपयोग है, उसको व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं। कब ? कि, अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उस शुभभाव को व्यवहार का आरोप देने में आता है। आहा.. ! समझ में आया ? बात अगम्य बात है। क्या कहते हैं ? देखो ! यहाँ तक कल आये थे। यहाँ तक आये हैं, देखो !

भगवान आत्मा '**निजमांहि...**' निजमांहि। तीन शब्द आये हैं, फिर से लेते हैं। '**निजमांहि...**' वस्तु भगवान ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य प्रभु, निजमांहि-अपने आत्मा में अपने लिये। अपने लिये संप्रदान है और अपने द्वारा। संप्रदान अर्थात् दान दिया। अपना शुद्ध स्वरूप अन्तर दृष्टि करके अपने में रखा। शुद्धभाव प्रगट करके अपने में रखा। अपने से लिया और अपने को दिया। समझ में आया ? अन्तर की यह बात समझे बिना कभी उसका छूटकारा तीनकाल में नहीं होगा।

चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द, ज्ञानादि गुणसंपन्न प्रभु, उसमें दृष्टि लगाकर, निजामांहि- अपना आधार (लेकर), वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. जैसे शीतल बर्फ की शिला है, उसमें रहने से शीतलता होती है। ऐसे भगवान आत्मा अकषाय वीतरागस्वरूप शीतल.. शीतल.. अरूपी चैतन्यशीला है। रूप कहते हैं, उसका रूप(ऐसा है)।

मुमुक्षु :- किसका ?

उत्तर :- आत्मा का अरूपी भाव है, अरूपी भी स्वरूप है। जैसे यह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श जैसा मिट्टी का स्वरूप है, वह रूपी स्वरूप है। भगवान आत्मा अरूपी भी स्वरूप है। अरूपी.. अरूपी अवस्तु नहीं है। आहा..हा..! अरूपी अर्थात् कुछ नहीं, ऐसा नहीं। उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है और पुण्य और पाप का रागभाव शुभाशुभ विकार होता है, वह विकार उसमें नहीं, द्रव्य में-वस्तु में नहीं (है)। वस्तु तो शीतल.. शीतल.. अकषाय वीतरागभावरूप से आनन्दकन्द में बिराजमान स्वतत्त्व है। अरूपी स्वरूप पूर्णानन्द से ठसाठस भरा है। आहा..हा...! चीज है या नहीं ? वस्तु है या अवस्तु है ? शरीर, वाणी, रजकण भिन्न जड़ मिट्टी है।

मुमुक्षु :- कब ?

उत्तर :- अभी। कब क्या ? अभी की बात चलती है। कर्म के रजकण जड़ मिट्टी-धूल भिन्न हैं। और अभी यहाँ पुण्य और पाप का शुभाशुभराग, एक क्षण का कृत्रिम विकृति विभावभाव है, उसके अलावा एक समय में भगवान आत्मा ज्ञान का पिंड, ज्ञान की भेली, आनन्द का रसकन्द, अनाकूल शान्ति अर्थात् चारित्र का पिंड आत्मा अन्दर में है। आहा..हा...! उसमांहि-उसमें अन्तर एकाकार होना। भैया ! पुस्तक लिया है कि नहीं ?

'**निजमांहि**...' निज अपने लिये। अन्तर स्वरूप में शुद्धता पुण्य-पाप का शुभाशुभभाव आचरण का लक्ष्य छोड़कर के भगवान आत्मा में-वस्तु में बिराजमान शीतल.. शीतल.. शान्त प्रभु (का अवलम्बन लेना)। 'शीतलनाथ' भगवान, 'शान्तिनाथ' भगवान, यह आत्मा (है)। शान्त वीतरागी पिंड प्रभु, अनादि-अनन्त ध्रुव सत् अरूपी कन्द रसकन्द, उसमें दृष्टि लगाना और अपने लिये (रखना)। जो दृष्टि लगाकर निर्मल दशा प्रगट हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान शान्ति को अपने

में रखना। कोई पुण्य-पाप हिस्सा ले जाये, ऐसा नहीं। आहा..हा... ! भाई ! कठिन बात, भाई ! पैसे में तो पुत्रादि सब हिस्सा ले जाये।

'**निजकर...**' अपने द्वारा, अपने द्वारा (अर्थात्) क्या कहते हैं ? छहढालाकार 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं कि, भगवान परमेश्वर का संदेश-आदेश (यह है कि), भगवान अपने द्वारा.. शुभाशुभ विकल्प उठते हैं उसके द्वारा नहीं, शरीर द्वारा नहीं, मन द्वारा नहीं, काया द्वारा नहीं, देव-गुरु-शास्त्र पर के द्वारा नहीं। निज-अपने द्वारा। निर्विकल्प शुद्ध भगवान आत्मा अपने शुद्धभाव द्वारा आत्मा को, अपने शुद्धस्वभाव को, यह कर्म (कारक हुआ)। स्वयं अपने से ग्रहण करता है। अन्दर में ग्रहण किया। अपने में, अपने से, अपने लिये, अपना कार्य शुद्ध स्वभाव का अन्दर करते हैं, वह अपनी धार्मिक क्रिया (है)। उसका नाम स्वरूप शुद्ध उपयोग, शुद्धाचरण वही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया ? देखोन ! यह तो 'छहढाला' में कहते हैं।

मुमुक्षु :- मूलनायक..

उत्तर :- मूलनायक ही यह है। भगवान को २५०० वर्ष हुए न ? 'सीमंधर' भगवान महाविहेद में बिराजते हैं। वर्तमान त्रिलोकनाथ बिराजते हैं। यहाँ बिराजमान (किये वह) तो स्थापना निक्षेप है। साक्षात् तीर्थंकरदेव महाविदेह में प्रभु (बिराजते हैं)। ५०० धनुष की देह (है)। अनन्त केवलज्ञान स्वदेह, शरीर ५०० धनुष (का है वह) परदेह, आयुष्य देह की एक करोड़ पूर्व की स्थिति, आत्मा की अनादि अनन्त स्थिति (है)। भगवान महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान समवसरण में बिराजमान वर्तमान हैं। समझ में आया ? हमने कहा न कि, भगवान बिराजते हैं, लेकिन यहाँ दूर है। दूर देश में भगवान बिराजते हैं। धर्मी के अन्तर में समीप में बिराजते हैं। आहा..हा... !

'सीमंधर'.. 'सीमंधर' सीम अर्थात् मर्यादा को धरनेवाले। 'सीमंधर' भगवान श्री 'सीमंधर' अर्थात् भगवान आत्मा 'सीमंधर' सीम (अर्थात्) अपनी मर्यादा। पुण्य-पाप विकार रहित की अपनी मर्यादा में भगवान आत्मा 'सीमंधर' अपना आत्मा बिराजता है, उसको ही परमार्थ से 'सीमंधर' कहते हैं। ये स्थापना (है)। भगवान भाव निक्षेप से वहाँ बिराजते हैं। समझ में आया ? 'दौलतरामजी' (छहढाला) में यह चलता है, देखो ! भगवान ! यहाँ तक तो

कल आया था।

यह बात अनन्त काल से की नहीं। वह बात कोई अपूर्व होती है या नहीं ? अनन्त काल में किया वही प्रकार हो तो कोई अपूर्व नहीं है। अपूर्व अर्थात् पूर्व में नहीं की हो ऐसी चीज हो तो अपूर्व कहते हैं। अनन्तबार पंच महाव्रत की बाह्य की क्रियाकांड तपस्या, महिना का उपवास (आदि तो) अनन्त अनन्त बार किया है। समझ में आया ? भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ अपना निज स्वभाव, उसमें एकाकार होकर निर्विकल्प शुद्ध उपयोग द्वारा आत्मा का अनुभव करना, उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र अथवा उसका नाम मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। आहा..हा... ! अब तीन बोल दूसरे लेंगे।

'गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान...' क्या कहते हैं ? ये ज्ञानादि गुण हैं। अन्दर ज्ञानादि, राग पुण्य-पाप नहीं। ज्ञान.. समझन.. समझन का पिंड वह ज्ञानगुण (है)। आत्मा गुण को धरनेवाला (है)। जैसे सुवर्ण-गुणी और पीलापन, चीकनापन गुण (है)। ऐसे भगवान आत्म ज्ञान, दर्शन, आनन्दगुण और आत्मा गुणी (है)। और ज्ञाता मैं जाननेवाला और ज्ञान का विषय। ज्ञान का विषय स्व। **'ज्ञान ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो।'** आहा..हा... ! भाई ! आहा..हा... ! (उनको) तो यह कंठस्थ है। कितने साल से कंठस्थ है, पूरी 'छहढाला' कंठस्थ है।

यह चौथे गुणस्थान से शुरू होता है, हाँ ! कोई ऐसा कहे कि, आठवें और सातवें (गुणस्थान की) बात है, ऐसा नहीं। प्रथम अनुभव के काल में निर्विकल्प स्वभाव की दृष्टि पहली जब होती है, तब आत्मा गुणी और ज्ञानगुण और मैं ज्ञान और मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे ज्ञान का विषय ज्ञेय, ऐसा भेद का विकल्प छूट जाता है। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! यह बात लोगों ने कहीं मान रखी है। वस्तु कहीं पर है और मार्ग और कहीं है।

भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर 'सीमंधर' प्रभु... 'कुन्दकुन्दाचार्य' वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। बाद में शास्त्र की रचना की। 'मद्रास' से ८० मील दूर 'वन्देवास' है। (उससे आगे) ५० मील (दूर) 'पौन्नूरहील' है। वहाँ रहते थे। गुफा (में) ध्यान में (रहते थे)। (वहाँ से) भगवान के पास गये थे, आठ दिन बाद आकर रचना की। वे सन्देश लाये तो नाम आया न ? 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं।' 'गौतम' गणधर के

बाद 'कुन्दकुन्दाचार्य' का नाम आया है। महान समर्थ धुरंधर आचार्य (हुए)। पंचम काल के तीर्थंकर जैसा का 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने किया है। समझ में आया ? और उसकी टीका करनेवाले 'अमृतचंद्राचार्य' उनके गणधर (है)। ऐसी टीका... ऐसी टीका भरतक्षेत्र में (और) नहीं। समझ में आया ? 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'पंचास्तिकाय' की टीका और 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के शास्त्र तो अलौकिक बात (है)। परन्तु उसको अन्तर में अपने लिये स्वाध्याय किये बिना उसका क्या रहस्य है उसका पता नहीं लगता। अनन्त काल से ग्यारह अंग भी पढ़ा है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, जब स्वरूपाचरण का शुद्ध उपयोग होता है... कोई कहे कि, शुद्ध उपयोग तो सातवें और आठवें में ही होता है। वह चारित्रसहित के शुद्ध उपयोग का वर्णन है। परन्तु शुद्ध उपयोग तो चौथे गुणस्थान (में) जब पहली अनुभव की दशा होती है, उस समय गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञेय चारों का भेद छूटकर अभेद दृष्टि अन्तर में होती है। शुद्ध उपयोगरूपी आचरण हुआ। भले तीन कषाय अबुद्धिपूर्वक है। अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का नाश होता है। तीन कषाय हैं। अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन। परन्तु अबुद्धिपूर्वक (है), ख्याल में नहीं (आता)। स्वरूप की ओर दृष्टि होने से भगवान आत्मा मैं ज्ञानगुण हूँ, यह गुणी है, उसका विषय द्रव्य-गुण-पर्याय है, इन सब का भेद विकल्प है। इस विकल्प को छोड़कर... देखो ! प्रभु ! '**कछु भेद न रह्यो।**' किंचित् मात्र भेद नहीं रहता। भाई ! है उसमें ?

'दीपचंदजी' साधर्मी हुए हैं, वे 'अनुभव प्रकाश' में कहते हैं। बडे अनुभवी, धर्म के महास्तंभ। साधर्मी हुए हैं। 'दीपचंदजी' गृहस्थाश्रम में (थे)। उन्होंने भी 'अनुभव प्रकाश' में चौथे गुणस्थान में अनुभव में शुद्ध उपयोग होता है, ऐसा उसमें लिखा है और ऐसा है। समझ में आया ? लेकिन सप्तम गुणस्थानवाले को शुद्ध उपयोग चारित्र विशिष्ट चारित्र सहित होता है और श्रेणी लगा दे तो शुक्लध्यान हो जात है। उसकी बात यहाँ कहेंगे। और नीचे चौथे, पाँचवे गुणस्थान में पहले अनुभवकाल में ऐसा शुद्ध उपयोग होता है, बाद में शुभ-अशुभ में आ जाते हैं और उसको शुद्ध उपयोग तो कभी कोई काल में होता है। यह शुद्ध उपयोग निरन्तर सम्यग्दृष्टि को और श्रावक पंचम (गुणस्थानवाले को) रहता नहीं, परन्तु अन्तर श्रद्धा शुद्ध ज्ञानानन्द मैं हूँ, ज्ञाता-दृष्टा (हूँ), इसके अलावा मेरी कोई चीज नहीं, ऐसी दृष्टि सदा जमी रहती है और शुद्ध

उपयोग जो यहाँ कहते हैं, वह कभी-कभी होता है। समझ में आया ?

कहते हैं, ज्ञान में, ज्ञाता में भेद नहीं, एकस्वरूप वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. भगवान महाप्रभु, महाप्रभु आत्मा, उसमें एकाकार दृष्टि होने से भेद न रहना, उसका नाम निर्विकल्प सम्यग्दर्शन के काल में शुद्ध उपयोग का आचरण प्रगट होता है। आहा..हा... ! सूक्ष्म पड़े लेकिन वस्तु तो यह है, भाई ! यह समझे बिना उसकी समझ में भी नहीं, श्रद्धा में भी नहीं (आये) तो अन्तर में प्रयोग कब करेगा ? समझ में आया ? भगवान आत्मा अन्तर्मुख में (है), ऐसी एकाग्रता हुए बिना उसको अनुभव सम्यक् नहीं होता। ऐसा ज्ञान, ऐसी श्रद्धा पहले पक्की किये बिना अन्तर अनुभव में प्रयोग में-प्रयत्न में नहीं लगेगा। समझ में आया ? उसका प्रयत्न तो बाहर में चालू रहेगा। ऐसा करूँ, ऐसा करूँ.. वह तो होता है, शुभभाव है। अशुभ से बचने को (होता है)। समझ में आया ? परन्तु शुभभाव भी बन्ध का कारण है और शुद्ध उपयोग ही अबन्ध परिणाम है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- यह सब समझना पडेगा न ?

उत्तर :- जिसे आत्मा का हित करना हो तो समझना। भटकना हो तो नहीं समझना। भटकना तो है ही, उसमें नया क्या है ? समझ में आया ? वह तो पहले कहा। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।' उसका अर्थ क्या हुआ ? कि अनन्तबार पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पाले, वह दु:खरूप था, ऐसा कहा। 'लेश सुख न पाया' ऐसे कहा, उसमें कहा। क्योंकि शुभराग की क्रिया, राग दु:खरूप है; सुखरूप नहीं। उससे भिन्न भगवान आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और एकाग्रता (हो), वही सुखरूप आनन्दरूप है। आहा..हा... ! डॉक्टरजी ! कठिन बात, भाई !

मुमुक्षु :- राग की क्रिया में सुख नहीं है ?

उत्तर :- राग की क्रिया में कितना सुख (है) ? संसारी कल्पना का दु:ख (है), भाई ! प्रभु तो आनन्दमय आत्मा है न ! तो आनन्द से ऊलटी शुभ-अशुभभाव की परिणति, वह तो दु:खरूप है। समझ में आया ? क्या ? अशुभभाव हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, कमाना, ब्याज कमाना, दुकान पर ध्यान रखना, वह सब भाव दु:खरूप अशुभ पाप (है) और

दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप का विकल्प शुभराग उठना, वह पुण्यरूप परिणान दुःखरूप भाव (है)। आहा..हा...! क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु है। उसकी उलटी पर्याय परलक्ष्यी शुभाशुभ हुई, वह आत्मा के आनन्द से विपरीत है। विपरीत है तो दुःखरूप है।

वह तो ७२ गाथा में आया है। अशुचि, विपरीत। 'समयसार' कर्ता-कर्म अधिकार (की) ७२ गाथा। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज प्रभु कहते हैं.. समझ में आया ? देखो ! वहाँ तो 'अमृतचंद्राचार्य' ऐसा कहते हैं, हे भगवान ! ऐसा कहते हैं, हाँ ! देखो ! पुण्य-पाप के भाव सेवाल (काई) की भाँति मैल है, ऐसा कहा है। सेवाल समझते हो ? काई.. काई.. सेवाल मैला है। सेवाल की भाँति पुण्य-पाप का विकल्प भाव है। **'सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं इसलिये वे अशुचि हैं..'** भगवान 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज ९०० साल पहले दिगम्बर संत मुनि महंत महात्मा धर्म के धोरी, धर्म के स्तंभ (हुए) उन्होंने अन्दर विकल्प से यह बात की, अरे...! आत्मा ! जैसे जल में काई है, वैसे भगवान आत्मा आनन्दकन्द में ये पुण्य-पाप के भाव काई-मैल समान हैं और वे दुःखरूप हैं, देखो ! अन्तिम में आया।

'आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये दुःख के कारण हैं;...' आस्रव आकुलता को उत्पन्न करनेवाला, उत्पन्न करनेवाला (है)।७२वीं गाथा है।

णादूँ आसवाणं असुचितं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तद्दो णियतिं कुणदि जीवो॥७२॥

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' का श्लोक है, उसकी टीका 'अमृचंद्राचार्य'ने की। कहते हैं कि, भगवान ! शुभ-अशुभभाव तो आकुलता को उत्पन्न करनेवाला है। आहा..हा...! आकुलता को उत्पन्न करनेवाला होने से दुःख का कारण है। **'और भगवान आत्मा...'** देखो ! 'भगवान' शब्द ही लिया है, हाँ ! टीका में लिया है। भगवान आत्मा अतिनिर्मल होने के कारण अत्यन्त शुचि-पवित्र है। भगवान आत्मा तो सदा निराकूल स्वभाव के कारण सुखरूप है, दुःख का कारण नहीं है। आहा..हा...! सेठिया ! आहा..हा...! समझ में आया ?

शुभ-अशुभभाव दोनों दुःखरूप हैं, आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं। उससे रहित भगवान आत्मा अनाकूल आनन्दस्वरूप दुःख का अकारण है अर्थात् सुख का कारण है। आत्मा

के आनन्द का, सुख का कारण तो आत्मा है। समझ में आया ? बात सुने नहीं, विचारे नहीं। क्या किसी से यह बात मिलती है ? देनेवाला है कोई ? तीर्थंकर भी किसी को दे सकते हैं ? समझाते हैं कि, भैया ! तेरी चीज तो ऐसी है। समझ में आया ?

यहाँ तो (कहा), (शुभाशुभभाव) दु:खरूप आकुलता का कारण (है)। शुभाशुभ परिणाम, शुभ हो या अशुभ हो.. जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह भाव भी आकुलता का कारण है। आहा..हा...! चिल्लाने लगते हैं। भगवान ! वह तो हमारे (संवत) १९८५ की साल में (चर्चा) चली थी। १९८५। कितने वर्ष हुए ? ३७ वर्ष हुए। ३० और ७-४० वर्ष में ३ कम। 'बोटाद' में व्याख्यान चलता था, उस समय तो हम सम्प्रदाय में थे। हजारों आदमी उस समय व्याख्यान में तो आते थे। नाम तो प्रतिष्ठित बहुत था न ! १९८५ की साल 'बोटाद' में बड़ी सभा (भरी थी)। बहुत मान था। सम्प्रदाय में बहुत मान था।

हमने ऐसा कहा कि,जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बँध होता नहीं, बँध जिससे होता है, वह धर्म नहीं। १९८५ की बात है। ३७ वर्ष हुए। ४० में ३ कम। सम्प्रदाय में (कहा था), समझे ? खलबली मच गई। लोगों में खलबली मच गई। सभा को हमारे प्रति प्रेम था न ! सभा तो शान्त बैठी थी, सब सुनते थे। लेकिन एक (जिसने) वेष पहना था, उनको खलबली हो गई। वोसरे.. वोसरे.. (बोलने लगे), यह धर्म वोसरे... वोसरे.. भैया ! सुन तो सही, प्रभु ! बन्धन जिससे हुआ, उस धर्म की पर्याय से बन्धन होता है ? धर्म की पर्याय से बन्धन होता है तो अबन्ध कैसे होता है ? बिलकुल ठीक है ? तीर्थंकर गोत्र का बँध प़ड़ता है न ? प्रकृति बँधती है न ? आत्मा की शान्ति, संवर, निर्जरा से बँध पड़ता है ? विकल्प है वह शुभ, लेकिन है आकुलता, है दु:ख, उसका तीर्थंकर गोत्र का बन्ध पड़ता है। आहा..हा...! चिल्लाने लगे। सुनो तो सही, भाई ! शान्ति से सुनो तो सही।

पंच महाव्रत का परिणाम भी आस्रव है। ये दो बात कही थी। उस समय, हाँ ! १९८५ की साल में। ४० वर्ष में ३ कम। खलबली (मच गई)। सम्प्रदाय में थे न। मार्ग ऐसा है, दूसरा कोई मार्ग है नहीं। मानो, न माने, आज मानो, कल मानो, दूसरा मार्ग तीनकाल में वीतरागमार्ग में है नहीं। देखो ! क्या कहते हैं ? देखो !

शुभभाव विकल्प उठता है, वह भी नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। वह शुभभाव तो दूसरा है, परन्तु आत्मा वस्तु है और उसमें आनन्दगुण है, उसमें ज्ञान है, यह ज्ञान तीनों को द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, ऐसा लक्ष्य में लेना वह भी एक शुभ विकल्प है। भेद से विकल्प उठता है (और) विकल्प आस्रव है। आहा..हा...! समझ में आया ? 'अनुभव प्रकाश' में भाई, शुभ उपयोग के तीन भेद लिये हैं। शुभ उपयोगके तीन भेद (लिये हैं)। 'दीपचंदजी' साधर्मी। 'दीपचंदजी' हुए न ? उन्होंने 'अनुभव प्रकाश' में तीन बोल लिये हैं कि, शुभ उपयोग के तीन भेद (हैं)। दया, दान, व्रत, का परिणाम शुभ। भक्ति का भाव शुभ। गुण-गुणी का भेद का विकल्प उठता है वह शुभ। 'अनुभव प्रकाश' में है। 'दीपचंदजी' कृत 'अनुभव प्रकाश'। हमारे पास यहाँ नहीं है, वहाँ है। उसमें है।

शुभ उपयोग के तीन भेद (१) दया, दान, व्रतादि का भाव, शुभपरिणाम है, शुभ उपयोग है। (२) भक्ति का भाव शुभ उपयोग है। और (३) गुण-गुणी का भेद करना, विकल्प उठना वह शुभ उपयोग है। आहा..हा...! ये बात यहाँ करते हैं।

मुमुक्षु :- कल दोपहर को आया था न ?

उत्तर :- हाँ, कल दोपहर को बहुत आया था। आहा..हा...! अरे..! भगवान ! यह तो वीतरागमार्ग है, प्रभु ! वीतरागमार्ग में, राग से लाभ होता है (ऐसा माने) तो वह वीतरागमार्ग ही नहीं। भाई ! आहा..हा..!

वीत-राग। रागरहित दृष्टि, रागरहित ज्ञान और रागरहित स्थिरता-चारित्र। उसका नाम सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकरों का वीतरागमार्ग है। पूर्ण न हो तो बीच में राग आता है, समझे ? वह पुण्यबन्ध का कारण है। अशुभ से बचने को आता है, परन्तु वह अबन्ध परिणाम नहीं, अबन्ध परिणाम नहीं। अबन्ध परिणाम अर्थात् अबन्ध-पूर्ण परिणामरूपी मुक्ति, उसका अबन्ध परिणामरूपी मोक्ष का मार्ग, अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से अबन्धपरिणाम उत्पन्न होता है। क्या कहा ?

अबन्ध के उपर तीन ली। सुनो। (१) अबन्ध नाम मुक्ति। बन्धरहित परिणाम पूर्ण मुक्ति। अबन्ध स्वभाव है न ? मुक्ति अर्थात् अबन्ध स्वभाव। बन्धरहित अर्थात् मुक्त स्वभाव। एक

बात। (२) उसका मार्ग। अबन्ध परिणाम मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अबन्धपरिणाम हैं। अबन्धपरिणाम से अबन्धपरिणामी मुक्ति होती है। (३) यह अबन्धपरिणआम, अबन्धस्वरूप जो मुक्त आत्मा भगवान वर्तमान मुक्त है। पुण्य-पाप, विकल्प, शरीर, कर्म से रहित मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा अभी है। शक्तिरूप से मुक्ति है। इस शक्तिरूप मुक्त का आश्रय करने से अबन्धपरिणाम उत्पन्न होता है। इस अबन्धपरिणाम से अबन्ध ऐसी मुक्ति प्राप्त होती है। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

तीनलोक के नाथ ऐसी बात अनन्तकाल से कहते आये हैं। 'एक होय तीनकाल में परमार्थ का पंथ।' भगवान वीतरागमार्ग में 'एक होय तीनकाल में परमार्थ का पंथ।' दो-तीन मार्ग होते नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'दौलतरामजी' वह कहते हैं, देखो ! एक तो अपने से, अपने में लिया और गुण-गुणी का भेद भी निकाल दिया। ऐसी अन्तर की दृष्टि करना, उसका नाम स्वरूपाचरण, स्वरूप उपयोग, शुद्ध उपयोग कहने में आता है। वही संवर, निर्जरारूप है और वही मुक्ति का कारण है। अब गाथा-९। आठवीं (गाथा का) सब अर्थ आ गया।

स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृगज्ञान-व्रत चे, तीनधा ऐकै लसा ॥९॥

अन्वयार्थ :- (जहाँ) जिस स्वरूपाचरणचारित्र मे (ध्यान) ध्यान, (ध्याता) ध्याता और (ध्येय को) ध्येय-इन तीन के (विकल्प) भेद (न) नहीं होता, तथा (वहाँ) जहाँ (वच) वचन का (भेद न) विकल्प नहीं होता, (तहाँ) वहाँ तो (चिद्भाव) आत्मा का स्वभाव ही (कर्म)

कर्म, (चिदेश) आत्मा ही (करता), कर्ता, (चेतना) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही (किरिया) क्रिया होता है - अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया-यह तीनों (अभिन्न) भेदरहित एक (अखिन्न) अखण्ड (बाधारहित) हो जाते हैं और (शुद्ध उपयोग की), शुद्ध उपयोग की (निश्चल) निश्चल (दशा) पर्याय (प्रगटी) प्रगट होती है; (जहाँ) जिसमें (दृग-ज्ञान-व्रत) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (ये तीनधा) यह तीनों (एक) एकरूप-अभेदरूप से (लसा) शोभायमान होते हैं।

भावार्थ :- वीतरागी मुनिराज, स्वरूपाचरण के समय जब आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं तब ध्यान, ध्याता और ध्येय ऐसे भेद नहीं रहते, वचन का विकल्प नहीं होता, वहाँ (आत्म ध्यान में) तो आत्मा ही *कर्म और आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव वह क्रिया होती है, अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया-ये तीनों बिलकुल अखण्ड अभिन्न हो जाते हैं और शुद्धोपयोग की अचल दशा प्रगट होती है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ-एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं ।।९।।

'**स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन।**' वर्णन करते हैं। नौंवाँ श्लोक, नौंवाँ श्लोक। सुनो तो सही, भैया ! ये मनुष्यदेह, उसमें वीतराग की सत्य बात सुनने भी न मिले तो वह प्रयोग में, रुचि में कब लायेगा ? समझ में आया ?

जहँ ध्यान ध्याया ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न अशुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृगज्ञान-व्रत ये, तीनधा ऐकै लसा ।।९।।

ओ..हो..हो...! गागर में सागर भर दियाहै। बहुत थोड़े शब्द में 'दौलतरामजी' ने भर दिया। परन्तु पढ़े कौन, विचारे (कौन) ? निवृत्ति नहीं, समय नहीं, समय नहीं है, भाई !

---

* कर्म (अर्थात्) कर्ता द्वारा हुआ कार्य। कर्ता (अर्थात्) स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता;, क्रिया (अर्थात्) कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।

मुमुक्षु :- गागर में सागर की बात...

उत्तर :- ना, ना। आता है, आता है। इसमें अर्थ में भी है, हाँ ! इसके अर्थ में भी है, कहीं है, देखो ! गागर में सागर शब्द है, मेरे घर का शब्द नहीं है, हाँ ! कहीं पर होगा, ऐ..ई..! 'अपनी कविता में सरल ललित शब्दों द्वारा गागर को सागर में भरने का प्रयत्न किया है।' वह पहले से आता है, नयी बात नहीं है। हम जो शब्द कहते हैं वह शब्द शास्त्र में सि निकाल देते हैं। यह तो (इन्होंने) लिखा है, लेकिन यह बात पहले से चली आयी है, पहले से चली आयी है। 'दौलतरामजी' ने 'छहढाला' में गागर में सागर भर दिया है। थोड़े में बहुत कह दियाहै। थोड़े में बहुत कह दिया है तो गागर में सागर भर दिया है, (ऐसा कहा)। समझ में आया ?

क्या कहते हैं ? देखो ! '**जिस स्वरूपाचरणचारित्र में ध्यान, ध्याता और ध्येय इन तीन के भेद नहीं होता,...**' शुद्ध उपयोग में सम्यग्दर्शन के पहले काल में और बाद में जब-जब शुद्ध उपयोग होता है, तब-तब ऐसा होता नहीं। ऐसा कहते हैं। 'कर्ता-कर्म अधिकार' लिया न ? 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' १४३-१४४ में भी यही लिया है कि, मैं आत्मा अबद्ध हूँ, ऐसा भी एक विकल्प है, मैं बद्ध हूँ, वह भी एक विकल्प-राग है। उससे पार है, वही समयसार आत्मा है। वहाँ भी वहीं लिया है। १४४ गाथा। भगवान आत्मा..! समझ में आया ?

मैं शुद्ध हूँ, वह भी एक विकल्प (है)। मैं अशुद्ध हूँ, वह भी एक परलक्ष्यी विकल्प (है)। उसको छोड़कर निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य में लीन होना वही सम्यग्दर्शन ज्ञान को पाते हैं। उसका नाम ऐसा लिया है। समझ में आया ? क्या कहते हैं ? १४४ है न ? १४४। '**सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं। सव्वणयपक्खरहिदो...**' '**सव्वणयपक्खरहिदो**' (अर्थात्) सर्व नय के पक्षरहित। अनन्त विज्ञानघन परमात्मा समयसार को जब आत्मा निर्विकल्परूप से अनुभवता है, उसी समय सम्यक्रूप से श्रद्धा में आता है, जानने में आता है, तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। १४४ में है। ये कोई बारहवें गुणस्थान की बात नहीं है, हाँ ! यह चौथे गुणस्थान की बात है। १४४ (गाथा), 'कर्ता-कर्म अधिकार'। वही बात यहाँ कहते हैं। आहा..हा...! कठिन बात (है), भाई !

कहते हैं, मैं शुद्ध हूँ, वह भी विकल्प का उत्थान (हुआ)। पुण्यबन्ध का कारण है। मैं

अशुद्ध हूँ, कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में मेरी पर्याय अशुद्ध है, वह भी एक विकल्प है। दोनों को छोड़कर शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा.. अरे... ! आठ वर्ष के बालक भी सम्यग्दर्शन पाकर शुद्ध उपयोग में आकर केवलज्ञान पाते हैं। मंडूक जैसा एक मैढ़क, वह भी भगवान के समवसरण में जाता था। अन्तर में उपयोग लगाकर शुद्ध उपयोग का ध्यान कर लेता था। आठ वर्ष की लड़की, चक्रवर्ती की लड़की, आठ वर्ष की, समझे ? वह भी भगवान के समवसरण में जाती थी और भगवान की वाणी सुनती थी। ऐसा सन्देश आया तो उसमें से भगवान ! तुम आत्मा हो। अपने ७२ वीं गाथा में कहा। भगवान आत्मा !'अमृतचंद्राचार्य' तो ऐसा ही कहते है-भगवान आत्मा तो शुद्ध आनन्दकन्द है न, प्रभु ! वह तो दु:खरूप है ही नहीं। उसकी पर्याय में पुण्य-पाप का भाव है, वह दु:खरूप है। वह आत्मा नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। सात तत्त्व में कर्म, शरीर, वाणी अजीवतत्त्व है। शुभाशुभभाव आस्रवतत्त्व है, भगवान आत्मा ज्ञायकतत्त्व है। सब सात तत्त्व भिन्न होते हैं।

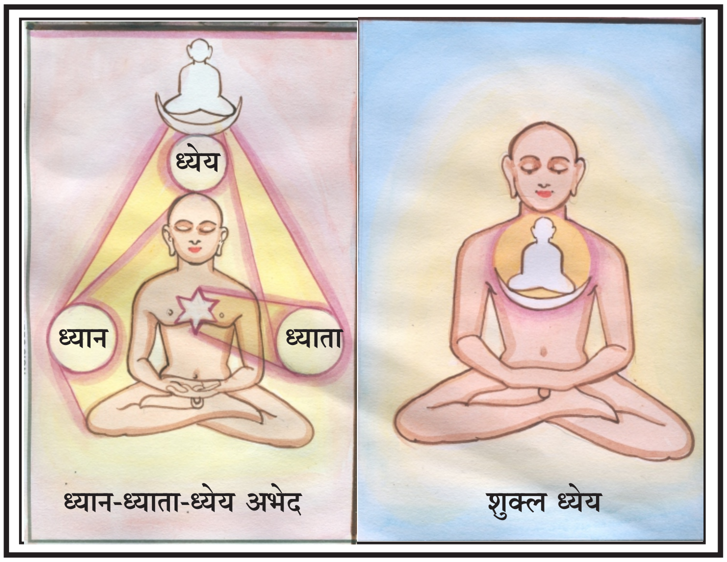

ध्यान-ध्याता-ध्येय अभेद

शुक्ल ध्येय

ज्ञायक भगवान आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध आनन्दघन चिदानन्द (है)। उसमें भी गुण-गुणी का भेद, ये ध्याता-ध्यान और ध्येय का भेद उठाना, वह भी एक विकल्प है। आहा..हा... ! समझ में आया ? आचरण में ध्यान, मैं ध्यान करता हूँ, ऐसा उसमें है, समझे ? चित्र है न ? भाई ! चित्र है। चित्र है उसमें देखो ! ध्यान। ध्येय सिद्ध का, ये ध्यान के भेद लिखे हैं। चित्र है, चित्र है।

यहाँ तो कहते हैं, एक दृष्टि बिना एकाकार होता नहीं, एकाकार हुए बिना निर्विकल्पता

होती नहीं, निर्विकल्पता बिना एक, अभेद का अनुभव होता नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? यह बात बड़ी नहीं है। बड़ी (बात) तो चारित्र, चरना, अन्दर लीनता (करनी), आनन्दकन्द छट्ठे-सातवें गुणस्थान में चारित्र की दशा.. ओ..हो..हो..! धन्य दशा ! हजारों बार चारित्र में आनन्द.. आनन्द सप्तम में हजारों बार आते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में झुलते-झुलते क्षण में छठे (में) विकल्प में आ जाये, क्षण में आनन्द (में)। यह दशा तो परमेश्वर दशा, वह दशा तो परमेश्वर दशा, पंच परमेष्ठी की दशा (है)।

यहाँ तो कहते हैं कि, उसके पहले सम्यग्दर्शन पाने की दशा में भी.. समझ में आया ? ऐसे स्वरूप की दृष्टि में भेद दृष्टि रहती नहीं। मैं ध्यान करनेवाला, मैं ध्याता। मैं ध्यान करनेवाला और यह ध्यान। किसका ? आत्मा का करता हूँ। अथवा ध्येय। मेरा पूर्ण स्वरूप का ध्येय। ऐसा तीन प्रकार का विकल्प नहीं होता। आहा..हा...! कठिन बात, भाई ! समझ में आया ? वह भेद है न ? वस्तु ऐसी है नहीं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज ने सातवीं गाथा में कहा।

ववहारेणवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

सातवीं गाथा। भगवान आत्मा... ! यह ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है-ऐसा भेद भी उसमें नहीं है-ऐसा कहते हैं। वह तो शास्त्र के अनुसार उसमें लिखा है, अपने घर की कोई बात नहीं। सातवीं गाथा भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिगम्बर आचार्य, जिनकी 'समयसार' की सातवीं गाथा। '**ववहारेणुवदिस्सदि**' आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है-ऐसा भेद व्यवहार से है। वस्तु तो अभेद है। वस्तु अन्तर में सब गुण को पी गई है। आहा..हा...! वस्तु में अनन्त गुण हैं परन्तु अभेद दृष्टि में भेद दिखते नहीं। भेद नहीं है, ऐसा नहीं। एक ही आत्मा है और आत्मा में दर्शन, ज्ञान, आनन्द आदि है नहीं, ऐसा नहीं। परन्तु जब अन्तर दृष्टि होती है, तब अभेद में भेद दिखते नहीं। भेद दिखे तो अभेद रहता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा...! विकल्प .. हैं। यह तो कई बार कहते हैं। यह बात कौन-से गुणस्थान की होगी ?

भाई ! भगवान ! पहले शुद्धोपयोग में सम्यग्दर्शन होता है, तब ऐसी दशा होती है। बाद में सदा नहीं रहती। मुनियों को तो सदा शुद्धोपयोग सातवें में अनेक बार, हजारों बार, एक दिन में

हजारों बार शुद्धोपयोग (होता है)। क्षण में विकल्प उत्पन्न होता है, निंद्रा भी आती है तो थोड़ी पौन सैकन्ड रात्रि को (आती है)। भावलिंगी सन्त साधु जिनका छठा गुणस्थान, पौन सैकन्ड निंद्रा, फट..! अप्रमत्त दशा हो जाती है। समझ में आया ? दो घंटा, एक घंटा, आधा घंटा भी मुनि को निंद्रा नहीं होती। आधा घंटा, निंद्रा आवे तो गुणस्थान नहीं रहता।

मुमुक्षु :- छठा गुणस्थान में इतना काल..

उत्तर :- छठा गुणस्थान इतना काल रहे तो गुणस्थान नहीं रहता, ऐसा शास्त्र में लेख है। सूक्ष्म पड़ेगा। उससे भी थोड़ा काल निंद्रा आ जाती है। ऐसी दशा (है)। तुरन्त सप्तम, तुरन्त छठा, तुरन्त सप्तम। ओ..हो...! संतदशा, मुनिदशा केवलज्ञान के झूले में झूलते हैं। मानो अभी अल्प काल में केवलज्ञान लिया या लेंगे। ऐसी दशा की तो बात क्या (करनी) !

यहाँ तो प्रथम सम्यग्दर्शन में ये भेद भी उसमें रहते नहीं। शुद्धउपयोग जमता है (तो) ध्याता-ध्येय-ध्यान का भेद नहीं। वचनभेद नहीं होता। **'वहाँ तो आत्मा का स्वभाव ही कर्म,...'** है। देखो ! आहा..हा...! विकल्प आत्मा का कार्य ही नहीं। कर्म लिया ना ? देखो ! **'चिद्भाव कर्म'** कर्म अर्थात् कार्य। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि होती है वह, चिद्भाव-ज्ञानभाव उसका कार्य है। विकल्प कार्य नहीं। भगवान कर्ता और राग कर्म, (ऐसा) आत्मा में दृष्टि में, अनुभव की दृष्टि के काल में नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा..!

'आत्मा का स्वभाव ही कर्म,...' कर्म शब्द का अर्थ कार्य। कर्म के बहुत प्रकार हैं। जड़ कर्म परमाणु की अवस्था, वह जड़ (है)। दया, दान, शुभाशुभ परिणाम वह शुभ-अशुभ विकारी कर्म। कर्म (अर्थात्) भावकर्म। यह आत्मा का शुद्धभाव कर्म। आहा..हा...! शुद्ध भावकर्म कैसे आया ? कहा न ? **'चिद्भाव कर्म'** भगवान आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में पड़ा, एकाकार होता है (तब) शुद्धभाव ही उसका कार्य रह जाता है। उसका कार्य, राग मेरा कार्य और मैं कर्ता-ऐसी सम्यग्दर्शन में पहले अनुभवकाल में (नहीं होता)। बाद में भी जब-जब शुद्धउपयोग होता है, तब वह अपना कार्य जानते हैं। बाद में सम्यग्दृष्टि को शुभराग आता है, लेकिन यह शुभराग अपना कार्य है, ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानते। मेरा ज्ञाता का ज्ञेय है। मैं तो जाननेवाला ज्ञाता-दृष्टा (हूँ)। गाते थे न ? ज्ञाता-दृष्टा।

सम्यग्दृष्टि लड़ाई में हो या भोग में हो, शुभ-अशुभ विकल्प का ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा है। उसका कर्ता या भोक्ता परमार्थ से अन्तर दृष्टि में है नहीं। यहाँ तो उपयोग के काल की बात ली है। समझ में आया ? चिद्भाव अपना कर्म-कार्य (है)। आहा..हा... ! वह भी यह कार्य और में कर्ता, ऐसा विकल्प नहीं। वह बाद में कहेंगे। समझ में आया ? लेकिन ऐसा अन्तर में शुद्ध भगवान आत्मा की दृष्टि के काल में उपयोग प्रथम अनुभव के काल में आत्मा का ज्ञाता का कार्य ज्ञान रह जाता है। समझ में आया ?

'**चिदेश करता...**' आत्मा कर्ता। निर्मल पर्याय का कार्य, कर्म दूर हुए तो हुआ अथवा राग-कषाय मन्द हुआ तो निर्मल पर्याय का-सम्यग्दर्शन का कार्य हुआ, ऐसा नहीं। '**चिदेश करता..**' भगवान आत्मा ही निर्मल पर्याय का कर्ता (है)। निर्मल पर्याय भगवान आत्मा का कार्य। समझ में आया ? फिर क्रिया की बात करेंगे। उसकी बात विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❊

अतीन्द्रिय आनन्दमें झूलते मुनि छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें रहते जितने कालमें आत्मशुद्धिकी दशामें आगे बढ़े बिना, वहींके वहीं नहीं रहते । छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें रहते हुए भी आत्मशुद्धिकी दशा विकसित होती ही रहती है । केवलज्ञान न हो तब-तक मुनिराज शुद्धिकी वृद्धि करते ही जाते हैं । यह तो मुनिराजकी अंतरसाधना है, जगतके जीव मुनिराजकी इस अंतरसाधनाको नहीं देख पाते । साधना कोई बाह्यसे देखनेकी वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अन्तरकी दशा है । वनमें अकेले विचरण करते हों, बाध-सिंहकी दहाड़ गुँजती हो, सिर पर पानी बरसता हो व शरीरमें रोग हो तो भी मुनिराजको इनका बिलकुल भान नहीं रहता; वे तो अन्तरमें एकाग्र हुए रहते हैं - ऐसे मुनिराजकी अंतर-शुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है । अन्तरमें शुद्धता हेतुक चलनेवाला पुरुषार्थ उग्र होता जाता है ।

(परमागमसार - ४८८)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ३, बुधवार

दि. २३-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-९. प्रवचन नं. ५१

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' का नौंवाँ श्लोक। स्वरूपाचरण चारित्र को यहाँ शुद्धोपयोग कहते हैं। जो आत्मा है, वह शुद्ध चैतन्य अनाकूल आनन्द और शुद्धस्वरूप से परमात्मस्वरूप अपना, उसमें बिराजमान आत्मा है। पुण्य-पाप तो विकार आचरण है, अशुद्ध उपयोग का आचरण है। जड़ की क्रिया है, (देह) अजीव की पर्याय का आचरण है, जड़ की अवस्था (है)। आत्मा अपना शुद्धस्वरूप एक समय में ज्ञायक (है)-ऐसी दृष्टि होकर अन्दर में स्वरूपाचरणचारित्र को प्रगट करते है तो उसको मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है। समझ में आया ?

पहले सम्यक् अनुभवदृष्टि, प्रथम धर्म प्रगट होता है, प्रथम धर्म प्रगट होता है, तब आत्मा शुभ-अशुभपरिणाम की रुचि छोड़कर, अपने स्वरूप की खोज में लगता है। समझ में आया ? खोज क्या ? अन्दर में मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ? शरीर, वाणी, मन नहीं, पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, हाँ ! वह भी मैं नहीं। मैं कौन हूँ ? ऐसा अन्तर में स्वरूप की समझन करने में अथवा स्वरूप की खोज में (लगता है कि) यह क्या चीज है ? ऐसी चीज की ओर सन्मुख होता है, उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और साथ में स्वरूपाचरणचारित्र भी प्रगट होता है। समझ में आया ? स्वरूपाचरणचारित्र का इस ओर लिया है। अनन्तानुबन्धी किसको कहें ? स्वरूपाचरण का घात करे, उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं-ऐसा लिखा है। मैं पढ़ा था, भाई ने आज निकाला। 'प्रवेशिका' में है।

मुमुक्षु :- 'धवल' में भी है।

उत्तर :- उसमें तो है, लेकिन इसमें लिखते हैं। '(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)' 'गोपालदासजी' लिखते हैं। 'गोपालदास' न ?

मुमुक्षु :- स्वरूपाचरण..

उत्तर :- पहला स्वरूपाचरण। लेकिन वह तो शुद्ध आत्मानुभव चारित्र। वहाँ तो शुद्ध इतना ही रखा है। लेकिन अनन्तानुबन्धी किसको कहना ? वहाँ स्पष्टीकरण किया है। अनन्तानुबन्धी किसको कहते हैं ? अनन्त बन्ध, संसार का पहला कषायभाव है। अनन्त संसार का कारण (है)। उसका पहले आत्मा में... सूक्ष्म बात है, भाई ! अनन्तकाल से उसने सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण कभी प्रगट किया नहीं, और प्रगट हुए बिना उसको अन्तर में संवर, निर्जरा होती नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं कि, भगवान आत्मा शुद्ध पिंड, चैतन्य ज्ञायकघन आनन्द, उसके सन्मुख होने से जो शुद्धस्वरूप की अन्तर में प्रतीति होना, वह तो सम्यग्दर्शन (है)। और उस शुद्धस्वभाव का ज्ञान होना, यह आत्मा, यह आत्मा-ऐसा ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान (है) और उसमें लीनता होना, एकाग्रता से लीनता होना वह स्वरूपाचरण चारित्र (है), जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव से प्रथम होता है। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसा कहीं सुनने मिले नहीं। दूसरा मिले तो वहाँ सारा दिन पैसे (की बात), धंधे की बात या दया पालो, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत पालो। आहा.. ! समझ में आया ? वह शुभभाव है। शुभभाव है, होता है।

मुमुक्षु :- उपाय है न ?

उत्तर :- उपाय है नहीं। उपाय तो आत्मा का यह उपाय करते हैं, तब व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प हो, उसको बाह्य निमित्तरूप से गिनने में आता है। यह समझने की चीज है। आहा..हा... ! स्वरूपाचरणचारित्र कैसी दशा होती है, वह बात करते हैं।

'जिस स्वरूपाचरण चारित्र में ध्यान, ध्याता और ध्येय-इन तीन का भेद नहीं होता..' समझ में आया ? पहले तो वह कहा था न ? कि, ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प नहीं। पहले मूल पाठ में आया न ? उसका अर्थ चलता है। मैं ध्याता, ध्यान करनेवाला और यह ध्यान-एकाग्रता और यह ध्येय-पूर्ण स्वरूप। ऐसा भेदरूपी विकल्प राग है, वह भी अन्तर स्वरूप की एकाग्रता के काल में वह राग, स्वरूपाचरण में रहते हैं (तब) वह राग नहीं रहता। बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता।

प्रथम स्वरूपाचरण में मैं ध्यान करनेवाला, ध्याता हूँ, यह ध्यान है, यह ध्येय-शुद्ध स्वरूप मेरा ध्येय है वह भी एक विचार, विकल्प, राग है। आहा..! जिस स्वरूप की अन्तर दृष्टि में शुद्धता का ध्येय बनाकर, यह ध्येय है-ऐसा (विकल्प) भी नहीं, परन्तु अन्तर शुद्धस्वरूप की ओर सन्मुख होने से, मैं सन्मुख होनेवाला और में सन्मुख होता हूँ, ऐसी भी जहाँ राग की भेदबुद्धि नहीं रहती। ध्याता-ध्यान-ध्येय तीन का भेद नहीं होता।

'जहाँ वचन का...' भेद नहीं। ध्याता, ध्यान करनेवाला, चौथे गुणस्थान में, पाँचवे या सातवें में, अपना स्वरूप ध्यान में लेते हैं, तब शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखंड अभेद की ओर लीनता, एकाग्रता होने से मैं ध्यान करनेवाला या ध्याता-ऐसा भेद-विकल्प नहीं रहता। उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं, आ..हा...! बहुत सूक्ष्म बात (है)। बाद में विकल्प, राग उठता है, दया, दान, भक्ति, व्रतादि या शुभ-अशुभरागादि, परन्तु स्वरूप की ओर दृष्टि हुई और स्वरूपाचरण की एकाग्रता हुई, वह हमेशा रहती है। समझ में आया ?

जहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूपाचरण हुआ, चैतन्यज्योत अखंड ज्ञानमूर्ति.. सम्यग्दर्शन उसको कहा कि सारा एकरूप चैतन्य ज्ञायकभाव भूतार्थ का अन्तर आश्रय करना। उस सम्यग्दर्शन के काल में ही प्रतीति हुई, सम्यग्ज्ञान हुआ और उतने अंश में स्थिर भी हुआ। स्वरूप की ओर की लीनता (हुई)। इस स्वरूपाचरणचारित्र में भेद लक्ष्य में नहीं आता। अकेला अभेद (होता है)। यह अभेद (है), ऐसा भी विकल्प नहीं। सूक्ष्म बात है। उसने कभी धर्म की प्रथम सीड़ी कैसे प्राप्त होती है, उसने कभी लिया ही नहीं। बाहर में ही बाहर में अनादि से गँवाया। अब तो उम्र भी (बड़ी) हो रही है या नहीं ? क्यों ?

कहते हैं, देखो ! 'दौलतरामजी' 'छहढाला' में ऐसा कहते हैं। साधारण गृहस्थों को कंठस्थ होता है। लेकिन उसका अर्थ क्या ? तोता। वस्तु क्या है ? कंठस्थ कर ले लेकिन तोते की भाँति। क्या चीज है ? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने कहा, वही 'दौलतरामजी' छठी ढाल में स्वरूपाचरण का स्वरूप (कहते हैं)। पहले लक्ष्य में भी आया नहीं कि, क्या चीज (है) ? कैसे प्राप्त होती है ? कहते हैं कि, पुण्य-पाप की रुचि तो छोड़ दे। पाप में लाभ नहीं, पुण्यभाव में लाभ नहीं, देह की क्रिया से मेरी क्रिया है नहीं और एक वर्तमान समय में ज्ञान का विकास अल्प है उतना भी मैं नहीं। उसको भी अंतर्मुख मोड़कर शुद्ध चैतन्यस्वभाव

में एकाग्र होकर शुद्ध उपयोग की प्राप्ति होती है। उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शनसहित स्वरूपाचरणचारित्र कहने में आता है। आहा..हा... ! भाई ! वहाँ 'रतनपुर' में मिलता नहीं और आप के रतन में भी मिले नहीं, पैसे में मिले नहीं।

मुमुक्षु :- संयोग मिले।

उत्तर :- उसके मामा के पास बहुत पैसा है। पैसा है, उसके पास ममता है। उसके पास तो कभी पैसा नहीं आता ? आत्मा के पास आता है ? वह तो दूर रहता है। मेरा है, इतनी ममता उसके पास आयी। क्यों सेठिया ? वह चीज तो आती नहीं है। चीज तो दूर रहती है।

मुमुक्षु :- तिजोरी में तो रहती है।

उत्तर :- तिजोरी तो जड़ है, पर है। तिजोरी में रहे उसमें क्या आया ? आत्मा के पास क्या आया ? आत्मा ने माना कि, मेरा है, इतनी ममता उसके पास आयी। बराबर है ? भैया !

यहाँ तो कहते हैं कि, उस ममता के परिणाम से रहित और दया, दान के शुभ विकल्प से, भाव से रहित-ऐसीचीज जो अखंडानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि करने से स्वरूप में एकाग्रता होती है, तब ऐसा भेद लक्ष्य में नहीं रहता। समझ में आया ? तब सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण में स्वरूपाचरण प्रथम भूमिका प्रगट होती है। बाद में, ऐसी दशा होने के बाद उपयोग नहीं रहता, परन्तु स्वरूपाचरण और दृष्टि जो हुई है, वह हमेशा रहते हैं। बाद में शुभभाव आवे, दया, दान, भक्ति को पुण्य समझे। सम्यग्दृष्टि को पाप (भाव) कमाने का, विषय आदि (का) भी आता है। उसको पाप समझे। पाप-पुण्य को अपने ज्ञान में पर के रूप में समझे। अपने स्वरूप में पुण्य-पाप को एकत्व करते नहीं।

अपनी खोज में पड़ा आत्मा, अपनी खोज करके जो स्वरूप प्रगट हुआ उसके साथ पुण्य-पाप के विकल्प को मिलाते नहीं। होता है। समझ में आया ? होता है, लेकिन अपना शुद्धस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा का भान हुआ, सम्यक् भान में उसके साथ विकार को मिलाते नहीं, एकत्व होते नहीं। आहा..हा... ! चाहे तो समकिती लड़ाई में हो, हाथी के होद्दे पर (बैठनेवाले) राजकुमार हो और आत्मभान हुआ हो। राजकुमार हो, बहुत पुण्य हो। लड़ाई में भी ऐसे चले। तो भी अन्तर में अनुभव की सम्यक् प्रतीति और स्वरूपाचरण स्थिरता तो उसके कभी छूटते नहीं। समझ में

आया ? अज्ञानी, आत्मा के भान बिना दया, दान, व्रत के विकल्प में पड़ा है तो उसको स्वरूपाचरण का अभाव है, इसलिये वह मात्र विकार का स्वामी है। समझ में आया ? आहा..हा..!

'आत्मा का स्वभाव ही कर्म...' देखो ! भगवान आत्मा...! आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान, आनन्द में जब एकाग्र हुआ, स्वरूपाचरण में.. स्वरूपाचरण में, तब शुद्ध स्वभाव की पर्याय सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण का भाव जो प्रगटु हुआ, वही आत्मा का काम (है)। वह आत्मा का काम (है), काम अर्थात् कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। है या नहीं ? भैया ! देखो ! **'(चिद्भाव) आत्मा का स्वभाव ही कर्म...'** कर्म अर्थात् कार्य। पुण्य-पाप (का) विकल्प दृष्टिमें से-रुचिमें से छूट गये। देह की क्रिया तो मेरी है नहीं, वह तो रुचि छूट गई। लकिन अपने स्वभाव के अनुभव काल में स्वरूपाचरण के काल में शुद्धभाव की पर्याय प्रगट हुई। शुद्ध। शुभ-अशुभ नहीं, शुद्धभाव.. शुद्धभाव। स्वभाव के आश्रय से शुद्धभाव प्रगट हुआ, वह आत्मा का कार्य, वह आत्मा का कर्म, वह आत्मा का कर्तव्य (है)। कठिन बात।

'(चिदेश) आत्मा ही कर्ता...' उस समय में चिदेश-चिद् अर्था्त ज्ञान का ईश्वर आत्मा। चिदेश। ज्ञान का ईश्वर-अपना भगवान आत्मा, वही शुद्धभाव का करनेवाला। शुद्धभाव का करनेवाला विकल्प, राग मन्द था या मन्द है तो वह शुद्धभाव प्रगट हुआ, ऐसा नहीं। धीरे से समझने योग्य चीज है। अनन्तकाल में उसने कभी किया ही नहीं। ऐसे ही जिंदगी गँवाई, चौरासी के अवतार में चला गया। कोई पुण्य आदि किया हो, एकाद भव स्वर्गादि मिले, मिथ्यादृष्टिपने में रहा, वहाँ से निकलकर पशु योनि करके जाओ नरक, निगोद में। भैया ! आहा..हा...! अ..हो..! देह का कोई रजकण भी साथ में आनेवाल नहीं। देह का, दूसरी चीज तो कहाँ रह गई।

यहाँ तो कहते हैं कि, शुभ-अशुभभाव हुआ तो भी साथ में तो नहीं रहता। जो हुआ उसका बन्ध पड़ गया। जड़ रजकण (रहे), उसकी पर्याय में साथ नहीं (है)। अपना स्वरूप जो ज्ञानानन्द शुद्ध है, उसकी अन्तर दृष्टि और स्वरूपाचरण प्रगट किया, वह साथ में रहता है। समझ में आया ?

कहते हैं कि, वहाँ आत्मा ही कर्ता है। यहाँ तो तीन बोल समझाते हैं। वहाँ तीन भी नहीं

रहते, विचार में तीन भी नहीं रहते कि, मैं कर्ता, आत्मा करनेवाला, शुद्धभाव मेरा कर्म और मेरी चैतन्य की निर्मल पर्याय हुई वह मेरी क्रिया, ऐसी तीन भेद अन्तर स्वरूपाचरण काल में तीन भेद लक्ष्य में नहीं रहते। (भेद) होते हैं। आहा..हा...! है न ? भैया ! क्या कहते हैं ? देखो !

'कर्ता (चेतना) चैतन्यस्वरूप आत्मा की क्रिया होता है...' आत्मा क्रिया। चैतन्यस्वरूप आत्मा क्रिया। कहते हैं कि, धर्म की क्रिया है या नहीं ? क्रिया होती है या नहीं ? है क्रिया, लेकिन कौन-सी क्रिया ? पुस्तक रखा है न ? देह की क्रिया धार्मिक क्रिया नहीं; अन्दर दया, दान, व्रत, पूजा का परिणाम उत्पन्न हो, वह धार्मिक क्रिया नहीं। आहा..हा...! है ? भैया ! क्या (लिखा है) ? **'चैतन्यस्वरूप आत्मा ही क्रिया...'** चैतन्यस्वरूप आत्मा ही क्रिया होता है। आत्मा ही परिणमन (करता है)। पूर्व के राग का अभाव होकर, स्वभाव की शुद्धरूपता, चैतन्य की परिणतिरूप क्रिया (होती है) वह आत्मा की क्रिया है। आहा..हा...! है उसमें ? कभी पढ़ा था ?

मुमुक्षु :- रोज पाठ करते हैं।

उत्तर :- डॉक्टर ठीक कहते हैं कि, रोज पाठ करते हैं। पाठ करते हैं, हाँ ! यह तो सरल सादी हिन्दी भाषा है। आहा..! ये तो 'दौलतरामजी'ने, 'बुधजन' की 'छहढाला' थी, उससे अधिक स्पष्ट बनाई। उसमें ऐसा नहीं है, उसे भी हमने देखी है। 'बुधजन' की है, उसमें से बनायी, यह तो बहुत स्पष्ट बनाई है। शास्त्र में से सार.. सार.. सार थोड़ा लेकर बना दिया।

कहते हैं कि, भैया ! तुझे अनन्तकाल में स्वरूपाचरणरूप धर्म क्रिया कभी नहीं हुई। आपके हाथ में तो पुस्तक है। समझ में आया ? आहा..हा...! देखो तो सही। 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, जब अपना शुद्धस्वरूप, पुण्य-पाप के विकल्प का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप की दृष्टि करने के काल में चैतन्य की क्रिया-शुद्धपरिणति ही रहती है। राग अपनी क्रिया-ऐसा रहता नहीं। आहा..हा...! भैया ! ओ..हो..हो...! यहाँ मूल बात है इसलिये आज लिया। दोपहर को गुजराती। समझे ?'नियसमार' गुजराती चलेगा।

यहाँ कहते हैं, चेतना क्रिया होती है। भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु, वही अन्तर्मुख दृष्टि करने के काल में स्वरूपाचरण-स्वरूप का अनुष्ठान, स्वरूप का अनुष्ठान, उसमें चेतना की निर्मल

ज्ञानानन्द की क्रिया रहती है, वह क्रिया। कर्ता आत्मा और वही कर्म-कार्य। क्रिया क्यों (कहा) ? क्योंकि पलटन हुआ न ? क्रिया पलटन है। '**क्रिया होता है।**'

'**कर्ता, कर्म और क्रिया-ये तीनों भेदरहित एक अखंड हो जाते हैं...**' यहाँ भी तीन तो समझाया। परन्तु अन्तर दृष्टि के काल में, स्वरूपाचरण काल में, अनुभव के काल में तीन नहीं रहते, तीन एकरूप हो जाते हैं। यह कर्ता, यह कार्य और यह क्रिया-ऐसे तीन भेद नहीं रहते। तीन भेद हो जाये तो विकल्प उठते हैं। देखो ! यह 'सिद्धान्त प्रवेशिका' है, हाँ ! समझ में आया ? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' है न ? उसमें वह लिखा है। समझ में आया ? अनन्तानुबन्धी किसको कहते हैं ? उसमें लिखा है। देखो !

स्वरूपाचरण चारित्र किसको कहते हैं ? शुद्धात्मानुभव की अविनभावि चारित्रविशेष को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। ऐसा लिखा है। अनन्तानुबन्धी किसको कहते हैं ? (वह लिखा है)। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ किसको कहते हैं ? जो आत्मा के स्वरूपाचरणचारित्र को घात करे, उसको अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। आप का स्पष्टीकरण (आया)। यह तो 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' बालकों के लिए बनाई, उसमें से है। 'गोपालदास बरैया' है न ? भैया ! उन्होंने बनाई है।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- शास्त्रमें से निकाला है। यह ग्रन्थ (में) क्या किसी को घर की बात है ? समझ में आया ? (ये कहते हैं).. ग्रन्थ नहीं है।.. ग्रन्थ क्या आया ? सब एक ही बात-तत्त्व की बात है। ये कहते हैं, वे कहते हैं और शास्त्र कहते हैं। आहा..हा...! परन्तु पहले इतना तो निश्चय होना चाहिए या नहीं ? कि, आत्मा प्रथम धर्म पाता है, तब राग की एकता है (वह) टूटती है तो उतने स्वरूप में एकाग्र होता है या नहीं ? न्याय से समझना चाहिये कि नहीं ?

अनादिकाल का आत्मस्वरूप शुद्ध आनन्दघन (है)। वह पुण्य-पाप के विकल्प में, शुभाशुभ आचरण में है, वह तो अनादिकाल से है। जब उसको धर्म प्रगट होता है तब उसको क्या प्रगट हुआ ? शुभाशुभभाव प्रगट हुआ ? वह तो है अनादि से। शुभ-अशुभराग है, उससे हटकर शुद्ध चैतन्य में एकाग्र हुआ तो शुभाशुभपरिणाम से रहित स्थिरता थोड़ी हुई और स्वरूप

की प्रतीति हुई। उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन के काल में पहले होता है। यह नहीं हो तो शुभाशुभभाव में एकता है, वह तो अनादिका की है। शुभाशुभभाव और पुण्य-पाप भिन्न हैं, ऐसा भान हुआ तो राग से रहित स्वरूप की स्थिरता का अंश प्रगट न हो तो एकाग्र हुआ किस में ? राग में तो अनादि से एकाग्र था ही। शुभाशुभराग में एकाग्रता तो अनादिकाल से है, वह नयी चीज नहीं, वह तो अनन्तकाल से करते आया (है)। पुण्य-पाप, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक मिलते ही हैं। समझ में आया ? समझने की चीज है। पैसा-बैसा बहुत आता है और जाता है।

मुमुक्षु :- उसके कारण से आते हैं।

उत्तर :- उनके कारण से आते हैं और जाते हैं। आत्मा के कारण से कहाँ आते हैं ? यह आत्मा के कारण से आता है, देखो ! आत्मा के कारण से, शुभ-अशुभभाव मेरा है, वह आत्मा के कारण से मिथ्या भ्रम होता है। और यह आत्मा पुण्य-पाप के भाव रहित शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि में शुद्धभाव का होना, विकार की एकता तूटकर, स्वरूप की एकता होना वह आत्मा से होता है। वह कहा न ? '**(चिदेश करता)**..' चिद-ईश। ज्ञान का ईश भगवान आत्मा है। ज्ञान का ईश्वर, हाँ ! पैसा का ईश्वर नहीं ? लड़के का ? मकान ? बिल्डींग ? इस बिल्डींग का स्वामी नहीं, ये तो जड़, मिट्टी-धूल है, अजीवतत्त्व है।

यहाँ तो कहते हैं कि, भगवान एक समय में शुद्धस्वरूप, पवित्रस्वभाव की दृष्टि हुई, सम्यग्दृष्टि शुभ-अशुभभाव होता है, उसका स्वामी नहीं रहता। उसका स्वामी नहीं रहता (तो) दूसरे का स्वामी है ही कहाँ ? समझ में आया ? आहा..हा... ! अरे.. ! अनन्तकाल में वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव वीतराग परमेश्वर हैं। वे तो वीतरागभाव की बात करते हैं। ऐसी बात जैन परमेश्वर के अलावा अन्य में कभी तीनकाल तीनलोक में ऐसा एक शब्द और एक न्याय भी नहीं होता। समझ में आया ?

ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ सौ इन्दर की उपस्थिति में समवसरण में भगवान की दिव्यध्वनि में आया, अरे... ! आत्मा अनादिकाल से अस्वरूपाचरण तूने किया है। देह का आचरण तो उसने किया ही नहीं। देह का आचरण, जड़ का आचरण, पर का आचरण तो किया ही नहीं। तो क्या किया ? अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि में शुभ और अशुभराग का आचरण किया।

आहा..हा... ! स्वरूपाचरण नहीं किया, पर का आचरण नहीं किया। डॉक्टरजी ! शरीर का कुछ नहीं किया। जड़ का आचरण आत्मा नहीं कर सकता। स्वरूप का आचरण अनन्तकाल से किया नहीं। तो किया क्या ? अनन्तकाल से निगोदसे लेकर नौंवी ग्रैवेयक तक (गया उसमें किया क्या ?) शुभ और अशुभभाव, विकारी भाव का आचरण करके मैं कुछ ठीक करता हूँ, ऐसी मिथ्यादृष्टि में अस्वरूपाचरण किया है। बराबर है ?

अब कहते हैं कि, भैया ! अरे.. ! तेरा समय आया, यह काल आया, तुझे मनुष्यदेह मिला। भगवान ! उसकी रीत तो समझ ले। उसकी रीद-पद्धति-विधि क्या है ? - वह तो समझ ले। समझने के बाद प्रयोग में-प्रयत्न में रखेगा। समझे बिना प्रयोग कैसे करेगा ? समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं, भगवान आत्मा अनादिकाल से अस्वरूपाचरण.. अस्वरूपाचरण का अर्थ ? कि, शुभ-अशुभ विकारी भाव का का वर्तन किया। वर्तन किया-आचरण किया, अनुष्ठान किया वह अस्वरूपाचरण है। वह अपने स्वरूप का आचरण नहीं, विभाव आचरण है। वही किया न ? दुकान-बुकान का कुछ किया नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- सारा दिन करता है न ?

उत्तर :- कौन करता है ? कौन कहता है ?

मुमुक्षु :- सब लोग कहते हैं।

उत्तर :- दुनिया कहती है तो झूठ कहती है। भगवान कहते हैं कि, राग-द्वेष का आचरण तुम चौबीस घंटे करते हो। जड़ का कर सकता नहीं। आँख की एक पलक भी ऐसे घुमा नहीं सकते। वह तो जड़ है, उसका तुम क्या करते हो ? कठिन बात, भाई !

मुमुक्षु :- गाना गाता है।

उत्तर :- कौन गाना गाता है ? वह तो वाणी का आवाज निकलने की जड़ की क्रिया है। अन्दर विकल्प आता है, भजन करूँ, ऐसा शुभभाव (आता है)। बस ! इनती मर्यादा (है)। जड़ का बोलने का आचरण होता है, पैर ऐसे-ऐसे थन.. थन.. होते हैं वह जड़ की पर्याय है। वह

आत्मा कर सकता है ? कठिन बात, भाई ! डॉक्टर कहते हैं कि, उत्तर में ऐसा सुनने में नहीं आता। उसके लिये ही कहा, दूसरी जगह छोड़कर हम सुनने कि लेयि ही आते हैं, ऐसा उसमें लिखा था। बात यह है। समझ में आया ? आहा..हा... ! बहुत जगह जाना था, (सब) छोड़कर यहाँ आये न ?

कहते हैं, अरे... ! भगवान ! तूने कभी स्वरूपाचरण कैसे होता है उसे तूने लक्ष्य में भी लिया नहीं। और हम कुछ करते हैं, करते हैं, करते हैं, ठीक करते हैं ऐसे ही बफम् में - भ्रम में जिंदगी चली गई। भाई ! कहाँ गये भाई ? गये ? है ? तुम्हारे पिताजी का सब उड़ा दिया। ३० साल से रस नहीं खाते थे, हरित नहीं खाते थे। लेकिन व कबूल करते हैं कि, बात तो सच्ची है। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! बापू ! तू कौन चीज है ? तेरा स्वरूपाचरण-अनुष्ठान, तेरी क्रिया क्या ? देह की क्रिया तेरी नहीं और राग विकल्प उठते हैं, वे भी विकारी क्रिया (है), तेरी मूल चीज नहीं। इसीलिये तो कहा, चैतन्य उसकी क्रिया है। भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु, उसकी अन्तर में सन्मुख दृष्टि करके चैतन्य का परिणमन, विकार की रुचि छोड़कर, चैतन्य का परिणमन-क्रिया हुई, वह आत्मा की क्रिया, वह आत्मा की क्रिया, वह स्वरूपाचरण भाव (है), वह शुद्धभाव (है)। समझ में आया ? आहा..हा... !

'यह तीनों भेदरहित एक, अखंड...' देखो ! राग तो नहीं, पुण्य-पापतो नहीं परन्तु मैं आत्मा शुद्धभाव मेरा काम, कर्ता चिदेश आत्मा हूँ और चैतन्य की निर्मल परिणति हुई वह क्रिया, (ऐसे) तीन भेद भी लक्ष्य में नहीं रहते। तब अन्दर निर्विकल्प अभेद दृष्टि होती है। उसको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। आहा..हा... ! कभी सुना ही नहीं। वीतराग के मार्ग में हम आये... भगवान.. भगवान (करते हैं)। उनको उल्लास तो बहुत आता है, प्रमोद तो आता है। 'अलीगढ़' में उसने बहुत किया था। लेकिन थोड़ा-थोड़ा समय निकालना चाहिए। यह चीज.. ओ..हो..हो... ! अनन्तकाल में चीज रह गई, जो करने की चीज (थी उसका) ख्याल भी नहीं, समझ भी नहीं, रुचि भी नहीं तो प्रयोग कहाँ से करेगा ? समझ में आया ? आता है न ? मारवाडी की कोई चीज ऊँची होती है, हम को तो नाम भी नहीं आता। मारवाडी की ऊँची चीज आती है न ? राजा जैसी। ऐसा कुछ सुना था। घेवर जैसा चीज। उसका दूसरा नाम था। मारवाडी बहुत ऊँची चीज बनता हैं। एकबार सुना था, अपने को कहाँ मालूम है। लेकिन विधि कैसे होती

है, उस विधि की खबर नहीं तो बनाये क्या ? समझ में आया ?

हमें हलुआ बनाना है, हलुआ। कैसे करना ? देखो ! पहले आटा है (उसे) घी में सेकना। बाद में गुड़ का पानी डालना। लेकिन घी बच जाये ऐसा (करना है) तो क्या करना ? कि, गुड़ का पानी पहले डालना। आटे में पहले गुड़ का पानी डालकर आटा ठीक से सिक जाये, बाद में घी डालना। (अगर) गुड़ के पानी में आटा सेककर घी डालेगा (तो क्या) हलुआ होगा ? तुझे विधि की खबर नहीं। हलुआ नहीं होगा, लूपरी होगी। लूपरी समझते हो ? फोड़े के उपर (लगाते हैं न) ? फोड़े पर। फोड़े पर बाँधने के काम नहीं आती ? लूपरी बनाती है, उसे स्त्री कहे, देखो ! बहन ! घी देकर डालना। घी बहुत भी नहीं गिरे और घी बिलकुल नहीं गिरे, ऐसा भी नहीं। थोड़ा.. थोड़ा.. थोड़ा। बहुत गिरेगा तो बिगड़ जायेगा, बिलकुल घी नहीं होगा तो पोटीस नहीं होगी। इसलिये हमारे यहाँ भाषा है। सास बहु को कहे तब ऐसा कहे, 'देखो ! बहु ! पोटीस बनानी हो तो जातु-वळतु घी डालना। जातु-वळतुं।' आप की हिन्दी में कोई भाषा होगी, हम को खबर नहीं। ऐसा थोड़ा रहे भी नहीं, थोड़ा बिलकुल न रहे ऐसा भी नहीं और बहुत रह जाये ऐसा भी नहीं। ऐसा हो तो लूपरी होगी। ये तो पहले गुड़ के पानी में आटा सेके, बाद में घी डालते हैं। शिरा (तो) नहीं होगा (लेकिन) लूपरी भी नहीं होगी। विधि की खबर नहीं।

ऐसे अपना सम्यग्दर्शन, चारित्र-स्वरूपाचरण कैसे प्रगट होता है ? मालूम नहीं (और) करने बैठे, हमारा आत्मा ऐसा है, हमारा आत्मा ऐसा है.. क्या आत्मा ऐसा-ऐसा ? समझ में आया ?

कहते हैं, अ..हो...! भगवान आत्मा..! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन चीज हैं। शिरा में भी तीन चीज होती है न ? यहाँ अभी आयेगा, देखो ! हलुआ में तीन चीज आती है न ? आटा, घी और शक्कर या गुड़। यहाँ आयेगा, देखो ! ये तनी चीज आयेगीष एक हो जाते हैं। भगवान आत्मा ध्याता, ध्यान और ध्येय का भी विकल्प और भेद नहीं रहता और कर्ता, कर्म क्रिया का भेद भी नहीं रहता। तो क्या रहता है ?

'(बाधारहित) हो जाते हैं।' अभिन्न अखंड एकस्वरूप हो जाते हैं। **'शुद्ध उपयोग को निश्चय पर्याय...'** देखो ! आत्मा का शुद्ध व्यापार। पुण्य-पाप का व्यापार अशुद्ध व्यापार है, वह

तो बन्ध का कारण है। यहाँ तो मोक्ष का कारण वर्णन करना है न ? तो कहते हैं कि, शुद्ध व्यापार। '**शुद्ध उपयोग की निश्चय पर्याय...**' देखो ! वह पर्याय है। शुभ-अशुभराग था, वह विकारी पर्याय थी। उसको छोड़कर ज्ञातास्वरूप चिदानन्द में एकाग्र होकर शुद्धपर्याय '**प्रगट होती है...**' देखो ! भाषा कैसी ली है ? '**शुद्ध उपयोग की (निश्चल) दशा प्रगटी...**' प्रगटी। वह दशा अनादि की दशा नहीं थी। वस्तु अनादि की थी। शुद्ध ज्ञान, आनन्द अनादि की चीज थी। परन्तु अन्तर एकाग्र हुआ तो शुद्धता प्रगट हुई। शुद्धता पर्याय में प्रगट हुई, यह पर्याय प्रगट हुई, उसका नाम स्वरूपाचरण, उसका नाम संवर, निर्जरा, उसका नाम शुद्ध उपयोग, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग कहते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- माँ कहे, लेकिन उसे विधि आनी चाहिए न ? किये बिना, उलट पुलट करे.. पहले कहा न ? कंजूस बाई हो तो (कहे), तुझे सस्ता कर दते हैं। खाना किसको ?.. खायेगा ? जो करे वह खाये। यहाँ तो कहतेहैं कि, आत्मा करे और अपना अनुभव अपने भोगने में आता है। पर्याय अपनी भोग्य और भोक्ता आत्मा। दो भेद भी अन्दर अनुभव में नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। दूसरा तो नहीं, दूसरा तो नहीं लेकिन उसका आत्मा, मैं आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप (हूँ), उसकी दृष्टि, ज्ञान पहले हुआ तो यह आत्मा कर्ता, यह कार्य, मैं भोक्ता और यह भोग्य, ऐसा भेद भी वहाँ रहता नहीं। दूसरा तो भोक्ता नहीं, दूसरा तो भोग्य नहीं लेकिन अपने में भोक्ता-भोग्य का भेद नहीं रहता। आहा..हा...! समझ में आया ?

प्रथम स्वरूप की दृष्टि होने के काल में ऐसा होता है। बाद में दृष्टि रहती है, स्वरूपाचरण भी रहता है, शुभ-अशुभराग रहता है। समकिती धंधे में भी दिखने में आवे, भोग में भी दिखने में आवे तो राग है। (वे) समझते हैं, (यह) पाप है, यह पुण्य है। पृथक् रखते हैं, अपने साथ जुड़ान नहीं करते हैं-ऐसा भेदज्ञान हुआ। पर्वत में एक बिजली का प्रहार हुआ और पत्थर के दो भाग हो गये, वह बाद में रेण से इकट्ठे नहीं होते। रेण समझे ? बाद में जुड़ते नहीं। ऐसे भगवान आत्मा ज्ञानानन्द का स्वरूप प्रभु पूर्णानन्द प्रभु, पुण्य-पाप के राग से एकबार अन्तर भेद हुआ, भेद हुआ (बाद में) एक नहीं होता। समझ में आया ?

'प्रगट होती है...' देखो ! भाषा है न ?

तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृगज्ञान-व्रत ये, तीनधा ऐकै लसा।।

कितने काल से यह कंठस्थ है ? कंठस्थ नहीं है ? अर्थ की खबर नहीं। अर्थ समझे बिना भाषा क्या करे ? तोते को पूडी दे (और कहे), बोल, रघुराम। वह जाने कि, यह रघुराम होगा। पूड़ी रघुराम। पूड़ी कहते हैं न ? पूड़ी, पूड़ी और सिंग का दाना, सिंग का दाना, मुँगफली देते हैं। बोल पोपट, रघुराम। रघुराम। उसे लगे कि, यह रघुराम होगा। पूड़ी और दाना रघुराम होगा। भान नहीं, रघुराम कौन और ये कौन ? यह तो पूड़ी है और दाना है। ऐसे इसे भान नहीं है कि, क्या आत्मा है ? यह क्या कहते हैं ? **'तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा...'** क्या ? (सिर्फ) भाषा है या कुछ भाव है उसमें ? समझ में आया ? आहा..हा... !

'प्रगट होती है; जिसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान...' देखो ! व्रत का अर्थ यहाँ सम्यक्‌चारित्र कहा। भाई ! शब्द में व्रत (शब्द) है। फिर भी वहाँ सम्यग्दर्शनस्वरूप दृष्टि के काल में शुद्ध श्रद्धा हुई, शुद्ध ज्ञान हुआ और आचरणरूपी व्रत–चारित्र हुआ। (राग है), वह व्रत नहीं है, स्वरूप की स्थिरता वही निश्चय व्रत है। आहा..हा... ! बाद में पंचम गुणस्थान योग्य बारह व्रत का विकल्प आता है, लेकिन वह शुभराग है। समझ में आया ? अन्तर में एकाग्र होकर जितनी शान्ति और स्थिरता प्रगट हुई, वही अपना स्वरूपचारित्र और आचरण, सच्चा मुक्ति का कारण वह है। आहा..हा... ! समझ में आया ? अब तो कितने पुस्तक प्रकाशित हो गये हैं। अभी (एक मुमुक्षु की) ओर से पन्द्रह हजार पुस्तक प्रकाशित हुए। 'छहढाला' बहुत नि:शुल्क दी। पन्द्रह हजार। 'आत्मधर्म' में, 'सन्मति सन्देश' में बहुत गई है। (इनको) पूरा कंठस्थ है। उसकी बहुत प्रीति है, इसलिये प्रभावना की। ये व्याख्यान (रेकोर्डिंग) होते हैं, वह भी उनकी ओर से हैं। पुस्तक प्रकाशित करना है। पुस्तक प्रकाशित करना है। कंठस्थ है, बहुत साल से कंठस्थ है। बहुत साल से कहते हैं, व्याख्यान करो, व्याख्यो करो। एक बहन कहती थी। वह भी कहती थी कि, 'छहढाला' का व्याख्यान होना चाहिए। तो यहाँ चलते हैं। समय नहीं मिले, कहाँ संसार की इतनी झंझट। ओ..हो.. !

कहते हैं, भगवान आत्मा..! एक पंक्ति में कितना भर दिया है ! बहुत भरा है न ? भैया ! आहा..हा...! 'दौलतराम' पण्डित। लेकिन पण्डित अपने घर की बात कहां करते हैं ? अपनी हिन्दी भाषा में जोड़ दिया। भाव तो भगवान का है, जो परमार्थ अनादिकाल से चला आया वह भाव है। कहते हैं कि, जब भगवान आत्मा स्वरूप की दृष्टि करके, स्वरूप का आचरण करते हैं तो उसमें तीनों आ गये। सम्यग्दर्शन भी आ गया-शुद्धस्वभाव की प्रतीत। ज्ञान आ गया। अनुभव यह आत्मा, ऐसा ज्ञान; और स्थिरता हो गई वह चारित्र। समझ में आया ? ये स्वरूपाचरणचारित्र मोक्ष का मार्ग है। बन्धन से छूटने का यह एक ही उपाय है। आहा..हा...! बाकी सब बँधने का (उपाय) है। ओ..हो...!

'**यह तीनों एकरूप-अभेदरूप से शोभायमान होते हैं।**' '**लसा**' का अर्थ किया, देखो ! '**शोभायमान होते हैं।**' भगवान आत्मा..! आठ वर्ष की लड़की को भी सम्यग्दर्शन होता है, तब स्वरूपाचरण होता है। उसमें क्या ले ? मेंढ़क को भी होता है। क्या कहते हैं ? मेंढ़क.. मेंढ़क। भेदज्ञान करता है। देह छोटा-बड़ा तो जड़ है। पुण्य-पापका राग विकार ही। उससे मेरी चीज भिन्न है, ऐसी दृष्टि में एकाकार होकर, उस समय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों शोभायमान होते हैं। अर्थात् राग का आचरण शोभायमान नहीं। राग का ज्ञान, समझे ? पुण्य-पाप का ज्ञान। शुभाशुभ मेरी चीज है, ऐसी प्रतीति शोभायमान नहीं। वह तो मिथ्या है। शुभाशुभराग का ज्ञान मिथ्याज्ञान है और शुभाशुभराग मिथ्याआचरण है-तीनों शोभायमान नहीं। यह शोभायमान (है)। अन्तर्मुख होकर शुद्धस्वभाव पवित्र स्वभाव पहले सत्समागम से समझ लिया हो, सुना हो बाद में अन्तर प्रयोग काल में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति हुई, वही शोभायमान चीज है, वी मोक्षमार्ग से शोभायमान अपनी दशा है। ये आत्मा को आभूषित किया। आहा..हा...! समझ में आया ? पुण्य-पाप तो आभूषण नहीं है। पुण्य-पाप का बन्धन जड़ है। उसका फल भी धूल बाहर का संयोग है। क्या आया उसमें ? ओ..हो..हो...!

नीचे (फूटनोट में) थोड़ा अर्थ है, देखो ! कर्म किसको कहते हैं ? '**कर्ता द्वारा हुआ कार्य**...' है नीचे ? फूटनोट में है। '**कर्म-कर्ता द्वारा हुआ कार्य।**' नोट में है। कर्म की व्याख्या-कर्ता द्वारा हुआ कार्य। आत्मा स्वरूप का कर्ता, उससे हुई शुद्ध पर्याय, कार्य। आहा..हा...! हन दुनिया का काम कर दे, मकान काम कर दे, दुकान का काम कर दे, पैसे का काम कर दे, तिजोरी

का काम कर दे, बोलने का काम कर दे, हिलने का काम कर दे,.. हराम है तेरी चीज में वह हो तो। तेरी चीज में तो राग-द्वेष का परिणाम का तेरा कार्य अज्ञान से है। स्वभाव में कर्ता द्वारा किया कार्य। शुद्धपर्याय प्रगट हो, श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण, वही कर्ता आत्मा द्वारा आत्मा की क्रिया है वह कार्य।

'**कर्ता-स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता;...**' देखो ! व्याख्या। स्वतंत्ररूप से करे, वह कर्ता। उसका अर्थ क्या हुआ ? भगवान आत्मा, राग की मन्दता की सहाय लिये बिना, कषाय की मन्दता पहले थी (कि) यह आत्मा ऐसा.. ऐसा.. उसकी सहाय लिये बिना, अपने स्वतंत्र स्वभाव से शुद्धभाव को करे, वह कर्ता कहने में आता है। आहा..हा... ! यह व्याख्या तो अपने 'कर्ता-कर्म अधिकार' में बहुत बार आ गई है। स्कूल में भी छह कारक की व्याख्या चलती है। (भाई) आये हैं या नहीं ? नहीं आये ? हेटमास्टर नहीं आये। रुक गये होंगे। वहां ऐसे आता है, कर्ता-स्वतंत्रपने करे, वह कर्ता। कर्ता का इष्ट, वह कर्म। ऐसा आता है। धर्मी अपने स्वभाव का कर्ता (और) अपना इष्ट अपनी शुद्ध पर्याय। धर्मी को पुण्य-पाप इष्ट है नहीं। पुण्य-पाप का बन्धन का फल सम्यगदृष्टि को इष्ट है ही नहीं। आहा..हा... ! कठिन बात, भाई ! समझ में आया ?

'**कर्ता-स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता।**' यहाँ कर्म लिया न ? कर्ता द्वारा हुआ कार्य। नहीं तो कर्म (उसे कहते हैं), कर्ता का इष्ट, वह कर्म-ऐसा चलता है। करनेवाले की प्रिय चीज वह कर्म। मिथ्यादृष्टि की-करनेवाले की प्रिय चीज विकार। सम्यग्दृष्टि की प्रिय चीज निर्विकारी श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण। आहा..हा... ! बहुत बात बन्द हो गई। वीतराग का मूल मार्ग था, बहुत रुक गया। फेरफार.. फेरफार.. फेरफार.. (हो गया)। सच्ची बात आती है तो (कहते हैं), ए.. एकान्त हो गया, ए.. एकान्त हो गया। चिल्लाते हैं, करो, पुकार करो, तुम्हारे पास (है)। वह पुकार अन्तर में छूनेवाली नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

'**क्रिया-कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।**' देखो ! भाषा। नीचे है ? भैया ! '**क्रिया-कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।**' लो, प्रवृत्ति तो आई। लेकिन कौन-सी प्रवृत्ति ? देह की क्रिया की, शरीर की, वाणी की ? वह नहीं। पुण्य परिणाम की प्रवृत्ति ? नहीं। अन्तरस्वरूप में दृष्टि करके शुद्धभाव करके शुद्धभाव की पर्याय हुई, वही अपनी प्रवृत्ति, वही अपनी प्रवृत्ति (है)। राग से निवृत्ति, वही अपनी प्रवृत्ति (है)। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भावार्थ :- 'मुनिराज स्वरूपाचरण के समय...' मुनिराज शब्द लिया है लेकिन साधक लेना। **'साधक स्वरूपाचरण के समय जब आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं तब ध्यान, ध्याता और ध्येय-ऐसे भेद नहीं रहते, वचन का विकल्प नहीं होता; वहाँ (आत्मध्यान में) तो आत्मा ही कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव वह क्रिया होती है, अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया-वे तीनों बिलकुल अखंड अभिन्न हो जात हैं...'** अपना आत्मा ही शुद्ध कर्ता, शुद्ध क्रिया और शुद्ध परिणाम कर्म। एक हो जाते हैं। ओ..हो..हो... !

ऐसा तो स्वरूपाचरण में यहाँ लिखा है। अनन्तानुबन्धी के अभाव के काल में। देखो ! स्वरूपाचरण चारित्र का घात अनन्तानुबन्धी करता है। पुण्य-पाप की प्रीति अनन्तानुबन्धी भाव है। वह स्वरूपाचरण का नाश करता है। भगवान आत्मा शुद्ध की रुचि की प्रिति वह स्वरूप के आचरण की उत्पत्ति करती है। और विघ्न करनेवाली अनन्तानुबन्धी का नाश होता है। समझ में आया ? एक भी बराबर समझे न, एक ही व्याख्यान.. एक जाने वह सर्व को जाने। एक भाव जाने तो सर्व को जाने। लेकिन एक भी भाव समझ ने की दरकार नहीं और दूसरा कहे तो हाँ.. तीसरा कहे तो हाँ।

मुमुक्षु :- अनेकान्त..

उत्तर :- अनेकान्त का अर्थ क्या ? ऐसे होता है और दूसरे नहीं होता, उसका नाम अनेकान्त (है)। इसी विधि से होता है, दूसरी विधि से नहीं, उसका नाम अनेकान्त (है)। यहाँ खिचड़ीवाद नहीं। समझे ? फुदड़ीवाद, फुदड़ीवाद नहीं है। क्षण में बदल जाये (ऐसा नहीं है)।

'जिस में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ-एकरूप होकर प्रकशानमान होते हैं।' लो ! समझ में आया ? ऐसी अन्तरस्वरूप की दृष्टि, पुण्य-पाप की रुचि, देह का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके अन्तर में आचरण करना, उसमें तीनों बोल दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते हैं। वही प्रकाशमान होता है, वही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा है नहीं। (विशेष कहेंगे...) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण और निर्विकल्प ध्यान

परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभव में दिखै;
दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;
चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं ।।१०।।

अन्वयार्थ :- (उस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के अनुभव में) आत्मानुभव में (परमाण) प्रमाण, (नय) नय और (निक्षेप को) निक्षेप को विकल्प (उद्योत) प्रगट (न दिखै) दिखाई नहीं देता (परन्तु ऐसा विचार होता है कि) (मैं) मैं (सदा) सदा (दृग-ज्ञान-सुख-बलमय) अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्तसुख और अनन्तवीर्यमय हूँ। (मो विखै) मेरे स्वरूप में (आन) अन्य राग-द्वेषादि (भाव) भाव (नहिं) नहीं है, (मैं) मैं (साध्य) साध्य (साधक) साधक तथा (कर्म) कर्म (अरु) और (तसु) उसके (फलनितैं) फलों के (अबाधक) विकल्परहित (चित्पिंड) ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप (चण्ड) निर्मल तथा ऐश्वर्यवान (अखंड) अखंड (सुगुण करंड) सुगुणों का भंडार (पुनि) और (कलनितै) अशुद्धतासे (च्युत) रहित हूँ।

भावार्थ :- इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता किन्तु गुण-गुणी का भेद भी नहीं होता-ऐसा ध्यान होता है। प्रथम ऐसा ध्यान होता है कि मैं अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप हूँ, मुझमें कोई रागादिक भाव नहीं है, मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और कर्म तथा कर्मफल से पृथक् हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप निर्मल ऐश्वर्यवान तथा अखण्ड, सहज शुद्ध गुणों का भण्डार और पुण्य-पाप से रहित हूँ।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ४, गुरुवार

दि. २४-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-१०. प्रवचन नं. ५२

'दौलतरामजी' कृत यह 'छहढाला' है। इसकी यह छठवीं ढाल चलती है। छठवीं का १०वाँ श्लोक है। क्या अधिकार है ? शुद्धोपयोग। आत्माने अनन्तकाल से अनन्त बार शुभ और अशुभ के परिणामरूपी उपयोग तो अनन्त बार किया.. समझ में आया ? यह तो कल कहा था। देहादिक परपदार्थों का तो इसने कुछ किया नहीं, कभी कर सकता ही नहीं। अपने आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वाणी, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, पुत्र, पैसे का तो कुछ जरा-सा भी नहीं कर सकता।

मुमुक्षु :- सब करता है न ?

उत्तर :- कुछ नहीं करता, मूढ मानता है कि मैं करता हूँ। यह भाव करता है, शुभ और अशुभभाव। जिन्हें यहाँ अशुद्ध उपयोग का आचरण कहा जाता है। इसने अनादि से अपनी दशा में अशुद्ध उपयोग का आचरण अनन्तबार निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक गया,वहाँ अशुद्ध उपयोग का आचरण किया है। नहीं किया (तो) शुद्धोपयोग का आचरण। वाणी, यह शरीर चलता है-उस क्रिया को भी आत्मा ने कभी किया ही नहीं; वह तो जड़ की अवस्था की पर्याय-कार्य है। पर्याय कहो या जड़ का कार्य कहो या जड़ का भाव कहो। उस जड़ के भाव को आत्मा कभी नहीं करता। अपना स्वभाव शुद्ध है। उसकी अनन्तकाल में इसने दृष्टि की नहीं; इस कारण इसकी पर्याय में अशुद्ध उपयोग का आचरण , अशुद्ध परिणाम, अशुद्ध का भाग-शुभ और अशुभ दोनों अनन्त बार किये (और) चार गतियों में भटका।

अब यहाँ शुद्धोपयोग की और शुद्ध स्वरूपाचरण चारित्र की व्याख्या है कि जो कभी अनन्तकाल में नहीं किया और करे तब कैसी दशा होती है ? प्रथम अनुभवकाल, प्रथम आत्मा का सम्यग्दर्शन प्राप्ति का काल, उस काल में शुद्धोपयोगरूपी आचरण किस प्रकार होता है ?

उसका यह वर्णन है और तत्पश्चात् भी जब-जब आत्मा ध्याता-ध्यान-ध्येय को चूककर अभेदपने का उपयोग करे, तब भी ऐसा ही शुद्धोपयोग का आचरण होता है। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म। नौंवी गाथा हो गयी, देखो !

अब, '**स्वरूपाचरण चारित्र का लक्षण**' कहते हैं, देखो ! '**और निर्विकल्प ध्यान।**'

परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभव में दिखै;
दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;
चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं ॥१०॥

आहा..हा..! समझ में आया ? समझ में आता है ? पहले उसकी विधि तो जाननी पड़ेगी या नहीं ? अनन्तकाल में यह चीज क्या है, उसकी विधि भी जानने में न आवे तो अन्दर में स्वरूप का, अनुभव का प्रयोग किस प्रकार करे ? ऐसे का ऐसा शुभ क्रियाकाण्ड करते-करते कल्याण हो जाएगा-ऐसा नहीं है। समझ में आया ? दया, दान, व्रत, भक्ति,तप, जप के शुभभाव हो, उनसे आत्मा का कल्याण होगा-ऐसा तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु :- धीरे-धीरे हलका होता जाए।

उत्तर :- उससे धीरे-धीरे हलका होता ही नहीं। हलकी चीज जो निर्विकल्प पदार्थ है, उसे दृष्टि में ले तब हलका होता है। समझ में आया ?

यहां तो यह विशेष बात करते हैं कि बाहर के जड़ आदि निमित्त साधन तो आत्मा के अनुभव में साधकरूप है ही नहीं, परन्तु आत्मा के अन्तर अनुभवकाल में-स्वरूपाचरणचारित्र के काल में कषाय की मन्दता का भेद का विकल्प (हो), वह भी उसे साधकरूप सहायक नहीं है।

यहाँ तो वे नय, निक्षेप, प्रमाण, जिनसे वस्तु की पहले सिद्धि करे। नय अर्थात् एक गुण को सिद्ध करने का जो अंश ज्ञानअंश, जिससे गुण की सिद्धि हो कि ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है। प्रमाण से द्रव्य और पर्याय की सिद्धि करे। त्रिकाल द्रव्य है, वर्तमान अवस्था है। गुण, भेद है-

ऐसा प्रमाण द्वारा निश्चित करे। नय, निक्षेप और प्रमाण। निक्षेप (अर्थात्) वस्तु की स्थिति। वास्तविक द्रव्य किसे कहते हैं, भाव किसे कहते हैं-उसका विचार से निर्णय करे। जिस प्रथम ज्ञान में वह दशा आती है, उस नय-निक्षेप-प्रमाण के ज्ञान का विकल्प भी जहाँ स्वरूप के अनुभव में साधक नहीं होता।

बहुत अन्तर है। अभी की मनुष्यों की ऐसी प्रवृत्ति में उसे ऐसा समझा दिया कि (तुम) यह करोगे तो करते-करते (कल्याण हो जायेगा)। शुभपरिणाम करना, शुभयोग करना। करना, होता है परन्तु वह करते-करते तुम्हारा अनुभव सम्यग्दर्शन होगा... समझ में आया ? ऐसा मानकर उसकी जिन्दगी निष्फल चली जाती है।

यहाँ तो आचार्यों का किया हुआ, 'समयसार' की गाथा है, उसका ही यह श्लोक स्वयं रखा है। समझ में आया ? है न ? तेरहवीं गाथा का है। तेरहवीं गाथा का है न ? '**उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं**' नौंवां श्लोक है। वह काव्य दसवाँ है। 'समयसार' का नौवां श्लोक है, उसकी बात इस दसवें श्लोक में पण्डित 'दौलतरामजी' करते हैं, उनके घर की कुछ है नहीं। हिन्दी में सादी-सरल भाषा में, संस्कृत में जो था, उसे सरल भाषा में रखा है। इतनी बात है, दूसरी कोई बात है नहीं। यह नौवें श्लोक का ही अर्थ है, देखो !

उस स्वरूपाचरणचारित्र के काल में साधकजीव को ऐसा लेना। साधाक-उसमें मुनि लिया है न ? आत्मा अपने अन्तर स्वरूपाचरणचारत्र के शुद्धोपयोग के काल में क्या होता है ? भले एक आठ वर्ष की बालिका हो, छोटा मेढ़क हो, मच्छ हो-वह भी जब-जब आत्मा के सम्यक् अनुभव का प्रथम (बार) प्राप्त करता है, तब उसको ऐसी दशा होती है। समझ में आया ? आहा..हा... ! भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति अखण्डानन्द के अन्तर स्वरूप का शुद्धोपयोग का आचरण, वहाँ '**आत्म-अनुभव में प्रमाण, नय, निक्षेप का विकल्प प्रगट दिखायी नहीं देता।**' सूक्ष्म बात है न ?

भगवान आत्मा अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में अन्तर्मुख होकर स्वरूपाचरण के शुद्धोपयोग में रहे, तब यह नय-जो एक गुण को सिद्ध करने का अंश है, वह वस्तु तो यहाँ अनुभव में सिद्ध है। उसे सिद्ध करने का नहीं रहा। प्रमाण से पूरी सिद्ध करनी थी, वह वर्तमानदशा अनुभवकाल में

पूर्ण चीज की क्या चीज है, वह अनुभव करता है, इसलिए उसे प्रमाण से सिद्ध करने की बात नहीं रहती; निक्षेप से सिद्ध करने की बात नहीं रहती। द्रव्य की योग्यता है, भाव प्रगट दशा में दशा का अनुभव स्वभावसन्मुख वस्तु तो अब सूक्ष्म हो, वह आयेगी या नहीं ?

कहते हैं, आहा..हा... ! भगवान आत्मा अपने निजस्वरूप के सन्मुख, स्वरूप के सन्मुख, विकार से विमुख और नय, निक्षेप और प्रमाण के भेद के विकल्प से भी उपेक्षा करके-विमुख होकर तथा स्वरूप के साधन में एकाकार होता है, वहाँ नय, निक्षेप, प्रमाण का विकल्प नहीं रहता। आहा..हा.. ! अद्‌भूत सूक्ष्म, भाई ! मुनि भले लिखा, साधक (लेना)। पहले कहा साधक है। समझ में आया ?

साधकदशा शुरू होने पर चौथे गुणस्थान में, पाँचवे में या मुनि की शुद्धोपयोग के काल में ऐसी स्थिति होती है। आहा..हा... ! जिसे प्रमाण अर्थात् पूरी चीज का ज्ञान-यह सामान्य वस्तु ध्रुव है, वर्तमान अवस्था पर्याय है-दो के प्रमाणज्ञान द्वारा निश्चित किया है। अन्यमतियों से विपरीत जो कुछ बात अन्यमति कथित है, उससे सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित बात सामान्य ध्रुव, विशेष पर्याय-इस प्रकार प्रमाणज्ञान द्वारा निश्चित किया, परन्तु जहाँ अन्तर में अनुभव होने पर वह विकल्प वहाँ नहीं रहता। समझ में आया ?

एक माललेना हो, माल, पकवान आदि-तो भाव पूछते हैं कि यह कितने रुपये का शेर है ? कि भई पाँच रूपये का शेर। तराजू कहाँ है ? तराजू, तराजू है न ? तराजू लाओ, घड़ा करो, घड़ा सही है या नहीं ? फिर उस ओर जिस तरफ माल डाले, उस ओर थोड़ा-सा मोम-बोम, लाख चिपका दिया हो (तो) पाव शेर, आधा शेर-इतना माल कम तुले। घड़ा करते हैं या नहीं पहले ? घड़ा करता है, घड़ा करते हैं। तराजू समरूप है या नहीं ठीक से ? भाव करे, फिर तराजू की तोल ठीक घड़ा करे। हमारी काठियावाड़ी में घड़ा कहते हैं। घड़ा कहते हैं न ? ऐ..ई.. ! तराजू के घड़े को और तोल के काँटे को (बराबर मिलाते हैं), फिर खाते समय तीनों भूल जाते हैं। खाते समय रटा करता होगा ? पाँच रूपये का शेर यह काँटे (तराजू) का घड़ा करके लिया है और यह पाँच शेर लियाहै, पाँच शेर लिया है। (ऐसा करे तो) स्वाद नहीं आता। समझ में आया ?

वैसे भगवान आत्मा, नय-निक्षेप-प्रमाण के ज्ञान द्वारा यह वस्तु क्या है ? उसका पहले सत्समागम से श्रवण आदि करके निश्चय किया हो.. अनन्तकाल में अनन्त अज्ञानी कहते हैं वैसा नहीं, परन्तु सर्वज्ञ कथित आत्मा एक समय में अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा है। एक समय में अनन्त गुण की पर्याय है-ऐसे प्रमाण से उसका ज्ञान विकल्प से, विकल्प द्वारा, मन के संग द्वारा यह निर्णय किया। नय से निर्णय किया कि एक-एक गुण एक-एक नय से ज्ञाता होता है। निक्षेप से निर्णय किया कि द्रव्य त्रिकाल अनन्त केवलज्ञान को प्राप्त होने योग्य ही यह आत्मा है। सिद्धपद की पर्याय को प्राप्त होने की योग्यतावाला यह द्रव्य है। अन्दर भाव में मैं जितना एकाग्र होऊँ, उतना वर्तमान निर्विकल्पभाव प्रगट होता है-ऐसा पहले निर्णय करे, परन्तु निर्णय करने के काल में यह होता न हो। दूसरा भाव पूछे। उसमें उस समय खाता न हो, और खाता हो तो कोई तुरन्त दुकान से उठा लेता है ? लाओ ! भाव पूछे बिना खाने लगे ? भाव मेरे पूछना नहीं, तराजू लाओ खाने लगू। वह .. मारे, कौन है यह ? भाई !

इसी प्रकार आत्मा उसमें गुण, उसकी दशा, उसमें विकार क्या है-उसे पहले भलीभाँति ज्ञान द्वारा निर्मय करना चाहिए। कितनी कींमत में आत्मा मिलता है और कीतनी कींमत चाहिए उतनी अभी तक भरी नहीं-यह पहले भलीभाँति निर्णय करना चाहिए; निर्णय करने के बाद अनुभव के काल में, वह खाता हो तब यह विचार नहीं रहता, यह यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? कुछ समझा ही न हो, पहले समझे बिना ऐसे-ऐसे करने बैठे, उसमें क्या समझे वह ? ध्यान करो.. परन्तु किसका ध्यान ? क्या चीज है, कितने गुण हैं... आगे कहेंगे, देखो ! अन्दर। '**सुगुण करण्ड**...' यह तो सुगुण करण्ड (अर्थात्) अनन्त गुण का करण्ड है आत्मा। समझ में आया ?'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आता है न ? देखो न !'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' पूरा रत्न का करण्ड भरा है।'समन्तभद्राचार्य'।

यहाँ सुगुणकरण्ड (कहते हैं)। भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त-अनन्त गुण का वह करण्ड है। खोल तो खा। समझ में आया ? अन्दर एकाग्र हो तो अनुभव कर। पर के प्रति जितने विकल्प जाएँ, उतने में उतना वह अनुभव नहीं होता। अद्भुत बात ! लोगों को यहाँ पहुँचना उन्हें कठिन लगता है, इसलिये मानों किसी दूसरे रास्ते से मिल जाए (-ऐसा ढूँढते हैं)।

कहते हैं '**प्रमाण, नय, निक्षेप का विकल्प (उद्योत) प्रगट दिखाई नहीं देता.. उद्योतन दिखै...**' अर्थात् है नहीं, इसका अर्थ ऐसा है। '**प्रगट दिखाई नहीं देता...**' अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कोई विकल्प हो, उसकी बात नही है। भगवान आत्मा.. रात्रि में कहा था न ? ध्याता, ध्यान और ध्येय-इस विकल्प का भेद नहीं है। वहाँ (९वीं गाथा में) कहा था न ? '**चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।**' भगवान आत्मा चैतन्य भगवान कर्ता और शुद्ध-पुण्य-पाप के रागरहित आत्मा की शुद्धदशा, वह आत्मा का काम, वह कर्म, वह कर्तव्य, वह कार्य और वह चैतन्य परिणमता है, चैतन्य परिणमता है, राग नहीं, पुण्य नहीं, वह चैतन्य ज्ञायकमूर्ति भगवान परिणमन कर जो निर्मल क्रिया हुई, वह चैतन्य की क्रिया (इन) तीन प्रकार के विचार में भेद नहीं रहता। ओ..हो..हो...! समझ में आया ?

ऐसे यहाँ तीन का विक्षेप (नहीं है) परन्तु ऐसा विचार रहता है कि, '**मैं सदा (दृग-ज्ञान) अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यमय हूँ।**' यह भी अभी विकल्प है, तब यह विचार चलता है। समझ में आया ? नय, निक्षेप, प्रमाण का ज्ञान किया था, वह विकल्प छूट गया। अब यह मैं हूँ-ऐसा आया, परन्तु है विकल्प-राग। मैं अनन्त दर्शनमय हूँ, मुझ में अनन्त दर्शन है। दृष्टान्तस्वरूपभाव, वह अनन्त है। जिसका स्वभाव हो, उसे माप-अन्त नहीं होता, माप नहीं होता, अमाप वस्तु है।

वस्तु-दृष्टा गुण अनन्त दर्शन है, अनन्त ज्ञान है। बेहद ज्ञान है। अकेला ज्ञान की ही मूर्ति चैतन्यस्वभाव, सर्वज्ञस्वभाव, सर्वज्ञस्वभाव-ऐसा अनन्त ज्ञान, वह मैं हूँ। मैं अनन्त सुख हूँ, अनन्त आनन्द हूँ, देखो ! यह पहले विकल्प (आते हैं)। अनुभव शुद्धोपयोग होने के पहले इन विकल्पों का विचार होता है। आहा..हा...! अद्भुत ! वहाँ तो कहीं सुनने मिले-ऐसा नहीं है। नहीं ? 'रतनगढ़' में क्या मिले ? धूल के रत्न मिले। यह रत्न मिले-ऐसा है ? यह चैतन्यरत्न। चैतन्य रत्नाकर-चैतन्य में चैतन्य के रत्नों का सागर भरा है यह। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्तगुने गुण। आकाश के प्रदेश से अनन्तगुने गुण आत्मा में है। आकाश जो सर्वव्यापक है, सर्व व्यापक आकाश, जिसका माप नहीं, जिसकी हद नहीं-उसके प्रदेश जितने अनन्त हैं, उससे एक आत्मा में अनन्तगुने गुण हैं। समझ में आया ? उनमें भी यह गुण मुख्य है, इससे मुख्य बात ली है। अनन्त चतुष्टय।

मैं अनन्तदर्शन (स्वरूप हूँ)। मैं राग हूँ और पुण्य हूँ-ऐसा नहीं, मैं कर्मवाला हूँ-ऐसा नहीं। सम्यक् अनुभव शुद्धोपयोग के काल पहले भी मैं रागवाला हूँ और कर्मवाला हूँ-ऐसा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? मैं तो अनन्त आनन्दमय हूँ। आहा..हा... ! जहाँ क्लेश की को गन्ध नहीं, जिसमें अशान्ति के भाव की गन्ध नहीं-ऐसा मैं अनन्त आनन्द के वास से बसा हुआ तत्त्व हूँ। ऐसे विकल्प, मन्दराग के विकल्प द्वारा भी, मन के संग द्वारा भी ऐसा विचार शुद्धोपयोग की भूमिका हुए पहले ऐसा एक विचार होता है। आहा..हा... ! अद्भुत बात ! समझ में आया ?

छह खण्ड का राजा हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, वह ध्यान करने बैठे तब इस प्रकार विचार करता है। हो उसके घरमें; छह खण्ड का राज्य मुझ में नहीं, मैं तो अनन्त आनन्दमय हूँ। ऐसा विकल्प उठता है तो अनन्त आनन्दमय हूँ-ऐसा विकल्प अभी उठा है, उस काल में अभी शुद्धोपयोग का अनुभव नहीं है। अभी आँगन है। यह आँगन अब। यह आँगन छोड़कर जाए तब अन्दर में अनुभव होता है। आँगन कहते हैं ? आँगन-आँगन कहते हैं। कुछ समझ में आता है ? आहा..हा... !

वस्तु है न ? और वस्तु है तो अनन्त गुण बसे हुए हैं। वस्तु है तो उसमें अनन्तगुण बसे हुए हैं। जैसे, वास्तु करे तो, वास्तु करे तो कोई मकान में करते हैं या जंगल में करते होंगे ? ऐसे वस्तु भगवान आत्मा है तो उसमें अनन्त.. अनन्त.. संख्या में गुण बसे हुए हैं। उसमें अब प्रवेश करने का वास्तु करने, ठहरने जाता है। उससे पहले ऐसा विकल्प आता है कि, मैं तो अनन्त आनन्दमय हूँ। मुझे स्त्री है या पुत्र है या राज है या परिवार है, कर्म है या मैं रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, पापवाला हूँ-वहाँ यह विकल्प नहीं। समझ में आया ? वह तो आगे 'रहित कहेंगे'। '**च्युत कलनितैं**'। यह कहेंगे।

मैं आ..हा... ! अस्ति महासत्ता धाम भगवान अस्तित्व के भाववाला पदार्थ, अस्तिवाला (है) तो अस्तिवाले में अस्तित्व क्या है ? फिर नहीं क्या-यह बाद में कहेंगे। कलनितैं रहित हूँ; अशुद्ध आदि विकल्पों से तो मैं रहित ही हूँ। समझ में आया ? अद्भुत सूक्ष्म बात ! भाई ! इस मनुष्य को- लोगों को सम्यग्दर्शन का उपयोग क्या ? शुद्ध उपयोग सम्यक् काल में स्वरूपाचरण चारित्र (क्या) ? इसका पता नहीं। शुभभाव से होगा; आगे जाने पर शुद्धोपयोग

आठवें (गुणस्थान) में होगा, जाओ ! उसे कभी चौथा गुणस्थान नहीं होगा, उसे कभी आठवाँ नहीं आयेगा।

कहते हैं, यह अनन्त.. अनन्त.. अनन्त .. सब भूल गया। जो नय, निक्षेप, प्रमाण द्वारा साधक मानता, वह साधकपना भी छूट गया। विकल्प में साधक मानता है कि यह सब वस्तु को सिद्ध के साधन हैं, वे छूटे। रहा इतना विकल्प। 'अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यमय हूँ।' पूर्ण वीर्यमय-पूर्ण बलमय, पूर्ण सामर्थ्यमय। मेरी सामर्थ्य में अनन्त सामर्थ्य पड़ी है। अरे... ! मैं हीन हूँ, अथवा कर्म ने मेरी सामर्थ्य हीन की है-यह तो यहाँ बात ही नहीं है। कर्म ने मेरा वीर्य हीन किया है-यह बात तो है ही नहीं, परन्तु मेरा वीर्य बलहीन है मेरे कारण-यह (भी) यहाँ नहीं है। समझ में आया ? आत्मा के स्वरूपचारित्र के काल में आत्मा का अनुभव, यह सम्यग्दर्शन होने से (पहले), स्वरूप का अनुभव होने से पहले यह विचार सम्यग्दृष्टि को होता है कि सम्यग्दर्शन होने से पहले और अनुभव जब-जब हो, तब पहले धर्मी जीव को मैं कर्म से घाता हुआ हूँ, कर्म से मेरा ज्ञान घाता गया है-यह विचार उसे नहीं होते; वैसे ही मेरा ज्ञान मुझसे हीन है-यह भी विचार नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

अन्तर आत्मा के अनुभव में, आत्मा के सम्यग्दर्शन के अनुभवकाल में, सम्यग्दर्शन इस अनुभवकाल में मेरा ज्ञान ज्ञानावरणी ने घात किया है-यह विचार के काल में यह विचार होता ही नहीं परन्तु मेरा ज्ञान अल्प मुझसे हुआ है-यह बात भी उसके विकल्प में नहीं। समझ में आया ? मैं तो अनन्त ज्ञानमय हूं, वस्तु.. द्रव्यदृष्टि करनी है न ? अनन्त.. अनन्त ज्ञानमय भगवान आत्मा है-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अनुभव के शुद्धोपयोग के काल के पहले ऐसा आत्मा का विचार करता है। आहा..हा... ! पैसावाला हूँ न ! -ऐसा यहाँ नहीं कहते। 'वाला' तो कितने लगे ? पैसेवाला और लड़केवाला और स्त्रीवाला और.. वाला-वाला कहते हैं न ? वह पैर में वाला (बालतोड़ नामक रोग) निकलता है न ? आहा..हा... !

सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव आत्मा के शुद्ध अनुभव के काल पहले या ऐसा स्वरूपचारित्र आचरण-स्वरूपाचरणचारित्र, भगवान शुद्ध चिदानन्द प्रभु के अन्तर आचरण में स्थिर होने से पहले की उसकी भूमिका में ऐसे विकल्प होते हैं। अनन्तज्ञान हूँ, हीन ज्ञान नहीं; अनन्त ज्ञान हूँ; अल्पदर्शन, हीनदर्शन नहीं, पूर्ण दर्शन हूँ; अल्पसुख नहीं; दुःख तो नहीं-दुःख तो नहीं; अल्प

सुख भी नहीं, अनन्त सुख हूँ। आहा..हा... ! अनन्त वीर्य हूँ। वीर्य को अन्तरायकर्म ने रोका-यह तो है ही नहीं, परन्तु वीर्य मुझसे (स्वयं से) हीन हुआ, यह भी अनुभव के पहले यह विचार नहीं। आहा..हा... ! यहाँ तो पर्यायदृष्टि उड़ाना है न ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन के अनुभवकाल में, चौथे गुणस्थान में अनुभव होता है, पाँचवे गुणस्थान में आत्मा का अनुभव होता है, तब भी आत्मा अनुभव में आये उसके पहले ऐसे विकल्प की-विचार की धारा होती है। अनन्त बलमय हूँ, मेरे बल को मर्यादा-हद नहीं; भले क्षेत्र इतना हो, इतना क्षेत्र (है) परन्तु उसका स्वभाव बेहद.. बेहद... अचिन्त्य आनन्द, पूर्ण आनन्द, पूर्ण बल, पूर्ण ज्ञान-दर्शनमय हूँ। आहा..हा.. ! इतनी प्रतीति का विकल्प तो आत्मा के स्वरूपाचरण अनुभवकाल पहले उस भूमिका में उसे आता है। आहा.. ! समझ में आया ?

'(मो विषै) मेरे स्वरूप में अन्य राग-द्वेषादिक भाव नहीं है।' देखो ! भगवान आत्मा अनन्तदर्शन, आनन्द में अन्तर अनुभवकाल में जाता है, अनुभव में जाता है, अपने घर में जाता है, उससे पहले राग, दया, दान, विकल्प-यह मुझमें है ही नहीं। आहा..हा... ! ऊँची बात है, भाई ! यह अन्तिम, मुख्य निर्विकल्प आत्मा के उपयोग का ध्यान.. समझ में आया ? भगवान आत्मा.. मैं तो बेहद दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय हूँ और जो पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, उससे रहित हूँ, उस सहित नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? परन्तु है न ? कौन कहता है ?

भगवान आत्मा अनन्त बेहद आनन्द, ज्ञान, दर्शन का दरिया-समुद्र चैतन्य रत्नाकर (है), उसमें मैल कैसा ? सम्यग्दृष्टि अनुभव करने के काल पहले ऐसा विचार करता है। आहा..हा... ! यहाँ तो अभी उसे अरे..रे.. ! हम तो कर्मवाले हैं, शरीरवाले हैं, और रागवाले हैं और.. अरे... ! यह तो पर्यायदृष्टि का विषय हुआ, वस्तु कहाँ आयी ? समझ में आया ? वस्तु कहाँ आयी ? वस्तु ऐसी भगवान परमानन्द की मूर्ति, एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में शुद्ध चिदानन्द भगवान आत्मा-ऐसा मैं, राग-पुण्य-पाप के विकल्प से राग से रहित हूँ-ऐसा तो विचार-शुद्ध भगवान आनन्द का अनुभव, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने से पहले, उस भूमिका में ऐसे विकल्प आते हैं। आहा..हा.. ! **'मेरे स्वरूप में (आन)...'** 'आन' आया न ?

परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभव में दिखै;

दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।

यह तो 'छहढाला' है। मेरे भगवान आत्मा में, इस अनुभव में धर्मीजीव, अनुभव हुए पहले यह विचार करता है। 'आन भाव जु मो विखै'। नहीं। यह कर्म, शरीर तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप का जो राग होता है, वह मुझ में नहीं है। समझ में आया ? और '**(मैं) मैं साध्य (और मैं) साधक...**' देखो ! यह सम्यक् अनुभव का आनन्द अनुभव अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव।

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रस कूप;

अनुभव मारग मोक्ष को अनुभव मोक्षस्वरूप ॥

यह अनुभव। आत्मा के आनन्द के अनुभव में जो शुद्धोपयोग प्रगट होता है, उससे पहले की दशा में साध्य वस्तु स्वरूप, साधक मैं और.. समझ में आया ? देखो ! साधक मैं और साध्य वस्तु। पर साधक तो नहीं। मैं साध्य-साधक, भाई ! ऐसा है न ? क्या कहते हैं ? सुनो ! मैं साध्य-साधक। सम्यक् अनुभव पहले इस विकल्प का विचार ऐसा होता है, वह राग की मन्दता मुझे साधक है-ऐसा नहीं मानता है। नय, निक्षेप और प्रमण से जो विचार किये, वे मुझे साधक है-ऐसा भी नहीं मानता है। मैं साध्य और मैं साधक हूँ। देखो ! विशेषता ! मैं साध्य पूर्णानन्द की प्राप्त करनेवाला और मैं साधक। मेरे शुद्धभाव का साधन-साधक मैं ही हूँ, राग-पुण्य, दया, विकल्प वह साधक-फाधक है नहीं। आहा..हा... !

मैं... है न ? '**मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितै।**' मैं साध्य और मैं साधक (हूँ)। देखो ! यह साधक की व्याख्या. दुनिया तुफान करती है न कि यह साधक चाहिए, यह साधक चाहिए। अरे.. ! सुन न अब ! वह तो व्यवहार साधन की बात की है। (जो) साधन नहीं है, उसे साधन कहने का नाम व्यवहार है। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द और अनन्त ज्ञान का अनुभव करने से पहले मैं साध्य और साधक मैं ही हूँ। मेरा पूर्ण स्वरूप, वह साध्य और साधकरूप परिणमता हूँ, वह साधक मैं ही हूँ। कोई विकल्प साधक है, कषाय की मन्दता मुझे साधक-मदद करती है और मैं पूर्ण साध्य परमात्मा हूँ (इसका) निषेध करते हैं। ऐ..ई.. ! भाई !

'पंचास्तिकाय' का साध्य-साधक, वह तो व्यवहार की बात हुई। व्यवहार के समय

विकल्प–मन्दकषाय (होते हैं)। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का आनन्द का अनुभव होवे, तब उस मन्दकषाय का साधकपना पंचास्तिकाय में कहा है। उसे यहाँ उड़ा दिया है। समझ में आया ?

'**मैं साध्य साधक मैं अबाधक।**' मैं ही साध्य–साधक हूँ और कर्म तथा '**उनके फलों को विकल्परहित...**' देखो ! कर्म और उसका फल.. जड़कर्म और उसका फल रागादि का जुड़ान होकर होना वह, अल्पज्ञान, अल्पदर्शन का जड़ान होकर होना वह, उन फलों के विकल्प रहित हूँ। उस विकल्प रहित हूँ, भेदरहित हूँ। आहा..हा..! समझ में आया ? विकल्परहित कैसा हूँ ?

'**(चित्पिंड).. ज्ञान, दर्शन चेतनास्वरूप...**' मैं तो चित्पिण्ड हूँ। चित्पिण्ड–चेतना हूँ। ज्ञान–दर्शन भगवान आत्मा। पिण्ड हूँ–ऐसा कहा है। चित्पिण्ड हूँ। पहले मैं साधारण ज्ञान–दर्शन लिया। पिण्ड, पिण्ड, जथ्था, समूह। अकेला ज्ञान का पिण्ड–पूंज हूँ। आत्मा ज्ञानपूंज हूँ–ज्ञान का ढेर हूँ।

'**चंड...**' '**निर्मल तथा ऐश्वर्यवान...**' मैं निर्मल और पूर्ण ईश्वर–शक्तिवान हूँ। मैं ही ईश्वर–पूर्ण समर्थ हूँ। आहा..! यह अनुभव होने के पहले विकल्प में ऐसा आता है। समझ में आया ? '**निर्मल तथा ऐश्वर्यवान...**' चण्ड में उग्रता कही। उग्रता गिनी है न ?

'**अखण्ड...**' '**सुगुणों का भण्डार..**' मैं भगवान आत्मा अखण्ड हूँ। गुण में खण्ड क्या ? अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणों का रत्नाकर प्रभु, अनन्त गुणों का मैं करण्ड–भण्डार हूँ। जितनी केवलज्ञान आदि ऋद्धि प्रगट होगी, वह मेरे भण्डारमें से प्रगट होगी, भण्डार को खोलकर उसमें से निकलेगी। वह राग को खोलकर उसमें से निकलनेवाली नहीं है। आहा..! अद्भुत रचना है.. यह तो हिन्दीभाषा में 'दौलतरामजी' की है–'छहढाला'। समझ में आया ? सरलतम भाषा में रचना की है।

मैं भगवान आत्मा अनन्त आनन्दमय हूँ, मेरे अनन्त शुद्ध रत्नकरण्ड में भरा हुआ तत्त्व कैसा है ? '**अखण्ड सुगुणों का भण्डार...**' मैं ही आत्मा अनन्त गुण का भण्डार हूँ। ऐ..ई..! कठिन (लगे), सुना न हो। ऐसा मैं ? ऐसा मैं ? हम तो यह घाते गये हैं, कर्म से घाते पामर हैं। तू अभी आँगन में आने योग्य नहीं है। स्वरूप के अनुभव से पहले आँगन चाहिए, उस आँगन की भी तेरी तैयारी नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'अखण्ड सुगुणों का भण्डार...' आहा..हा... ! इसे अभी इसका विश्वास (नहीं आता)। इस राग, विकल्पसहित के विश्वास में ऐसी चीज होती है। समझ में आया ? यह मन के विकल्पसहित विचार हों, तब ऐसा आत्मा है-ऐसा अभी तो प्रतीति में वर्तता है। रागहित प्रतीति, हाँ ! अनुभव बाद में। सुगुणों का भण्डार तथा **'(कलनितैं), किलनितैं.. अशुद्धता से रहित हूँ।'** बिलकुल सामान्य जो रागादि कहा था, उसे अब.. समझ में आया ? बिलकुल (रहित हूँ)। **'आन'** कहा था न ? अन्य.. मेरे अतिरिक्त तो अन्य हैं, रागादि अन्य थे न ? 'आन'-अन्य भाव मुझ में नहीं है, परन्तु यहाँ तो यह सब जो राग-द्वेष सब जितने विकारीभाव आदि हैं, उस समस्त अशुद्धता से रहित हूँ। आहा.. !

यह वीर्य की पर्याय, यह ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय इतना वहाँ जोर से विकल्प के सहित का काम करे। ऐसा मैं पर से रहित हूँ, समस्त अशुद्धता से रहित हूँ-ऐसा मैं पर से रहित हूँ, समस्त अशुद्धता से रहित हूँ-ऐसा उसके विकल्पज्ञान में वीर्य में इतना जोर आया, तब विकल्प छूटकर अनुभव में जाए तब विकल्प नहीं रहते। समझ में आया ?

यहाँ 'दौलतरामजी' ने मुनिपने के अधिकार में यह लिया है। मूल तो मुनिपने का अधिकार है, क्योंकि यहाँ चारित्र की प्रधानता से वर्णन किया है, परन्तु जो पहला स्वरूपाचरण है, वह तो वहाँ से शुरू हो गया है। 'परद्रव्य से भिन्न आत्मद्रव्य (की) रुचि भला है' आता है न ? यह गाथा हुई, यह गाथा है इसमें; उसमें लिया है।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

यह ('समयसार' का) छठवाँ कलश है। समझ में आया ? उसमें से लिया है। बारहवीं गाथा (का कलश है)। **'द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्'** उसमें यह बात आ गयी है। समस्त द्रव्यों से, राग से पृथक् मेरी चीज है-ऐसा जो अनुभव, परद्रव्य से भिन्न होना, यह निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव है। दर्शनप्रधानता में यह कथन है। यहाँ इन्होंने चारित्रप्रधान कथन में यह रखा है, परन्तु स्वरूपाचरणचारित्र तो चौथे गुणस्थान से शुरु हो गया है। उसकी विशेषता का वर्णन यहाँ मुनिपने में डाला है। समझ में आया ? कोई कहे कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र नहीं

होता (तो) ऐसा नहीं है। यह तो भाई ने लिखा है, कल कहा न ? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'। अनन्तानुबन्धी क्रोध. मान, माया, लोभ किसे कहना ? कि स्वरूपाचरण का घात करे, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। समझ में आया ? भाई ! ऐसा आता है। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (में आता है), परन्तु यह सब दूसरों के व्याख्यान-टीका (है, ऐसा कहते हैं)। अरे.. ! सुन न

मुमुक्षु :- 'धवल' में है।

उत्तर :- सब में है, बहुत जगह है। अपने चौथे गुणस्थान में स्वसंवेदन नहीं आया था ? 'परमात्म प्रकाश' (में आया था)। स्वसंवेदन चौथे से शुरू होकर बारहवें छद्मस्थ को बहुत होता है; तेरहवें में केवलज्ञान। समझ में आया ? भगवान आत्मा.. ! अभी इसे इसके ज्ञान की यह क्या चीज है-इसका पता नहीं पड़ता और इसे अनुभव और सम्यग्दर्शन हो और धर्म हो.. कहाँ से.. धूलमें से धर्म होगा ? समझ में आया ?

कहते हैं, हम तो सुगुण का भण्डार और अशुद्धता से रहित (है)। अस्ति-नास्ति कर दी है-अनेकान्त किया है। इसमें तो यह बात है। यह है न अधिकार में ? यह गाथा। **'उदयति न नयश्री'**-उसमें है न ? **'अनुभव की दशा में सूर्य का दृष्टान्त'**-ऐसा करके 'बनारसीदासजी' ने यह **'उदयति न नयश्री'** श्लोक है, उसमें डाला है।

जैसे रवि-मंडल के उदै महि-मंडलमैं,

आतप अटल तम पटल विलातु है।

तैसें परमातमाकौं अनुभौ रहत जौलौं,

तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है।

नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,

निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।

जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक है,

बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है ।।१०।।

नय, निक्षेप, प्रमाण भी जहाँ पहले निश्चित किया था, वह भी जहाँ बाधक है तो फिर राग की मन्दता के दूसरे परिणाम इसे साधक हों-यह बात है नहीं। उस तेरहवीं गाथा की शुरूआत में यह बात ली है। '**भूदत्थेणाभिदगा**' यह कोई वहाँ मुनि की बात नहीं है। ऐ.. ! यह तेरहवीं गाथा की बात है, भाई ! परन्तु भूतार्थनय से आत्मा को जाने, उसे वहाँ सम्यग्दर्शन कहा, बस ! उसकी यहाँ बात है। यह समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मुनि को हो, वह सब लागू पड़ता है।

उत्तर :- सब लागू पड़ता है। वह तो फिर आचरण के लिये.. जितना आचरण मुनि को हो, उसका एक अंश श्रावक को होता है। कहो, इसमें समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा अपना स्वरूप, स्वरूप, उसका आचरण; स्वरूप का आचरण। यह पुण्य-पाप का आचरण उसका स्वरूपाचरण है ? तब सम्यग्दर्शन कैसा ? उस विकार का आचरण तो अनादि का है। कहो, भाई ! पर-स्वरूप के आचरण और स्व-स्वरूप के आचरण में तो पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। पुण्य-पाप के भाव-विभाव पर स्वरूपाचरण है, परभाव आचरण है। वह परभाव आचरण धर्म है ? आत्मा तो अनन्तकाल से पर स्वरूप के आचरण से छूटकर उसमें से स्वरूप में आये, तब उसके स्वरूप में एकाग्र हुए बिना आचरण कहाँ से प्रगट होगा ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहाँ से प्रगट होंगे ? समझ में आया ?

यहाँ तो यही कहा है-(मैं) भगवान आत्मा सुगुण का करण्ड-भण्डार हूँ। अनन्त आनन्द आदि गुण का भण्डार और '**कलनितै च्युत**...' मैं स्वयं ही अशुद्ध से च्युत हूँ, मेरे स्वरूप से ही मैं अशुद्ध से च्युत हूं। क्या (कहा) ? मेरे स्वरूप से ही अशुद्ध से च्युत हूँ, हटा हुआ, च्युत अर्थात् रहित। मैं पूर्णानन्द ज्ञान से सहित, मैं स्वयं अशुद्धता से च्युत हूँ अर्थात् रहित ही हूँ। आहा..हा... ! यह बात सुनने मिलना मुश्किल पड़ती है। यह सुनि नहीं, विचारे नहीं, मनन नहीं करे और अन्दर में प्रयोग नहीं करे और उसे धर्म हो जाए.. ऐसा का ऐसा अनन्तकाल से भटकता है। कहते हैं कि मैं तो अनन्तगुणों का करण्ड भण्डार हूँ, मुझ में अशुद्धता (से) रहित हूँ; मैं स्वयं ही अशुद्धता से रहित हूँ-यह आत्मा कहलाता है। समझ में आया ?

भावार्थ :- 'इसे स्वरूपाचरण चारित्र के समय साध को आत्म-अनुभव में...' यह

साधक इसमें लिखा है, हाँ ! पहले एकबार कहा था। इसमें कहा था, पहले लिखा है, इसमें लिखा है। '**आत्म-अनुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता...**' विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति का उत्थान अनुभव में नहीं होता, '**परन्तु गुण-गुणी का भेद भी नहीं होता..**' लो ! मैं भगवान आत्मा अनन्त गुणवाला और यह अन्त गुण-ऐसा भेद का विकल्प भी वहाँ नहीं है। गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी शुभराग है, शुभ-उपयोग है; वह शुद्ध-उपयोग नहीं है। आहा..हा...! '**ऐसा ध्यान होता है।**' ऐसी एकाग्रता शुद्ध समकित में-अनुभव में, मैं गुणी और यह गुण-ऐसा भेद का शुभराग भी नहीं होता, शुद्धोपयोग होता है। (भेद का विकल्प) तो शुभराग है, शुभउपयोग है। अन्तर के ध्यान में उसे शुभराग-गुण-गुणी का भेद नहीं और अकेला शुद्धोपयोग होता है।

'**प्रथम ऐसा ध्यान होता है...**' देखो ! '**कि मैं अनन्त दर्शन, अन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप हूँ; मुझमें कोई रागादिकभाव नहीं है।**' 'आन' में आ गया न ? 'आन' में। '**मैं ही साध्य, मैं ही साधक हूँ...**' देखो ! मैं रागादिरहित, अशुद्धता से रहित-ऐसा शुद्धभाव ही साध्य और साधक, वह मैं ही हूँ। निश्चय साध्य-साधक कहा था। समझ में आया ? साध्य निर्मल पूर्ण और साधक राग-यह यहाँ नहीं है। पूर्ण निर्मलानन्द आत्मा की दशा, वह साध्य है और मैं ही निर्मलानन्द और उसका साधनेवाला मैं अपूर्ण निर्मलदशा, वह मैं साधक हूँ; परन्तु साधक और साध्य में मेरी दशा ही दोनों में निर्मल है। साधक में राग की मन्दता साधक और पूर्ण साध्य-उसमें मैं हूँ नहीं। कहो, समझ में आया ?

'**तथा कर्म और कर्म के फल से पृथक् हूँ।**' आठ कर्मों से तो पृथक् परन्तु आठों के उदय के फल से पृथक्। ओ..हो...! १४८ प्रकृतियाँ ली है न ? १४८ प्रकृतियां तो नहीं, परन्तु उनकी तरफ का वर्तमान पर्याय का जुड़ान होकर मुझमें हीनदशा (होती है), वह (भी) नहीं। समझ में आया ? ईश्वर की गद्दी पर बैठने जाए तो वहाँ अन-ईश्वरता कैसी ? समझ में आया ? '**मैं कर्म और कर्म के फल से पृथक् हूँ। ज्ञान-दर्शन चेतनास्वरूप निर्मल ऐश्वर्यवान...**' मैं ज्ञान-जाननेवाला, दर्शनस्वरूप, ऐश्वर्य, बलवान (हूँ)। '**तथा अखण्ड सहज शुद्ध गुणों का भण्डार-**' लो ! मैं तो अखण्ड गुण (का भण्डार हूँ)। गुण में खण्ड कैसा ? एकरूप गुण अखण्ड गुण है।

द्रव्य, अखण्ड एक सम्पूर्ण होने से उसका ज्ञानादि स्वभाव सम्पूर्ण है। 'श्रीमद्' ने लिया है न ? 'श्रीमद्' का वाक्यहै। जीवद्रव्य एक अखण्ड सम्पूर्ण होने से उसकी ज्ञान-आनन्द आदि सामर्थ्य सम्पूर्ण है। जो सम्पूर्ण वीतराग होता है, वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है-यह वाक्य है। अपने स्वाध्याय मन्दिर में कोने में है।

जीव एक अखण्ड, ऐसे (ही) गुण एक अखण्ड-ऐसा लेना। वहाँ जीव को पूरा द्रव्य लिया है। यहाँ भी गुण एक अखण्ड (लिया है)। गुण अखण्ड है। गुण में खण्ड कैसा ? ज्ञान अखण्ड, दर्शन अखण्ड, आनन्द अखण्ड-सब होकर द्रव्य अखण्ड है। समझ में आया ? आहा..हा..! ज्ञान-दर्शन-निर्मल (तथा) अखण्ड, वह भी सहज। मेरा स्वभाव ही ऐसा अखण्ड है। ऐसे शुद्ध गुण का मैं भण्डार हूँ। समझ में आया ?

भण्डार..भण्डार.. पहले कहा था न ? निधि। सातवें में कहा था। सातवें श्लोक में कहा था न ? यह आया-'**सुनिये स्वरूपाचरण अब; जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' यह सातवें श्लोक की अन्तिम दो (लाईने) थी। यही का यही सातवां श्लोक है न ? '**सुनिये स्वरूपाचरण अब; जिस होत प्रगटै आपनी निधि मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' देखो ! इसमें पैसा-बैसा की निधि नहीं। भाई ! आहा..हा... ! उन्हें पैसे की कहाँ पड़ी है ? कहो, समझ में आया ? भगवान आत्मा...कहते हैं कि स्वरूपाचरण को सुनो कि जिससे आत्मा की निधि प्रगट होती है। '**मिटै पर की प्रवृत्ति सब।**' यह विकल्प आदि की प्रवृत्ति मिटकर स्वरूप के आचरण की प्रवृत्ति होती है। उसे भगवान, मोक्ष का मार्ग और उसे अनुभव कहते हैं।

'**आशय यह है कि समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित..**' संक्षिप्त किया, '**निर्विकल्प आत्म-स्थिरता को...**' निर्विकल्प आत्मस्वरूप की स्थिरता को '**स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।**' यह चारित्र चौथे (गुणस्थान) से आंशिक प्रगट होता है। पाँचवे में विशेष, छठवें में विशेष, सातवें में विशेष होकर केवलज्ञान में पूर्ण (प्रगट होता है)। यह स्वरूपाचरणचारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।(विशेष कहेंगे...) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

स्वरूपाचरणचारित्र और अरिहन्त दशा

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकैं नाहीं कह्यो।
तब ही शुकल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;
सब लख्यो केवलज्ञान करि, भविलोकको शिवमग कह्यो ।।११।।

अन्वयार्थ :- (स्वरूपाचरणचारित्र में) (यों) इसप्रकार (चिन्त्य) चिंतवन करके (निज में) आत्मस्वरूप में (थिर भये) लीन होने पर (लिन) उन मुनियों को (जो) जो (अकथ) कहा न जा सके ऐसा-वचन से पार-(आनंद) आनन्द (लह्यो) होता है (सो) वह आनन्द (इन्द्र) इन्द्र को (नाग) नागेन्द्र को, (नरेन्द्र) चक्रवर्ती को (वा अहमिन्द्र को) या अहमिन्द्र को (नहीं कह्यो) कहने में नहीं आया होता । (तब ही) वह सवरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् जब (शुक्ल ध्यानाग्नि करि) शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा (चउघाति विधि कानन) चार घातिकर्मोरूपी वन (दह्यो) जल जाता है और (केवलज्ञानकरि) केवलज्ञान से (सब) तीनकाल और तीनलोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के सर्वगुण तथा पर्याय को (लख्यो) प्रत्यक्ष जान लेते हैं, तब (भविलोकको) भव्य जीवों को (शिवमग) मोक्षमार्ग (कह्यो) बतलाते हैं।

भावार्थ :- इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनिराज जब उपरोक्तानुसार चिंतवन विचार करके आत्मा में लीन हो जाते हैं तब उन्हें जो आनन्द होता है वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) या अहमिन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नहीं होता । यह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से-शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा-चार *घातिकर्मों का नाश होता है और अरिहन्त दशा तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है जिसमें तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

* घातिकर्म दो प्रकार के हैं : द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्धदशा प्रगट होने पर भावघातिकर्मरूप अशुद्ध पर्याये उत्पन्न नहीं होती वह भावघातिकर्म का नाश है, तथा उसी समय द्रव्य-घातिकर्म का स्वयं अभाव होता है वह द्रव्य-घातिकर्म का नाश है।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन कृष्ण ६, शनिवार
दि. १२-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-११,१२,१३. प्रवचन नं. ५३

'छहढाला' छठवीं ढाल। इसकी ११वीं गाथा है। हिन्दी में फर्क होगा, नहीं ? है ? हिन्दी में ११, गुजराती में ११, देखो ! सात गाथा तक कल हुई थी और ८, ९ १० पहले हो गयी थी। दूसरा पद था न। एक दिन थे या नहीं। रविवार, अमावश्या। अमावश्या को रविवार (था), क्योंकि सोमवार को एकम से न ? वे रविवार को आये थे और फीर भाग गये थे न ? पता पड़े न, दूसरे दिन नहीं रहे इसलिए। सोमवार को एकम से और मंगलवा को दूज थी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, नहीं; वे तो नहीं रुकते थे। इस अपेक्षा से याद रह गया हो ऐसा। कि दूज पर आये थे और नहीं रुकना था, ऐसा। उस दिन यह चला था। पहले ८-९-१० अब यहाँ ११वीं साथ सन्धि करके बात करते हैं। देखो !

स्वरूपाचरण-चारित्र और अरिहन्त अवस्था

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकैं नाहीं कह्यो।
तब ही शुकल ध्यानागिग करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;
सब लख्यो केवलज्ञान करि, भविलोकको शिवमग कह्यो ।।११।।

पहला '**यों...**' शब्द पड़ा है। स्वरूपाचरणचारित्र में इस प्रकार विचार करके.. इन तीन गाथाओं में क्या कहा, अन्तिम क्या है ? देखो ! कि धर्मीजीव प्रथम आत्मा का निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करके, आत्मा अखण्ड आनन्द शुद्ध चैतन्य वस्तु है, उसकी अन्तर्मुख दृष्टि करके आत्मा के ज्ञान के वेदन द्वारा स्वरूपाचरण का अंश प्रगट करके जो सम्यग्दर्शन हुआ,

उस भूमिका को चौथा गुणस्थान कहते हैं। समझ में आया ?

आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु ! उसकी पवित्रता की एकता में, इस पवित्र स्वरूप निज भगवान आत्मा की एकता में जो पवित्रता का अंश प्रगट होता है, वह निर्विकल्पदशा है। अन्दर में भेद बिना (अर्थात्) आत्मा ज्ञानगुण और आत्मा धरनेवाला-ऐसा भेद भी, प्रथम सम्यग्दर्शन के काल में स्व-आश्रय में यह भेद नहीं होता। यहाँ ऊपर की बात की है। समझ में आया ?

यहाँ ऊपर की बात की है कि जिस ध्यान के बाद श्रावक को देशचारित्र आंशिक प्रगट होता है, छठवें गुणस्थान में मुनि को सकलचारित्र प्रगट होता है। पश्चात् स्वरूप में लीनता होने पर सातवें गुणस्थान की बात विशेष यहाँ ली है। जो ध्यान में इतना लवलीन होता है.. विचार कहते हैं, यहाँ '**यों चिन्त्य**' शब्द प्रयोग किया है। पहले विचारणा में वह होता है। क्या ? कि-

मैं साध्य साधक में अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;

चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितै॥१०॥

दसवीं गाथा के अन्तिम दो पद है। मैं एक साध्य और साधक, यह अबाधक विचार भी जहाँ छूट जाते हैं। मैं साध्य हूँ-साधनेवाला अथवा साधनेयोग्य वस्तु, में साधक हूँ कि यह विधानरूप बाधक है, यह समस्त अबाधक अथवा बाधारहित हूँ। '**कर्म अरू तसु फलनितैं..**' कर्म और उसके फल से छूट जाता है-ऐसा विचार अन्दर करता है। '**चित् पिंड चंड..**' ज्ञानपिण्ड चण्ड-उग्र। अकेला ज्ञान का गोला भगवान चैतन्यसूर्य, उसमें '**अखण्ड सुगुणकरंड...**' अखण्ड सुगुणकरण्ड (अर्थात्) अकेले गुण की करण्ड आत्मा है। भगवान जाने क्या कहते हैं ? समझ में आया ?

धर्मी जीव को पहले सम्यग्दर्शन में ऐसा प्रगट होता है। यहाँ सातवें गुणस्थनान की बात है। यहाँ सातवें में चितपिण्ड-मैं ज्ञान का पिण्ड चैतन्य समुद्र हूँ, अन्दर स्वभाव (हूँ)। चण्ड उग्र स्वभाव से भरा हुआ अखण्ड-जिसमें खण्ड नहीं; सुगुण करण्ड-अकेले अनन्त गुण। जैसे सिद्ध भगवान को अनन्त गुण हैं, वे पर्याय में प्रगट हो गये हैं। भगवान सिद्ध परमात्मा को (प्रगट हुए हैं।) इतने ही गुण मुझ में सुगुण करण्ड-इन सब अनन्त गुणों का मैं करण्ड-भण्डार हूँ।

'च्युत पुनि कलनितैं...' मैं अशुद्धभाव से रहित हूँ। अशुद्ध जो विकल्प-मलिन शुभाशुभराग (होता है), उससे (रहित) हूँ, मलिन से रहित हूँ। स्वरूप के पूर्ण गुण से अखण्ड एकरूप हूँ-ऐसा जहाँ ध्यान जमें, तब उसे विकल्प छूट जाते हैं, सप्तम गुणस्थान का स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। समझ में आया ? जो मुनि को होता है। मुनि को अन्दर में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान (होता है)। सच्चे मुनि ! उन्हें मुनि कहते हैं न ? बाहर से कोई वेष पहिनकर छोड़ा या नगन हो, वह कोई मुनि (नहीं है)।

अन्तर में आनन्दस्वरूप का स्वाद लेकर आत्मा में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, उसका स्वाद-अनुभव लेकर और आगे उग्ररूप से आनन्द के स्वाद में स्थिर होता है, तब उसे सप्तम गुणस्थान प्रगट होता है, फिर विकल्प उठे तो छठवां गुणस्थान आता है-ऐसा छठवाँ-सातवाँ हजारों बार आता है। समझ में आया ? उसका-छठवें का-सातवें का काल बहुत थोड़ा है, परन्तु वेदन में सप्तम आने पर बहुत अन्तर थोड़े काल आनन्द का वेदन हो जाता है। छठवें गुणस्थान में विकल्प आने पर फिर प्रमत्तभाव हो जाता है। उसे अब छोड़कर यहाँ अकेली अप्रमत्तदशा सातिशय, आगे बढ़ने की दशा का वर्णन करते हैं। कहो, समझ में आया ?

'यों चिन्त्य...' देखो ! ऐसा चिन्तवन करते अन्तर में देह, वाणी, मन या पुण्य-पाप की अशुद्धता मुझमें है ही नहीं; मैं तो पूर्ण आनन्दकन्द सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप हूँ। जैसे सिद्ध हैं, वैसी ही मेरी चीज-अन्दर वस्तु है-ऐसा ध्यान में, ध्यान से पहले पहली विचारणा करते हुए **'यों चिन्त्य...'** यह शब्द पड़ा है। ऐसी पहले विचारणा करता है। फिर **'निज में थिर भये...'** विचारकर आत्मस्वरूप में लीन होने से... समझ में आया ? उसने मोक्षमार्ग प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो आत्मा के वेदन से प्रगट किया होता है, तत्पश्चात् मुनि होता है, द्रव्यलिंगी-बाहर में नग्न मुनि होता है। अन्तर में भाव-आनन्दकन्द की उग्रता तीन कषाय के अभाव की वेदन में होती है। वह सकलविरतिवाला भी ऐसे विचार करके, जब (उन्हें भी) छोड़कर ध्यान में स्थिर होता है, तब उसकी बात है। वह **'निज में थिर भये...'**

मुमुक्षु :- चिन्तवन...

उत्तर :- वह चिन्तवन एकाग्र होने पर छूट जाता है। ऐसे लीन होने पर वह चिन्तवन-

विकल्प (छूट जाता है)। अन्तर में आनन्द आने पर विकल्प छूट जाए... चिट्ठी पढ़ी है या नहीं ? 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में आता है। 'सविकल्प द्वारा निर्विकल्प ध्यान।' भाई ! सम्यक्त्वी को भी (ध्यान होता है)। चौथे गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में हो.. आहा..हा... ! यहाँ कौन जाने क्या होगा धर्म ? समझ में आया ?

धर्म कोई बाहर की प्रवृत्ति, यह प्रवृत्ति और यह और वह कोई धर्म नहीं है, धर्म (तो) अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा वस्तु है न ? चिदानन्दघन। देहप्रमाण शीतल शिला, शान्त शिला आत्मा है, अरूपी। यह देह तो मिट्टी है, वाणी जड़ है, आठ कर्म है, वे मिट्टी-धूल है; अन्दर शुभ और अशुभभाव होते हैं, वे विकार है। इनके अतिरिक्त पूरा दल चैतन्य अरूपी विज्ञानघन, अनन्त शीतल, शीतल शान्त शिला, अविकारी वीतरागस्वभाव से भरा आत्मा अरूपी है, परन्तु उसका स्वरूप है। अरूपी है परन्तु उसका स्वरूप है। इस मिट्टी के रंग, गन्ध, रस उसमें नहीं है। वह अरूपी घन, घन अनन्त गुण का विज्ञानघन पिण्ड शीतल शान्त और अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण मूर्ति देहप्रमाण भिन्न है। समझ में आया ?

उसका प्रथम भान होने में सम्यग्दर्शन होने के बाद जब मुनि होता है-सकलविरति अत्यन्त त्यागी, नग्नदशा, अन्तर में आनन्द की उग्रता (सहित), वह जब ध्यान में स्थिर होता है, तब की यह बात करते हैं। पहले बहुत बात (आ गयी है)। यह तो अन्तिम गाथा है न ? अन्तिम गाथा। जिस ध्यान में प्रमाण, नय, निक्षेप भी नहीं। यह नय है, यह ज्ञान है, यह ज्ञान को जाननेवाला नय है, पूरी वस्तु को जाननेवाला प्रमाण (ज्ञान) है, यह विचार भी जहाँ नहीं है-ऐसे ध्यान में वह जमे (तब) साथ में बड़े हजार बेण्ड-बाजे एकत्रित होकर बजते हों (तो भी) उसे पता नहीं पड़ता। समझ में आया ?

यह '**निज में थिर भये...**' देखो ! अपने स्वरूप में स्थिर लीन होने पर '**तिन अकथ जो आनन्द लह्यो...**' उन मुनियों को, कहा न जा सके-ऐसे वनच से पार आनन्द होता है। उस आनन्द का क्या कहें ? भाई ! इस राग-द्वेष का दुःख है। राग-द्वेष करता है, वह दुःख है। जो शुभाशुभभाव होते हैं, वह दुःख है। अन्दर उस दुःख से रहित दशा हुई तो दुःख रहित यह अतीन्द्रिय आनन्द हुआ। समझ में आया ? यह खरगोश के सींग जैसा नहीं है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है-ऐसा कहते हैं। वस्तु है या नहीं ? वस्तु में एकाग्र होने पर वस्तु में भरा

हुआ अतीन्द्रिय आनन्द (प्रगट होता है।) आत्मा त्रिकाल नित्यानन्द आत्मा है। पता नहीं पड़ता आत्मा कैसा होगा ? ऐसा आत्मा होगा ?

नित्यानन्द आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा है। केवलज्ञानी के ज्ञान में तीन काल के जितने आत्मा जाने हैं, उन भगवान ने अन्तर में, आत्मा को आनन्द और अतीन्द्रियज्ञान-शान्ति का कन्द देखा है। समझ में आया ? परमेश्वर तीर्थंकरदेव ! बाद में यह यहाँ कहेंगे... केवलज्ञानमें से मार्ग बतायेंगे-ऐसा कहेंगे। इस आत्मा का भान-अन्तर में स्थिर होने पर इतना आनन्द आता है कि अकथ्य-वाणी में उस आनन्द का कथन नहीं हो सकता है। समझ में आया ?

जगत की एक घी जैसी साधारण चीज, स्वाद ख्याल में होने पर भी दूसरे किसी पदार्थ के साथ तुलना करके बता सके-ऐसी वाणी में ताकत नहीं है। समझ में आया ? घी का स्वाद आने पर वह स्वाद कैसा है ? - यह ख्याल में होने पर भी, कैसा, किसके साथ तुलना करने-मिलान करके उसका माप-प्रमाण दिया जा सके-ऐसी कोई चीज नहीं है, ऐसी वाणी नहीं है, तो भगवान आत्मा की अन्तर दशा में अनुभव-दृष्टि में पड़ने पर जो आनन्द आता है, (वह) अकथ्य है। क्या होगा यह ? यह कषाय होती है, तब पूरे शरीर में मानो ताप.. ताप.. आकुलता होती हो। रोमांच (रोम खड़े) हो जाता है न ? ऐसी आकुलता, आकुलता होती है। मुझे कहीं ठीक नहीं है, हाँ ! ऐसी प्रतिकूलता होती है न ? मुझे कहीं ठीक नहीं है, मुझे कहीं शान्ति नहीं है-ऐसा नहीं कहते ? मुझे अन्दर दाह है, तेल की तरह जलता है। वह क्या जलन है ? वह राग-द्वेष की आकुलता है। उस आकुलतारहित अन्दर की दशा हो, उसे आनन्ददशा कहते हैं। समझ में आया ? वह आनन्द अकथ्य-कहा न जा सके-ऐसा वचन से पार '**आनन्द लह्यो**', आनन्द लह्यो अर्थात् ऐसा होता है।

'**वह आनन्द इन्द्र को, नागेन्द्र को, (नरेन्द्र) चक्रवर्ती को या अहमिन्द्र को कहने में नहीं आया...**' अर्थात् उन्हें नहीं हो सकता। समझ में आया ? यह अतीन्द्रिय आनन्द का कथन नागेन्द्र, नरेन्द्र को भी हो सके-यह वस्तु का पता नहीं है अथवा उन्हें नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन का आंशिक (आनन्द) है, उसकी (यहाँ) बात नहीं है। यह तो उत्कृष्ट... बात है। चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियों में भी वह आनन्द नहीं है, देव को करोड़ों अप्सराओं में भी वह आनन्द

नहीं है।

'वह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने पर...' अब आगे ले जाते हैं। **'तब ही (शुक्ल ध्यानाग्नि करि) शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि द्वारा...'** अन्तर में शुक्ल अर्थात् उज्जवल एकाग्रता, उज्जवल एकाग्रता (होती है)। उजली कहते हैं न ? तुम्हारे स्वच्छ कहते हैं ? क्या कहते हैं उजली को ? उज्जवल.. शुक्ल.. शुद्ध चैतन्यपिण्ड पूर्ण, उसमें निर्मल ध्यान की धारा, निर्मल ध्यानधारा एकाग्र होवे, उसे शुक्लध्यान कहते हैं। समझ में आया ? उस **'शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा (चउ घाति विधि कानन) चार घातिकर्मों रूपी (कानन) जंगल...'** जंगल, बड़ा जंगल, उसे जल जाता है। घाति से द्रव्यघाति की बात की है परन्तु भाव घाति भी उसमें आ गया। अपने शुद्ध स्वरूप में बहुत लीन होने पर अशुद्धता के भाव का नाश हुआ, वह भावघाति का नाश हुआ-अशुद्धता का नाश हुआ, वह (भाव) कर्म का नाश हुआ; वह जड़घाति का नाश उसके स्वयं के कारण हुआ है।

उसे चार घाति(कर्म) जल जाते हैं **'और केवलज्ञानी (तीन काल) तीन लोक में...'** लो ! भाषा तो पहले यह आयी। देखो ! चहुँ घाति जलते हैं। कथन की शैली क्या करना ? केवलज्ञान द्वारा तीन काल **'तीन लोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के...'** तीन काल-तीन लोक और अलोक-ऐसा ले लेना.. **'समस्त पदार्थों के गुण...'** और उनकी अवस्था **'प्रत्यक्ष जान लेते हैं...'** लो ! उसे अरिहन्त अवस्था कहते हैं।

पहले से शुरू करके.. पहले दु:ख की दशा से शुरु किया था। पहले शुरु किया है न ? पहली ढाल में। ऐसे-ऐसे दु:ख सहन किये, ऐसे दु:ख सहन किये; अब आनन्द तक ले गये। उन सब दु:खोड़ का नाश करके, जिन्होंने केवलज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट किया है। कहो, समझ में आया ? **'तब.. वे प्रत्यक्ष जान लेते हैं और तब (भविलोक को शिवमग कह्यो) भव्य जीवों को...'** पात्र जीव थे, उनके लिये कहते हैं कि **'मोक्षमार्ग बतलाते हैं।'** यह तो वाणी सहज निकलती है, परन्तु पात्रजीव के लिये अरिहन्त भगवान केवलज्ञान होने के बाद वाणी द्वारा मोक्षमार्ग बतलाते हैं-ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ :- 'इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय...' विपरीत आचरण, वह विभआव

आचरण, विकार आचरण है। यह स्वरूपाचरण अर्थात् अविकारी आचरण। समझ में आया या नहीं ? विकारी शुभाशुभपरिणाम, वह विभाव आचरण है। यह स्वरूपाचरण है। चौथे गुणस्थान से स्वानुभूत्यावरण का अभाव होने पर.. चौथे गुणस्थान से स्वानुभूत्यावरण का क्षयोपशम होने पर, यहाँ स्वयं ही उघाड़दशा प्रगट होने पर अनुभूति में आनन्द का अंश स्वानुभूति प्रगट होती है। समझ में आया ? उस स्वानुभूति की उग्रता (होने पर) पूर्ण अशुद्धता मिटकर घाति (कर्मों) का अभाव हुआ। पूर्ण अनुभूति हो गयी। आत्मा की पूर्ण अनुभूति (हुई), उसका नाम केवलज्ञान कहलाता है।

ऐसे आचरण के '**समय मुनिराज उपरोक्तानुसार विचार करके...**' उपरोक्तानुसार अर्थात् यह तीन गाथायें कही न ?७-९ और १० '**यों चिन्त्य**' शब्द है न ?'**जब आत्मा में लीन हो जाते हैं, तब उन्हें जो आनन्द होता है, वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) या अहमिन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नहीं होता।**' संसार के विषयों में सुखमय आनन्द नहीं होता। कितनों को तो ऐसा लगता है कि यह सब ऐसा आत्मा का ऐसा स्वरूप होगा ? ऐसा वर्णन वह क्या होगा यह ?

मुमुक्षु :- नमूना बताकर माल..

उत्तर :- ठीक ! यह तो अभी पहले कहा न-स्वानुभूत्या का आवरण मिटने पर अन्तर अनुभूति होवे, वह उसका नमूना है। यह तो पहले कहा। कौन करे ? तो कहते हैं, कौन नमूना बतावे ? भाई ! ऐसा कि नमूना बताकर इतनी बड़ी बात (करना)। कहा, पहले तो बात की थी। भगवान आत्मा जब.. जब.. जब.. जब.. स्व में आवे, तब उसे अनुभूति होती है। लाख बात की बात, चाहे जितना पढ़ा हो और चाहे इतना सीखा हो और चाहे इतने व्रतादि पालन किये हों और कषाय की मन्दता की हो और सब लाख बात की हो, स्वचैतन्य में एकाग्र होकर अनुभूति में आत्मा के आनन्द का वेदन और वीर्यान्तराय का उतना क्षयोपशम, स्वानुभूति के आवरण का क्षयोपशम... समझ में आया ? उतना अनुभव के वेदन में पहले उसका नमूना आता है। समझ में आया ? पहले नमूना बताये बिना यह सब ?-ऐसा कहते हैं वे। कौन बताये ? क्या होगा ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, तो कहा न ! पहले से शुरूआत तो की थी, परन्तु उसको चखे बिना स्वाद का क्या पता पड़े ? स्वाद तो यह चखे तब इसे पता पड़े न कि ऐसा स्वाद वह लेता है। ऐसा स्वाद वह लेता है-यह बात किसे पता पड़े ? उस स्वाद को स्वयं जाने उसे पता होता है कि ऐसा स्वाद मुझे आया, वैसा स्वाद उसे आया। या दूसरे का स्वाद जानकर यहाँ स्वाद आ जाता है ? ऐसा कि लोचा स्वयं खाये और अन्य को (स्वाद आ जाए) ? आहा..हा... !

यह चैतन्य सत्ता भगवान अनन्त गुणों का पिण्ड है। समस्त विकल्पों की रुचि और पर का आश्रय छोड़कर, पहले ही भगवान के भण्डार के खजाने को पहिचाने। यह पहिचाने कौन ? दूसरा कोई पहिचान करा देगा ? लो !

मुमुक्षु :- जिसे भोग आ गया है, उसे तो सरल हो गया है, परन्तु हमारे जैसों को ?

उत्तर :- यही कहते हैं न ? इसे ऐसा करना-ऐसा कहते है। इसे ऐसा करना। इसे बहिर्मुख की वृत्ति छोड़कर अन्तर्मुख में जाना। यह इसका प्रयोग और योग और अजमाइश है। इसीलिये तो कहा-'**लाख बात की बात निश्चय उर आणो, छोड़ी चगत द्वंद-फंद आतम ध्याओ।**' स्वयं वहाँ पहले कह गये हैं। '**परद्रव्यनतैं भिन्न आतमरुचि भला है।**' आया था न अन्दर ? उसमें यह कहा था न वहाँ। परन्तु रुचि कौन छोड़े ? दूसरा-कहे वह छोड़े ?

शुद्धस्वरूप पूर्ण आनन्द और अनन्त गुण का पिण्ड है। यह पहले से इसके ख्याल में प्रतीतिरूप से यथार्थ श्रद्धा होनी चाहिए। यह श्रद्धा होने के बाद विकल्प तोड़कर अन्दर स्वरूप में स्थिर होना। ('समयसार' गाथा) १४४ में आता है न ? ज्ञानस्वरूप आत्मा है, आनन्दस्वरूप आत्मा है-उसका पहले विकल्प द्वारा निर्णय करना, तत्पश्चात् वह विकल्प तोड़कर मतिज्ञान के भाव को अन्दर में स्थापित करना और श्रुत को अन्दर... भाई ! आता है न ? समझ में आया ? ('समयसार गाथा') १४४... आहा..हा... ! कर्ता को यह क्रिया करने की है या किसे करनी है ? यह ऊपर आ गया है। उसमें आ गया था या नहीं ? उसमें आया था-नौंवे मे आया था।

चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;

नौंवें मे आ गया है। वह उस दिन आ गया था। तुम थे, तब नहीं आया था ? है ?

जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;

चिद्‌भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ ।

नौवाँ श्लोक, नौवाँ। तुम्हें निकालने में देर लगी। '**चिद्‌भाव कर्म...**' वहाँ ज्ञान की निर्मलतारूपी परिणाम ही अपना कार्य है। भाई ! पुण्य के विकल्प का कार्य और आत्मा कर्ता-यह अन्तर अनुभव में नहीं होता। '**चिद्‌भाव कर्म...**' कर्म अर्थात् कार्य; कार्य अर्थात् कर्तृत्व। उसका कर्तृत्व-चिद्‌भाव का कार्य वही कर्तृत्व है। '**चिदेश (करता)...**' भगवान ज्ञान का ईश, भगवान उसका कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता है नहीं। कौन कर्ता ? उसका विकल्प कर्ता नहीं तो दूसरा कर्ता कहाँ से लाना ? समझ में आया ? भगवान आत्मा स्वयं कर्ता चिद्‌स्वरूप ज्ञान; चिदेश-चिद्-ज्ञान का ईश्वर भगवान और ज्ञान की निर्मल, निर्मल-निर्विकारी श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति, आनन्द आदि पर्याय, वह चिद्‌भाव, यह उसका कार्य है। आनन्द का अंश, शान्ति का अंश प्रगट हुआ, वह उसका कर्म-कार्य है।

'**चेतना किरिया तहाँ।**' इस चेतना की वहाँ क्रिया है, राग की क्रिया नहीं। अकेला चैतन्य घुलकर स्थिरता की क्रिया करता है। ऐसी तीन परन्तु '**तीनों अभिन्न...**' तीन, परन्तु वहाँ भेद नहीं। '**अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा...**' कहो, समझ में आया ? एक सैकण्ड का कितना भाग कहा था ? हजारवाँ कहा था न ? फिर बहुत विचार हुए। वापस विपल और पल का आता है या नहीं ? भाई ! क्या (है यह) ? पल बड़ी या विपल। पल बड़ी, विपल छोटी। साठ विपल की एक पल। साठ विपल का एक सैकण्ड, साठ सैकेण्ड का एक मिनिट अर्थात् ऐक सैकेण्ड का छत्तीसवाँ भाग, छत्तीसवाँ भाग विपल हुई। छत्तीसवाँ, छत्तीसवाँ भाग हुआ न ? छत्तीस सौ, जिसका हजारवाँ भाग कहते थे न तुम ? सवेरे नहीं ? सैकेण्ड का हजारवाँ भाग.. परन्तु यहाँ तक की बात तो पाठशाला में सीखे थे तब थी। एक सैकेण्ड का साठवाँ भाग तो पल और उसका साठवाँ भाग विपल अर्थात् छत्तीससोवाँ भाग। पाठशाला में चलता था, इसलिए कोई (कहता था), हजारवाँ भाग पकड़ सका है। यन्त्र होगा, ऐसे पकड़े क्या अन्दर ? यहाँ तो वह भी पहले पाठशाला में ऐसा चलता था। वह ऐसे पकड़ सके अर्थात् कि यह आत्मा का भाग है-ऐसा पकड़ने कहाँ जाए ? परन्तु उसके ख्याल में लेले कदाचित् कि इतना भाग यह होता है, होना चाहिए। वह विपल एक सैकेण्ड का छत्तीससौंवां माप। ओ..हो..हो... ! समझ में

आया ? उसमें भी अनुभूति का काल थोड़ा (है)। छठवें गुणस्थान का काल बहुत थोड़ा (और) सातवें का तो उससे (छठवें से भी) आधा है।

कहते हैं कि जहाँ अकेला अखिन्न-खेद नहीं और अभिन्न एकरूप वर्तता है। समझ में आया ? ऐसी दशा में आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र देव को भी नहीं होता, भले थोड़ा काल (आवे) परन्तु उसमें वस्तु का भास है न ? समझ में आया ?

'यह स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होने के पश्चात् स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा..' आगे बढ़ता है न ? आगे बढ़ा है। **'चार घातिकर्मों का नाश होता है...'** नीचे स्पष्टीकरण किया है। **'घातिकर्म दो प्रकार के हैं-द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्ध अवस्था प्रगट होने पर भावघातिकर्मरूप अशुद्धपर्याय उत्पन्न नहीं होती...'** उत्पन्न नहीं होती और नाश हुआ-ऐसा कहा जाता है। क्या कहा ? क्या कहा ? शुक्लध्यान की शुद्धता की पर्याय प्रगट होने पर अशुद्धता-भावघातिकर्म की जो अशुद्धता है, वह उत्पन्न नहीं होती, उसे भावघातिकर्म का नाश किया-ऐसा कहा जाता है। भाई ! उलझन है, भाई ! पूछे तब क्या होगा (-ऐसी उलझन है।) यहतो कहा हुआ पूछा था।

यहाँ भावघाति का नाश शब्द कहा न ? तो नाश की व्याख्या यह (है)। नाश अर्थात् क्या ? यह अशुद्धता है, उसका नाश करूँ ऐसा है ? और यह घातिकर्म-यह जड़ है, इन्हें नाश करुँ-ऐसा है ? इसे स्वरूप में शुद्धता में लीन.. लीन.. लीन.. उग्र में एकाकार शुक्ल उज्जवल एकाकार होकर अशुद्धता उत्पन्न नहीं हुई-भावघाति की अशुद्धता उत्पन्न नहीं हुई, उसे भावघाति का नाश किया-ऐसा कहा जाता है।

आत्मा, राग के नाश का भी कर्ता नहीं है। नहीं आया ? अशुद्धता के भाव का नाशकर्ता, यह आत्मा का नाम नहीं। यहाँ तो घातिकर्म का जड़ का नाश किया (-ऐसा कहा), लो ! यहाँ तो कहा घातिकर्म का नाश किया। उसमें ('समयसार' में) कहा कि आत्मा, राग का नाश करे-परमार्थ से ऐसा आत्मा मैं है ही नहीं। राग के नाश का कर्तापना आत्मा में नहीं है। नाश का कर्तापना नहीं है। आहा..! अब यह अर्थ समझे नहीं और (कहे) यहाँ कहा देखो ! घाति का नाश किया या नहीं ? अमुक का किया या नहीं ? यह भगवान का वचन है या नहीं ?(-ऐसा

कहे)। परन्तु भगवान का वचन किस अपेक्षा का ? तो वह (भी) भगवान का वचन है या नहीं ? 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं कि अशुद्धता के नाश का आत्मा कर्ता (है), यह नाममात्र आत्मा में है; परमार्थ से अशुद्धता के नाश का आत्मा कर्ता (है), यह नाममात्र आत्मा में है; परमार्थ से अशुद्धता के नाश का कर्तापना आत्मा में नहीं है। (जब) अशुद्धता के नाश का कर्तापना आत्मा में नहीं तो फिर घातिकर्म के नाश का कर्तापना आत्मा में कहाँ से होगा ? समझ में आया या नहीं ?

शब्द तो ऐसा लिया है, देखो ! '**चउ घातिविधि कानन दह्यो**...' संक्षिप्त लिखे तो क्या लिखे ? समझ में आया ? भावघातिकर्म अशुद्धपर्याय उत्पन्न नहीं होती, उसे भावघातिकर्म का शुक्लध्यान द्वारा नाश किया–ऐसा कहा जाता है। '**और उसी समय द्रव्यघातिकर्म का स्वयं अभाव होता है**...' यह तो स्वयमेव होता है, तथापि यहाँ (अशुद्धता का) नाश होने पर उस भाव अशुद्धता का निमित्तपना उसका था, इसलिए इसने नाश किया–ऐसा व्यवहार से कहा (जाता है)। असद्भूत व्यवहारनय (से कहा जाता है)। '**वह द्रव्यघाति कर्म का नाश है।**' कहो ! '**वह द्रव्यघाति कर्म का नाश है।**' कहो ! '**और अरहन्त अवस्था की प्राप्ति होती है तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है**...' यह अरहन्त अवस्था की प्राप्ति है। '**जिसमें तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।**' लो ! भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग कहते हैं। यह ११वीं (गाथा पूरी) हुई। भव्य जीवों को भगवान, मोक्ष का मार्ग कहते हैं, वहाँ लाये। सर्वज्ञ परमेश्वर, मोक्ष का मार्ग कहते हैं। वाणी द्वारा कहते हैं–यह भी निमित्त का कथन है।

सिद्धदशा का (सिद्ध स्वरूप) का वर्णन

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहि अष्टम भू वसैं;
वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सव लसैं।
संसारखारअपार पारावार तरि तीरहिं गये,
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये ॥१२॥

अन्वयार्थ :- (पुनि) केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् (शेष) शेष चार (अघाति विधि) अघातिया कर्मों का (घाति) नाश करके (छिनमांहि) कुछ ही समय में (अष्टम भू) आठवीं पृथ्वी-ईषत प्राग्भार-मोक्ष क्षेत्र में (बसैं) निवास करते हैं; उनको (वसु कर्म) आठ कर्मों का (दिनसैं) नाश हो जाने से (सम्यक्त्व आदिक) सम्यक्त्वादि (सब) समस्त (वसु सुगुण) आठ मुख्य गुण (लसैं) शोभायमान होते हैं। (ऐसे सिद्ध होनेवाले मुक्तात्मा) (संसार खार अपार पारावार) संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्र का (तरि) पार करके (तीरहिं) किनारे पर (गये) पहुँच जाते हैं और (अविकार) विकाररहित, (अकल) शरीररहित, (अरूप) रूपरहित, (शुचि) शुद्ध-निर्दोष (चिद्रूप) दर्शन-ज्ञान-चेतना-स्वरूप तथा (अविनाशी) नित्य-स्थायी (भये) होते हैं।

भावार्थ :-अरिहन्तदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस जीव को भी जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है, उनका क्रशनः अभाव होकर यह जीव पूर्ण शुद्धदशा को प्रगट करता है और उस समय असिद्धत्व नामक अपने उदयभाव का नाश होता है तथा चार अघातिकर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव हो जाता है। सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ गुण (गुणों की निर्मल पर्यायें) पर्गट होते हैं। मुख्य आठ गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चय से तो अनन्त गुण (सर्व गुणों की पर्यायें) शुद्ध होते हैं और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में लोकाग्र में पहुँचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं। ऐसे जीव, संसाररूपी दु:खदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं और वही जीव निर्विकारी, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं ।।१२।।

अब, '**सिद्ध अवस्था (सिद्ध परमात्मा का) वर्णन**' अब अरहन्त से सिद्ध हुए।

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहि अष्टम भू वसैं;
वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।
संसारखार अपार पारावार तरि तीरहिं गये,
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये ।।१२।।

अन्वयार्थ :- '**(पुनि) केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात्...**' ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् 'पुनि' है न ? '**शेष चार अघाति या कर्मों का नाश करके...**' लो ! यह भी अघातिया का नाश किया। इन भगवान ने अघातिया का नाश किया-उसकी तरह समझ लेना। असिद्धभाव का नाश होने पर, आत्मा (की) सिद्धपर्याय की उत्पत्ति होने पर असिद्धपर्याय का (नाश होता है।) असिद्ध है न उदयभाव ? (उसका) नाश हुआ, तब चार अघाति भी नाश हुए-ऐसा कहा जाता है, भाई ! क्या हो ? लो ! इसमें से (लोग) निकालते हैं.. ऐ.. इसमें लिखा, इसमें लिखा... परन्तु यह लिखा, उसे पहले निर्णय करते हैं या नहीं ? समझ में आया ?

वस्तु में स्वभाव की एकाग्रता होने पर अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती, उसे नाश किया-ऐसा व्यवहार से कहा जाता है और कर्म तो स्वयं के कारण वह नाश होने के योग्य ही था, वह उसके कारण व्यय हो गया। उसे इस भगवान आत्मा ने नाश किया-ऐसे कथन व्यवहार से कहे जाते हैं। देखो ! इसमें लिखा है, देखो ! तुमने 'छहढाला', 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं।

कहते हैं, '**अघातिया कर्मों का नाश करके (छिनमांहि)...**' थोड़े समय में, थोड़े समय में अर्थात् एक समय में, सिद्ध होते हैं न ? '**(अष्टप्रभु) आठवीं पृथ्वी-ईषत् प्राग्भार-मोक्ष क्षेत्र में निवास करते हैं...**' लो ! यहाँ तो निवास करते हैं-ऐसा लिखा है। सिद्ध वहाँ है, निवास करते हैं। आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए आगे नहीं जाते (-ऐसा नहीं)। उनका निवास ही वहाँ है-ऐसा कहते हैं। इसमें आया है या नहीं ? यह उनका निवास ही वहाँ है। निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप में निवास है। समझ में आया ? व्यवहार से आठवीं पृथ्वी-मोक्षक्षेत्र में निवास (करते हैं), यह व्यवहार है। तब अन्य कहते हैं-नहीं, धर्मास्ति नहीं है, इसलिए आगे नहीं जाते। अर्थात् (इसका अर्थ) सादिअनन्तकाल पराधीन हैं। यहाँ तो कहत हैं, वहाँ बसते हैं-(यह) व्यवहार है; अपने असंख्यप्रदेश के अतीन्द्रिय आनन्द में बसना, वह वास्तविकता है; परक्षेत्र में बसते हैं-ऐस कहना, वह उपचारित कथन है।

वहाँ उन्हें '**(वसु) आठ कर्मों का नाश हो जाने से सम्यक्त्वादि.. समस्त (वसु सुगुण) आठ मुख्य गुण शोभायमान होते हैं...**' इसका थोड़ा स्पष्टीकरण भावार्थ में करेंगे। यह आठ (तो) व्यवहार से है न ? निश्चयसे... आठ गुण शोभायमान होते हैं। '**(लसैं)**' यह पर्याय की दशा आठ गुण प्रगटे, उससे आत्मा शोभायमान होता है। उन गुणों की पर्यायें नहीं थी, तब

अशोभायमान था। यह निर्मलदशा भगवान को प्रगट हुई, (उससे) शोभायमान (हुए), यह उनकी शोभा है। यह गुण की निर्मलदशा प्रगट हुई, वह उनकी शोभा है।

'(ऐसे सिद्ध होने वाला मुक्तात्मा) (संसारखार अपार पारवार) संसाररूपी खारे तथा अपार समुद्र को..' यह समुद्र खारा होता है न ? लवण। उसकी उपमा दी है। यह समुद्र है न ? संसाररूप खारा समुद्र, असिद्धभाव आदि खारा समुद्र है। कहो,पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकार खारा समुद्र है, कहते हैं। समझ में आया ?

आत्मा आनन्द का सागर है; यह विकार है, वह खारा समुद्र है। उदयभाव, संसार है न ? ऐसे **'संसाररूपी खारे तथा अपारसमुद्र को तिरकर...'** अपार है न ? अगाध। आहा..हा...! उदयभाव अगाध... दुःखदशा.. ऐसे समुद्र को तिरकर **'(तीरहिं) दूसरे किनारे पर प्राप्त होते हैं..'** सिद्ध की पर्याय प्रगट करते हैं। यह पर्याय पूरी हो गयी। सिद्ध की पर्याय (प्रगट हो गयी)। उदयभाव का पूर्ण नाश-उदय-असिद्धभाव का पूर्ण नाश; दूसरी दशा की उत्पत्ति-दूसरे किनारे आ पहुँचे। समझ में आया ? संसार किनारा लांधकर अपनी निर्मल सिद्धपर्याय के किनारे पहुँच गये।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- अपार, यह पारावार समुद्र। अपार, अगाध। क्या कहा ? पारावार अर्थात् समुद्र, अगाध इसलिए अगाध कहा न ? अपार अर्थात् अगाध। उपमा दी अगाध पारावार। संसार अगाध कैसा ? खार। है न ? इसमें शब्दार्थ लिखा है, देखो ! है या नहीं ? **'(संसार खार) संसाररूपी खारे...'** शब्द है न ? इसमें शब्द पड़ा है। अपार अर्थात् आत्मा। पारावार अर्थात् समुद्र। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ है। है या नहीं ? भाई !

मुमुक्षु :- पारावार..

उत्तर :- पारावार ही समुद्र का नाम है। क्यों पण्डिजी ? लो ! फिर हमारे पण्डित को पूछा न। यहाँ पारावार लिखा है न ! मैं यहाँ कहाँ... इनने लिखा है ऊपर से तो (कहा कि) पारावार अर्थात् समुद्र है। यह तो अपने आता है या नहीं ? उसमें-'प्रवचनसार' में आता है या नहीं ? लो ! 'कुन्दकुन्दाचार्य' में। 'कुन्दकुन्दाचार्य' नहीं ? पारावार शब्द है उसमें ? देखो !

('प्रवचनसार' में 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' की टीका की शुरुआत) **'कश्चिदासन्नसंसार-पारावारपार'** पारावार पार। पारावार पार–ऐसा शब्द है, देखो !

'जिनके संसार समुद्र का किनारा निकट है।' देखो ! ऐसे 'कुन्दकुन्दाचार्य'.. देखो ! समझ में आया ? '**कश्चिदासन्नसंसारपारावारपार**'–ऐसा शब्द है। संसार अर्थात् देखो ! संसार पारावार पार–संसाररूपी समुद्र के पार पहुँच गये। इसमें शब्द है, देखो ! कहीं घर का नहीं है; सब शब्द शास्त्रमें से डाले हैं, देखो ! समझ में आया ? उत्थानिका में ही यह आता है, अहो..! जिनका मुक्तभाव समीप आ गया है, जिनके संसार का अन्त आ गया है–ऐसे आसन्न-संसारपारावर–महासंसाररूप समुद्र, जिनका पार हो गया है। आहा..हा...! समझ में आया ? **'जिन्हें सातिशय विवेकज्योति प्रगट हो गई है...'** लो ! इसमें ऐसा कहा। यहाँ पूरा हो गया। यहाँ तो पूरा बताना है न !

अगाध समुद्र को तिर गये हैं। **'दूसरे किनारे को प्राप्त हुए हैं...'** एक किनारा समाप्त हो गया और अब दूसरे किनारे आ गये। आहा..हा...! समुद्र के इस किनारे से दूसरे किनारे जाते हैं न ? (फिर कहते हैं), बापा ! अब पार पहुँचे, लो ! इसी तरह आत्मा की पूर्णदशा प्रगट हो गयी, (यह) दूसरा किनारा आ गया।

'और विकाररहित...' उसका स्वरूप कहते हैं। यह विकाररहित दशा, **'शरीररहित...'** दशा। कल–शरीर नहीं। पहले विकाररहित कहा, फिर शरीररहित कहा। **'रूपरहित...'** नामकर्मसम्बन्धी समीप का दिखता था न ? अन्दर रूप कहाँ है ? **'(शुचि) शुद्ध-निर्दोष, (चिद्रूप) दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप..'** जिनका दर्शन और ज्ञानचेतनास्वरूप **'तथा (अविनाशी भये) नित्य-स्थायी होते हैं।'** लो। समझ में आया ?

श्रद्धा का जोर है। आता है उसमें, नहीं ? 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में–रागरूप परिणमित नहीं होते और संसार को नहीं चाहते। सिद्धभगवान, रागरूप परिणमित नहीं होते और संसार को नहीं चाहते, यह श्रद्धा का बल है। सम्यग्दर्शन में जो पूरा पूर्णानन्द प्रतीति में लिया है न, वह बल यहाँ वर्ण किया है। भाई ! आता है।

सिद्ध, रागादिरूप परिणमित नहीं होते और संसार को नहीं चाहते–जो श्रद्धा का जोर पहले

प्रगट हुआ न ? पूर्ण... पूर्ण अखण्ड... अखण्ड... अखण्ड... एकरूप। ऐसी उस दशा में संसार का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त हुए, उस सम्यग्दर्शन के जोर से रागरूप नहीं होते और संसार को नहीं चाहते। कर्म के कारण नहीं, कर्म नहीं है, इसलिये अब रागरूप नहीं होते, कर्म नहीं है, इसलिए संसार को नहीं चाहते–ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, देखो ! कितने ही ऐसा कहते हैं। अरे..! विवाद.. विवाद.. और विवाद..

'**नित्य-स्थायी होते हैं।**' ऐसे के ऐसे, अनन्त गुण जो प्रगट हुए, वे ऐसे के ऐसे रहते हैं– ऐसा कहना है। उनमें बढ़ोतरी तो होती नहीं, परन्तु न्यूनता (भी) नहीं होती; ऐसे के ऐसे, ऐसे के ऐसे अनन्त काल बीतने पर भी वहाँ अब जीर्ण हो जाए (–ऐसा नहीं है)। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. चौबीसी, अनन्त पूर्व में परावर्तन, सिद्धदशा ऊपर अनन्त पुद्गल परावर्तन। भोगते भोगते दशा कुछ हीन होती है या नहीं ? '**(अविनाशी) नित्य-स्थायी होते हैं।**' लो !

भावार्थ :- '**अरिहन्तदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस जीव को भी जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है, उनका क्रमशः...**' अरिहन्त में अभी अशुद्धता होती है न ? अरिहन्त के सभी गुण निर्मल नहीं हुए हैं, इसलिए '**अशुद्धता होती है, उसका क्रमशः अभाव करके...**' अशुद्धता क्रमशः मिटती है। उदयभाव को क्षायिक कहा है न ? वह अशुद्धता मिटती जाती है। केवली को भी उतना क्षायिकभाव निर्मल होता जाता है। '**वह जीव पूर्ण शुद्धदशा को प्राप्त करता है...**' वह अरिहन्त जीव पूर्ण सिद्धदशा को प्राप्त प्रगट करता है।

'**और उस समय अपने असिद्धत्व नामक औदयिकभाव का नाश होता है...**' देखो ! यह असिद्धत्व। असिद्ध है न ? असिद्ध उदयभाव। '**और चार अघातिकर्मों का भी स्वयं...**' उस असिद्धभाव का नाश होने पर, वह अपनी पर्याय में हुआ, वह सिद्धदशा प्रगट होने पर... प्रगट होने पर असिद्धपना उत्पन्न नहीं हुआ, उसके उदय का नाश हुआ–ऐसा कहते हैं। '**और चार अघाति कर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव होता है। उस सिद्धदशा में सम्यक्त्व आदि आठ गुण...**' आठ गुण वर्णन किये न ? ज्ञानावरणीय का नाश होने से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय का नाश होने से (केवल) दर्शन (–ऐसे) आठ हैं न ? आठ गुण। '**(गुणों की निर्मल पर्यायें) प्रगट होते हैं।**' ये गुण अर्थात् पर्यायें। '**आठ गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चय से तो अनन्त गुण (सर्व गुणों की पर्यायें) शुद्ध होते हैं...**' वास्तव में अनन्त गुणों की पूर्ण पर्यायें प्रगट हो गयी है।

'और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में...' देखो ! उसमें था न थोड़े समय में.. थोड़े समय में था न ? **'छिनमांही...'** यह थोड़ा समय। यहाँ यह एक समयमात्र में। **'लोकाग्र में पहुँचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं।'** – नाश करने में थोड़ा समय लगता है–ऐसा ले लिया। समझ में आया ? एक समयमात्र में **'लोकाग्र में पहुँचकर वहीं स्थिर रह जाते हैं।'** निवास करते हैं। **'ऐसे जीव, संसाररूपी दु:खदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं...'** आहा..हा...! क्रमश: ले–लेकर देखो ! ठेठ दु:ख से लेकर ठेठ आनन्द तक ले गये हैं। **'और वही जीव निर्विकारी अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध, चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सद्धिदशा को प्राप्त हुए हैं।'** लो ! यह सिद्धदशा हुई। अब इसके स्वरूप का जरा–सा अलौकिक वर्णन करते हैं।

मोक्षदशा का वर्णन

निजमामाँहि लोक-अलोक गुण, परजाय प्रतीबिम्बित थये;
रहिहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ।।१३।।

अन्वयार्थ :- (निजमांहि) उन सिद्धभगवान के आत्मा में (लोक-अलोक) लोक तथा अलोक के (गुण, परजाय) गुण और पर्यायें (प्रतिबिम्बित थये) झलकने लगते हैं; वे (यथा) जिसप्रकार (शिव) मोक्षरूप से (परिणये) परिणमित हुए हैं (तथा) उसी प्रकार (अनन्तानन्त काल) अनन्त-अनन्त काल तक (रहि है) रहेंगे।

(जे) जिन (जीव) जीवों ने (नरभव पाय) पुरुष पर्याय प्राप्त करके (यह) यह मुनिपद आदि की प्राप्तिरूप (कारज) कार्य (किया) किया है, वे जीव (धनि धन्य हैं) महान धन्यवाद

के पात्र हैं और (तिनही) उन्हीं जीवोने (अनादि) अनादिकाल से चले आ रहे (पंच प्रकार) पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप (भ्रमण) संसारपरिभ्रमण को (तजि) छोड़कर (वर) उत्तम (सुख) सुख (लिया) प्राप्त किया है।

भावार्थ :- सिद्ध भगवान के आत्मा में केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने-अपने गुण और तीनोंकाल की पर्यायों सहित एकसाथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तस्वरूप से-सर्व प्रकार से स्पष्ट ज्ञात होते हैं; (किन्तु ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती) वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य सिद्ध-मुक्त जीवों की भाँति *अनन्तानन्त काल तक रहेगी; अर्थात् अपरिमित काल व्यतीत हो जाये, तथापि उनकी अखण्ड ज्ञायकता-शान्ति आदि में किंचित् बाधा नहीं आती। यह मनुष्यपर्याय प्राप्त करके जिन जीवों ने यह शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है वे जीव महान धन्यवाद (प्रशंसा) के पात्र हैं और उन्होंने अनादिकाल से चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके उत्तम सुख-मोक्षसुख प्राप्त किया है ।।१३।।

मोक्षदशा का वर्णन

निजमाँहि लोक-अलोक गुण, परजाय प्रतीबिम्बित थये;
रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;
तिनहीं अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ।।१३।।

अन्वयार्थ :- '(निजमांहि) उन सिद्धभगवान के आत्मा में...' उनकी ज्ञान की पर्याय में

---

*जिसप्रकार बीज को यदि जला दिया जाये तो वह उगता नहीं है, उसीप्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का सर्वथा नाश कर दिया, वे पुन: अवतार-जन्म धारण नहीं करते। अथवा जिसप्रकार मक्खन से घी हो जाने के पश्चात् पुन: मक्खन नहीं बनता, उसीप्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा (परमात्मपद)प्रगट करने के पश्चात् उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती-संसार में पुन: आगमन नहीं होता।

'लोक और अलोक के गुण और पर्याय...' देखो ! **'झलकने लगते हैं, अर्थात् ज्ञान होने लगते है...'** अन्दर में-पर्याय में ज्ञान होने लगते है। लोक और अलोक-यह सब केवलज्ञान की पर्याय में झलकते हैं अर्थात् ज्ञात होते हैं, ऐसा। **'वे जिस प्रकार से मोक्षरूप परिणमित हुए हैं...'** वे सिद्धभगवान अपनी मुक्त आनन्ददशारूप हुए हैं, **'वैसे अनन्त काल तक रहेगें।'** ऐसे के ऐसे अनन्तकाल रहेंगे, अनन्तकाल ऐसी की ऐसी दशा... आहा..हा...!.. .. आत्मा की पूरी पर्याय आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. भूतकाल तो संसार का काल अनन्तवें भाग, संसार की दुःख की पर्याय का काल अनन्तवें भाग; आनन्द की पर्याय का काल अनन्तगुना। समझ में आया ? आहा..! ऐसे जाएं तो असंख्य समय मोक्षमार्ग साधा है। भगवान आत्मा ने असंख्य समय में साधन किया है और उसके फल में अनन्तकाल रहें, वैसी मोक्षदशा प्रगट की है। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- ऊँचा ?

उत्तर :- ऊँचा, हाँ; ऊँचे के लिये तो यह बात की जाती है। पहले तो बात की कि संसार की दशा का काल, उसकी अपेक्षा मोक्ष का (काल), अनन्तगुना है-एक बात। दूसरा-इस स्वरूप को साधने काल से वह तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुना है। समझ में आया ? ऐसा महान लाभ का व्यापार है। यह कहा न ? धनि धन्य वह मनुष्य, नरभव प्राप्त करके यह कार्य किया। आहा..हा...! भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य का दर्शन, उसका ज्ञान और चारित्र... इसे साधने में-सिद्ध होने में इसे असंख्य समय ही लगते हैं; अनन्तकाल नहीं लगता। यह असंख्य समय में साधा है। केवलज्ञान, मोक्षदशा अनन्तकाल ऐसी की ऐसी रहेगी।

वह आया नहीं था ? क्या आया था ? 'नियमसार'। ध्रुव में स्थिर होने पर ऐसा का ऐसा रहेगा। 'नियमसार' में नहीं ? मुँह आगे कुछ उसकी भावना करने... नीचे आया था, क्या था ? कारण के जैसा ही कार्य होता है। कारण के जैसा ही कार्य होता है; इसलिए स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही-स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही वास्तव में अनन्तकाल तक स्वरूप में स्थिर रह जाने का उपाय है। समझ में आया ? स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास। भगवान आत्मा जो दृष्टि में अनन्तकाल तक स्वरूप में स्थिर रहे-स्थिर रह जाने का यह उपाय है। यह उसमें लिखा है। समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं)–‘**अनन्तकाल तक रहेंगे। जिन जीवों ने पुरुष पर्याय प्राप्त करके,...**’ पुरुष पर्याय प्राप्त करके होता है न ? ‘**(नरभव पाय) यह मुनिपद इत्यादि की प्राप्तिरूप..**’ पुरुष को ही यह मुनिपद होता है और पुरुष को ही केवलज्ञान और सिद्धदशा होती है। यह ‘**कार्य किया, वह जीव (धन्य) महान धन्यवाद के पात्र हैं...**’ धनि धन्य है न, दो बार ? अर्थात् दो बार धन, धन्य (कहा) ‘**महान धन्यवाद के पात्र हैं...**’ उन्हें कहाँ धन्यवाद चाहिए अब ? परन्तु अपने भाव को... ओ..हो...! यह दशा ! पूर्ण आनन्ददशा, वह ऐसी की ऐसी अनन्तकाल रहेगी। वह धन्य अवतार, बापा ! धन्य सफल कार्य, आत्मा का एक सफल कार्य है। ‘**और उन्हीं जीवों ने अनादिकाल से चले आ रहे...**’ पंच परावर्तन–द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का भटकना– ‘**पाँच प्रकार के परावर्तनरूप संसार परिभ्रमण को छोड़कर उत्तम सुख प्राप्त किया है।**’ ऐसे जीव को धन्य कहा जाता है। उसे फिर से अवतार नहीं होता–इत्यादि कहेंगे..।

(श्रोता :– प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❈

साधुके अट्ठाईस मूल-गुण, भगवान द्वारा हुयी सत्य प्ररूपणानुसार यथोक्त न हो व उनका छेदन होता हो तो उसे साधु नहीं कहते, द्रव्यलिंगी भी नहीं कहते - ऐसी सत्य प्ररूपणासे किसीको भी दुःख हो, हम ऐसा नहीं चाहते। भाई ! बापू ! जब घासका तिनका भी हल्केसे चुभनेपर दुःख होता है, तो तुझे मिथ्या-श्रद्धासे तो दुःख कितने होंगे - उनका अनुमोदन कैसे हो सके? सब आत्माओंको शान्ति...शान्ति...शान्ति हो । यहाँ हमें तो किसीसे विरोध नहीं है, कोई हमारा विरोध नहीं करता । सभी आत्माएँ द्रव्यस्वभावसे तो साधर्मी हैं । विरोधका भाव तो स्वयंको ही हानिकारक है, दूसरोंको नहीं ; और अविरोधताका भाव भी अपनेको ही लाभप्रद है, अन्यको नहीं। आहा हा ! आत्मा तो सबसे उदास... उदास...उदास है ।

(परमागमसार - ५११)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन कृष्ण ७, रविवार
दि. १३-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-१३, १४. प्रवचन नं. ५४

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। अन्तिम गाथायें हैं। १३वीं का भावार्थ-'सिद्ध का स्वरूप'। सिद्ध परमात्मा-संसार का नाश करके सिद्ध हुए-उनका क्या स्वरूप है ? -(वह कहते हैं)। अन्तिम गाथायें है न ? दु:ख से शुरू किया था, पहली शुरूआत (वहाँ से की थी)। महा नरकादि के दु:ख अनन्तबार सहन किये, फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दुर्लभ है, उनकी प्राप्ति बतलाई। उनके फलरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पाये, उसे मोक्षरूपी दशा होती है, उस दशा का वर्णन है।

भावार्थ :- 'सिद्ध भगवान के आत्मा में केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने-अपने गुण और तीनों काल की पर्यायों सहित एक साथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्त...' इतना दृष्टान्त अधिक मिला, अधिक डाला। स्वच्छ दर्पण होता है, अरीसा-दर्पण का दृष्टान्त बहुत शास्त्रों में आया है। 'अमृतचन्द्राचार्य' ने 'पुरुषार्थसिद्ध उपाय' आदि में दर्पण का दृष्टान्त दिया है। जैसे दर्पण में पूरी चीज झलकती है, वैसे ही भगवान आत्मा (के) अपने ज्ञान की पूर्ण पर्याय में लोकालोक झलकता है अर्थात् ज्ञात होता है, ज्ञात हो जाए-ऐसी इसकी एकसमय की पर्याय है।

'स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तरूप से सर्व प्रकार से स्पष्ट ज्ञात होते हैं (किन्तु ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती...)' दर्पण का दृष्टान्त आचार्यों ने बहुत जगह केवलज्ञान में उपमा (के लिये) दिया है। दर्पण.. ऐसा करके। **'वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं...'** (सिद्ध भगवान) **'तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य मुक्तजीवों की भाँति अनन्तानन्त काल तक रहेगी...'** परमात्मा अब वहाँ से फिरनेवाले नहीं है। दु:खी देखकर अवतार धारण करते हैं, भक्तों को... नहीं ? भक्तों की सहायता करने के लिये अवतार धारण करें-ऐसा है

नहीं। नीचे स्पष्टीकरण किया है, देखो !

'जिस प्रकार बीज को यदि जला दिया जाए तो वह उगता ही नहीं; उसी प्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का नाश कर दिया, वे पुनः अवतार-जन्म धारण नहीं करते।' कह कहा था, श्रद्धा के गुण का इतना जोर है। परमात्मा पूर्णानन्द का जो पहला सम्यग्दर्शन प्रगट किया था, वह ऐसे का ऐसा सम्यग्दर्शन वहाँ रहता है, इसकारण वे संसार के रागादिरूप परिणमन नहीं करते और संसार को नहीं चाहते। तीन काल में सादि अनन्त दशा उनकी ऐसी रहेगी, पुनः अवतार-जनम धारण नहीं करेंगे।

'अथवा...' बहुत बार दृष्टान्त देते हैं.. ऐसे मक्खन। **'मक्खनमें से घी होने के बाद फिर से घी का मक्खन नहीं होता...'** मक्खन का घी होता है। संसार की अशुद्धदशा, वह मक्खन, उसका नाश होकर अन्तर स्वरूप की श्रद्धा पूर्ण आदि प्रगट होती है; परन्तु घी हुआ, (वह) वापस मक्खन हो-ऐसा नहीं होता। इसी तरह पूर्ण आनन्द का स्वभाव प्रगट हो, सम्यग्दर्शन प्रगट हो तो फिर गिरता नहीं तो वह तो पूर्ण दशा हुई... समझ में आया ? उस घी का मक्खन नहीं होता। **'उसी प्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा (परमात्मपद) प्रगट करने के बाद उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती; पुनः संसार में आना नहीं पड़ता।'**

पुनश्च यहाँ कहते हैं-**'अपरिमित काल व्यतीत हो जाने पर भी उनकी अखण्ड ज्ञायकता-शान्ति आदि में किंचित् बाधा नहीं आती।'** शान्ति जीर्ण नहीं होती-ऐसा कहते हैं। क्या (कहा) ? आत्मा में जो अनन्त शान्ति.. शान्ति.. .शान्ति.. शान्ति.. वीतरागता प्रगट हुई, उसे चाहे जितना काल लगने पर भी वह पुरानी होकर जीर्ण नहीं होती। वह तो ऐसी की ऐसी-ताजा की ताजा शान्ति रहती है। कहो, समझ में आया ? नयी-नयी प्रगट होती है न ? **'यह पुरुष पर्याय प्राप्त करके...'** नरभव (शब्द) लिया था न ? **'जिन जीवों ने इस शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है, वे जीव अत्यन्त धन्यवाद के (प्रशंसा के) पात्र हैं...'** अपनी प्रशंसा-सिद्धपद की प्राप्ति के लिये अनुमोदन करते हैं। धन्य अवतार ! भाई ! जिसने संसार का अन्त किया और मोक्षदशा प्राप्त की। **'उन्होंने अनादि काल से चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके उत्तम सुख-मोक्षसुख प्राप्त किया है।'** लो ! अब चौदहवीं।

रत्नत्रय का फल और आत्महित में प्रवृत्ति का उपदेश

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं;
अरु धरेंगे ते शिव लहैं; तिन सुयश-जल जग-मल हरैं।
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
जबलों न रोग जरा गहैं, तबलौं झटिति निज हित करो ।।१४।।

अन्वयार्थ :- (बड़भागि) जो महा पुरुषार्थी जीव (यों) इसप्रकार (मुख्योपचार) निश्चय और व्यवहार (दुभेद) ऐसे दो प्रकार के (रत्नत्रय) रत्नत्रय को (धरैं अरु धरेंगे) धारण करते हैं और करेंगे (ते) वे (शिव) मोक्ष (लहैं) प्राप्त करते हैं और (तीन) उन जीवों का (सुयश-जल) सुकीर्तिरूपी जल (जग-मल) संसाररूपी मैल का (हरैं) नाश करता है । - (इमि) ऐसा (जानि) जानकर (आलस) प्रमाद (स्वरूप में असावधानी) (हानि) छोड़कर (साहस) पुरुषार्थ (ठानि) करने (यह) यह (सिख) शिक्षा-उपदेश (आदरों) ग्रहण करो कि (जबलौं) जबतक (रोग जरा) रोग या वृद्धावस्था (न गहै) न आये (तब लौं) तब तक (झटिति) शीघ्र (निज हित) आत्मा का हित (करौ) कर लेना चाहिए।

भावार्थ :- जो सत्पुरुषार्थी जीव सर्वज्ञ-वीतराग कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय तथा हेय तत्त्वों का स्वरूप समझकर अपने शुद्ध उपादान-आश्रित निश्चयरत्नत्रय को (-शुद्धात्माश्रित वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग को) धारण करते हैं तथा करेंगे वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं और होंगे । (गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है, वह व्यवहार-रत्नत्रय का स्वरूप जानना तथा उसे निश्चय से उपादेय न मानना उसका नाम व्यवहाररत्नत्रय का धारण करना है)। जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और होंगे उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ?-कि जो सिद्ध परमात्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर स्वोन्मुख होनेवाले भव्य जीव हैं, उनके संसार (-मलिनभाव) रूपी मल को हरने का निमित्त है । ऐसा जानकर प्रमाद को छोड़कर, साहस अर्थात् सच्चा पुरुषार्थ करके यह उपदेश अंगीकार करो । जबतक रोग या वृद्धावस्थाने शरीर को नहीं घेरा है, तबतक शीघ्र (वर्तमान में ही) आत्मा का हित कर लो ।।१४।।

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं;
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-जल हरैं।
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
जबलों न रोग जरा गहैं, तबलौ झटिति निज हित करो ।।१४।।

देखो ! अन्तिम उपदेश है। एक तो पहले (कहा कि) '**(बड़भागी) जो महापुरुषार्थी...**' मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ, वह महापुरुषार्थ है। संसार का पुरुषार्थ, वह उल्टा और विपरीत पुरुषार्थ है। भगवान आत्मा का स्वसन्मुख का पुरुषार्थ, महापुरुषार्थ है, अनन्तकाल में नहीं किया (-ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ है)। क्योंकि अपने स्वरूप की रचना का जो वीर्य-अपने शुद्धस्वभाव को रचे-ऐसा उसका वीर्य महापुरुषार्थ है। विकार को अनादिकाल से रचता है, उसे तो शास्त्रकार नपुंसकता कहते हैं। विकार को रचे और विकार के दु:ख को भोगे, वह कोई आत्मा का वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है।

यह कहते हैं कि महापुरुषार्थ-चैतन्य के सन्मुख होना। अनादिकाल से परसन्मुख है, उससे विमुख होकर स्वसन्मुख होना, (वह) महान पुरुषार्थ है। समझ में आया ? भाई ! कौन करे यह महापुरुषार्थ ? आहा..! भगवान ! तुझमें पुरुषार्थ तो छलाछल भरा है। वीर्यगुण तो तुझ में ऐसा छलाछल भरा है-पूर्ण है, उस पर नजर डालने से महा सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते हैं, वे महापुरुषार्थ से होते हैं। ऐसे जीव '**इस प्रकार निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार के रत्नत्रय को (धरैं) धारण करते हैं और करेंगे...**' पुरुषार्थी जीव, देखो ! निश्चयरत्नत्रय भी पुरुषार्थी, व्यवहाररत्नत्रय भी, वही आत्मविकल्प व्यवहार पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ से आत्मा, निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय मोक्षमार्ग को धारण करता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बड़भागी...

उत्तर :- वह पुरुषार्थ है। बड़भागी का अर्थ वह भाग्यवान अर्थात् पुरुषार्थवान ऐसा। भाग्य अर्थात् जड़ का यहाँ क्या काम है ? सिद्ध को महाभाग्यवान कहा है, भाग्यवान। सिद्ध को एक सौ आठ नाम में भाग्यवान कहा है। सिद्ध के १०८ नाम है न ? सुने हैं ? पढ़े हैं ? अभी

पहले-पहले आये हो न ? एक हजार आठ नाम।

मुमुक्षु :- बनारसीदास ने..

उत्तर :- हाँ, 'बनारसीदास' ने कहे हैं, दूसरे बहुतों ने कहे हैं। 'आदिपुराण' में कहे हैं। 'जिनसेनस्वामी' ने कहे हैं। बड़भागी-महाभाग्य.. महाभाग्य.. यही महाभाग्यवान सिद्धपरमात्मा। वह पुरुषार्थ तो मोक्षमार्ग का परुषार्थ है। समझ में आया ?

'निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते हैं...' देखो ! पहला शब्द 'मुख्य' है, दूसरा शब्द 'उपचार' है । समझ में आया ? शुरूआत में भी निश्चय और व्यवहार-ऐसा लिया है। निश्चय और फिर व्यवहार। उसका हेतु और कारण लिया। यहाँ भी मुख्य और उपचार दो कहें। निश्चय स्वरूप आत्मा का अनुभव, आत्मा की दृष्टि, आत्मा का ज्ञान और आत्मा की रमणता-यह निश्चयरत्नत्रय है। इसे धरेंगे (अर्थात्) धारण करेंगे-ऐसा कहते हैं। धारण करेंगे, अपने आप नहीं; पुरुषार्थ से धारण करेंगे। समझ में आया ? व्यवहाररत्नत्रय भी उस जाति का शुभराग है न ? निमित्तरूप आता है, उसे व्यवहार से, धारण करते हैं-ऐसा कहा जाता है। समझ में आया ?

'वे मोक्ष प्राप्त करते हैं...' मोक्ष के दो मार्ग हुए न ? एक उपचार और एक अन-उपचार, तो दोनों से मोक्ष प्राप्त करते हैं-ऐसा कहा जाता है। **'धारण करते हैं और करेंगे (भविष्य में), वे मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा प्राप्त करेंगे...'** प्राप्त करते हैं और भविष्य में प्राप्त करेंगे। भगवान आत्मा.. उसके स्वभाव का अन्तर में माहात्म्य करे, अन्तर में घोलन करके, दृष्टि, ज्ञान और रमणता में रमेंगे, वे अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त हुए और प्राप्त करेंगे। कहो, समझ में आया ? **'मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा प्राप्त करेंगे; और उन जीवों का...'** उन सिद्ध हुए आत्माओं का... आहा...! **'(सुयश-जल) सुकीर्तिरूपी जल (जग-मल) संसाररूपी मैल का नाश करता है और करेगा।'** इस सिद्ध भगवान को लक्ष्य में लेकर जो परमात्मा ऐसे हुए, उनकी सुकीर्ति जग-जल-जगे जगत में, ऐसे परमात्मा सिद्ध ओ..हो...! उन्हें जो लक्ष्य में लेगा, उसे वे सिद्ध भगवान उसके मल का नाश करने में निमित्त कहे जाते हैं। समझ में आया ?

'प्रसिद्धसिद्ध' आता है या नहीं ? 'प्रसिद्ध सुसिद्ध विशुद्ध...' वे तो प्रसिद्ध हैं-ऐसा कहते

हैं। सिद्ध भगवान तो जगत में प्रसिद्ध हैं, भाई ! आता है या नहीं ? भक्ति में आता है। प्रसिद्ध है न, कहते हैं। सिद्ध तो प्रसिद्ध है न ! इस पूर्णानन्द को प्राप्त वे तो सिद्ध अनादि से प्रसिद्ध है। वे प्रसिद्ध, उनकी सुकीर्तिरूपी जल से, उनकी प्रसिद्धि से... समझ में आया ? संसाररूपी मैल का नाश करते हैं। उनकी प्रसिद्धि संसाररूपी मैल का नाश करती है। वह संसार गया। ऐसे सिद्ध भगवान प्रसिद्ध सिद्ध सुसिद्ध, उनकी कीर्ति अर्थात् उनके गुणगान जो इस प्रकार है अथवा उनकी पवित्रता है, वह उनकी सुकीर्ति है। उसे जो अन्तर में समझेगा, उसे निमित्त करके उसके जगरूपी संसार के मैल को वे हरनेवाले हैं। सिद्ध भगवान मैल को हरनेवाले हैं। कहो, समझ में आया ? 'लोगस्स' में आता है या नहीं ? '**समाहिवरमुत्तमं आरोग्गबोहिलाभ**' सीखे थे तुम ? भाई ! 'लोगस्स' सीखे नहीं होते। कहो, समझ में आया ?

'**ऐसा जानकर प्रमाद (-स्वरूप में असावधानी) (हानि)...**' इस आलस्य की हानि करके, देखो ! आलस को छोड़कर, यहाँ पुरुषार्थ से बात है; कर्म को नहीं कहते कि भाई साहब ! कर्म छूट, इसे धर्म का लाभ करना है। आलस हानि, पाठ है न ? '–ऐसा जानकर आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरो।' अस्ति–नास्ति की है। ऐसा जानकर आलस (अर्थात्) इस संसार का जितना पुरुषार्थ, वह आलस है, प्रमाद है। जितना मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अज्ञान का पुरुषार्थ है, वह सब आलस है, उस आलस को छोड़कर–ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :– पड़ा रहे, वह आलसी नहीं ?

उत्तर :– पड़े रहे, वे सब आलसी ही हैं, आत्मा का पुरुषार्थ नहीं करते, वे सब आलसी के–प्रमाद के पण्डे हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो !

आलस छोड़कर, फिर हानि (इसलिए) छोड़कर कहा और '**साहस ठानि-हिम्मत-पुरुषार्थ करके...**' हिम्मत–पुरुषार्थ करके, ओ..हो.. ! मैं तो अल्पकाल में आत्मा की प्राप्ति करनेवाला, मुक्ति (प्राप्त) करनेवाला हूँ। मैं तो मोक्ष का ही पात्र हूँ। '**ऐसे साहस-पुरुषार्थ करके यह शिक्षा-उपदेश ग्रहण करो...**' आलस छोड़कर, पुरुषार्थ करके, जो यह शिक्षा कही है, उसे ग्रहण करो, समझो, कहते हैं। आहा..हा... ! देखो ! क्या कहते हैं ? '**जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करो।**' शास्त्र में भी ऐसे वाक्य आते हैं। जब तक रोग और

बूढापा नहीं आये... और वृद्धापन आयेगा तब शोर मचायेगा, कहते हैं, भाई !

'**जब तक रोग या वृद्धापन नहीं आये ...**' शरीर में रोग आवे, फिर ऐं... ऐं.. (करके) चिल्लाता है-ऐसा कहते हैं न ? और '**वृद्धावस्था नहीं आवे...**' वृद्धावस्था आये वहाँ ८५ और ९० और आहा..हा..! लार गिरे और यह हो.. बैठा नहीं जाए। सुनो ! भाई ! कहाँ हमें बैठने का ठिकाना नहीं। ऐसा जब तक जरा व रोग, जरा अर्थात् वृद्धावस्था न आवे '**तब तक में (झटिति) शिघ्र (निज हित करे) इस आत्मा का हित (करौं) कर लेना चाहिए ।**' विपरीतभाव तो अनन्तकाल से करता है-यह बाद में कहेंगे। 'झटिति' शास्त्र में आता है, हाँ ! 'कुन्दकुन्दाचार्य' भी कहते हैं, भाई ! हीन पुरुषार्थवाले को... वरना तो वृद्धावस्था हो या नारकी का अवतार हो, वहाँ भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु यहाँ तो साधारण पुरुषार्थ-कमजोर (पुरुषार्थ) वाले को इस प्रकार कहते हैं, भाई ! वृद्वावस्था व जरा न आवे तब तक सावधान कर ले, फिर नहीं किया जा सकेगा, फिर चिल्लाहट मचायेगा। अरे...! अवसर गया, अरे..! अवसर में (काम) नहीं किया और अब घिर गये। भाई ! ऐसी चिल्लाहट मचायेगा; इसलिए झट कर ले-ऐसा (कहते हैं)।

शीघ्र आत्मा का हित करो। भाई साहब ! शीघ्र हित करो, परन्तु कर्म रोकते हैं, उसमें हमारे क्या करना ? शीघ्र हित करो, किस प्रकार करना ? दर्शनमोह रोकता है, चारित्रमोह रोकता है... परन्तु वह रोकता नहीं, सुन न ! उल्टे पुरुषार्थ से तू दब गया है और सुल्टे पुरुषार्थ से आत्मा से स्वाधीनदशा प्रगट कर सकता है। तेरे हाथ की बात है-ऐसा कहते हैं। देखो न इसमें। ये 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं। कर्म का। (-ऐसा नहीं कहा कि) भाई ! तुझे कर्म हटेंगे, इसलिये अब पुरुषार्थ करना। समझ में आया ?

आत्मा का हित करना चाहिए। हित करना चाहिए.. भगवान आत्मा। ओ..हो..! उभार लेना चाहिए, चोरासी के अवतार में भटकने से उभार लेना चाहिए। समझ में आया ? इसमें तो ऐसा भी नहीं कहा कि यह संसार का पढ़ना चाहिए, यह नहीं कहा। यह करना, कहते हैं।

भावार्थ :- '**जो सत्पुरुषार्थी जीव...**' (सच्चा पुरुषार्थी) '**जीव, सर्वज्ञ-वीतराग कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय और हेय तत्त्वों का स्वरूप**

समझकर...' यथार्थरूप से निश्चयरत्नत्रय, वह उपादेय है (और) व्यवहाररत्नत्रय-बीच में शुभभाव आता है, परन्तु वास्तव में तो वह हेय है। आता है, उसे व्यवहार से धारण करते हैं- ऐसा कहा जाता है। समझ में आया ? **'अपने शुद्ध उपादान-आश्रित...'** यह तो यहाँ अपन ने स्पष्टीकरण किया है। **'निश्चयरत्नत्रय (शुद्धात्म आश्रित वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग) को धारण करता है...'** वास्तव में स्वरूप के आश्रय से निश्चयमोक्षमार्ग धारण करता है और जरा व्यवहारमार्ग रहे, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि का राग (आता है), उसे व्यवहार से धारण करता है-ऐसा कहा जाता है। वह व्यवहाररत्नत्रय निमित्तरूप है न ? समझ में आया ?

'धारण करते हैं और करेंगे वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप...' पूर्ण पवित्रतारूप **'मोक्षदशा को प्राप्त करते हैं तथा प्राप्त करेंगे। (गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है...)'** चौथे, पाँचवे, छठवें (में) शुभराग-देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का, श्रद्धा का, पठन का-ऐसा भाव आता है। **'उसे व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानना और उसे उपादेय...'** वास्तव में उसे आदरणीय नहीं मानना... **'नहीं मानना, उसे व्यवहाररत्नत्रय का धारण करना कहा जाता है...'** आता है, उसे आदरणीय नहीं मानना, परन्तु उसे है-ऐसा जानना, उसका नाम धारण करना कहा जाता है। **'जो जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे, उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ?'** देखो ! उनकी कीर्ति। यह संसार की कीर्ति क्या धूलकहते हैं-ऐसा कहते हैं। इसने पाँच लाख कमाये और पच्चीस लाख कमाये और.. ओ..हो... ! नाम रखा बापू, इसके पिता का, अपना नाम रखा-बाप का नहीं। यहाँ तो कहते हैं-सिद्ध भगवान.. आहा..हा... ! जिनकी सुकीर्ति ऐसा जल-ऐसा प्रसिद्ध है कि-

'सिद्ध परमात्माओं का यथार्थ स्वरूप समझकर स्वसन्मुख होनेवाले जो भव्य जीव हैं, उनके संसार (मलिनभाव)रूपमल को हरने का...' परमात्मा की सुकीर्तिरूपी जल **'निमित्त है ।'** इन भगवान सिद्ध की सुकीर्ति व्यापी है। सिद्ध प्रसिद्ध है न ! नहीं देखता ? आया था, यह 'धर्मदास क्षुल्लक' में आता है। 'धर्मदास क्षुल्लक' गये थे न ? भट्टारक के पास (इन्हें कहा कि) नहीं देखता ? सिद्ध है न ? सिद्ध प्रसिद्ध है न ? नहीं देखता ? कान में कीड़े पड़े थे (अर्थात्) धुन लग गयी थी कि वह क्या कहते हैं यह ? ऐसे करते सिद्धस्वरूप में... अपने सिद्धस्वरूप में दृष्टि लग गयी। समझ में आया ? आता है न ? भाई ! ऐसी कीर्ति सुप्रसिद्ध

भगवान की, कहते हैं कि जगत के प्राणी के अज्ञानरूपी मल को हरने का कारण है, निमित्त, हों !

'ऐसा जानकर, प्रमाद छोड़कर, साहस अर्थात् सच्चा पुरुषार्थ करके अर्थात् वापस न गिरे साहस हानि...' है न ? पुरुषार्थ प्रगट कर, पुरुषार्थ। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द स्वयं बिराजमान है, उसमें नजर डालकर ऐसा स्थिर हो कि फिर से वापस फिरना नहीं पड़े–ऐसा कहते हैं। **'(साहस हानि) अखण्डित पुरुषार्थ रखकर यह उपदेश अंगीकार करो ।'** यह पुरुषार्थ रखकर यह उपदेश अंगीकार करो। **'जब तक रोग या वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है...'** हीन पुरुषार्थी को जरा (कहते हैं), वरना वृद्धावस्था और रोग में भी केवलज्ञान प्राप्त करता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! सातवें नरक की पीड़ा... नरक हद भूल जाए रोग और सब, सोलह रोग जिसे समय में। उपयोग को अन्दर से एकदम.. खींचता है। खींचकर अन्दर में ले जाता है और (आत्मा का) अनुभव कर लेता है, आत्मा के आनन्द का स्वाद ले लेता है–वह सातवें नरक का नारकी। समझ में आया ? इसलिए रोग और वृद्धावस्था में आत्मा का कार्य न हो सके–ऐसा नहीं है।

यहाँ तो मात्र पहले झट पुरुषार्थ कर ले। वृद्धावस्था और रोग आने से पहले, इतनी आवश्यकता बताने के लिये बात करते हैं, भाई ! यहाँ की वृद्धावस्था और रोग से भी अनन्तगुना दुःख नारकी में है। पहले (नरक से) अनन्तगुना सातवें में है। वहाँ भी एकदम अन्दर में (ढल जाता है)। अहो... ! अरे... ! यह तो आनन्दकन्द सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु ही मैं हूँ। मैं ही परमात्मा हूँ–ऐसा भाव सातवें नरक के प्रतिकूल में भी करता है। **'रोग और वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है, तब तक शीघ्र (वर्तमान में ही) आत्मा का हित कर लो ।'** भविष्य में करूँगा, (यह) छोड़ देना, वर्तमान में कर ले। समझ में आया ?

अन्तिम सीख

यह राग-आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये;
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये ।
कहा रच्यो पर पदमें, न तेरो पद यहै, क्यों दु:ख सहै;
अब 'दौल'! छोड़ सुखी स्वपद-रचि, दाव मत चूकौ यहे ।।१५।।

अन्वयार्थ :- (यह) यह (राग-आग) रागरूपी अग्नि (सदा) अनादिकाल से निरन्तर जीवको (दहै) जला रही है, (तातैं) इसलिये (समामृत) समतारूप अमृत का (सेइये) सेवन करना चाहिए । (विषय कषाय) विषय-कषाय का (चिर भजे) अनादिकाल से सेवन किया है। (अब तो) अब तो (त्याग) उसका त्याग करके (निजपद) आत्मस्वरूप को (बेइये) जानना चाहिए-प्राप्त करना चाहिए। (पर पदमें) परपदार्थोंमें-परभावोंमें (कहा) क्यों (रच्यो) आसक्त-सन्तुष्ट हो रहा है ? (यहै) यह (पद) पद (तेरो) तेरा (न) नहीं है । तू (दुख) दु:ख (क्यों) किसलिये (सहैं) सहन करता है ? (दौल !) हे दौलतराम ! (अब) अब (स्वपद) अपने आत्मपद-सिद्धपद में (रचि) लगकर (सुखी) सुखी (होउ) होओ । (यह) यह (दाव) अवसर (मत चूकौ) न गँवाओ ।

भावार्थ :- यह राग (मोह, अज्ञान) रूपी अग्नि अनादिकाल से निरन्तर संसारी जीवों को जला रही है-दु:खी कर रही है, इसलिये जीवों को निश्चयरत्नत्रयमय समतारूपी अमृत का पान करना चाहिए जिससे राग-द्वेष मोह (अज्ञान) का नाश हो । विषय-कषायों का सेवन, विपरीत पुरुषार्थ द्वारा अनादिकाल से कर रहा है; अब उसका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। तू दु:ख किसलिये सहन करता है ? तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्तवीर्य है, उसमें लीन होना चाहिए । ऐसा करने से ही सच्चा-सुख मोक्ष-प्राप्त हो सकता है। इसलिये हे दौलतराम ! हे जीव ! अब आत्मस्वरूप को प्राप्त कर। आत्मस्वरूप को पहिचान ! यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसे न गँवा। सांसारिक मोह का त्याग करके मोक्षप्राप्ति का उपाय कर ।

यहाँ विशेष यह समझना कि जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दु:खी हो रहा है, इसलिये अपने यथार्थ पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी पर के कारण दु:खी हो रहा है, अथवा पर के द्वारा जीव को लाभ-हानि होते हैं-ऐसा मानना उचित नहीं ।।१५।।

'अन्तिम सीख'

यह राग-आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये;
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।
कहा रच्यो पर पदमें, न तेरो पद यहै, क्यों दु:ख सहै;
अब 'दौल' ! छोड़ सुखी स्वपद-रुचि, दाव मत चूकौ यहे ।।१५।।

अहा..! '**यह राग-आग दहै...**' राग शब्द से मोह। राग तो साधारण शब्द प्रयोग किया है। राग शब्द से मोह। पर में प्रीति और पर में अस्थिरता, वह राग है। हे आत्मा ! यह राग-आग, अग्नि है यह तो... आहा..हा...! भगवान आत्मा शीतलानन्द प्रभु ! शीतलनाथ ! उसे छोड़कर, यह मिथ्यामोह राग-अग्नि सुलगती है। सत्य होगा ? भाई ! यह कमाने में, भोग में, इज्जत में, कीर्ति में और सुनने में और.. आग सुलगती है, यहाँ तो कहते हैं। देखो न !

'**यह राग-आग दहै सदा...**' तुझे चौबीस घण्टे राग सुलगता है, बापा ! भाई ! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु ! शीतलनाथ.. शीतल.. शीतल.. शीतल.. शीतल.. उपशमरस जिसके स्वभाव में बरसता है-ऐसे भगवान को छोड़कर कोई भी विकल्प उठाना-भ्रम का, अस्थिरता का, विषय का, इज्जत का, कीर्ति का, -आग सुलगती है, कहते हैं। सत्य होगा ? आहा..हा...! कैसे होगा ? भाई ! यह इसमें कोई मनुष्य दु:खी तो लगते नहीं। आत्मा की शीतल छाया, कल्पवृक्ष के समान शीतल प्रभु को छोड़कर जितने भ्रम के या राग-द्वेष के विकल्प करे, वह सब अग्नि सुलगती है, भाई ! भाई नहीं आये ? ठीक ! समझ में आया ?

यहाँ आग सुलगी है, (और) यहाँ (आत्मा में) शीतलता के ढेर पड़े हैं-ऐसा कहते हैं।

आहा..हा... ! एकान्त.. नहीं आया था ? 'शीतल शिला एकान्त की, जहाँ इन्द्र विश्राम लहैं।' कल समवसरण स्तुति में आया था। शशीकान्त शीतल शशीकान्त शिला। इन्द्र आकर विश्राम लेते हैं। भगवान आत्मा के दर्शन करने, यहाँ विश्राम करेंगे। इसी तरह यह शशीकान्त शीतल आत्मा शान्त.. शान्त... शान्त एक विकल्प का तरंग उठे, वह सब दुःख और आग-अग्नि है। समझ में आया ?

यहाँ तो क्या कहा ? अनादिकाल से शुभाशुभभाव, सब राग की दाह है-ऐसा कहते हैं। चौबीसों घण्टे। अनन्तबार दिगम्बर मुनि हुआ तो भी राग-दाह सुलगती है। ठीक है ? परन्तु यह क्या कहलाता है यह ? कि **'राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये...'** यह शुभ और अशुभराग, यह सब मिथ्याभ्रम, यह सब आग है। अनन्तकाल में अनन्तबार नौंवे ग्रैवेयक गया, वहाँ भी आग में सुलगता था-ऐसा कहते हैं। आहा.. !

मुमुक्षु :- संसार अटके।

उत्तर :- संसार अटके तो क्या काम है इसे अब ? इसे होली बुझाना है या रखना है ? समझ में आया ? होली कहते हैं न ? होली-हुतासन।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो ! भगवान आत्मा जितने प्रमाण में तूने 'पर में सुख है-ऐसी बुद्धि, पर के कारण दुःख है-ऐसी बुद्धि, इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि'-यह सब राग अग्नि है, अग्नि। आत्मा की शान्ति को जलाती है। उसमें जल रहा हूँ, जल रहा हूँ, चौबीस घण्टे-ऐसा कहते हैं। ऐसा होगा ? भाई ! ये पैसेवाले ऐसे होंगे ? या गरीब ही होंगे ? चारों गति में गरीब और धनी; रंक और राजा; नारकी और देव-सब चौबीस घण्टे आत्मदृष्टि और आत्मा के ज्ञान बिना (राग) आग से जल रहे हैं। भाई ! चौबीसों घण्टे कहा न ? अशुभभाव से जल रहे हैं-ऐसा नहीं कहा। राग अर्थात् मोह; मोह के तो जो प्रकार मिथ्यात्व लो, शुभाशुभभाव लो; सब मोह (आ गया)।

'यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेईये;' यह राग। **'जीव को जला रहा है राग; इसलिए समामृत (समतारूप) अमृत का सेवन करना चाहिए।'** समता शब्द से सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। समझ में आया ? समता अर्थात् वीतरागता और वीतरागता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। समझ में आया ? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-राग-

द्वेष, वह अग्नि है, इसलिये उसे मिटाने को '**समामृत सेईये।**' सम प्रभु भगवान; समामृतस्वरूप अपना है, उसकी अन्तर पर्याय में भगवान का सेवन करना कि जिससे सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। कहो, समझ में आया इसमें ? समतारूपी अमृत का सेवन-सन्तोष (करना चाहिए)। सन्तोष की व्याख्या-पुण्य-पापभाव बन्ध का कारण है; शरीर आदि पर है; आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्व है-ऐसी अन्तर्दृष्टि और ज्ञान करना, इसका नाम सन्तोष और समता कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? फिर समामृत कहा न, देखा ? समतारूपी अमृत। पहला (राग) आग, वह आग, तब यह अमृत।

'**सेवन करना चाहिए। विषय-कषाय का...**' अरे ! भाई ! कहते हैं, विषय-कषाय तो जो है, उनका अनादि काल से सेवन किया है। विषय-कषाय-उन पर सन्मुख के भावों को तो तूने अनादि से सेवन किये हैं। यह (स्व) विषय छोड़कर पर विषय की ओर के भाव अनादि से किये हैं। स्वर्ग में हो, नरक में हो, सब जगह तूने यह परभाव किये हैं। यह '**विषय-कषाय (चिर भजे) अनादिकाल से सेवन किया है।**' भजन करता है, भाई ! ठीक है ? अनादिकाल से विकार का सेवन करता है। आग को सुलगता है और सेवन करता है, कहते हैं।

मुमुक्षु :- प्रेम कैसे तोड़ना ?

उत्तर :- प्रेम तोड़ना अपने हाथमें-अधिकार में है। ऐसा प्रेम है और ऐसे प्रेम करना। क्या है इसमें ? फर्क कितना होगा ? अनादिकाल से तू विषय-कषाय को भज रहा है। एक ही विषय-कषाय अनादि से सेवन किये हैं-ऐसा कहते हैं।

'**अब तो उनका त्याग...**' कर। अब तो छोड़ ! अब तो छोड़ ! बहुत सेवन किये। आहा..हा...! निजपद है न ? '**अब तो त्याग और निजपद बेईये, निजपद बेईये..**' अनुभव करिये। भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुलस्वरूप, शीतल शान्त ज्ञानानन्द जल से भरा हुआ अमृतस्वरूप (है), उसका अनुभव कर न ! जिसमें शान्ति है, जिसमें सन्तोष है, जिसमें तृप्ति है, जिसमें कृतकृत्यपना है। कहो, समझ में आया ? यह उसका सेवन कर, कहते हैं। उल्टा सेवन करता है, सुल्टा कर। इसमें कुछ ऐसा नहीं कहा कि कर्म तुझे जलाते हैं। ऐसा कहीं कहा है इसमें ? देखो ! कहा है इसमें ?

मुमुक्षु :- दूसरे शास्त्र में कहा है।

उत्तर :- दूसरे शास्त्र में तो निमित्त से कथन होता है। यह '**राग-आग दहै सदा...**' ऐसा कहा है, भाई ! तेरा विकार तुझे जलाता है। कर्म तुझे जलाता है और दु:ख देता है-इसमें का एक शब्द भी है-पड़ा है इसमें ? यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। प्रचलित (छह) ढाला। यह कितने ही-हजारों लोग को कंण्ठस्थ है। समझ में आया ?

एक ही बात-विकार का सेवन उल्टे पुरुषार्थ से करता है, सुल्टे पुरुषार्थ से अमृत का सेवन कर, बस ! एक ही बात की है, इसमें कहीं कर्म को याद नहीं किया है। तुझे कर्म ऐसे शिथिल पड़े और (ऐसा), हो, व ऐसा हो... भाई ! व्यर्थ के बहाने किये हैं... दोष (स्वयं) करता है और डालता है किसी (अन्य) के ऊपर... कर्म हमें ऐसे करता है, समझ में आया ? '**राग-आग दहैं सदा...**' कर्म तुझे जलाते हैं, कर्म तुजे सुलगाते हैं और दु:खी करते हैं-ऐसा इसमें नहीं कहा है।

निजपद को '**पहिचानना चाहिए-प्राप्त करना चाहिए...**'' निजपद बेईये' इस निजपद को अन्दर झुका, अन्दर उगाड़, पहले विकार का उगाड़ अनादि से बहुत किया। भगवान आत्मा शान्त-अनन्त गुण की शान्ति, सन्तोष से भरा (है)। यह तृष्णा.. तृष्णा.. तृष्णा.. पैसे की तृष्णा, धूल की तृष्णा, इज्जत की तृष्णा, बड़प्पन की तृष्णा, (उसमें) सुलग रहा है। शान्त.. शान्त.. जल तेरा प्रभु ! निजपद में आजा और उसमें स्थिर हो, उसे प्राप्त करना चाहिए।

'**कहा रच्यो परपद में न तेरो...**' भाषा देखो ! '**कहा रच्यो परपद में, न तेरो पद यहैं; क्यों दु:ख सहे पद यहै, क्यों दु:ख सहै...** ' कहो, समझ में आता है या नहीं ? '**परपद... कहा रच्यो परपद में न तेरो..**' अरे..! भगवान ! '**परपदार्थों-परभावों में क्यों आसक्त सन्तुष्ट हो रहा है ?**' भाई ! पर-विकारी पद राग-द्वेष, अज्ञान, विषय-भोग-वासना, भ्रम-इन परपद में, भगवान ! क्यों सन्तुष्ट हो रहा है ? परपद '**कहा रच्यो परपद में, न तेरो पद यहै...**' यह वह पद तेरा है, उसमें आता है न ? भाई ! यह '**अपदं पदम**' ऐसी शैली इन्होंने यह सब शास्त्र की ही की है। 'समयसार' (कलश-१३८) अरे...! यह अपद है, अपद है, हाँ ! आता है न ? भाई ! वह तेरा पद यहाँ है, यहां है। दो बार (लिया है) शैली सब (ऐसी ही ली है)। यह पूर्व के

पण्डित, घर का कुछ नहीं.. आचार्यों के शास्त्रों की भाषा भी.. यह रखकर बात करते हैं। आहा..हा... !

भाई ! यह विकारी पद तेरा नहीं, भाई ! अपद है न, प्रभु ! आहा..! यह विकारी पद, विकार-यह पर में सुखबुद्धि, पर में दु:खबुद्धि, पर में इष्ट-अनिष्टबुद्धि, राग-द्वेष, भाई ! परपद तो दु:ख है न ! अपद है न ! यह निजपद तो यहाँ है न ! देखो ! ऐसा कहा न ? '**पद यहै...**' यहाँ है। वहाँ ऐसा कहा है न ? भाई ! यहाँ है, यहाँ है। निर्जरा अधिकार (कलश-१३८ में कहा है।) आहा... ! भाई ! तू यहाँ है न अन्दर ! तेरा पद आनन्द और ज्ञान, अन्दर तू है न ! यह बाहर में कहाँ भटकता है ? आहा..हा... ! समझ में आया ?

'**कहा रच्यो पर पद में न तेरो पद यहै क्यों दु:ख सहे। पद यहै...**' यह पद पड़ा है न प्रभु ! आहा..हा... ! अन्दर अनाकुल की शिला पड़ी है न ! यह आनन्द की-अतीन्द्रिय आनन्द की पाट अरूपी चैतन्य शिला है। यह पत रहा, भाई ! आहा... ! '**क्यों दु:ख सहै..**' यह पद पड़ा है न, दु:ख क्यों सहन करता है ? -ऐसा कहते हैं। ऐसा पद है न शान्तरस का भगवान, उसे छ छोड़कर यह दु:ख क्यों सहन करता है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वजन है। समझ में आया ? यह उसमें से लिया है, हाँ ! किसमें-निर्जरा में है न ? समझ में आया ? यह घर का नहीं है। देवानुप्रिया है न वहाँ ? अपद.. अपद.. है न ? यहे क ही पद आस्वादयोग्य है।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुर:।।१३९।।

'**वह एक ही पद आस्वादन योग्य है ।**' भगवान आत्मा ! '**कि जो विपत्तियों का अपद है ।**' जिसमें विपत्ति पद है नहीं। ऐसे आपदाओं का स्थान नहीं '**और जिसके आगे अन्य (सर्व) पद अपद ही भासित होते हैं ।**' देखो ! यह आया, देखो ! १३८ '**आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो त्यिमत्ता:**' यहाँ भाई ! 'राग' शब्द प्रयोग किया है, राग प्रयोग किया है। इन्होंने भी वहाँ राग प्रयोग किया है।

आसंसारारात्प्रदिपदममी रागिणो नित्यमत्ता:

सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धा:।

एतैतेत: पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातु:

भाई ! ऐसी चैतन्य की–आनन्द की धातु–धारक भगवान है न, भाई ! वह यहाँ है न प्रभु ! तू यहाँ छोड़कर बाहर कहाँ जाता है ? भाई ! समझ में आता है ?

एतैतेत: पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातु:

शुद्ध: शुद्ध: स्वरसभरत: स्थायिभावत्वमेति।।१३८।।

'हे अन्ध प्राणियों ! इस अनादि संसार से लेकर पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव...' देखो ! यही भाषा है, हाँ ! रागी जीव। यह रागमत्त कहा था न यहाँ ? **'सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है-अपद है ।'** आहा..हा... ! **'इस ओर आओ... इस ओर आओ, तुम्हारा पद यह है-यह है।'** देखो ! यह यहाँ आया ?

इस **'पद यहै-पद यहै..'** – इस शब्द पर जोर है। देखो ! **'पद यह है...'** तेरा पद यहाँ है। अन्दर भगवान चिदानन्दस्वरूप है। पता नहीं पड़ता, घर में पूँजी खोने जाए बाहर। **'पद यहै क्यों दु:ख सहै...'** यहाँ आनन्द पड़ा है न, दु:ख क्यों सहन करता है ? –ऐसा कहते हैं। **'अब 'दौल' होऊ...'** समझे न ? **'होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चुकौ यहै ।'** अरे... ! ऐसा तेरा पद ! अरे... ! घर में भरा भण्डार और यह झूठन बीनने जाता है, कहते हैं। लोक में नहीं कहते ? ए.. घर में ऐसी तेरी स्त्री और यह जहाँ–तहाँ गन्दी स्त्रियों में घूमता है। अरे.. ! समझ में आया ? इसीप्रकार यह तेरे घर में भगवान पड़ा है न, भाई ! उस भगवान को मिलने जाता नहीं और इस विकार को जहाँ–जहाँ मिलने चला जाता है। क्या है यह तुझे ? आहा..हा.. ! समझ में आया ?

'हे दौलतराम ! वह पद तेरा पद नहीं है। तू दु:ख क्यों सहन करता है ? हे दौलतराम ! (अब) अब (स्वपद) तेरे आत्मपद-सिद्धपद में (रचि) लगकर सुखी (होऊ) होओ ! (यहे) यह (दाव) अवसर (मत चूकै) गँवाना नहीं।' अभी यह दाव–अवसर है, कहते हैं। समझ में आया ? 'सब अवसर आ गया है'–यह तो कहा था न अभी, 'टोडरमलजी' में आता है न ? सब

अवसर आ गया है। तेरी आलसे, नजर के आलसे रे भगवान पड़ा रहा अन्दर में। 'नजर के आलसे, नयने न नीरख्या हरि'–लो ! अन्तिम शब्द है। यह भाई ! बहुत बोलते हैं बारम्बार, हाँ ! (इन्हें) पूरा कण्ठस्थ है न ! इन्हें पूरा कण्ठस्थ है। यह दाव–अवसर, यह दाव। ये दाव नहीं डालते ? पासा कहते हैं कि है दाव डालने का अवसर है। इसे मत चूको, मुश्किल से ऐसा थोड़ा काल आया। आहा.. !

भावार्थ :- 'यह राग (मोह, अज्ञान) रूप अग्नि...' देखो ! राग का अर्थ मोह.. मोह है यह। **'अनादिकाल से हमेशा संसार जीवों को दुःखी कर रही है-दुःखी कर रहा है...'** कौन ? रागरूप अग्नि। **'इसलिए जीवों को निश्चयरत्नत्रय समतारूप अमृत का पान करना चाहिए...'** सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र जो आत्मा का अमृत है, उस आत्मा की दृष्टि होकर उसे अमृतस्वरूप कहा जाता है–उसका सेवन करना चाहिए। **'जिससे राग-द्वेष-मोह (अज्ञान का) नाश होता है। विषय-कषाय का सेवन तू, बहुत काल से कर रहा है...'** यह तो अनन्तकाल से करता आया है। **'अब उनका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। तू दुःख किसलिए सहन करता है ?'** मूढता से सेवन करता है। भान हीं है इसे।

'तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्तवीर्य है...' यह उसमें तू दृष्टि कर और लीन हो। तेरा घर तेरे पास है। घर में आया नहीं। क्या गाया नहीं था अभी ? अपना निजघर नहीं पाया। आया था न ? **'कबहु निजघर न आयो ।'** परघर भटक–भटककर मर गया, भगवान आत्मा, बापू ! अन्दर पूर्णानन्द निजघर में कभी नहीं आया, अब तो आ ! –ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! परन्तु कर्म मार्ग दे, तब हो न हमारे ? ऐसा किसने कहा तुझे ?

'तु दुःख किसलिए सहन करता है ?' तेरा वास्तविक स्वरूप तो यह है। **'ऐसा करने से ही सच्चा सुख-मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिए हे दौलतराम ! हे दौलतराम !'** आत्मा की अनन्त दौलत का राम–'दौलतराम' है, उसका नाम भी 'दौलतराम' आया। (समस्त) आत्मायें 'दौलतराम' है। इस धूल की दौलत में कुछ नहीं है। हैरान–हैरान होकर मर जाता है तो भी नहीं छोड़ता है।

'हे जीव ! अब आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर ! पहिचान कर ! यह उत्तम अवसर बारम्बार

नहीं मिलता...' बहिनें गाती हैं-'नाणा मलशे पण टाणा नहीं मले'-ऐसा गाती है पैसा खर्च करने के लिये। यहाँ कहते हैं कि, बापा ! ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। नहीं गाती बहिने ? यह विवाह होता है न, तब गाती हैं। ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। ऐ..भाई ! मोटा ने मोढा आगल करीने उठो रे । ए.. भाई ! जाग रे, उठो रे आम लगन आव्या-ऐसा करके गाती हैं। टाणा नहीं मिले-ऐसा करके (कहे) खर्च करो कुछ घर का उजला करने को। धूल में भी नहीं, वहाँ तू घर मैला करता है। यहाँ तो कहते हैं, हे आत्मा ! जाग रे जाग ! तेरा घर उजला कर, भाई ! आहा..हा..! समझ में आया ? **'यह उत्तम अवसर नहीं मिलता, इसलिए यह अवसर मत गँवा; संसार के मोक्ष का त्याग करके मोक्षप्राप्ति का उपाय कर ।'**

'यहाँ विशेष ऐसा समझना कि..' देखो ! यह सब अन्तिम शिक्षा का उपदेश है, हाँ ! पूरा। **'जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूप अग्नि और राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा है...'** अपने अपराध से (दुःखी) हो रहा है। **'इसलिए अपने सुलटे पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी पर के कारण दुःखी हो रहा है अथवा पर के द्वारा जीव को लाभ-नुकसान होता है-ऐसा मानना यथार्थ नहीं है ।'** कहो, समझ में आया कुछ ? कर्म के कारण दुःखी हुआ, कर्म के कारण भटका हूँ; कर्म के कारण हैरान हुआ-यह बात मानना सत्य नहीं है। अन्तिम बात। लो !

ग्रन्थ-रचना का काल और उसमें आधार

इक नव वसु एक वर्ष कीतीज शुक्ल वैशाख;
कर्यो तत्त्व-उपदेश यह, लखी बुधजनकी भाख।
लघु-धी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थकी भूल;
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव-कूल ।।१६।।

भावार्थ :- पण्डित बुधजनकृत [१]छहढाला के कथन का आधार लेकर मैंने (दौलतरामने)

१. इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकरण हैं इसलिये तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती है, उसीप्रकार जीवकी अहितकारी शत्रु-मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों का तथा अज्ञानांधकारकी रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण हैं; इसलिये इस ग्रन्थ का नाम छहढाला रखा गया है।

विक्रम संवत १८९१ वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) के दिन इस छहढाला ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गई हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़ें, ताकि जीव संसार-समुद्र को पार करने में शक्तिमान हो।

छठवीं ढाल का सारांश

जिस चारित्र के होने से समस्त परपदार्थों से वृत्ति हट जाती है, वर्णादि तथा रागादि से चैतन्यभाव को पृथक् कर लिया जाता है, अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्मा का ही अनुभव होने लगता है, वहाँ नय, प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदों का किंचित् विकल्प नहीं रहता; शुद्ध उपयोगरूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है, उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं; यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में अधिक उच्च होता है। तत्पश्चात् शुक्लध्यान द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होने पर वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करके १८ दोषरहित श्रीअरिहन्तपद प्राप्त करता है; फिर शेष चार अघातिकर्मों का भी नाश करके क्षणमात्र में मोक्ष प्राप्त कर लेता है; उस आत्मा में अनन्तकाल तक अनन्त चतुष्टय का (अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का) एक-सा अनुभव होता रहता है; फिर उसे पंचपरावर्तनरूप संसार में नहीं भटकना पड़ता; वह कभी अवतार धारण नहीं करता; सदैव अक्षय अनन्त सुख का अनुभव करता है; अखण्डित ज्ञान-आनन्दरूप अनन्तगुणों में निश्चल रहता है; उसे मोक्षस्वरूप कहते हैं।

जो जीव, मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस रत्नत्रय को धारण करते हैं और करेंगे उन्हें अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व, कषाय और विषयों का सेवन तो अनादिकाल से करता आया है किन्तु उससे उसे किंचित् शान्ति प्राप्त नहीं हुई। शान्ति का एकमात्र कारण तो मोक्षमार्ग है; उसमें उस जीवने कभी तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं की; इसलिये अब भी यदि शान्ति की (आत्महित की) इच्छा हो तो आलस्य को छोड़कर, (आत्मा का) कर्तव्य समझकर; रोग और वृद्धावस्थादि आने से पूर्व ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाना चाहिए; क्योंकि यह पुरुष-पर्याय, सत्समागम आदि सुयोग बारम्बार प्राप्त नहीं होते; इसलिये उन्हें व्यर्थ गँवाकर अवश्य ही आत्महित साध लेना चाहिए।

ग्रन्थ-रचना का काल और उसमें आधार

इक नव वसु एक वर्ष की तीज शुक्ल वैशाख;
कर्यो तत्त्व-उपदेश यह, लखी बुधजनकी भाख।
लघु-सी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थकी भूल;
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव-कूल ।।१६।।

भावार्थ :- '**मैंने (दौलतराम ने) पण्डित बुधजनकृत 'छहढाला' के कथन का आधार लेकर...**' यह कहा, उस ढाला की व्याख्या एकबार की थी। देखो ! नीचे है।

'**इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकरण हैं, इसलिये, तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती हैच उसी प्रकार जीव को अहितकारी शत्रु-मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों को तथा अज्ञानांधकार को रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण है....**' यह छह अधिकार ढाल के समान हैं, '**इसलिये इस ग्रन्थ का नाम 'छहढाला' रखा गया है।**'

'**विक्रम संवत १८९१ वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) के दिन इस 'छहढाला' ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गयी हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़े, ताकि जीव संसारसमुद्र पार करने में शक्तिवान हो।**' लो ! पोष कृष्ण दशमी से शुरू किया था। इस रविवार को पूर्ण होता है। 'छहढाला'। अन्तिम एक बोल थोड़ा-सा ले लेते हैं। अन्तिम थोड़ा है न ?

कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता वास्तव में नहीं है। है इसमें, सब में है ? सब में है ? अब इसमें तो बहुत आ गया है, हाँ ! चिदेश कर्ता, स्वयं कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता नहीं है। कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता वास्तव में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। है ? अन्तिम, अन्तिम, एकदम अन्तिम, एकदम सब निकाल कर अन्तिम।

आत्मा का स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है। निकला लड़कों ? अब स्वयं देखनेवाला-जाननेवाला तो रहता नहीं। मैं तो एक देखनेवाला-जाननेवाला आत्मा ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जिस-

जिस पदार्थ को वह देखता-जानता है, उसमें इष्ट अनिष्पटना मानता है। मानता है, इष्ट-अनिष्ट है नहीं। आत्मा, जानने-देखनेवाला है। जगत की चीजें ज्ञात हों-ऐसी योग्यता इसमें है, यह जाननेवाला है, बीच में दूसरा कोई नहीं है। पाँच लड़के हैं, उनमें एक लड़का इसका हो, ऐसे देखे तो पाँचों को ही एकसाथ, है या नहीं ? जानने में क्या फरक् है ? यह मेरा-यह कहाँ से आया ?

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- खड़ा किया यह तो। पाँच लड़के एकसाथ खड़े हो, उनमें इसका एक लड़का खड़ा (हो)-यह मेरा है-मेरा कहाँ से आया ? इन पाँचों को ही जानने का तू जाननेवाला है।

मुमुक्षु :- चेहरा-मेहरा इसके जैसा होवे।

उत्तर :- चेहरा-मेहरा इसके जैसा कहाँ था ? धूल में। वह तो पर में है। आकार और प्रकार ऐसा लिखा है, हाँ। समझ में आया ?

ऐसे (ही), मकान, ऐसे गहना, ऐसे लक्ष्मी, ऐसे जो जहाँ देखे-यह तो जानने-देखनेवाला है। उसमें यह मेरा-यह कहाँ से (आया) ? इसमें लिखा है, इसमें ?

मुमुक्षु :- उसमें जाए..

उत्तर :- किस प्रकार जाए ? कौन जाता है ? यह तो स्वयं अपने ज्ञान में रहता है। जाए कहाँ और आवे कहाँ ? जिस पदार्थ को देखे-जाने, उसमें इष्टपना मानता है-ऐसा कहना है, है नहीं। यह तो जानने-देखने योग्य है आत्मा और इस जानने-देखने में ज्ञेय है; बीच में यह विपरीतता घुसाता है कि यह मुझे ठीक है और यह हैं मेरे; यह मुझे ठीक नहीं और यह नहीं मेरे। यह बीच में लकड़ी निकाली (-विपरीतता की)। सब महिलायों तो बहुत हैं, परन्तु यह मेरी-यह ऐसा क्यों हुआ ? कहाँ से आया ? यह कहते हैं। परन्तु सब महिलायें तो बहुत हैं। आत्मा है, शरीर है-वे तो ज्ञान में जानने योग्य हैं।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- यह अन्दर भ्रम को खोसका है-ऐसा कहते हैं। नहीं कहा ? मानता है। इसलिए

रागी-द्वेषी होता है। मानता है, इसलिये राग-द्वेष (होते हैं)। यह तो ज्ञाता-दृष्टा है; जानने देखनेवाला हैऔर वे ज्ञात हों-ऐसी वस्तुयें हैं। बीच में दो के अतिरिक्त तीसरा सम्बन्ध नहीं है; (फिर भी) सम्बन्ध खड़ा करता है। किसी के सद्‌भाव को और किसी के अभाव को चाहता है, परन्तु उनका सद्‌भाव या अभाव इस जीव के करने से होता ही नहीं। यह होवे तो ठीक, यह रहे तो ठीक, हाँ ! पर रहे तो ठीक अर्थात् ? उनका रहना कहीं तेरे आधीन है ? यह रहे तो ठीक, यह अनुकूलता, इतने-इतने पदार्थ रहे न तो बहुत अच्छा; और किसी का अभाव चाहते हैं-यह रोग आदि चला जाए, अप्रतिष्ठा चली जाए तो ठीक.. परन्तु ऐसे चली जाती है ? वे तो जगत के पदार्थ हैं, भाई ! देखो ! यह क्या लिखा है ? है अन्दर, हाँ !

किसी का सद्‌भाव-अभाव.. है ? वह जीव के करने से नहीं होता। अन्दर तो है अभी, सवेरे पूछा, कैसे हैं ?... कारण कि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं। तू सद्‌भाव (चाहे) इसलिए इससे उनका अस्तित्व रहे और अस्तित्व छोड़ना चाहे, इसलिए अस्तित्व चला जाए (-ऐसे) तेरे आधीन है ही नहीं; (वे तो) उनके आधीन आते हैं और उनके आधीन जाते हैं। ...परन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। वे उनके कारण आते और जाते हैं। तू तेरे कारण जान और देख, बस ! बाकी दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मात्र यह जीव व्यर्थ कषायभाव करके व्याकुल होता है। व्यर्थ का... जानना-देखना छोड़कर, निज मानकर, बुरा मानकर, दुश्मन मानकर, शत्र मानकर, मित्र मानकर व्यर्थ कषाय करके दुःखी होता है। इसलिए हे जीव ! ऐसा अवसर मिला, अब (मिथ्या मान्यता को) छोड़ ! ऐसा अन्त में कहा है न ? अब यह रखने जैसा नहीं है। लो ! (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજુ કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬,૪૪૯,અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૮	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૯	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૩૦	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૧	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૨	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત્ત)	૧૧-૨૫
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૮	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૯	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૪૦	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૧	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦

૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૩	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૪	પ્રચારિસ્તિકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૫	પદ્મનંદીપંચવિશતી	-
૫૬	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૭	રાજ હ્રદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હ્રદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	રાજ હ્રદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૦	રાજહ્રદય (ભાગ–૪) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૬૧	સમ્યક્‌જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૨	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૩	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૪	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૫	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૬	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૭	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૮	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૯	તત્ત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-

૭૦	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૭૧	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૪	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૫	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૬	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૭	ધન્ય આરાધક	-
૭૮	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૪) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૭૯	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૫) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૮૦	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ–૧)	૨૦-૦૦
૮૧	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ–૨)	૨૦-૦૦
૮૨	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ–૩)	૨૦-૦૦
૮૩	મુક્તિનો માર્ગ (સત્તા સ્વરૂપ ગ્રંથ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચન)	૨૦.૦૦
૮૪	રાજહૃદય (ભાગ–૫) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૫	રાજહૃદય (ભાગ–૬) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૬	રાજહૃદય (ભાગ–૭) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૭	રાજહૃદય (ભાગ–૮) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૮	રાજહૃદય (ભાગ–૯) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૯	રાજહૃદય (ભાગ–૧૦) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૦	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૬) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૯૧	અનુભવપ્રકાશના કિરણો (ભાગ–૧) ('અનુભવપ્રકાશ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦

श्री वीतराग सत्‌साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृत्तोंका संकलन)	१५०-००
०४	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५	आत्मअवलोकन	-
०६	बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९	दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१०	धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११	दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२	धन्य पुरुषार्थी	-
१३	धन्य अवतार	-
१४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५	गुरु गिरा गौरव	-
१६	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३,३३२,५१०, ५२८,५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८	कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२०	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत्त)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००

२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	पथ प्रकाश	२०.००
३३	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३४	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३५	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३६	ज्ञानामृत्त (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत्त)	-
३७	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३८	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३९	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
४०	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४१	समयसार कलश टीका	अनुपलब्ध
४२	समयसार	अनुपलब्ध
४३	स्मरण संचिका	२०.००
४४	स्वरूप भावना (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-९१३, ७१० एवं ८३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२०-००
४५	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४६	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४७	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृत्तोंका संकलन)	१०-००
४८	वचनामृत्त रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन	२०-००
४९	भगवान आत्मा	२०.००
५०	जिन प्रतिमा जिन सारखी	२०.००
५१.	छः ढाला प्रवचन (भाग-१)	२०.००
५२.	छः ढाला प्रवचन (भाग-२)	२०.००
५३.	छः ढाला प्रवचन (भाग-३)	२०.००
५४.	प्रवचनसुधा (भाग-६)	३०.००

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर प्रवचन) (गुजराती)	१०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	७६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४४००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२-३-४	५०००
३०	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३१	निर्भ्रांत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३२	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७५००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	गुरुगुण संभारणा (हिन्दी)	७५००
३५	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३६	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३७	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३८	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३९	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
४०	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४१	प्रवचन नवनीत भाग-१-४ (गुजराती)	५८५०
४२	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४३	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४४	पथ प्रकाश (हिन्दी)	५००
४५	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४६	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४७	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४८	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४९	भगवान आत्मा (गुजरात)	२०००
५०	भगवान आत्मा (हिन्दी)	१५००
५१	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
५२	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५३	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५४	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५५	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५६	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५७	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५८	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५९	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
६०	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
६१	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
६२	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	४०००
६३	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६४	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६५	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६६	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६७	ज्ञानामृत (गुजराती)	३५००
६८	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००

६९	वचनामृत रहस्य (गुजराती)	१०००
७०	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
७१	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	कहान रत्न सरिता (भाग-१)	१०००
७३	कहान रत्न सरिता (भाग-२)	१०००
७४	कुटुम्ब प्रतिबंध (गुजराती)	१५००
७५	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी)	२५००
७६	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (गुजराती)	१५००
७७	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी)	२०००
७८	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७९	समयसार दोहन (गुजराती)	७५०
८०	समकितनुं बीज (गुजराती)	१०००
८१	स्वरूपभावना (गुजराती)	१०००
८२	स्वरूपभावना (हिन्दी)	१०००
८३	सुविधि दर्शन (गुजराती)	१०००
८४	सुविधिदर्शन (हिन्दी)	१९००
८५	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	१२५०
८६	प्रवचन सुधा (भाग-१) (गुजराती)	१४००
८७	प्रवचन सुधा (भाग-२) (गुजराती)	७५०
८८	प्रवचन सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००
८९	प्रवचन सुधा (भाग-४) (गुजराती)	१०००
९०	प्रवचन सुधा (भाग-५) (गुजराती)	१०००
९१	प्रवचन सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१०००
९२	प्रवचन सुधा (भाग-७) (गुजराती)	७५०
९३	प्रवचन सुधा (भाग-८) (गुजराती)	७५०
९४	प्रवचन सुधा (भाग-९) (गुजराती)	७५०
९५	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
९७	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१ (गुज.)	१०००
९८	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२ (गुज.)	१०००
९९	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१) (गुजराती)	१०००
१००	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२) (गुजराती)	१०००
१०१	राज हृदय (भाग-१) (गुजराती)	१५००
१०२	राज हृदय (भाग-२) (गुजराती)	१५००
१०३	राज हृदय (भाग-३) (गुजराती)	७५०
१०४	अध्यात्मसुधा (भाग-१) (गुजराती)	१०००
१०५	अध्यात्मसुधा (भाग-२) (गुजराती)	१०००
१०६	अध्यात्म सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००

१०७	अध्यात्म सुधा (भाग-४) (गुजराती)	७५०
१०८	अध्यात्म सुधा (भाग-५) (गुजराती)	७५०
१०९	गुरु गिरा गौरव (भाग-१) (गुजराती) (धारावाही प्रवचन)	१०००
११०	गुरु गिरा गौरव (भाग-२) (गुजराती) (धारावाही प्रवचन)	७५०
१११	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
११२	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (हिन्दी)	१०००
११३	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (हिन्दी)	१०००
११४	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (हिन्दी)	१०००
११५	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (हिन्दी)	१०००
११६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०
११७	छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-१)	१०००
११८	छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-२)	१०००
११९	छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-३)	१०००
१२०	जिन प्रतिमा जीनि सारखी	५००
१२१	स्मरण संचिका	१५००
१२२	दंसण मूलो धम्मो	३५००
१२३	प्रवचन सुधा (भाग-१) (हिन्दी)	१०००
१२४	प्रवचन सुधा (भाग-२) (हिन्दी)	१०००
१२५	प्रवचन सुधा (भाग-३) (हिन्दी)	१०००
१२६	प्रवचन सुधा (भाग-४) (हिन्दी)	१०००
१२७	प्रवचन सुधा (भाग-५) (हिन्दी)	१०००
१२८	प्रवचन सुधा (भाग-६) (हिन्दी)	१०००
१२७	धन्य पुरुषार्थी (गुजराती)	१५००
१२८	धन्य पुरुषार्थी (हिन्दी)	६५००
१२९	छः ढाला प्रवचन (हिन्दी) (भाग-१)	१०००
१३०	राज हृदय (भाग-४) (गुजराती)	५००
१३१	राज हृदय (भाग-५) (गुजराती)	५००
१३२	राज हृदय (भाग-६) (गुजराती)	५००
१३३	राज हृदय (भाग-७) (गुजराती)	१५०
१३४	राज हृदय (भाग-८) (गुजराती)	१५०
१३५	राज हृदय (भाग-९) (गुजराती)	१५०
१३६	राज हृदय (भाग-१०) (गुजराती)	१५०
१३७	अध्यात्म सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१५०
१३८	अध्यात्म सुधा (भाग-७) (गुजराती)	१५०
१३९	अनुभवप्रकाशना किरणो (भाग-१) (गुज.)	१००